|| श्रीः ||

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

१९१

श्रीभट्टोजिदीक्षितविरचिता

वैयाकरण-सिद्धान्तकौमुदी

सविमर्श-'रत्नप्रभा'-हिन्दीव्याख्यासहिता

व्याख्याकारः सम्पादकश्च

व्याकरणाचार्यः श्रीबालकृष्णपञ्चोली

दे० सू० खेतानमहाविद्यालय-काशिकराजकीय-संस्कृतमहाविद्यालय-
वाराणसेय-संस्कृत-विश्वविद्यालय-पूर्वप्राध्यापकः

(कारकान्तः प्रथमो भागः)

चौखम्भा संस्कृत संस्थान

भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा विक्रेता

पो० आ० चौखम्भा, पो० बा० नं० १३९

जड़ाव भवन, के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन

वाराणसी (भारत)

प्रकाशक : चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : द्वितीय,

मूल्य : रु० २०

THE

KASHI SANSKRIT SERIES

191

*****

VAIYĀKARAṆA-SIDDHĀNTA-KAUMUDĪ

BY

ŚRĪ BHAṬṬOJI DĪKṢITA

Edited with

'Ratnaprabhā' Hindī Commentary

BY

Pt. ŚRĪ BĀLAKṚṢṆA PAÑCHOLĪ

Vyākaraṇāchārya

Ex-Professor, Khetan Sanskrit College, Varanasi

and Sanskrit University, Varanasi

VOL. I

UPTO THE END OF KĀRAKAPRAKARAṆA

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN

Publisher and Seller of Oriental Cultural Literature

P. O. Chaukhambha, Post Box No. 139

Jadau Bhawan, K. 37/116, Gopal Mandir Lane

VARANASI (INDIA)

Also can be had from
CHAUKHAMBHA VISVABHARATI
Post Box No. 139
Chowk (Opposite Chitra Cinema)
VARANASI–221001
Phone : 65444

Second Edition 1979
Price Rs. ~~20-00~~

Sole Distributors :—
CHAUKHAMBHA ORIENTALIA
A House of Oriental and Antiquarian Books
P. O. Chaukhambha, Post Box No. 32
Gokul Bhawan, K. 37/109, Gopal Mandir Lane
VARANASI–221001 (India)
Telephone : 52939 Telegram : Gokulotsav
Branch—Bungalow Road, 9 U. B. Jawahar Nagar
DELHI–110007

भूमिका

ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव यद्भद्रं तन्न आसुव।

भारतीय आर्यसंस्कृति का मान्यग्रन्थ वेद के षडङ्ग—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द एवं ज्योतिष हैं। उन अङ्गों में मुख्य शब्दविद्या है। 'मुखं व्याकरणं प्रोक्तम्' 'प्रधानं हि षडङ्गेषु व्याकरणम्' यह आप्तोक्तियाँ यथार्थतः तथ्य हैं।

महर्षि पतञ्जलि ने महाभाष्य में कहा है कि वेदार्थ ज्ञान साध्य है, व्याकरणज्ञान उसका साधन है। वेदमन्त्र घटक प्रयोगों की सिद्धि एवं उन के साधुत्व का ज्ञान शब्द-शास्त्राधीन है। १—वेदरक्षा—'भद्रं कर्णेभिः' मन्त्र में 'कर्णेभिः' या 'कर्णैः' इस शङ्का का निरसन व्याकरण के अधीन है। २—ऊहः—अर्थवश मन्त्रों में विभक्तियों का व्यत्यास होता है, वह व्याकरण करता है। यथा "अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि" यह मन्त्र यदि सूर्य के लिए प्रयुक्त है तो "सूर्याय जुष्टं निर्वपामि" यह तर्क व्याकरणाधीन है। ३—वेद मन्त्रों में आगम ज्ञान शब्दशास्त्राधीन है। तत्तन्मन्त्रों में 'देवासः' 'ब्राह्मणासः' प्रयोगों में असुक् आगमज्ञान 'आज्जसेरसुक्' व्याकरण-सूत्राधीन है। ४—लाघव—स्वल्पतमशब्द निर्देश द्वारा अधिक पदार्थ ज्ञान शब्दविद्या सापेक्ष है। इस विषय में भगवान् पतञ्जलि की यह उक्ति है :—

"रक्षोहागमलघ्वसंदेहाः प्रयोजनम्" इति।

५—संदेहनिवृत्ति—'स्थूलपृषतीम्' इस प्रयोग में कर्मधारय समास अथवा बहुव्रीहि-समास इनका स्वरदर्शन पूर्वक ज्ञान स्वरप्रदर्शक व्याकरण सूत्राधीन है। संक्षेपतः यह सिद्ध हुआ—वेदरक्षा, ऊह, आगमज्ञान, लाघवपूर्वक अधिकार्थज्ञान, संदेहनिवृत्ति, म्लेच्छता की अप्राप्ति, स्वरदोष-शून्य वर्णदोष-शून्य शब्द प्रयोग, वेदार्थ ज्ञान, तन्मूलक स्मृत्यादि ज्ञान, अर्थज्ञान पूर्वक शब्द प्रयोग, अपशब्द प्रयोगजन्य अधर्मोत्पत्ति, उसका ज्ञान, प्रत्यभिवादन में प्लुतकरण, याज्यादिमन्त्रकरण = विभक्ति रहित उच्चारण क्रम सविभक्तिक प्रयाजादि करण, पदविभाग, पदलक्षण, स्वरविभाग, अक्षरविभाग, नामज्ञान, आख्यातज्ञान, उपसर्ग, निपात इनका ज्ञान, भूत-भविष्यत्-वर्तमानकालज्ञान, नानाविध प्रकृति एवं प्रत्यय ज्ञान, प्रकृत्यर्थ एवं प्रत्ययार्थ ज्ञान, इनका परस्पर अन्वयरूप सम्बन्ध-ज्ञान अर्थात् व्याकृतिज्ञान, वर्णाभिव्यञ्जक स्थानज्ञान; परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी, रूपा वाणी चतुष्टयज्ञान, नामकरण संस्कार में शास्त्रीय नामस्वरूपज्ञान, कारक विभक्ति-ज्ञान, धातु—लकार—कृत्—सुप्—प्रत्ययादि ज्ञानफलक अनेक प्रयोजनों से युक्त यह शब्द विद्या है। पूर्व वर्णित विषयों का ज्ञान अवैयाकरणों को सम्भव नहीं है।

किसी पिता का अपने पुत्र से व्याकरण विषयक अध्ययन में प्रवृत्ति के लिए यह कथन अतीव महत्त्व का है :—

"यद्यपि बहु नाधीषे तथापि पठ पुत्र ! व्याकरणम् ।
स्वजनः श्वजनो मा भूत् सकलं शकलं सकृच्छकृत् ॥"

महावैयाकरण वाक्यपदीपकार श्री भर्तृहरि की उक्तियाँ वैयाकरणगण वेदवत् प्रामाणिक मानते हैं। अन्य दार्शनिक विद्वान् भी इनकी कृति का महान् आदर करते हैं। श्रीहरि कहते हैं कि संसार में धर्म, अर्थ, काम रूप तीन पुरुषार्थों की शब्दविद्या साधिका है किन्तु परम्परया चरम पुरुषार्थ 'न स पुनरावर्तते' इस श्रुति-बोधित नित्य मोक्ष का भी साधक है एवं सर्व विद्याओं में यह शब्दविद्या पवित्रतम ज्योतिः-स्वरूप ज्ञान प्रकाशिका है। व्याकरण वाणीगत मल निरासक होने से चिकित्सा शास्त्र है। तथा हि—

"तद्द्वारमपवर्गस्य वाङ्मयानां चिकित्सकम् । पवित्रं सर्वविद्यानामधिविद्यं प्रकाशते ॥
इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः । अत्रातीतविपर्यासः केवलामनुपश्यति ॥"

व्याकरण की प्राचीन परम्परा एवं उन आचार्यों का नाम

आचार्य पाणिनि के पूर्व ६५ महाविद्वान् शब्दशास्त्र के मर्मज्ञ रहे। उनके पुण्य-जनक नाम इस प्रकार हैं—आग्निवेश्म, आग्निवेश्यायन, आग्रहायण, आत्रेय, आन्यतरेय, आपिशलि, आह्वरक, उख्य, उत्तमोत्तरीय, उदीच्य-औदुम्बरायण, औदव्रजि, औपमन्यव, औपवि, और्णवाभ, काण्डमायन, काण्व, कात्यक्य, काश्यप, कौण्डिन्य, कौत्स, कोहलीपुत्र, कोष्टुकि, गार्ग्य, गालव, गौतम, चर्मशिरस्, चाक्रवर्मण, जातुकर्ण्य, तैटीकि, तैत्तरीयक, दालभ्य, नौगि, पञ्चाल, पौष्करसादि, प्राच्य, प्लाक्षि, प्लाक्षायण, बाभ्रव्य, भारद्वाज, माण्डुकेय, मार्शकीय मीमांसक, यास्क, वाडभीकार, पात्स, वात्स्य, वाष्यायणि, वाल्मीकि, वेदमित्र, व्याडि, शतबलाक्ष, मौद्गाल्य, शाकटायन, शाकपूणि, शाकल, शाकल्य, पितृस्थविर, शार्ङ्गवायन, शौत्यायक, शौनक, सांकृत्य, सेनक, स्थौलष्ठीव, स्फोटायन तथा हरित।

इन आचार्यों की व्याकरण विषयक विभिन्न कृतियाँ, उन पर गवेषणात्मक आलोचनाएँ, उनका वर्णन यहाँ लेख विस्तार भय से असामयिक है। इन पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लेखन महान् उपयोगी सिद्ध होगा।

"जयन्त्यष्टादि शाब्दिकाः" यह कथन ऐन्द्रादि व्याकरणपरक है।

"ऐन्द्रं चान्द्रं काशकृत्स्नं कौमारं शाकटायनम् । सारस्वतं चापिशलं शाकलं पाणिनीयकम् ॥"

महाभाष्य में कहा है कि 'इन्द्रः प्रथमः शाब्दिकः' इति। इस विषय में यह ऐतिह्य है। देवगुरु बृहस्पति ने इन्द्र के लिए दिव्य वर्ष सहस्र पर्यन्त प्रतिपदोक्त साधुशब्दों का पारायण उपदेशार्थ कहा, किन्तु इन शब्दों की पूर्णता न हुई। समर्थ बृहस्पतिजी के समान वक्ता एवं देवराज इन्द्र समान अध्येता तथा समय की बहुलता इन सर्व सामग्री रहने पर भी शब्द पारायण की समाप्ति न हुई, ऐसी परिस्थिति में

सम्प्रति अधिक से अधिक जीवन धारणकर्ता मनुष्य १०० वर्ष तक जीवित रह सकता है, ऐसे शब्दज्ञान जिज्ञासुओं को साधुशब्द ज्ञानार्थ प्रतिपदोक्त शब्द कर्मक उच्चारणरूप व्यापार उचित नहीं है अतः प्रकृति, प्रत्यय इनका अर्थज्ञान, तत्सम्बन्ध ज्ञान एकत्त्रयरूपा जो व्याकृति है उसका ज्ञान कराना यह उपाय श्रेष्ठतम जान कर बाद में यह क्रम प्रसारित हुआ।

संस्कृत में मूलस्वरूप इस प्रकार है :—

"एवं हि श्रूयते बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच, नान्तं जगाम। बृहस्पतिश्च प्रवक्ता, इन्द्रश्चाध्येता दिव्यं वर्षसहस्रं तमध्ययनकालस्तथापि न चान्तं जगाम किं पुनरद्यत्वे यः सर्वथा चिरं जीवति स वर्षशतं जीवति। तस्मादनभ्युपाय एष शब्दज्ञाने" इति।

व्याकरण परम्परा सामवेद के ऋक् तन्त्र में इस प्रकार वर्णित है :—

"इदमक्षरं छन्दसां वर्णशः समनुक्रान्तं यथाऽऽचार्या ऊचुः—ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच बृहस्पतिरिन्द्राय, इन्द्रो भरद्वाजाय, भरद्वाज ऋषिभ्यः, ऋषयो ब्राह्मणेभ्यस्तं खलु इमम् अक्षरसमाम्नायम् इत्याचक्षते" इति।

आचार्य पाणिनि का महत्त्व

यह निर्विवाद सिद्ध हो चुका है कि आचार्य पाणिनि साक्षात्कृतधर्मा रहे एवं सम्पूर्ण लौकिक-वैदिक वाङ्मय में उनकी अकुण्ठित प्रतिभा रही (इनकी कृति अष्टाध्यायी व्याकरण है)। उनके सूत्रों के आधार पर निष्पक्ष यह घोषित किया जाता है कि भूगोल, इतिहास, मुद्राशास्त्र एवं लौकिक व्यवहार के वे मर्मज्ञ विद्वान् रहे। आचार्य पतञ्जलि ने पाणिनि का महान् गौरव प्रदर्शन करते हुए आदर के साथ मुक्तकण्ठ से इनकी प्रशंसा की है :—

१—"प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचावकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणयति स्म। तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुं किं पुनरियता सूत्रेण"-म० भा० १।१।१।

दर्भ से पवित्र हस्तयुक्त यज्ञ करणार्थ प्रवृत्त प्रमाणभूत आचार्य ने प्राची दिशा की ओर मुख करके पवित्र स्थान में स्थित होकर महान् यत्न से सूत्रों की रचना की। इनके द्वारा निर्मित सूत्रों में एकवर्ण निरर्थक नहीं है। कैमुतिक न्याय से सूत्र वैयर्थ्यकल्पना का अत्यन्ताभाव सूचित इस उक्ति से हुआ। दृष्टफल, अदृष्टफल, दृष्टादृष्टफल इनमें कोई भी फल है, सर्वथा निरर्थक कोई भी सूत्र नहीं है। जिस प्रकार अष्टाध्यायी लिखी गई है उसका आदितः अन्तावच्छेदेन अध्ययन कर्ता के हृदयावच्छिन्न आकाश में समवाय सम्बन्ध से पुण्यजनक अदृष्ट उत्पन्न होता है। व्याकरण प्रक्रिया ज्ञानपूर्वक शब्दोच्चारण विषय में भगवान् भाष्यकार कहते हैं :—

"एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति" इति।

२—पतञ्जलि पाणिनि आचार्य के विषय में लिखते हैं :—

'सामर्थ्ययोगान्न हि किञ्चिदत्र पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात्।'

३—श्रीजयादित्याचार्य ने पाणिनि के विषय में यह उद्गार व्यक्त किया है :—

'महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य' (४-२-७४)

४—चीनदेश निवासी यात्री ह्वेनसाङ्ग महोदय ने कहा है कि "महर्षि पाणिनि ने शब्दभण्डार के शब्दों का चयन प्रारम्भ कर एक हजार श्लोकों में अर्थात् ४००० सूत्रों में सम्पूर्ण शब्द व्युत्पत्ति समाप्त की"। प्रत्येक श्लोक ३२ अक्षरों का था। इनमें प्राच्यनव्यशब्दज्ञान राशि परिसमाप्त है। (ह्वेनसाङ्ग, प्रथम भाग, हि० अनु० के आधार पर)। पाश्चात्य विद्वानों ने भी आचार्य पाणिनि के विषय में उच्चतम भावना व्यक्त की है :—

१—मोनियर विलियम महोदय लिखते हैं कि "संस्कृत का अष्टाध्यायी व्याकरण मानव मस्तिष्क की प्रतिभा का आश्चर्यतम भाग है जो कि मानव मस्तिष्क के सामने आया।

२—श्री हण्टर भी लिखते हैं "मानव मस्तिष्क का अतीव महत्त्वपूर्ण आविष्कार यह व्याकरण अष्टाध्यायी है।"

३—लेनिनगार्ड के प्रो० टी० शेरवात्सकी कहते हैं—"यह अष्टाध्यायी मानवमस्तिष्क की सर्वश्रेष्ठ रचना है"।

४—विदेश से ज्ञानपिपासु स्नातकगण भारत में आकर व्याकरण अष्टाध्यायी के अध्ययनोत्तर काल में चूर्णि (महाभाष्य) का तीन वर्ष तक अध्ययन करते थे। ९११ ई० में भृगुवंश का अन्तिम सम्राट् हिन्द-चीन द्वीप का राजा 'अनाम' नगर वास्तव्य श्रीइन्द्र वर्मा के आठ लेख जो उपलब्ध हुए हैं उसके आधार पर यह प्रमाणित हो चुका है कि व्याकरण अष्टाध्यायी एवं काशिका का यथाविधि उन्होंने विदेश में अध्ययन किया था। अष्टाध्यायी व्याकरण अध्ययन का चम्पा (अनाम) देश में महान् प्रचार था।

प्रक्रिया ग्रन्थों का इतिहास

१. रूपावतार, २. प्रक्रियाकौमुदी, ३. सिद्धान्तकौमुदी, ४ मध्यकौमुदी, ५. लघु-कौमुदी प्रभृति ग्रन्थों की रचना विभिन्न आचार्यों ने अधिकारियों की वस्तुस्थिति को देख कर की।

१—रूपावतार के लेखक बौद्ध भिक्षु धर्मकीर्ति महोदय हैं, उन्होंने ईसवी द्वादश शताब्दी में अष्टाध्यायी के चुने हुए सूत्रों पर व्याख्या की है। इससे यह सिद्ध हुआ की प्रक्रियाग्रन्थों की रचना बौद्धकाल में हुई।

२—१४८० वि० में रामचन्द्राचार्य ने प्रक्रियाकौमुदी की रचना की, यही ग्रन्थ सिद्धान्तकौमुदी की आधारशिला स्वरूप है ऐसा कुछ विद्वान् मानते हैं किन्तु सिद्धान्त-कौमुदी उन प्रक्रिया ग्रन्थों से सर्वश्रेष्ठ है, यह निर्णय हो चुका है।

श्रीभट्टोजि दीक्षितप्रयास

महावैयाकरण श्रीदीक्षित ने व्याकरण सूत्रों के आधार पर अर्थ ज्ञान सम्भव न होने में सरल सरस भाषा में ३९७५ सूत्रों में अस्पष्टार्थ प्रतिपादक सूत्रों की संस्कृत भाषा में वृत्ति लिखी उनकी कृति व्या० सिद्धान्तकौमुदी है। एवं अध्ययन क्रम में महती कठिनता की अनुभूतिकर दूर प्रदेश में बिखरे हुए सूत्रों की माला सदृश प्रक्रियोपयोगी सूत्रों का चयन करके प्रकरण विभाग प्रयोग साधनार्थ महान् परिश्रम से इस ग्रन्थ में किया है। कौमुदी का मूल आधार अष्टाध्यायी के सूत्र ही हैं। जब आधार-शिला पाणिनि सूत्र ही है ऐसी परिस्थिति में प्राचीन व्याकरण एवं नवीन व्याकरण का भेद ही स्वकपोल कल्पित अवास्तविक है। यह दूषित मनोवृत्ति विद्या के पवित्रतम क्षेत्र में रागादि दोष मूलक है उसका सात्त्विक वृत्ति से उच्छेदन अतीव आवश्यक है। पाणिनि सनातन धर्म वालों के आचार्य न थे, एवं वे आर्यसमाज के आचार्य भी न थे वे शब्दविद्या के प्रवर्तक सर्व धर्मावलम्बी विश्व के समस्त मानवमात्र के मान्य आचार्य थे। अतः व्याकरण विद्या में अपूर्णकार्य क्षेत्र में समय का वे सदुपयोग कर यह क्रम श्रेष्ठ है, यह क्रम श्रेष्ठ नहीं इसमें समय एवं शक्ति का ह्रास उभय पक्ष के मान्य विद्वान् न करें यह सप्रेम आग्रह है। 'बुद्धेः फलमनाग्रहः' अभिनिवेश या दुराग्रह प्रतिभा को कुण्ठित कर समाज में विषमता का प्रसार करता है। 'रुचीनां वैचित्र्यात्' 'येनेष्टं तेन गम्यताम्' यह उदात्त भावना से सवृत्तिक प्रक्रियोपयोगी ग्रन्थाध्ययन कीजिए। या प्रथमावृत्ति, द्वितीयावृत्ति तृतीयावृत्ति पूर्वक अष्टाध्यायी क्रम से शब्दविद्या का ज्ञानप्राप्त कीजिये। मेरे मत से यह विवाद तर्कशून्य अवैज्ञानिक है। व्यक्तिगत मैं दोनों पक्षों को समान मानता हूँ। किन्तु ५० वर्षों के अध्यापन से यह अनुभूति हुई की कल्पित नव्यव्याकरण के विद्वान् उभयविध क्रम के अध्यापन कार्य में समर्थ होते हैं इसमें क्या कारण है वह समाज के लिए विचारणीय प्रश्न है। विशिष्ट शैक्षणिक संस्थाओं में प्राचीन व्याकरण नाम से कुछ समयसे उद्घोषित परीक्षा पाठ्य क्रम के कल्पित प्रा० व्या० अध्यापन कार्य करते हुए सुचारु रूप से नव्यव्याकरणाचार्य ही दृष्टि गोचर हो रहे हैं।

अष्टाध्यायी पर 'प्रभा' नामक मेरी व्याख्या है, उसकी भूमिका में इस विषय पर विशेष प्रकाश प्रकाशित कर रहा हूँ जो यन्त्रस्थ है।

आचार्य पाणिनिका काल

ईसा के १४०० वर्ष पूर्व पाणिनि काल सिद्ध होता है। विशेष विवरण मेरे परममित्र महावैयाकरण श्रीब्रह्मदत्त शास्त्री जिज्ञासु महोदय के ग्रन्थ रत्नों से एवं परम गवेषक अनेक शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् श्री युधिष्ठिर मीमांसक महोदय के व्याकरण-इतिहास से एवं गवेषक विद्वान् डॉ० श्री देवप्रकाश शास्त्री के ग्रन्थों से अवगत होगा, इन पूर्वोक्त दोनों विद्वानों से मेरा व्याकरण के अध्यापन विषयक विमर्श स्नेह पूर्वक होता था, वे दोनों पूर्ण साधक शब्द शास्त्र के रहे यह निर्विवाद सत्य है। विद्याके क्षेत्र में

मतभेद होने पर भी मनोभेद न होना चाहिए। यही प्राचीन पद्धति काशी में रही।

आचार्य पाणिनि ने सपादसप्ताध्यायी सूत्र एवं त्रैपादिक सूत्रों का भेद ज्ञानपूर्वक असिद्धत्व प्रतिपादन पद्धति वैज्ञानिक स्वल्पतम शब्द बोध कराया है। छ प्रकार के सूत्रों की रचना आचार्य ने की है। सूत्रलक्षण—

स्वल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद् विश्वतोमुखम्। अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

अष्टाध्यायी एवं वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी

सर्वप्रथम ४२ प्रत्याहारों की व्यूह रचना कर हल् आदि संज्ञाएँ की, संक्षिप्त वर्ण बोधक को प्रत्याहार कहते हैं, इसके अनन्तर अनेक संज्ञाओं का निर्माण किया जिनको यदृच्छाशब्द कह सकते है। चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः—जाति-गुण-क्रिया-यदृच्छाशब्दाः। क्वचित् संज्ञाएँ अन्वर्थ भी है।

१—संज्ञा सूत्रों का उपयोग

प्रधानाभूत विधि शास्त्र जन्य शब्द धर्मिक साधुत्व प्रकारक बोध में संज्ञासूत्रार्थ बोध उपकारी है।

"संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च। अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रमुच्यते॥"

इससे छ प्रकार के सूत्रों में भेद अवान्तर है।

२—जहाँ अव्यवस्था प्रसक्त रहे वहाँ स्वविधेयार्थ की उपस्थिति द्वारा प्रमात्मक विधि शास्त्र बोधोपयोगिनी परिभाषा है। अनियमे नियमकारित्वं परिभाषात्वं यह संक्षिप्त स्वरूप है। विशिष्ट लक्षण रत्नप्रभा में है।

३—विधि सूत्रों का व्याकरण में प्राधान्य है अन्यविध सूत्र विध्युपकारक है। अपूर्व कार्य बोधक को विधि कहते हैं यथा 'इको यणचि' इति।

४—व्याकरण शास्त्र में नियम पद सर्वत्र परिसङ्ख्यापरक ही है। दार्शनिक सम्मत नियम परक नहीं है।

विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति। तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसङ्ख्येति गीयते॥

यद्यपि अन्यनिवृत्तिफला हि परिसङ्ख्या = परिसङ्ख्या द्वारा अन्यनिवृत्ति होती है, स्वार्थ में प्रवृत्ति वहां आवश्यक नहीं है। अर्थात् परिसङ्ख्या बोधित कार्यानुष्ठान आवश्यक नहीं है इस परिस्थिति में अनेक स्थल में परिसङ्ख्या परक नियम स्वीकार करने पर समाससंज्ञक का प्रातिपदिकत्व आवश्यक होगा। समास रहित पतिशब्द की संज्ञा आदि अनेक आपत्तियाँ आपतित होने से उसका उद्धार प्रकार स्वल्पतम जन संवेद्य गुरुपरम्परया आगत रत्नप्रभा में यह है कि पूर्वोक्त शङ्का उचित है किन्तु एक शाब्दिक सिद्धान्त विधेय रहित को साधुत्व वारणार्थ स्वीकृत है उससे उक्त शङ्का का निरास है, "जहाँ-जहाँ तत्तच्छास्त्रीय उद्देश्य वृत्तिधर्म = उद्देश्यतावच्छदेकता की स्थिति है वहाँ-वहाँ तत्तच्छास्त्रीय विधेयवृत्ति विधेयतावच्छेदकता रहती है। अर्थात् "उद्देश्यतावच्छेदकनिष्ठव्याप्यतानिरूपितव्यापकता विधेये भासते" यह नियम है।

५—**अतिदेश**—आरोप बोधकत्वरूप अतिदेश शास्त्र 'स्थानिवदादेशः' आदि है वे बाधसमकालिकेच्छाजन्यज्ञानविषयत्वरूप आहार्यज्ञान सम्पादक है। अतिदेश बोधित स्थल में वस्तुस्थिति का समाश्रयण नहीं होता है। यथा 'रामाय' यहाँ सुप्त्वाभाव वास्तविक यादेश में है किन्तु सुप्त्व ज्ञान का आरोपकर दीर्घ हुआ।

६—**अधिकार**—स्वयं कार्य विशेष को प्रतिपादन न कर अधिकृत विधेय शास्त्रों में अनुगमन पूर्वक विशिष्टार्थ प्रत्यायक अधिकार सूत्र है।

कौमुदी एवम् अभिनवा सांविमर्शा रत्नप्रभा व्याख्या

सर्व प्रथम सिद्धान्त को० में वैज्ञानिक क्रम से संज्ञाप्रकरण की रचना की जिनके ज्ञान से संकेत युक्त विधि सूत्रों का प्रमात्मक बोध होता है।

स्नातकों को आचार्य प्रयोग सिद्धि के पूर्व संज्ञासूत्रार्थ का ज्ञान कराने के लिए प्रवृत्त इस लिए हुए की उन संकेतों से युक्त विधिसूत्रों का वाक्यार्थबोध उनको अनायास हो सके।

१—यहाँ स्नातक दो वर्ग में विभक्त हुए। एक वर्ग आचार्योपदेश में दृढतर श्रद्धा युक्त है, वह जानता है कि इन उपदेशों का भविष्य में अवश्य फल होगा, अतः वह वर्ग संज्ञासूत्रार्थ एवं परिभाषा सूत्रार्थ का ज्ञान करके पुनः विधिसूत्र देश में उन संकेत युक्त पदों को देखकर तदर्थ का वह पक्ष अर्थ ज्ञान स्वतः कर लेता है वहां पुनः आचार्योपदेश की आवश्यकता उनको नहीं है यह अपेक्षा बुद्धियुक्त स्नातक वर्ग 'यथोद्देशं संज्ञापरिभाषम्' पक्ष का उत्थापक है।

२—अपर शिष्यवर्ग आचार्योपदेश काल में प्रयोग सिद्धि रूपफल संज्ञासूत्रार्थ नहीं एवं परिभाषा सूत्रार्थ का भी नहीं अतः आचार्योपदेश की उपेक्षा कर उन संकेतित पदों को विधिसूत्र में देखकर तदर्थज्ञान विषयक जिज्ञासा वह करता है कि इसका क्या अर्थ है उस वर्ग को पुनः आचार्य उन पदों का उपदेश विधि देश में करके एकवाक्यता से अर्थ बोध कराते हैं यह उपेक्षा बुद्धिमान् कार्यकालं संज्ञापरिभाषम् पक्ष का उत्थापक है। यह विषय कौमुदी में अनेकत्र स्थल में मूल परिभाषा मात्र वर्णन से लिखा है, उसकी पूर्वोक्त प्रकार स्पष्ट व्याख्या सप्रमाण रत्नप्रभा में लिखी गई है।

रत्नप्रभा की अतीव संक्षिप्त विशेषताएँ सागरमथनवत् यहाँ प्रदर्शन संभव नहीं तथापि कुछ विशेषताएँ प्रदर्शित करते हैं।

१—आचार्य होने पर भी संज्ञा सूत्रों का सुस्पष्ट ज्ञान संज्ञास्वरूप ज्ञान सांज्ञिस्वरूप ज्ञान प्रायः अधिकांश स्नातकों को नहीं होता है। इन दोषों का निराकरण सुगम प्रकार से रत्नप्रभा में लिखा गया है।

२—अनुवृत्ति क्रम निर्दुष्ट सूत्रार्थ बोध क्रम वर्णित किया है।

३—प्रक्रिया साधनिका के साथ-साथ प्रयोगों के अर्थ सुस्पष्ट यथासम्भव प्रदर्शित किये हैं जो अन्य व्याख्याओं में दुर्लभ है।

४—'इको यणचि' में अचि में अधिकरण में सप्तमी वह किस आधेय का आधार है इस प्रश्न का समाधान इस व्याख्या में है। इक् का आधार अच् है। इक् आधेय है वह अव्यहितोतरत्व सम्बन्ध से अच् में स्थित है। यह सूक्ष्म ज्ञान व्युत्पत्ति के लिए छात्रों को अपेक्षित है।

५—सिद्धान्तकौमुदी में जो संस्कृत वाक्य छोटे-छोटे आते हैं इनका भी सारगर्भित व्याख्यान व्याख्या में लिखा है।

६—प्राचीन काल में शास्त्र प्रवेश के पूर्व में शब्द कोशादि कण्ठस्थ की आर्षपद्धति थी अतः अर्थज्ञान की ओर ध्यान नहीं दिया जाता था। छात्र स्वयं अर्थ ज्ञान करते थे। किन्तु सम्प्रति अर्थ ज्ञान के बिना अव्युत्पन्न छात्रगण होने लगें एवं अध्यापक वृन्द भी क्रमशः अर्थ ज्ञान प्रस्तुत करने में उदासीन हुए इन दोषों का इस रत्नप्रभा में यथाशक्ति निराकरण किया गया है।

७—"अर्थज्ञानार्थं शब्दप्रयोगः। प्रत्यर्थं शब्दाभिनिवेशः" इस भाष्योक्ति की अध्ययन-अध्यापन में सम्प्रति उपेक्षा हो रही है वह आत्मघातक दोष है।

सात वैदिक मन्त्रों की व्याख्या इस व्याख्या में की गई है। यथा 'युवं वस्त्राणि' 'क वोऽश्वाः' प्रभृति की। सृष्टिसन्धि, संहार सन्धि दो ही सन्धियां हैं, पांच नहीं इस पर पण्डितराज स्वर्गीय श्री रामाज्ञा पाण्डेय जी मत का उद्धरण किया गया है।

८—प्रौढ़ पाण्डित्य रक्षार्थ फक्किकाओं का विशद शास्त्रार्थ वर्णन रत्नप्रभा में है।

९—षोडशमातृका स्वरूप, सुदर्शन चक्र का महत्त्व अहिर्बुध्न्यसंहिता एवं श्रीभास्करानन्द विरचित वरिवस्था रहस्य के आधार पर रत्नप्रभा में एवं विमर्श में उल्लेख है।

१०—पाणिनि–कात्यायन–पतञ्जलि को त्रिकालदर्शित्व साधन पूर्वक परस्पर ऐक्यमत का रत्नप्रभा में रोचक व्याख्यान अन्यत्र दुर्लभ यहाँ लिखित है।

११—प्रसङ्गतः आगत परिभाषाओं में ज्ञापन, परिभाषार्थ विवेचन पूर्णज्ञानार्थ यहाँ लिखा गया है।

स्त्रीप्रत्यय प्रकरण में विशिष्ट शास्त्रार्थ व्याख्या में है। अनुलोम सङ्कर एवं प्रतिलोम सङ्कर जातियों का विशद वर्णन धर्मशास्त्र के प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर लिखा गया है।

१२—'षट् कारकाणि' मत का निरास पूर्वक ४ कारक सिद्ध किये गये हैं। कर्मादि कारकों में व्यापारजन्य फलोत्पत्ति में कार्यकारणभाव का विवेचन व्याख्या में है। यथा—"समवायेन विक्लित्तिम्प्रति तादात्म्येन तण्डुलस्य कारणता" एवमन्यत्र भी विशद विचार वर्णित है।

'कालाध्वनोः' सूत्र पर विशद कालस्वरूप में समस्त दार्शनिक मतों का संक्षिप्त दिग्दर्शन रोचक प्रदर्शित हुआ है। एवं महावैयाकरण श्री हाराणचन्द्र भट्टाचार्य महोदय ने 'कालविमर्शिका' निबन्ध में वर्णित विषयों का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराया है।

१३—'समर्थ पदविधिः' का विमर्श यहाँ अपूर्व है।

१४—समासों के नाम एवं उनमें ही उदाहरण क्रम अद्यावधि अन्यत्र अप्रकाशित इस व्याख्या में है। यथा 'तत्पुरुष' यह संज्ञा है एवं इसी में उसका उदाहरण भी है— 'स चासौ पुरुषः'=तत्पुरुषः=कर्मधारय समास। एवं 'तस्य पुरुषः'=तत्पुरुषः=सामान्य-तत्पुरुषः। एवं बहवो व्रीहयो यस्य 'बहुव्रीहिः' समास का उदाहरण एवं विशेष नाम।

१५—व्युत्पन्न छात्र को तद्धित प्रकरण कम वैयाकरण अर्थ ज्ञानपूर्वक पढ़ा सकते हैं उसमें संकेतित अर्थों का अतीव काठिन्य है, वह अर्थ ज्ञान यथाशक्ति कोषादि के आधार पर स्पष्ट व्याख्या में निर्दिष्ट है। इस व्याख्या की यह विशेषता है कि—व्युत्पत्ति-द्वारा अधिकांश शब्दों को यौगिक सिद्ध करने का यत्न यथामति किया गया है।

१६—धातुओं का परिनिष्ठित सिद्धान्त अर्थ, एवं सकर्मकत्व अकर्मकत्व व्यवस्था, क्रियात्व का सामान्य लक्षण एवं क्रियात्व का व्याप्यभेद प्रदर्शन, एवं गणों में सूक्ष्मेक्षिकया अनेक विवेचन पङ्क्तियों का विशदशास्त्रार्थ, वाक्यपरिवर्तनक्रम इसमें प्रदर्शित है।

१७—"औननत्" की प्रसिद्ध पङ्क्ति का समन्वय कर ग्रन्थकार के मत का भाष्यादि-प्रामाण्य से खण्डन कर 'औनिनत्' इत्येव इति पञ्चोलिनः। लोडर्थ एवं णिजर्थ का पर्याय वाचकत्व का खण्डन व्याख्या में किया गया है। यङन्त में 'वध्यात्' 'अवधीत्' रूप ग्रन्थकार ने लिखे हैं। वस्तुतः 'जंवध्यात्' 'अजंवधीत्' इत्येव इति पञ्चोलिनः। 'ओः पुयण्जि' सूत्र में 'ओः' ग्रहणं न कार्यम्' यह विमर्श दर्शनीय है।

१८—अपाणिनीय उणादि ७४८ सूत्रों की उपेक्षा वैयाकरणों के लिए आत्मघात समान है उन सूत्रों की व्याख्या एवं कोशादि के आधार पर एक शब्द के अनेकार्थत्व सिद्धि का प्रयास 'रत्नप्रभा' में किया गया है। पाठ्यक्रम में उणादि ज्ञान का अभाव दोषाधायक है। उसकी उपेक्षा से शब्द भण्डार की कमी अनुवाद एवं प्रवचन में होती है। स्वर प्रकरण एवं वैदिक प्रक्रिया का विशद विवेचन व्याख्या में है।

१९—शान्तनवाचार्य प्रणीत ८९ अपाणीनीय सूत्रों का प्रामाण्य भाष्य आदि प्रमाणों से सिद्ध किया गया है।

नैयायिक मत की आलोचना पूर्वक पुंल्लिङ्गादि के लिए अन्तिम प्रकरण के प्रारम्भ में ११६ अपाणिनीय सूत्रों पर गवेषणा पूर्वक तत्रत्य प्राक्कथन महत्त्व पूर्ण है।

प्रायः ३९७५ पाणिनीय सूत्र एवं अपाणिनीय ७४८ उणादि सूत्र एवं अपाणिनीय ११६ लिङ्गानुशासन सम्मिलित सूत्र संख्या—४८३९ सूत्रों की व्याख्या प्रायः १२०० वार्तिकों का व्याख्यान, २२०० धातुओं के अर्थनिर्देश, रत्नप्रभा में वर्णित है। उच्चतम शिक्षण संस्थाओं में भी सर्वत्र 'वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी' का अध्यापन कार्य राष्ट्रभाषा हिन्दी के माध्यम से होता है। यह निर्विवाद है।

स्वतन्त्र भारत का महत्त्व संस्कृत भाषा एवं राष्ट्रभाषा हिन्दी से है एवं होगा यह ध्रुव सत्य है। दैनिक सर्व विध कार्य क्रम भारत के अनेक प्रान्तों में हिन्दी भाषा के

माध्यम से होता है। इस परिस्थिति में संस्कृत के ग्रन्थरत्नों का हिन्दी में विशिष्ट मौलिक व्याख्यान विमर्श द्वारा करने का यह मेरा वृद्धावस्था में प्रयास सहृदय समाज जो गुणैक-पक्षपाती है उनकी दृष्टि में आदरणीय होगा इस भारत में कुछ ऐसे भी जन थे एवं हैं जिन्होंने सन्त शिरोमणि श्री तुलसीदास का ईश्वरवाद प्रचारार्थ हिन्दी रामायण का भी अज्ञान वश विरोध रामायण के निर्माण काल में किया था। पश्चात् वे उसका वेदवाक्य की तरह अनुशीलन करने लगे अतः किसी विषय सात्त्विक भावना से लेखन क्रिया द्वारा प्रकाशन का मूल्याङ्कन इतिहासवेत्ता बाद में ही करते हैं। लेखक के जीवन काल में उसकी कृति का उचित मूल्याङ्कन नहीं होता है।

उपसंहार

पू० श्री बालशास्त्री के प्रधान शिष्य परमगुरुवर श्री दामोदर शास्त्री के विद्या वंश में पूज्य गुरुवर श्री सभापति शर्मोपाध्याय महोदय द्वारा गुरुपरम्परया ज्ञात शाब्दिक सिद्धान्तों को यथा समय यथा स्थान उल्लेख इस अन्वर्थ व्याख्या रत्नप्रभा में किया गया है। पूर्वोक्त कथन दिग्दर्शन मात्र है। पूर्ण ग्रन्थावलोकन से व्याख्या का वैशिष्ट्य ज्ञान स्वतः होगा।

यद्यपि इस ग्रन्थ पर अनेक मान्य व्याख्याएँ संस्कृत में प्रकाशित है। यथा—तत्त्वबोधिनी, बालमनोरमा पूज्यगुरुदेव कृत स्त्रीप्रत्ययान्त लक्ष्मी व्याख्या। किन्तु आधुनिक समय में छात्रों को अनेक व्याकरणेतर विषय पढ़ने में श्रमाधिक्य से संस्कृत माध्यम से कठिनता को दृष्टिगत कर समाज की महती आवश्यकता की पूर्ति हिन्दी माध्यम से रत्नप्रभा द्वारा की गई है। इस नूतन रचना से संस्कृत साहित्य की श्रीवृद्धि के साथ-साथ राष्ट्रभाषा हिन्दी की महती श्रीवृद्धि एक गुजराती मातृभाषाभाषी द्वारा हुई है। जिस गुजरात प्रान्त ने सर्व प्रथम हिन्दी को सहर्ष अपनाया एवं राष्ट्रपिता रूप में महात्मा गान्धी को दिया, वैदिक धर्मोप्रचारक ऋषि दयानन्द सरस्वती को वैदिक धर्म प्रचारार्थ दिया, लोहपुरुष सरदार वल्लभ भाई पटेल का प्रादुर्भाव किया। महाकवि माघकवि का प्राकट्य किया। अपनी स्वल्पमति से इस महान् ग्रन्थ की व्याख्या एवं विमर्श द्वारा राष्ट्रभाषा की स्वल्पतम सेवा का मुझे भी सौभाग्य प्राप्त हुआ। एवं अखिल भारतीय स्वरूप चौखम्बा संस्कृत सीरीज का सेवा साहित्यिक प्रचार दृष्टि से अद्वितीय ही है, यह निर्विवाद है। राष्ट्र की सुसम्पन्नता समृद्ध साहित्य पर निर्भर होती है उस कार्य में चौखम्बा संस्कृत सीरीज महारथी है।

इस कृति से छात्रगण एवं गुणैकपक्षपाती विद्वद्गण अवश्य लाभान्वित होगें ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है। किसी कवि ने कहा है—

दोषा दोषवतां भान्ति गुणा गुणवतामिह। सुधियां सुधिया दोषा अदोषा पुण्यशालिनाम्॥
नचात्रातीव कर्तव्यं दोषदृष्टिपरं मनः। दोषो ह्यविद्यमानोऽपि तच्चितानां प्रकाशते॥

कृतज्ञता-ज्ञापन

इस ग्रन्थ की व्याख्या लिखाने के लिए श्री मोहनदास गुप्त महोदय ने साग्रह मुझे प्रोत्साहित किया एवं सीरीज सम्बद्ध गुप्त बन्धुओं ने समय-समय पर लेखनार्थ अनेक पुस्तक भण्डार मेरे समक्ष प्रस्तुत किया एतदर्थ मैं इनको शुभाशीर्वाद पूर्वक धन्यवाद प्रदान करता हूँ। प्रभु उनकी उत्तरोत्तर अभ्युन्नति करें।

"चौखम्बा संस्कृत सीरीज" के सहृदय विद्वान् प्रकाशन कला के पूण अभिज्ञ पण्डितप्रवर श्रीरामचन्द्र झा महोदय का मैं अतीव कृतज्ञ हूँ जिनके महान् सहयोग से इस शुद्ध संस्करण पुस्तकाकार स्वल्प समय में हुआ। विद्यावयोवृद्ध होने के कारण मैं श्री झाजी के आशीर्वाद पूर्वक धन्यवाद प्रदान करता हूँ।

मेरी धर्मपत्नी विदुषा शान्तादेवी पञ्चोली ने इसकी प्रेस कापी में एवं सम्पादन कार्य में मुझे सहायता प्रदान की एतदर्थ मैं कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। चि० प्रिय कमलेश शास्त्री एवं चि० प्रिय रमेश शास्त्री इन दो मेरे बालकों ने शब्दों के चयनादि कार्य में यथाशक्ति सहायता मुझे दी एतदर्थ अनेकानेक आशीर्वाद उनको प्रदान करता हूँ। गुजरात विद्यामन्दिर काशी के संस्कृत विभागाध्यक्ष पं० श्रीद्विजदेव उपाध्याय आचार्य एम० ए० का मैं इस के सम्पादन कार्य में उपकृत हूँ एतदर्थ गुरुत्व पद से उनको शुभाशीर्वाद से पुरस्कृत करता हूँ।

मैं अपने विद्याप्रदाता आचार्यचरण पुण्यश्लोक गुरुदेव दिवङ्गत व्याकरण पतञ्जलि पण्डितराज सर्वतन्त्रस्वतन्त्र पं० श्रीसभापति शर्मोपाध्याय महोदय के पूर्वप्रदत्त शुभाशीर्वाद प्रयुक्त इस महान् कार्य को सविधि पूर्ण कर सका उनका आजीवन मैं ऋणी हूँ। एवं श्रद्धाञ्जलि इस रत्नप्रभा रूप कुसुम द्वारा प्रदान करता हूँ। सुज्ञ पाठकों से नम्र निवेदन है कि मेरी मातृभाषा गुजराती है। एवं संस्कृत माध्यम से मेरे द्वारा अध्ययन-अध्यापन कार्य ४० वर्ष तक काशी में उच्चतम संस्थाओं में सम्पन्न हुआ, ऐसी परिस्थिति में इस अभिनव कृति राष्ट्रभाषा हिन्दी में मेरे द्वारा हुई इसमें भाषा प्रयुक्त यदि कोई त्रुटि हुई हो तो हिन्दी जगत् क्षमा करें यही नम्र प्रार्थना है। तस्मै पूर्णात्मने नमः।

के० १३/८, कृष्णकुटीर
जतनवर
वाराणसी, दि० १।४।६९

श्रीबालकृष्ण पञ्चोली
वाराणसेय संस्कृत विश्व विद्यालय पूर्व प्राध्यापक

विषयानुक्रमणिका

॥ श्रीः ॥

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी

सविमर्श 'रत्नप्रभा' हिन्दीव्याख्योपेता

अथ संज्ञाप्रकरणम्

मुनित्रयं नमस्कृत्य तदुक्तीः परिभाव्य च ।
वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदीयं विरच्यते ॥ १ ॥

रत्नप्रभा

शास्त्रे रत्नैर्गुरुजनभवप्रज्ञयाऽऽप्तप्रकर्षैश्चित्रैस्तर्कैर्नवनवधियां सत्तरङ्गैरुपेताम् ।
पौंस्नैरर्थैः कमलनिचयैर्विष्टपं प्रीणयन्तीं वाचं वन्दे जलनिधिसमां श्रीलपङ्क्तोल्यहं ताम् ॥
रमाप्रेमाऽऽमज्जज्जगदवनदक्षं मधुहृतश्रुतिस्तोमःहृस्था परिजनितवेदाननमुदम् ।
अखण्डानन्दाढ्यं निखिलजनहृत्कञ्जनिलयं हयग्रीवं वन्दे प्रकृतकृतिविघ्नक्षतिकृते ॥

तीन मुनियों को प्रणाम कर, प्रमाणों से प्राचीन वैयाकरणों के अपसिद्धान्तों का खण्डन कर, तीन मुनियों के मत का अनुचिन्तन कर इस वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी नामक ग्रन्थ की मैं रचना करता हूँ।

विमर्श—व्याकरण शास्त्र के प्रवर्तक अनेक वैयाकरणों में पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि प्रधान हैं। सूत्रों के रचयिता पाणिनि हैं। सूत्र की परिभाषा—स्वल्प शब्दों से अधिक अर्थ को दिखा देने वाला। सूत्रों में न्यूनता के परिहार के लिए कात्यायन ने जो वाक्य रचे उन्हें वार्तिक कहते हैं। वार्तिककार के रूप में कात्यायन प्रसिद्ध हुए। कात्यायन का वररुचि भी नाम है। सूत्र एवं वार्तिकों का विचार कर उनके सिद्धान्तों को पतञ्जलि मुनि ने स्पष्ट किया, उनका ग्रन्थ 'महाभाष्य' है, पतञ्जलि भाष्यकार कहे जाते हैं। कौमुदीकार भट्टोजिदीक्षित ने अपने मङ्गल श्लोक में इन तीनों मुनियों का नमस्कार किया है।

अनेक वैयाकरणों ने सूत्र-वार्तिक-भाष्य के अर्थों पर प्रमाणों से जो सिद्धान्त किये हैं, वे वैयाकरणसिद्धान्त हैं, एवं यह ग्रन्थ चन्द्रिका (चाँदनी) सदृश प्रकाशक है। इस कारण इसका नाम वैयाकरण-सिद्धान्त-कौमुदी है।

इस मङ्गल श्लोक में १—विषय, २—प्रयोजन, ३—अधिकारी एवं ४ साध्य-साधकभाव स्वरूप सम्बन्ध का निर्देश अध्ययन में प्रवृत्ति कराने के लिए निर्दिष्ट है। वैयाकरणसिद्धान्त विषय है, उनका ज्ञान प्रयोजन है, ज्ञान का जिज्ञासु अधिकारी है, एवं पूर्वोक्त सम्बन्ध है। 'मुनित्रयम्' में कारक विभक्ति द्वितीया ने चतुर्थी का बाध किया है, वर्तमान समीपभूत में वर्तमान तुल्य प्रयोग से

'विरच्यते' में वर्तमान काल निर्दिष्ट है। अनेकार्थ धातु है—तिरस्कार एवं विचार दोनों अर्थ अनुपूर्वक भू का है। "कौमुदी चन्द्रिका ज्योत्स्ना" यह कोष है, 'कौंई' का विकास चाँदनी से होता है, कौमुदी सदृश यह ग्रन्थ वैयाकरणसिद्धान्त का प्रकाशक है।

१—अइउण्। २—ऋऌक्। ३—एओङ्। ४—ऐऔच्। ५—हयवरट्। ६—लण्। ७—ञमङणनम्। ८—झभञ्। ९—घढधष्। १०—जबगडदश्। ११—खफछठथचटतव्। १२—कपय्। १३—शषसर्। १४—हल्।

इति माहेश्वराणि सूत्राण्यणादिसंज्ञार्थानि। एषामन्त्या इतः। लण्मध्येऽकारश्च। हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः।

यह किंवदन्ती प्रचलित है कि भगवान् शङ्कर की आराधना करने पर प्रसाद स्वरूप शिव से प्राप्त ये चौदह सूत्र अण् आदि संज्ञाओं के निमित्त हैं। इन चौदह सूत्रों में प्रत्येक सूत्र के अन्तिम वर्ण ण् आदि की इत् संज्ञा होती है। इसी प्रकार 'लण्' में अकार भी इत्संज्ञक है। ह से लेकर आगे जो वर्ण हैं, उनमें जो अकार वर्ण है, वह केवल स्पष्ट उच्चारण के लिए जोड़ा गया है—उसका अन्य फल नहीं।

विमर्श—१—तीक्ष्ण बुद्धिमान् आलोचक पाणिनि मुनि ने प्राचीन अनेक व्याकरणों का अनुशीलन कर स्वकीय प्रतिभा से सूत्रों की रचना के लिए वैज्ञानिक क्रम से ४१ या ४२ प्रत्याहारों द्वारा संक्षिप्त वर्णबोधनार्थ इस प्रकार 'अइउण्' आदि वर्णों का उपन्यास किया है, यह पाणिनि की मौलिक कृति है। किसी आस्तिक शिव-भक्त ने शङ्करप्रसाद लब्ध है, यह उपन्यास किया है। किन्तु गुणग्राही निष्पक्ष लेखक पाणिनि है, यह निःसंदेह ही है, अपने सूत्रों में उन्होंने जिन जिन आचार्यों से जो कुछ प्राप्त किया, उसका स्पष्ट निर्देश सूत्रों में किया है। वे साहित्यिक तस्कर वृत्ति का समाश्रयण करने वालों में अन्यतम नहीं थे—आपिशलि-गार्ग्य-शाकल्य-भारद्वाज आदि छोटे २ वैयाकरणों के मतों का भी जब वर्णन करते हैं तो किसी प्रसङ्ग में वे लिखते हैं कि मुझे शङ्करप्रसाद रूप में १४ चौदह सूत्र प्राप्त हैं।

२—ताण्डव नृत्य क्रोधावस्था में ही होता है जो महान् भयानक है, पुराण एवं इतिहास ग्रन्थों में जब जब शङ्कर जी ने ताण्डव भयानक नृत्य किया उसका वर्णन है। किन्तु सनकादि एवं पाणिनि के तपश्चर्या समय ताण्डव नृत्य करना असामयिक है एवं उसकी समाप्ति के अनन्तर डमरु के शब्द से इन चौदह सूत्रों की स्पष्ट वर्णात्मक ध्वनि हुई, यह भी पक्ष विचारणीय है। 'नृत्यावसाने' यह श्लोक प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में वर्णित नहीं है, वह भी शिवभक्त की रचना है।

३—जब अनेक वैज्ञानिक अनेक आश्चर्यजनक अपनी कृतियों से पदार्थ निर्माण करते हैं, यथा 'एटमबंब' आदि का, तो एक महर्षि आजीवन अपनी साधना द्वारा इस वैज्ञानिक वर्णक्रम एवं तन्मूलक सूत्रों की रचना क्यों नहीं कर सकते ?, इस परिस्थिति में इसकी रचना का श्रेय उन्हीं को स्वतन्त्रतापूर्वक दिया जाय तो क्या हानि है ?। भगवान् सदाशिव ज्ञान के अधिष्ठाता हैं, इसमें यहाँ विवाद नहीं है, इस क्षेत्र में वे मान्य एवं स्तुत्य हैं।

४—ऐसी परिस्थिति में "पाणिनि मूर्ख थे, दूसरे शिष्य उनका उपहास गुरुकुल में करते थे। उससे दुःखी होकर पाणिनि ने महेश्वर की सेवा की। शिव ने प्रसन्न होकर नृत्य की समाप्ति में चौदह बार डमरु बजाया उससे जो शब्द निकले, वह चौदह सूत्र हैं" यह कथा कहाँ तक संगत

है, इस पर गवेषक विचार करें, विचारार्थ यह विषय प्रस्तुत है। इसमें खण्डन बुद्धि या अभिनिवेश (आग्रह) बुद्धि नहीं है। 'उपज्ञोपक्रम' सूत्र पर बिना उपदेश लब्ध स्वतः ज्ञान को उपज्ञा कहते हैं। उपदेशं विना जातं प्रथमं ज्ञानम् = उपज्ञा = आद्यं ज्ञानम्। इसका उदाहरण—पाणिन्युपज्ञं ग्रन्थः = अष्टाध्यायी में यह दिया है। इससे भी सिद्ध है कि यहाँ उपदेशक पाणिनि के श्री सदाशिव नहीं हैं। वेदान्तादि अनेक शास्त्रों में यह कल्पित कथा नहीं तो व्याकरण में ही क्यों ? पाणिनि का उद्भवकाल प्रायः २७०० सौ वर्ष पूर्व गवेषकों ने सिद्ध किया है। पुराणों का काल पाणिनि के उत्तर है अतः पुराणों में जो कुछ व्याकरण का मिलता है वह पश्चात् भव होने से पाणिन्यादि व्याकरण से ही लिया गया है। यही सिद्धान्त है, पुराणकाल पश्चात् है इसमें अनेक प्रमाण हैं। प्राचीन कुछ स्वल्प पुराण मूल रूप में रहे। समय २ पर परिवर्धन होता गया है। ७०० वर्ष पूर्व पुराण-काल कुछ लोग मानते हैं।

प्रसिद्ध कथा के आधार पर अग्रिम व्याख्यान है।

वैयाकरण मत में अक्षर नित्य हैं, शब्द ब्रह्म वर्णों को कहा जाता है ब्रह्म का प्रतिपादक होने से। इन चौदह सूत्रों को 'वर्णसमाम्नाय' कहा जाता है, अम्नाय वेद को कहते हैं। व्याकरण वेदाङ्ग है। इस व्याकरण के आठ अध्याय हैं, इनको अष्टाध्यायी कहते हैं। संकेतित अर्थ को बोधन जो करे उसे संज्ञा कहते हैं। संज्ञाओं का निर्माण लाघवार्थ है। संज्ञाएँ थोड़े शब्दों से अधिक अर्थ का बोधन कराती हैं। गमनार्थक इण् धातु से क्विप् तुक् से निष्पन्न इत् का अर्थ केवल किसी सूचनार्थ अन्त में जोड़े हुए वर्ण का निकल जाना अर्थ है। इत् संज्ञक वर्ण प्रत्याहार बोध्य नहीं है। अर्थात् अन्य वर्ण की तरह इनकी गणना नहीं है।

"अ इ उ ऋ ऌ ए ओ ऐ औ" स्वर है। 'हयवरट्' आदि में वर्णों के स्पष्ट उच्चारण के लिए अकार स्वर का उपन्यास है। स्वर न मिलाया जाय तो प्रत्येक वर्ण को विरामयुक्त य्, व्, आदि लिखने पड़ते। उच्चारण के लिए हयवरट् में अकार है उसका अन्य कोई प्रयोजन नहीं है। 'लण्' सूत्र के मध्य में 'अ' उच्चारण के लिए नहीं है किन्तु उस अकार की इत्संज्ञा द्वारा 'र' संज्ञा की सिद्धि होती है। वर्ण का अर्थ अक्षर (अविनाशी) है, विशेष रूप से सूत्राक्षरों में इसका व्यवहार होता है, एवं उच्चारणों में वर्ण शब्द प्रयुक्त होता है। वर्ण का अर्थ 'रंग' भी है। पक्के रंग पर कोई अन्य प्रहार उसके नाशार्थ नहीं करता है। 'इत्' 'अण्' आदि संज्ञा आगे के दो सूत्रों से दिखाई गई है।

सिद्धान्तकौमुदी अष्टाध्यायी की व्याख्या है किन्तु अष्टाध्यायी में जो सूत्रक्रम है वैसा इसमें क्रम नहीं है। एक कार्य के विधायक सम्पूर्ण सूत्र एक स्थान पर अष्टाध्यायी में हैं। कौमुदी में अलग-अलग शब्दों की सिद्धि के लिए पृथक् प्रकरण है। प्रकरण के अनुसार सूत्रनिर्देश है। कौमुदी में इस कारण सूत्रों का क्रम मूलक्रम से भिन्न है। प्रयोग सिद्धि द्वारा अध्ययन में कौमुदी का क्रम सुगम है। इस क्रम में अनुवृत्तियों के ज्ञान में अधिक प्रयास होता है किन्तु विशेषज्ञ प्राध्यापक छात्रों को उसका ज्ञान करा देते हैं। यह भट्टोजिदीक्षित वर्णित क्रम भी वैज्ञानिक है।

१—हलन्त्यम् १।३।३।

हलिति सूत्रेऽन्त्यमित् स्यात्।

हल् सूत्र में अन्त्य विद्यमान ल् वर्ण की इत् संज्ञा है। (इस प्रकार इत्संज्ञा सिद्ध कर-)

२–आदिरन्त्येन सहेता १।१।७१।

अन्त्येनेता सहित आदिर्मध्यगानां स्वस्य च संज्ञा स्यात्। (इति हल् संज्ञायाम्)।

प्रथम वर्ण एवं अन्त्य इत्संज्ञक वर्ण दोनों को मिलाकर जो शब्द उच्चरित होता है, वह (हल्) बीच के अक्षरों का एवं अपना बोधक है। अर्थात् हलादि संज्ञाएँ इससे सिद्ध होती हैं, 'हल्' संज्ञा स्वरूप है ह से लेकर ल् तक वर्ण हल् प्रत्याहार के बोध्य हैं।

विमर्श—यहाँ अवयव वाचक आदि एवं अन्त्य से समुदाय का अर्थापत्ति प्रमाण से आक्षेप है, स्व शब्द की 'स्वं रूपम्' से अनुवृत्ति है। प्रत्याहारों का विधि सूत्रों में संकेतित अर्थ ज्ञानार्थ आवश्यक है। वहाँ आदि एवं अन्त्यवर्ण एक साथ उच्चरित हैं। अतः आदि, अन्त्य की लक्षणा करके अन्त्य इत्संज्ञक वर्ण सहित आदि सदृश अपने एवं मध्य में रहने वाले वर्णों की संज्ञा होती है। हल् संज्ञा बोध्य उसके ह से लेकर ल् तक, ल् इत्संज्ञक है अतः प्रत्याहार बोध्य नहीं है। वर्णसमाम्नाय में आदि एवं अन्त्यवर्ण दोनो मिलकर उच्चरित नहीं हैं। इस प्रकार हल् प्रत्याहार की सिद्धि के बाद—

१–हलन्त्यम् १।३।३।

उपदेशेऽन्त्यं हलित्स्यात्। उपदेश आद्योच्चारणम्। ततोऽणजित्यादिसंज्ञा-सिद्धौ।

उपदेश में अन्त्य हल् की इत्संज्ञा होती है। उपदेश का अर्थ है—उच्चारण। वह उच्चारण पाणिनि, कात्यायन एवं पतञ्जलि का है।

विमर्श—यहाँ आद्य शब्द का प्रथम अर्थ नहीं है। किन्तु अज्ञात वर्णों के स्वरूप ज्ञान के लिये तीन मुनि द्वारा उच्चरित को उपदेश कहते हैं, उच्चरित वर्ण अधिक वर्णों को या न्यून को जहाँ बोधन न करे उसको ही उपदेश कहते हैं। यथा वर्णसमाम्नाय में। विधि सूत्र में 'इक्' दो वर्ण उच्चरित है, बोध हुआ इ उ ऋ ल का अतः 'इक्' उपदेश नहीं।

३–उपदेशेऽनुनासिक इत् १।३।२।

उपदेशेऽनुनासिकोऽजित्संज्ञः स्यात्। प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः। लण्सूत्रस्थावर्णेन सहोच्चार्यमाणो रेफो रलयोः संज्ञा। प्रत्याहारेष्वितां न ग्रहणम्, अनुनासिक इत्यादिनिर्देशात्। न ह्यत्र ककारे परे अच्कार्यं दृश्यते। आदिरन्त्येनेत्येतत्सूत्रेण कृताः संज्ञाः प्रत्याहारशब्देन व्यवह्रियन्ते।

उपदेश अवस्था में विद्यमान अनुनासिक वर्ण की इत् संज्ञा होती है।

गुरुपरम्परा से निश्चयात्मक कथन से पाणिनीय वर्णों को अनुनासिक जानना। अथवा इत्संज्ञा रूप कार्य से इत्संज्ञा के कारण अनुनासिक वर्णों का ज्ञान करना। लण् सूत्र में जो अ इत् है, वह दोनों मिल के 'र' ऐसा उच्चारण हुआ, र 'रल' की संज्ञा है। कभी कभी र से लकार का बोध करना पड़ता है वहाँ इस संज्ञा का उपयोग है। प्रत्याहारों में इत्संज्ञक वर्णों का ग्रहण नहीं होता, कारण कि इत्संज्ञक सूत्र में स्वयं पाणिनि ने 'अनुनासिक' उच्चारण किया है। यदि अच् प्रत्याहार में इत्संज्ञक क् आता तो सि के इकार को यण् आचार्य करते। 'कुत्सितानि कुत्सन-वचनानि' इत्यादि अनेकत्र स्थलों में सन्धिकार्य न हुआ। प्रत्याहार पद से यहाँ वर्णसमाम्नाय न लेना किन्तु संक्षिप्त वर्णबोधक 'आदिरन्त्येन' सूत्र से निष्पन्न ४२ या ४३ प्रत्याहार का ग्रहण करना। वे ही संज्ञाएँ प्रत्याहार शब्द से इस शास्त्र में व्यवहृत होती हैं।

विमर्श—प्राचीन काल में गुरुपरम्परा ज्ञान का सोपान (सीढ़ी) है। उस सीढ़ी द्वारा अनेक पदार्थ अवगत होते थे, जो अन्यत्र दुर्लभ थे। वर्णों के अनुनासिकत्व आदि का ज्ञान उससे गम्य था। पुरातन अध्ययन की पद्धति यह रही—समस्त अष्टाध्यायी को छात्र कण्ठस्थ करते थे जिससे अनुवृत्तियों का ज्ञान सुगम होता था। उन शब्दों की अनुवृत्तियों के ज्ञान के लिए एवं सुख से अर्थज्ञानार्थ सूत्रों की वृत्ति का निर्माण हुआ। वर्णसमाम्नाय को प्रत्याहार जो कहा है वह गौण प्रयोग है—प्रत्याहारसिद्धि में उपकारक होने से।

स्वरवर्ण के उच्चारण में अवान्तर भेद है, उसके प्रदर्शन के लिए सूत्र—

४—ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः १।२।२७।

उश्च ऊश्च ऊ३श्च वः। वां काल इव कालो यस्य सोऽच क्रमाद्ध्रस्वदीर्घप्लुतसंज्ञकः स्यात्। प्रत्येकमुदात्तादिभेदेन त्रिधा।

तीनों उकारों को 'वः' कहते हैं। उनके उच्चारणतुल्य उच्चारणवाले अच् को अच् क्रम से ह्रस्वदीर्घप्लुत संज्ञा होती है। ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत संज्ञा स्वर उदात्त-अनुदात्त-स्वरित भेद से तीन प्रकार का है।

विमर्श—मात्रा काल विशेष है। आँख के उपरि भाग की पलक को स्वाभाविक क्रम से नीचे आने में जो समय लगता है उस काल को एक मात्रा काल कहते हैं।

५—उच्चैरुदात्तः १।२।२९।

ताल्वादिषु सभागेषु स्थानेषूर्ध्वभागेषु निष्पन्नोऽजुदात्तसंज्ञकः। आ ये।

कण्ठ की घट्टी से ओठ तक के भाग को मुख कहते हैं। मुख में जो तालु आदि वर्णों के उच्चारण के स्थान हैं, उन स्थानों के जो उच्च एवं नीच आदि भाग हैं, उनमें से उच्च भाग में वायु का आघात होकर जो अच् निष्पन्न होता है वह उदात्त है। 'आ' 'ये' यह दोनों ही स्वर उदात्त हैं। यह उदाहरण "आ ये तन्वन्ति रश्मिभिस्तिरः समुद्रमोजसा मरुद्भिरग्न आगहि"। ऋ० मं० १ सू० १९ मन्त्र ८ में है।

"हे वायुदेव गण! आप आकाश को सूर्यकिरणों के साथ प्राप्त करते हैं, एवं अपने बल से समुद्र को तिरस्कार करते हैं। यहाँ स्थिर जल तरङ्गों की उत्पत्ति होने पर चलायमान होने से तिरस्कार की कल्पना हुई यह मन्त्रार्थ है। उदात्तादि स्वरों के नियमों का ज्ञान स्वर प्रकरण में विशद रूप से समझ में आवेंगे।

६—नीचैरनुदात्तः १।२।३०।

स्पष्टम्, अर्वाङ्।

तालु आदि स्थानों में नीचे के भागों से निष्पन्न हुआ जो अच् वह अनुदात्त है।

यथा अर्वाङ्, यहाँ आदि अकार अनुदात्त है। अर्वाङ् का अर्थ है सम्मुख। "अर्वाङ् एहि सोमकामं त्वामाहुरयं सुतस्तस्य पिवामदाय। उरुव्व चा जठर आवृषस्व पितेव नः शृणुहि हूयमानः"। (ऋ० १ मं० ४ सू० १०४)

इन्द्र को देवगण कहते हैं कि "हे इन्द्र! आप हम लोगों के सम्मुख आइए, आप सोमरस की कामनायुक्त हैं यह प्राचीनों का कथन है। ऋत्विजों द्वारा निकाले गये सोमरस का हर्ष से पान करें। महान् शरीर को धारण कर आप हमारे शरीर में सोमरस का सिञ्चन करें"। वेद में अनुदात्त स्वर दिखाने के लिए आडी रेखा देते हैं। उदात्त का चिह्न कुछ नहीं है।

७—समाहारः स्वरितः १।२।३१।

उदात्तत्वानुदात्तत्वे वर्णधर्मौ समाह्रियेते यस्मिन् सोऽच् स्वरितसंज्ञः स्यात्।

उदात्त एवं अनुदात्त यह स्वरों के दो धर्म जिसमें एकत्र हो जाते हैं उस अच् की स्वरित संज्ञा है।

विमर्श—विरुद्ध धर्म के भेद से वर्ण भेद है, एक साथ न रहना उसे विरोध कहते हैं। यदि उदात्तत्वरूप वर्ण धर्म एवं अनुदात्तत्वरूप वर्ण धर्म एक स्वर वर्ण में रहा तो स्वरों का विभाग अवान्तर भेद सिद्ध न होगा ? अतः जिस वर्ण की स्वरित संज्ञा करनी है उसमें अंश द्वय की कल्पना कर जिसमें उदात्तत्व धर्म की स्थिति है, उस अंश में अनुदात्तत्व धर्म की स्थिति नहीं। एवं जिस अंश में अनुदात्तत्व की स्थिति है वहां उदात्तत्व धर्म की स्थिति नहीं है। व्यष्टि रूप से अस्थिति समष्टि रूप से स्थिति से स्वर में स्वरित का ज्ञान करना उचित है।

८—तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम् १।२।३२।

ह्रस्वग्रहणमतन्त्रम्। स्वरितस्यादितोऽर्धमुदात्तं बोध्यम्। उत्तरार्धन्तु परिशेषादनुदात्तम्। तस्य च उदात्तस्वरितपरत्वे श्रवणं स्पष्टम्। अन्यत्र तूदात्तश्रुतिः प्रातिशाख्ये प्रसिद्धा। क१ वोऽश्वाः। रथानां न येऽ२ राः। शतचक्रं यो३ऽह्यः—इत्यादिष्वनुदात्तः। अग्निमीळे इत्यादावनुदात्तश्रुतिः। स नवविधोऽपि प्रत्येकमनुनासिकत्वाननुनासिकत्वाभ्यां द्विधा।

सूत्र में ह्रस्व शब्द का प्रस्तुत विषय से सम्बन्ध न होने से उसको छोड़कर अर्थ करना चाहिये। स्वरित का पूर्वार्ध उदात्त जानना चाहिये। इससे स्पष्ट है कि उत्तरार्ध स्वरित का अनुदात्त है। परन्तु स्वरित का उत्तरार्ध जो अनुदात्त है वह सब स्पष्ट सुनाई देता है, जब उसके आगे उदात्त या स्वरित न हों। उदात्त एवं स्वरित आगे रहने पर केवल उदात्त का ही श्रवण रहता है। यह बात वेद व्याकरण में प्रसिद्ध है। यथा—"क१ वो श्वाः का२ भीशवः क थं शेक कथा यय पृष्ठे सदो नसो यंम" (ऋ० म० ५ सू० ६१ मंत्र २)। रथवि नामक राजा का वायुओं से प्रश्न है—हे मरुद्गण ! आपके घोड़े किस स्थान में उत्पन्न हैं ? अश्वबन्धनार्थ रस्सियाँ कहाँ हैं। किस प्रकार शीघ्र गमन में आप लोग समर्थ हो सके हैं। किस प्रकार आप लोग गमनशील हैं। अश्वों की पीठ पर सजावट की सामग्री है। पलायन में बन्धनकारिणी नासिका—रन्ध्र में रस्सियाँ हैं। इस प्रकार घोड़ों से युक्त आप लोग शीघ्र गमनयुक्त दीख पड़ते हैं ऐसा आप लोग कौन हैं ? यह ह्रस्व स्वरित का उदाहरण है। दीर्घस्वरित का उदाहरण—"रथानां न ये२ राः स नोभयो जिगीवांसो न शूरां अभिद्यवः। वरे यवो न यय्यां घृतप्रुषोऽभिस्वर्तारो अर्कं न सुष्टुभः (ऋ० म० १० सू० ७८ म० ४)।

रथ के नाभि नेमि के मध्य में रहने वाले लकड़ी के टुकड़े यद्यपि अनेक हैं तो भी व समान नाभि में स्थित हैं, उसी प्रकार समान बन्धनयुक्त होकर एक अन्तरिक्ष में रहने वाले मरुद्गण परस्पर बन्धनभूत हैं। विजयशील शूरों की तरह आप दीप्तिमान हैं। मनुष्यों की तरह जल देने वाले हैं। बन्दिगण की तरह सूर्य के चारों तरफ शब्द करने वाले आप हैं। प्लुत स्वरित का उदाहरण—"यं सुपर्ण परावतः श्येनस्य पुत्र आभरत् शतचक्रं यो३ ह्यो वर्तनिः। (ऋ० १०।

७८,४) यह मन्त्र सोमलता की स्तुतिपरक है। अनेक यज्ञों का सम्पादक सोम को सुपर्ण ने दूर लोक से अपहरण किया था। यहाँ अनुदात्त श्रुति है। **अग्निमीळे** में उदात्त-श्रुति है।

इन मन्त्रों में 'वो' और 'रा' इन अक्षरों के स्वर उदात्त हैं। अतः इनके पूर्व में 'क' का अकार एवं 'वे' का एकार इन दोनों स्वरितों के उत्तरार्द्ध में रहने वाले जो अनुदात्तांश है उसका भी बोलने में श्रवण स्पष्ट होता है। वैसे ही 'ह्यः' स्वरित आगे है इसलिए पिछले यो३ में का जो ओ३ है उसके उत्तरार्द्ध में रहने वाला अनुदात्तांश का भी स्पष्ट श्रवण है। परन्तु 'अग्निमीले' इस मन्त्र में पुरोहित के प् के बाद का उकार वह अनुदात्त होने के कारण 'ले' का ए स्वरित होने पर भी उसमें का उदात्त सुनाई न देकर केवल उदात्तमात्र सुन पड़ता है। स्वरित ज्ञान के लिए अक्षर के शिर पर खड़ी रेखा करते हैं। जहाँ १।२।३ अङ्क लिख कर नीचे ऊपर स्वर दिये गये हैं, वहाँ वे स्वरित अनुक्रम से ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत जानने चाहिए। और उनके उत्तरार्द्ध में अनुदात्तों का श्रवण स्पष्ट है।

प्रत्येक अच् के तीन भेद हैं और उस प्रत्येक के उदात्त, अनुदात्त, स्वरित तीन भेद हैं। इस प्रकार प्रत्येक के नव नव भेद हैं फिर उनके अनुनासिक अननुनासिक भेद से दो दो भेद होते हैं। अननुनासिक को निरनुनासिक कहते हैं।

९—मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः १।१।८।

मुखसहितनासिकयोच्चार्यमाणो वर्णोऽनुनासिकसंज्ञः स्यात्। तदित्थम्। अ इ उ ऋ इत्येतेषां वर्णानां प्रत्येकमष्टादश भेदाः। लृवर्णस्य द्वादश, तस्य दीर्घाभावात्। एचामपि द्वादश, तेषां ह्रस्वाभावात्।

मुख एवं नासिका इन दोनों स्थानों से उच्चरित वर्ण की अनुनासिक संज्ञा होती है। इस प्रकार अ इ उ ऋ इनमें से प्रत्येक वर्ण के अठारह भेद हुए। दीर्घ न होने से लृ वर्ण के बारह भेद हैं। ह्रस्व न होने से ए ओ ऐ ओ इनमें प्रत्येक के बारह भेद हैं।

अब सवर्णसंज्ञा का निरूपण आचार्य करते हैं—

१०—तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् १।१।९।

ताल्वादि स्थानमाभ्यन्तरप्रयत्नश्चेत्येतद्द्वयं यस्य येन तुल्यं तन्मिथः सवर्णसंज्ञं स्यात्। अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः। इचुयशानां तालु। ऋटुरषाणां मूर्धा। लृतुलसानां दन्ताः। उपूपध्मानीयानामोष्ठौ। ञमङणनानां नासिका च। एदैतोः कण्ठतालु। ओदौतोः कण्ठोष्ठम्। वकारस्य दन्तोष्ठम्। जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम्। नासिकाऽनुस्वारस्य। इति स्थानानि।

यत्नो द्विधा। आभ्यन्तरो बाह्यश्च। तत्राद्यश्चतुर्धा—स्पृष्टेषत्स्पृष्टविवृतसंवृतभेदात्। तत्र स्पृष्टं प्रयतनं स्पर्शानाम्। ईषत्स्पृष्टमन्तस्थानाम्। विवृतमूष्मणां स्वराणाञ्च ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे संवृतम्। प्रक्रियादशायान्तु विवृतमेव। एतच्च सूत्रकारेण ज्ञापितम्।

तालु आदि स्थान और आभ्यन्तर प्रयत्न यह दोनों जिसके समान हो वे वर्ण परस्पर सवर्णसंज्ञक जानने चाहिए।

प्रथम स्थान कहते हैं—अ कवर्ग ह एवं उनके समीप विसर्ग का कण्ठ स्थान है। (यहां कवर्ग से क, ख, ग, घ, ङ पाँच वर्ण हैं)। इ च छ ज झ ञ य श इनका तालु स्थान है।

ऋ ट ठ ड ढ ण र एवं ष इनका मूर्धा स्थान है। (यहां मूर्धन् मुखभव स्थानार्थक है, मस्तक-वाचक नहीं है)। लृ त थ द ध न ल एवं स इनका दन्त स्थान = दन्तसमीप स्थान है उ प फ ब भ म एवं उपध्मानीय का ओष्ठस्थान है। ञ म ङ ण न इनका नासिका स्थान भी है। ए एवं ऐ का कण्ठ तालु स्थान है। ओ एवं औ का कण्ठ एवं ओष्ठ स्थान है। वकार का दन्त एवं ओष्ठस्थान है। जिह्वामूलीय का जिह्वामूल स्थान है। अनुस्वार का नासिका स्थान है। (पाँच उदित् वर्ग हैं प्रत्येक में पाँच पाँच वर्ण हैं। कु चु टु तु पु। प्रत्येक कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग का बोधक है। पाँच उदित् में २५ वर्ण हैं (क से म तक) विसर्जनीय का अर्थ है विसर्ग (:)। उपध्मानीय का अर्थ है प फ ब इनके पहले आधे विसर्ग समान ⨯ चिह्न विशेष। इसी प्रकार जिह्वामूलीय का अर्थ है—क ख के पूर्व अर्ध विसर्ग समान ⨯ चिह्न विशेष। एत् ओत् ऐत् औत् में त व्यर्थ है केवल वर्ण मात्र का ही बोध होता है, या उच्चारण में मुख सुखार्थ है।

स्थान के बाद अब प्रयत्न का विवरण इस प्रकार है—प्रयत्न दो प्रकार के हैं—आभ्यन्तर एवं बाह्य। आभ्यन्तर के चार भेद हैं—१ स्पृष्ट २ ईषत्स्पृष्ट ३ विवृत ४ संवृत इन भेदों से। क से म तक के स्पर्श अक्षरों का स्पृष्टप्रयत्न है। य व र ल इन अन्तस्थ अक्षरों का ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न है। शल् प्रत्याहार बोध्य अक्षरों का एवं स्वर वर्ण का विवृत प्रयत्न है। ह्रस्व अ वर्ण का वाक्य योजना में संवृत प्रयत्न है, एवं पदसिद्धि होने तक विवृत प्रयत्न है। (दण्ड आ कम् वहाँ दीर्घ होने में कोई बाधा नहीं है। दीर्घ की दृष्टि में दोनों अकार विवृत ही हैं।)

विमर्श—सूत्र में आस्य से मुखभवस्थान का ग्रहण करना न कि मुख का। अन्यथा आस्य पद व्यर्थ होगा। प्रयत्न में प्र शब्द से मुखभव यत्न आभ्यन्तर का ग्रहण होता है, बाह्य का नहीं। यावत् मुखभवस्थान परस्पर तल्य अपेक्षित है अत 'इ ए' की सवर्ण संज्ञा नहीं हुई।

वर्णों की उत्पत्ति या अभिव्यक्ति के पाँच कण्ठ आदि स्थान हैं। कण्ठ = गले के टेंटुए का शिखर कहाता है। मूर्धा = दाँतों के पिछले भाग की ऊँचाई, एवं इस ऊँचाई के पीछे तालु स्थान है। जीभ के चार भाग हैं—मूल, मध्य, उपाग्र एवं अग्र। ये चार और नीचे का ओठ मिलकर जो पांच अवयव होते हैं उनका अनुक्रम से कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त और ओष्ठ इनका परस्पर सम्बन्ध होता है। इन अवयवों का जो एक दूसरे से पूर्ण स्पर्श है वही स्पृष्ट प्रयत्न है और थोड़ा स्पर्श हो तो ईषत्स्पृष्ट, और उनका एक दूसरे से दूर होना विवृत प्रयत्न और उनका एक दूसरे के समीप आना संवृत प्रयत्न है।

वाक्ययोजना में ह्रस्व अकार संवृत है अर्थात् कण्ठस्थान और जिह्वामूल यह दोनों बहुत निकट होते हैं। परन्तु प्रक्रिया = शब्दसिद्धि होने तक उसे विवृत प्रयत्न वाला ही समझना चाहिए। अर्थात् उसके उच्चारण काल में जिह्वामूल कण्ठ स्थान से दूर होना चाहिए। इसका कारण यह है कि—इ ई उ ऊ समान अ का दीर्घ आ होने के लिए दोनों का एक प्रयत्न अपेक्षित है। नहीं तो उच्चारण करते समय जो संवृत अकार है वह दीर्घ करने से लम्बा २ अ ही रहेगा, परन्तु 'आ' नहीं होगा इस कारण व्याकरण में पहले से ही उसको विवृत समझना चाहिए। और व्याकरण के कार्य हो जाने पर प्रयोग में उसको संवृत समझना चाहिए। ग्रन्थकार लिखते हैं कि विवृत प्रयत्न से ऊष्मा और स्वर उत्पन्न होते हैं। परन्तु इसमें एक और अवान्तर भेद है कि विवृत में आधे आधे स्पृष्ट प्रयत्न से ऊष्मा, और केवल अस्पृष्ट प्रयत्न से स्वर उत्पन्न होते हैं। यह अतीव सूक्ष्म विचार है।

११—अ अ ८।४।६८।

विवृतमनूद्य संवृतोऽनेन विधीयते। अस्य चाष्टाध्यायीं सम्पूर्णां प्रत्यसिद्ध-त्वाच्छास्त्रदृष्ट्या विवृतत्वमस्त्येव। तथा च सूत्रम्—

सिद्ध विवृत अकार को संवृत का विधान इस सूत्र से होता है। यह सूत्र अष्टाध्यायी के सम्पूर्ण सूत्रों में अन्तिम होने से 'पूर्वत्रासिद्धम्' से असिद्ध है अतः इस सूत्र से विधीयमान संवृतत्व का ज्ञान किसी भी सूत्र को नहीं है, उन शास्त्रों की दृष्टि में ह्रस्वाकार विवृत ही है।

विमर्श—सूत्र में प्रथम अ विवृत द्वितीय संवृत है ऐसा ज्ञान करके दीर्घ नहीं हुआ। अथवा सूत्र छन्द के समान है 'छन्दसि' छन्द में सभी शास्त्र वैकल्पिक हैं अतः दीर्घ न हुआ। असिद्ध विधायक सूत्र निर्देश करते हैं—

१२—पूर्वत्रासिद्धम् ८।२।१।

अधिकारोऽयम्। तेन सपादसप्ताध्यायीं प्रति त्रिपाद्यसिद्धा त्रिपाद्यामपि पूर्वं प्रति परं शास्त्रमसिद्धम्। बाह्यप्रयत्नस्त्वेकादशधा। विवारः संवारः श्वासो नादो घोषोऽघोषोऽल्पप्राणो महाप्राण उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्चेति।

खयां यमाः खयः ⨯ क ⨯ पौ विसर्गः शर एव च।
एते श्वासानुप्रदाना अघोषाश्च विवृण्वते॥ १॥
कण्ठमन्ये तु घोषाः स्युः संवृता नादभागिनः।
अयुग्मा वर्गयमगा यणश्चाल्पासवः स्मृताः॥ २॥

वर्गेष्वाद्यानां चतुर्णां पञ्चमे परे मध्ये यमो नाम पूर्वसदृशो वर्णः प्रातिशाख्ये प्रसिद्धः। पलिक्क्नीः। चख्ख्नतुः। अग्ग्निः। घ्घ्न्तीत्यत्र क्रमेण क-ख-ग-घेभ्यः परे तत्सदृशा एव यमाः। तत्र वर्गाणां प्रथमद्वितीयाः खयः तथा तेषामेव यमाः, जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ, विसर्ग; शषसाश्चेत्येतेषां विवारः श्वासोऽघोषश्च। अन्येषान्तु संवारो नादो घोषश्च। वर्गाणां प्रथमतृतीयपञ्चमाः प्रथमतृतीययमौ यरलवाश्चाल्पप्राणाः। अन्ये महाप्राणा इत्यर्थः।

बाह्यप्रयत्नाश्च यद्यपि सवर्णसंज्ञायामनुपयुक्ताः। तथाप्यान्तरतम्यपरीक्षायामु-पयोक्ष्यन्त इति बोध्यम्। कादयो मावसानाः स्पर्शाः। यरलवा अन्तस्थाः। शष-सहा ऊष्माणः। अचः स्वराः। ⨯ क ⨯ प इति कपाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृशौ जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ। अं अः इत्यचः परावनुस्वारविसर्गौ। इति स्थानप्रयत्न-विवेकः। ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्। अकारहकारयोरिकारशकारयो-र्लृकारसकारयोश्च मिथः सावर्ण्ये प्राप्ते—

यह अधिकार सूत्र है। सवा सात अध्याय के सूत्रों के सामने त्रिपादी असिद्ध है। इसका अधिकार अष्टाध्यायी की समाप्ति तक रहता है। इस कारण त्रिपादी के पूर्व पूर्वशास्त्र की दृष्टि में पर पर त्रिपादी शास्त्र भी असिद्ध होते हैं।

बाह्य प्रयत्न ग्यारह प्रकार का है। १ विवार, २ संवार, ३ श्वास, ४ नाद, ५ घोष, ६ अघोष, ७ अल्पप्राण, ८ महाप्राण, ९ उदात्त, १० अनुदात्त, ११ स्वरित इन भेदों से। वर्गों में के पहले चार वर्णों के आगे किसी भी वर्ग का पञ्चम वर्ण आवे तो बीच में एक समान वर्ण अवश्य आता है,

उसको वेद व्याकरण में यम कहते हैं। उदाहरण जैसे पलिक् क्नीः, चख् ख्नतुः, अग् ग्निः, घघ् घ्निः, इन शब्दों में क ख ग घ इन वर्णों के पश्चात् वही वही वर्ण जो पुनः आये हैं, उन्हीं को यम कहते हैं। वर्गों के प्रथम, द्वितीय खञ्, खय् उन्हीं के यम, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, विसर्ग, शषस उन सबों के विवार, (कण्ठ-विकार) श्वास, अघोष प्रयत्न है। खय आदि से भिन्न हश, हशसम्बन्धी यम, अनुस्वार एवं स्वर का संवार (कण्ठ-संकोच) नाद, घोष, प्रयत्न जानना चाहिये। वर्गों के प्रथम, तृतीय, पञ्चम और प्रथम तृतीय के यम और य र ल व का अल्पप्राण जानना चाहिये। ख छ ठ थ फ इन वर्णों का इनके यमों का, अनुस्वार, विसर्ग जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, शल् इनका महाप्राण है।

बाह्यप्रयत्न यद्यपि सवर्णसंज्ञा में उपयोगी नहीं है, तथापि अतिशय सादृश्य जानने के समय इनका उपयोग अवश्य होता है, यह बात ध्यान में रखनी चाहिये। क से लेकर मकार-पर्यन्त पाँचों वर्गों के अक्षर स्पर्श कहलाते हैं। य र ल व यह अन्तस्थ है। स्पर्श एवं ऊष्मा वर्णों के मध्य में रहने से मध्य में स्थित यह अन्तस्थ शब्दार्थ सार्थक है। श ष स ह यह ऊष्मा कहाते हैं। अच् को स्वर कहते हैं। ⨯क के पूर्व एवं ⨯प के पूर्व अर्धविसर्ग को क्रमशः जिह्वामूलीय एवं उपध्मानीय जानना चाहिये। स्वरों के उपरि भाग में एक बिन्दी ं को अनुस्वार एवं स्वर के बाद ः को विसर्ग कहते हैं। इस प्रकार स्थान-प्रयत्न का विवेचन किया गया। भाष्यकार के मत में आभ्यन्तर प्रयत्न के विवृततर विवृततम ईषद् विवृत आदि से सात भेद हैं।

ऋ एवं ऌ की परस्पर सवर्णसंज्ञा होती है। 'तुल्यास्य प्रयत्नम्' सूत्र से अकार हकार इन दोनों की, इ एवं श् इनकी, ऋ एवं ष की एवं ऌ एवं स इन दोनों की सवर्ण संज्ञा पाई। किन्तु निषेधक सूत्रे सवर्ण संज्ञा नहीं होती है।

१३–नाऽऽज्झलौ १।१।१०।

आकारसहितोऽच् आच् स च हल् चेत्येतौ मिथः सवर्णौ न स्तः। तेन दधीत्यस्य हरति, शीतलम्, षष्ठम्, सान्द्रम्,–इत्येतेषु परेषु यणादिकं न। अन्यथा दीर्घादीनामिव हकारादीनामपि ग्रहणकशास्त्रबलादच्त्वं स्यात्। तथाहि—

इस सूत्र में दीर्घ आकार एवं प्लुत आ३कार दोनों का प्रश्लेष है। समाहार द्वन्द्व कर दीर्घ-सन्धि से 'आच्' रूप की सिद्धि है। अच् से स्वर का ग्रहण करना। दीर्घ आकार प्लुत आकार एवं स्वर और हल् की परस्पर सवर्णसंज्ञा नहीं है। सवर्णसंज्ञा का निषेध से दधि हरति, दधि शीतलं, दधि षष्ठम्, दधि सान्द्रम् में यण् दीर्घादि कार्य नहीं होते। यह सूत्र न होता तो ग्रहणक शास्त्र—'अणुदित्' सूत्र के बल से दीर्घादिकों में जैसे अक् शब्द की प्रवृत्ति होती है वैसे ही हकारादिकों में भी प्रवृत्त होकर यहाँ भी यणादि सन्धि कार्य हुआ होता

विमर्श—यहाँ दीर्घ आकार के प्रश्लेष से 'रमासु' आदि लक्ष्य में 'आदेशप्रत्यययोः' सूत्र से षकार सकार को नहीं। कालसमयवेलासु यह निर्देश इस सूत्र में दीर्घाकार के प्रश्लेष में प्रमाण है। एवं हे यियासो! हे पिपासो! यहाँ प्लुत आकार–हकार की सवर्णसंज्ञा से षकार प्राप्त है, भाष्यप्रयोग दन्त्य सकारयुक्त है अतः सूत्र में प्लुत आ३कार का भी प्रश्लेष है। इन दोनों के प्रश्लेष में सूत्र एवं इसका प्रत्याख्यान उभय पक्ष में फल में एकता रहे वह भी प्रमाण है। यहाँ तुल्यास्य एवं इसकी एकवाक्यता से अच् अच् की स्थान आभ्यन्तर तुल्य होने से सवर्णसंज्ञा होती है, एवं हल् हल् की उभय तुल्य होने पर सवर्णसंज्ञा होती है। अतः यह सूत्र 'तुल्यास्य'

सूत्र का स्वाङ्ग = अवयव एकवाक्यता से है। इस सूत्र में 'अणुदित्' की प्रवृत्ति नहीं होती है। पञ्चधा = पाँच प्रकार के महावाक्यों के ज्ञान के उत्तर 'अणुदित्' सूत्रस्थित अण् प्रत्याहार एवं सवर्ण का ज्ञान होता है, प्रथम नहीं। पञ्चधा महावाक्य इस प्रकार है १-"वर्णानामुपदेशस्तावत् , २-तदुत्तरकाला इत्संज्ञा, ३-तदुत्तरं प्रत्याहारज्ञानम् , ४-तदुत्तरकाला सवर्णसंज्ञा, ५-तदुत्तरम् 'अणुदित्' इति सवर्णग्राहकम्। इति एतेन समुदितेन अन्यत्र सवर्णग्राहकम् , न स्वस्मिन् (अणुदित्) नापि स्वाङ्गे (नाऽऽज्झलौ इत्यत्र)। तात्पर्य यह है कि अण् प्रत्याहार ज्ञान में पूर्वोक्त तीन का ज्ञान आवश्यक है। ततः सवर्णसंज्ञा का ज्ञान आवश्यक है क्योंकि सूत्र में 'सवर्णस्य' है उसके ज्ञानार्थ ४ तुल्यास्य सूत्रार्थ ज्ञान आवश्यक है, "नाऽऽज्झलौ" तुल्यास्य का स्वाङ्ग है यह कह चुके हैं, 'अणुदित्' स्वयं अभी पूर्णरूप से निष्पन्न न होने से स्वयं अपने में भी नहीं लगेगा अतः 'अण्' से वर्णसमाम्नाय में निर्दिष्ट वर्ण समान वर्ण का ही ग्रहण करना, अन्य सवर्णो वर्णों का नहीं। 'नाऽऽज्झलौ' में अच् का बोध्य ऐसी परिस्थिति ह्रस्वाकार होने से दीर्घ आकार प्लुताकार का अणुदित् से ज्ञान न होगा अतः उभयविध आकार का प्रश्लेष उचित एवं प्रमाणसिद्ध है। 'विश्वपाभिः' में ढत्वादि की शङ्का भी इससे निरस्त हुई। वस्तुतस्तु 'ईषद्विवृतमूष्मणाम्' स्वराणां विवृतम्' इस प्रकार प्रयत्नभेद से अकार हकारादि की सवर्णसंज्ञा आभ्यन्तर प्रयत्नभेद से न होगी "नाऽऽज्झलौ" सूत्र व्यर्थ ही है।

ग्रहणक शास्त्र का निर्देश करते हैं—

१४–अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः १।१।६९।

प्रतीयते=विधीयत इति प्रत्ययः। अविधीयमाणोऽण् उदिच्च सवर्णस्य संज्ञा स्यात्। अत्रैवाण् परेण णकारेण। कु चु टु तु पु—एते उदितः। तदेवम्—अ इत्यष्टादशानां संज्ञा। तथेकारोकारौ। ऋकारस्त्रिंशतः। एवं लृकारोऽपि। एचो द्वादशानाम्।

एदैतोरोदौतोश्च न मिथः सावर्ण्यम्, ऐऔजिति सूत्रारम्भसामर्थ्यात्। तेनैचश्चतुर्विंशतेः संज्ञाः स्युरिति नापादनीयम्। नाऽऽज्झलाविति निषेधो यद्यप्याक्षरसमाम्नायिकानामेव, तथापि हकारस्याकारो न सवर्णः, तत्राकारस्यापि प्रश्लिष्टत्वात्। तेन 'विश्वपाभिः' इत्यत्र 'हो ढ' इति ढत्वं न भवति। अनुनासिकाननुनासिकभेदेन यवला द्विधा। तेनाननुनासिकास्ते द्वयोर्द्वयोः संज्ञा।

यद्यपि प्रत्यय शब्द का विधान कर्म = विधीयमान अर्थ में प्रयोग अन्यत्र नहीं है, किन्तु प्रत्ययसंज्ञक का ही ग्रहण होता है, तथापि ग्रन्थकार के अनुरोध से व्याख्यान होता है विधीयमान भिन्न को अविधीयमान कहते हैं। सम्भव एवं असम्भव होने से अविधीयमान अण् का ही विशेषण है। अविधीयमान अण् एवं उदित् (जिसमें उकार इत्संज्ञक रहें) वह दोनों अपने अपने सवर्ण = सवर्णि अक्षरों के ग्राहक हैं। ग्राहक = बोधक है। इस संज्ञा सूत्र में सवर्णी वर्ण संज्ञी है। अण् प्रत्याहार के सम्पूर्ण वर्ण—अ इ उ ऋ ल ए ओ ऐ ओ य व र ल वे वर्णे संज्ञाएँ हैं। अनेक संज्ञाएँ हुई। अ संज्ञा आदि प्रत्येक अण् बोध्य में अन्त में संज्ञा शब्द लगाना चाहिए। प्रत्येक संज्ञा के संज्ञी सवर्णसंज्ञायुक्त वर्ण है। यहाँ 'अण्' लण् सूत्र के ण् तक लेना चाहिए। कवर्ग बोधक कु, चवर्गबोधक चु, टवर्गबोधक टु, तवर्गबोधक तु एवं पवर्गबोधक पु ये उदित् हैं। स्पष्ट ज्ञान के लिए यह प्रयास है—अ संज्ञा अठारह अकारों की। इ संज्ञा अठारह इकारों की, उ संज्ञा अठारह उकारों की, ऋ संज्ञा तीस वर्णों की (ऋ ल के १८ एवं १२) ल संज्ञा ऋ ल तीस

की (सवर्ण संज्ञा होने से) होती है। एवं ए संज्ञा बारह ए की होती है। ऐ संज्ञा बारह ऐ की, ओ संज्ञा बारह ओ की औ संज्ञा बारह औ की होती है।

ए ऐ तथा ओ औ इनकी परस्पर सवर्णसंज्ञा नहीं होती है। यद्यपि इनका स्थान प्रयत्न समान है तो भी चतुर्दश सूत्री में 'ऐ औच्' ऐसा पृथक् सूत्र करने से उनकी सवर्णसंज्ञा नहीं होती है। अतः ए ओ ऐ औ इन प्रत्येक के २४ भेद हैं यह शङ्का निरस्त हुई। तात्पर्य यह है कि 'ए ओ ऐ ओङ्' या 'ए ओ ऐ औच्' इनमें से एक ही पाठ यदि सवर्णसंज्ञा होती तो वर्णसमाम्नाय में करते ऐसा न कर 'ङ्' 'च्' इन दोनों अनुबन्धमूलक पृथक् सूत्र निर्माण से ज्ञापन होता है कि इनकी परस्पर सवर्ण संज्ञा नहीं होती है। भाष्यकार के मत में तो परस्पर प्रयत्न भेद है 'ए ओ' का विवृततर 'ऐ औ' का विवृततम अतः आभ्यन्तर प्रयत्न भेदमूलक सवर्णसंज्ञा की सर्वथा अप्राप्ति ही है। यदि सवर्णसंज्ञा इनकी होती तो एच् की अनुवृत्ति प्लुतावैच् सूत्र में करते पुनः उस सूत्र में एच् ग्रहण व्यर्थ होता। इन प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध हुआ कि **'परस्परं न सावर्ण्यम्'** इति।

'नाऽऽज्झलौ' की व्याख्या में स्पष्ट कर चुके हैं कि अच् से वर्णसमाम्नाय में पठित समकालिक वर्णों का ही ग्रहण होता है, ग्रहणक शास्त्र की प्रवृत्ति पश्चात् महावाक्यार्थबोध के बाद होती है तो भी 'वेलासु' निर्देश से नाऽऽज्झलौ में 'आच' में दीर्घाकार का भी प्रश्लेष है, अतः दीर्घ आकार एवं हकार की परस्पर सवर्णसंज्ञा नहीं है अतः आ में ह् बुद्धि से **'विश्वपाभिः'** में ढत्व न करना। यहाँ ढत्व का अर्थ ढत्वाश्रय में है। इसी तरह कुत्व, श्चुत्व, जश्त्व में ज्ञान करना। 'अणुदित्' सूत्र से अनुनासिक, निरनुनासिक दो प्रकार के यवर्ण की 'य' संज्ञा है। इसी प्रकार दो प्रकार के वकार की 'व' संज्ञा है। दो प्रकार के ल वर्ण की 'ल' संज्ञा है। उन संज्ञाओं से उनके सवर्णसंज्ञायुक्त वर्णों का ज्ञान होता है।

विमर्श—'उपसर्गात्' सूत्र में 'ऋति' में तपरग्रहण इस लिए किया है कि 'तपरस्तत्कालस्य' की प्रवृत्ति होकर ग्रहणक शास्त्र 'अणुदित्' से दीर्घसंज्ञक ॠकार का ग्रहण न हो एवं 'उरृत्' सूत्र में भी तपरग्रहण दीर्घ की व्यावृत्ति के लिए किया है।

यदि 'अणुदित्' सूत्र में अण् से 'अ इ उ' इन वर्णत्रय का पूर्व ण् से बोध होता तब तो पूर्ण ण् तक के अण् प्रत्याहार में आया नहीं सवर्ण ग्रहण प्राप्त ही नहीं है, निषेध तो प्राप्तिमूलक होता है, अप्राप्त कार्य का निषेध निरर्थक है ऐसी परिस्थिति में 'ऋत्' में आचार्य द्वारा उच्चरित त् व्यर्थ होने से कल्पना होती है कि 'अणुदित्' सूत्र में केवल अण् पूर्व ण् तक नहीं किन्तु पर ण् तक है यद्यपि अण् में ह भी है किन्तु अनेक की एक संज्ञा न एक की एक संज्ञा ह के भेद नहीं है अतः 'ह' संज्ञा 'अणुदित्' नहीं की है। ह् र् अनुनासिक नहीं है शिक्षा में कहा है कि "अमोऽनुनासिका न ह्रौ"।

१५-तपरस्तत्कालस्य १।१।७०।

तः परो यस्मात् स च तात् परश्चोच्चार्यमाणसमकालस्यैव संज्ञा स्यात्। तेन अत् इत् उत्-इत्यादयः षण्णां षण्णां संज्ञा। ऋदिति द्वादशानाम्।

जिस वर्ण के आगे या पीछे 'त्' वर्ण जोड़ा गया है वह उच्चारण समकालिक वर्ण का ही बोधक होता है। इस कारण अत्, इत्, उत्, इनमें केवल ह्रस्व स्वर होने से इनसे इनका समकालिक ह्रस्व वर्ण ही लेना चाहिये। दीर्घ, प्लुतों का ग्रहण नहीं होता है। स्वरभेद एवं अनुनासिक भेद से इनके ६ भेद हैं। उनका ही केवल ग्रहण होता है। इसी कारण तपर स्वरों में प्रकार जानना।

ऋ ऌ की परस्पर सवर्णसंज्ञा होने से ऋत् से बारह ऋकार का बोध करना, एवं बारह प्रकार के ऌ की ऌत् संज्ञा करनी चाहिये।

१६–वृद्धिरादैच् १।१।१।

आदैच वृद्धिसंज्ञः स्यात।

आ, ऐ, औ, इनकी वृद्धि संज्ञा होती है।

विमर्श—अष्टाध्यायी के सर्वप्रथम इस सूत्र में आचार्य पाणिनि ने मङ्गल के लिये वृद्धि शब्द का प्रयोग किया है, यद्यपि प्रथम उद्देश्य तदनन्तर विधेय बोधक शब्द का उपन्यास 'इको यणचि' आदि में है, सिद्ध वस्तु के असिद्ध कार्य का अपूर्व बोधन को विधेय कहते हैं।

१७–अदेङ् गुणः १।१।२।

अदेङ् च गुणसंज्ञः स्यात्।

अ ए ओ की गुणसंज्ञा होती है।

विमर्श—यहाँ अ ए ओ उद्देश्य है गुणसंज्ञा विधेय है। सूत्र के निर्माणकर्ता आचार्य हैं, विधेय कार्य ही विधान का कर्म है, सूत्र करण है। विधानरूपा क्रिया है १-कर्ता, २-कर्म, ३-करण, ४-क्रिया, इनका ज्ञान प्रत्येक सूत्र में यथासम्भव करना चाहिए। सूत्रार्थ की स्पष्ट प्रतीति के लिए यह ज्ञान आवश्यक है।

१८–भूवादयो धातवः १।३।१।

क्रियावाचिनो भूवादयो धातुसंज्ञा स्युः।

क्रियावाचक भू आदि की धातुसंज्ञा होती है।

विमर्श—भूशब्द द्रव्यार्थक एवं अद्रव्यार्थक है, वाशब्द अव्यय एवं अव्ययभिन्न दो प्रकार का है। यहाँ परस्पर सादृश्य लेकर ज्ञान करने से अभिमत अर्थ का लाभ होता है। 'भू' के साहचर्य से वा अनव्यय, अव्ययभिन्न वा के साहचर्य से भू द्रव्यभिन्न अर्थवाचक, ऐसे भू–वा क्रियावाचक ही है।

विमर्श—निरुक्तकार यास्क मुनि ने कहा है कि सम्पूर्ण शब्दों की मूलप्रकृति धातु ही है "सर्व नाम धातुजमाह" इति। धातुपाठ में सब क्रियाओं की बीजस्थिति है। गणपाठ, धातुपाठ, अष्टाध्यायी, लिङ्गानुशासन यह चार ग्रन्थ पाणिनि के बनाये हुए हैं। शिक्षा उनके शिष्य की कृति है। उणादि सूत्रों के कर्ता पाणिनि नहीं हैं, किन्तु शाकटायन उसके कर्ता हैं, फिट् सूत्रों के कर्ता शान्तनव आचार्य हैं।

धातुपाठ में पठित शब्द स्वकीय वर्णमाला के प्रत्यायक (बोधक) हैं। यथा—सत्ता अर्थ में 'भ ऊ' = भूशब्द साधु है। धातुपाठ पठित सभी शब्द क्रियावाचक नहीं हैं, लक्ष्य में भू एध् क्रिया-वाचक है किन्तु गणपाठ में पठित वे नहीं हैं। इसलिये सूत्रार्थ इस प्रकार है—धातुपाठ में पठित शब्द तुल्य वर्णमालायुक्त क्रियावाचक भू आदि शब्दों की धातुसंज्ञा होती है, भावि संज्ञा का आश्रय कर कहाँ २ धातु शब्द का सानुबन्धक शब्दों में किया गया है। 'या' 'वा' टाबन्त एवं अव्यय है, प्रापणार्थक या के समान वर्णमाला युक्त है, गति गन्धनार्थक वा के समान अव्यय है किन्तु क्रियावाचक वे नहीं हैं।

१९–प्राग्रीश्वरान्निपाताः १।४।५६।

अधिकृत्य ।

यह अधिकार सूत्र है। ईश्वरात् इस पञ्चमी विभक्त्यन्त का ही अर्थ है, ईश्वर से पूर्व। अधिरीश्वरे (१-४-९७) इस सूत्र के ईश्वर शब्द से पहले जो शब्द एकतालीस सूत्रों में कहे गये हैं उनकी प्रथम निपातसंज्ञा होती है। 'प्राक् निपात' इन दो पदों का एकतालीस सूत्रों में अधिकार होने से सर्वप्रथम निपातसंज्ञा, उसके बाद जो जो संज्ञा प्राप्त हो उसको भी करने में कोई बाधा नहीं है, निपातसंज्ञा उपजीव्य है, अन्य संज्ञाएँ जो उनकी प्राप्त होंगी, वे उपजीवक कही जायँगी। सूत्र में रेफ घटित निर्देश से "ईश्वरे तोसुन्" सूत्र का यहाँ ग्रहण न हुआ।

२०–चादयोऽसत्त्वे १।४।५७।

अद्रव्यार्थाश्चादयो निपातसंज्ञाः स्युः ।

सत्त्व एवं द्रव्य दोनों शब्द एकार्थक हैं। अद्रव्यवाचक च, वा आदि बहत्तर शब्दों की निपात संज्ञा है। चादिगण अव्यय प्रकरण में है। चादि शब्द में लिङ्ग एवं संख्या की प्रतीति नहीं है। उनसे वस्तुओं का बोध नहीं होता।

२१–प्रादयः १।४।५८।

अद्रव्यार्थाः प्रादयस्तथा ।

प्रादिगण में प्र, परा आदि बाइस शब्द हैं। उनमें से जो शुद्ध द्रव्य भिन्न अर्थ का बोधक है उनकी निपात संज्ञा है।

२२–उपसर्गाः क्रियायोगे १।४।५९।

२३–गतिश्च १।४।६०।

प्रादयः क्रियायोगे उपसर्गसंज्ञाः गतिसंज्ञाश्च स्युः। प्र परा अप सम् अनु अव निस् निर् दुस् दुर् वि आङ् नि अधि अपि अति सु उत् अभि प्रति परि उप एते प्रादयः।

प्र आदि शब्द क्रिया में जोड़े गये हों तो उनकी उपसर्ग एवं गतिसंज्ञा होती है।

विमर्श—संस्कृत व्याकरण में इन उपसर्गों का महत्त्वपूर्ण स्थान है, इन उपसर्गों के प्रयोग से धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं—प्रहार आहार विहार परिहार संहार। अनुभवति, पराभवति आदि में भी विभिन्न अर्थों की प्रतीति होती है। यहाँ उपसर्ग को द्योतकत्व है या वाचकत्व यह वर्णन अपेक्षित नहीं है भूषण आदि ग्रन्थों से शास्त्रार्थ को अवगत करना चाहिए।

यहाँ तृतीयान्त 'क्रियया' सूत्र में पढ़ने पर योगार्थ प्रतीति होती, योग ग्रहण व्यर्थ है उससे यह भाष्य वचन है—जिस धात्वर्थ क्रिया से जिस प्र आदि के अर्थ सम्बन्ध है उस प्रादि में उस क्रिया निमित्तक उपसर्गसंज्ञा एवं गतिसंज्ञा होती है। संस्कृत में वचन इस प्रकार का है। "यत्क्रियायुक्ताः प्रादयस्तं प्रत्येव गत्युपसर्गसंज्ञाः स्युः"। उपसर्गसंज्ञा का फल णत्वषत्वादि है। उत्कृष्ट नायक इस अर्थ में 'प्रणायकः' यहां 'उपसर्गादसमासे' से उपसर्गसंज्ञा निमित्त ण हुआ, यहां प्र के अर्थ एवं धातु के अर्थ का परस्पर साक्षात् सम्बन्ध है।

नायक = नेता चला गया इस अर्थ में 'प्रगतो नायकः' 'प्रनायकः' में प्रार्थ का गमन में अन्वय

है, निधात्वर्थ क्रिया में नहीं, अतः यहाँ उपसर्ग संज्ञा न होने से न को ण न हुआ। इसी तरह अन्यत्र ज्ञान करना चाहिए। गतिसंज्ञा का फल (गतिकारक) से कृदुत्तर प्रकृति स्वर आदि अनेक हैं।

२४–न वेति विभाषा १।१।४४।

निषेधविकल्पयोर्विभाषा संज्ञा स्यात्।

इति शब्द का न के साथ और वा के साथ सम्बन्ध है अतः 'नेति' का अर्थ निषेध और 'वेति' का अर्थ विकल्प है। निषेध एवं विकल्प की विभाषा संज्ञा होती है। अर्थात् जहाँ विकल्पार्थ शब्द रहे वहाँ क्रमशः प्रथम निषेध रूप संज्ञी की उपस्थिति से प्राप्त कार्य का निषेध, पश्चात् उसी स्थल में विकल्प रूप संज्ञी की उपस्थिति से कार्य विकल्प होता है। कोई 'देहली दीपक' न्याय से इति का विभाषा में भी सम्बन्ध करता है, विभाषार्थ संज्ञा, अर्थ में संज्ञत्व बाधित होने से विभाषा के अर्थ प्रतिपादक पर्य्यायवाचक अन्यतरस्याम् आदि संज्ञाएँ हैं।

विमर्श—विभाषा तीन प्रकार की है, १–प्राप्त विभाषा, २–अप्राप्त विभाषा, ३–प्राप्ताऽप्राप्त-विभाषा। 'न वेति विभाषा' का उपयोग प्राप्ताप्राप्त विभाषा में ही है। 'प्रथम चरम' से सर्वनाम संज्ञा जस् में प्रथमादि की विकल्प होती है, वहाँ नेम शब्द सूत्र में पठित है उसकी 'सर्वादीनि' सूत्र से नित्य सर्वनामसंज्ञा प्राप्त थी, प्रथमादि शब्दों की अप्राप्त संज्ञा थी वहाँ इस न वेति ने निषेध की उपस्थिति करके नेम की सर्वनामसंज्ञा जो प्राप्त थी उसका निषेध किया, बाद में विकल्प की उपस्थिति कर प्रथम आदि की जस् में सर्वनामसंज्ञा विकल्प से बोधन की।

२५–स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा १।१।६८।

शब्दस्य स्वं रूपं संज्ञि, शब्दशास्त्रे या संज्ञा तां विना।

यह संज्ञा सूत्र है। शब्द के उच्चारण के बाद अर्थ की लोक में अभिधा आदि वृत्ति से ज्ञान होता है उपस्थित अर्थ विशेष्य (प्रधान) रहता है एवं तद्वाचक शब्द विशेषण (अप्रधान) प्रतीयमान होता है। शास्त्र में अर्थ का प्राधान्य बाधित है अतः अर्थ विशेषण होकर शब्द ही विशेष्य है, यथा वृद्धावस्था वाचक जरा को जरस् होता है।

विमर्श—अर्थवाचक वर्णमाला संज्ञी है, उसकी शब्द संज्ञा होती है, अतः व्याकरण में 'गोपय-सोर्यत्' आदि में अर्थवाचक 'ग् ओ' की गोशब्द संज्ञा हुई। सुबन्त गोशब्द से ही यत्, गो के पर्य्यायवाचक शब्दों से यत् नहीं होता है।

यहाँ 'अशब्दसंज्ञा' से व्याकरण शास्त्र की संज्ञाओं में इस सूत्र की प्रवृत्ति न होने से वे संज्ञायें अपने अपने सङ्केतित अर्थ को ही बोधन करेंगी।

यथा वृद्धिसंज्ञा—आदेच् प्रत्यायक है। गुणसंज्ञा—अदेङ् बोधक है। घुसंज्ञा-दा, धा संज्ञी का बोधक है।

२६–येन विधिस्तदन्तस्य १।१।७२।

विशेषणं तदन्तस्य संज्ञा स्यात् स्वस्य च रूपस्य। समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः। उगिद्वर्णग्रहणवर्जम्।

यह सूत्र विशेषण संज्ञा करता है, तदन्त संज्ञी है।

जिस विशेषण के निमित्त कोई विधि कही हुई होती है, वह विशेषण उसके अन्त की संज्ञा होती है। अर्थात् वह विशेषण जिस वर्ण समुदाय के अन्त भाग में हो उस सब समुदाय को वह कार्य होता है। यथा 'एरच्' पा० सू०। यहाँ धातु विशेष्य वाचक पद है 'इ' की विशेषण संज्ञा

मे तदन्तविधिः। इवर्णान्त धातु से अच् प्रत्यय हुआ इवर्णान्त धातु जि, यत् 'जयः' आदि प्रयोग सिद्ध हुए। 'स्वं रूपम्' से यहाँ स्व की अनुवृत्ति से अपने रूप की भी संज्ञा होती है। यथा इ से इधातु का बोध होकर अच् प्रत्यय से 'अयः' बना, प्रति अय यण् प्रत्यय की सिद्धि। व्यपदेशिवद् भाव से स्वयं स्व के अन्त में है ऐसा मान लेने पर स्वशब्द की अनुवृत्ति व्यर्थ है।

विमर्श—जिस विशेषण निमित्त समासों का या प्रत्ययों का विधान होता है उससे उसके अन्त का बोध नहीं होता। 'कृष्णश्रितः' होता है, 'परमकृष्णश्रितः' नहीं होता। सुबन्त अग्निशब्द से ठक् होता है परमाग्निशब्द से नहीं। प्रत्यय विधान में विशेषण से तदन्त का ग्रहण नहीं होता, यह कथन तथ्य है तो भी जिस सूत्र में 'उगित्' शब्द का ग्रहण है अथवा किसी एक वर्ण का प्रत्यय विधान में उद्देश्यतया उच्चारण रहे वहां तदन्त का ग्रहण होता है। उगित् का उदाहरण—भवती अतिभवती परमभवती। प्रत्ययविधि—अस्यापत्य में अ सुबन्त से अत इञ् से 'इः' दाक्षिः आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं।

२७—विरामोऽवसानम् १।४।११०।

वर्णानामभावोऽवसानसंज्ञः स्यात्

जहां क्रिया की समाप्ति रहे उसको विराम कहते हैं, शब्द शास्त्र में शब्द के उच्चारण का अभाव रहे, अर्थात् किसी भी वर्ण के अनन्तर अन्य वर्ण के उच्चारण का अभाव है उसकी अवसान संज्ञा है। रामाद् यहाँ द् के बाद इसका अन्य अवयव का उच्चारण नहीं है अतः अवसानस्थित द् का 'वाऽवसाने' से चर्त्व हुआ—रामात्, रामाद्।

२८—परः सन्निकर्षः संहिता १।४।१०९।

वर्णानामतिशयितः सन्निधिः संहितासंज्ञः स्यात्।

वर्णों की जो अत्यन्त समीपता, उसका संहिता कहते हैं। स्वाभाविक एक वर्ण के उच्चारण के बाद अर्धमात्रा काल का व्यवधान होता है, उससे अधिक काल का व्यवधान न रहे। यहाँ पर शब्द का अर्थ श्रेष्ठ है, सन्निकर्ष का अर्थ है—सन्निधि। सन्निकर्ष में श्रेष्ठत्व = उत्कर्षत्व क्या है? अतिशयत्वरूप ही, अर्थतः अत्यन्त सामीप्य। वर्णों का पूर्वा-परीभाव बुद्धिस्थ लेना।" "बुद्धिविषयत्वमेव शब्दानां पौर्वापर्य्यम्"।

वस्तुतः अवसानसंज्ञा संहितासंज्ञा इनके लिए दो सूत्र निमोण व्यर्थ हैं वे तो लोक में प्रसिद्ध ही हैं। विशेष विचार अन्यत्र है।

२९—सुप्तिङन्तं पदम् १।४।१४।

सुबन्तं तिङन्तञ्च पदसंज्ञं स्यात्।

सुप् का अर्थ प्रातिपदिक = नामावेहित विभक्तिसंज्ञक प्रत्यय और तिङ् का अर्थ है—धातु से विहित विभक्तिसंज्ञक प्रत्यय, वे जिसके अन्त में रहें वे क्रमशः सुबन्त एवं तिङन्त हैं उन दोनों की पदसंज्ञा होती है।

विमर्श—'प्रत्ययग्रहणे' परिभाषा से तदादि की उपस्थिति होकर प्रत्यय की विशेषणसंज्ञा से तदन्त का लाभ हो जावेगा, अन्त ग्रहण व्यर्थ होकर 'संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे' प०को ज्ञापन करेगा, फल 'ईदुदेद्' प्रगृह्यसंज्ञा विधायक सूत्र में ईकारान्त ऊकारान्त एकारान्त द्विवचन अर्थ हुआ द्विवचनान्त अर्थ न हुआ, यदि वहाँ द्विवचनान्त अर्थ होता तो समास में 'कुमारी अगारम्' 'वधू अगारम्' में प्रगृह्यसंज्ञापूर्वक प्रकृतभाव से इष्ट यण् आदेश न होता।

३०–हलोऽनन्तराः संयोगः १।१।७।

अज्भिरव्यवहिता हलः संयोगसंज्ञाः स्युः ।

बीच में अच् लाकर जो हल् अलग नहीं किये गये (अर्थात् अच् व्यवधान शून्य हल्) उनकी संयोगसंज्ञा होती है। दो या अधिक व्यञ्जनसमूह को संयोग कहते हैं।

३१–ह्रस्वं लघु १।४।१०।

ह्रस्व अक्षर की लघुसंज्ञा होती है। विधिसूत्र में जहाँ लघु शब्द है वहां ह्रस्व का ज्ञान करना चाहिए।

३२–संयोगे गुरु १।४।११।

संयोगे परे ह्रस्वं गुरुसंज्ञं स्यात् ।

आगे संयोग हो तो ह्रस्व की गुरुसंज्ञा होती है। देवदत्त !, यहाँ त्त में दो त् त् है उन दो त की संयोगसंज्ञा, संयोगपरक द् अ का अ की गुरुसंज्ञा होकर 'गुरोरनृतः' सूत्र से देवद३त्त अकार भी प्लुत हुआ है।

३३–दीर्घं च १।४।१२।

दीर्घञ्च गुरुसंज्ञं स्यात् ।

इति संज्ञाप्रकरणम्

दीर्घ अक्षर की गुरुसंज्ञा जानना चाहिए। फल देवद३त्त ! द् के बाद का ए द्विमात्रिक है उसकी दीर्घसंज्ञा है उस ए की गुरुसंज्ञा से ए प्लुत हुआ दे३वदत्त ! लोक में गुरु शब्द का अर्थ—वेदार्थ उपदेशक, एवं शास्त्रीय सदाचारों का उपदेशक में है।

विमर्श—प्रथमाध्याय की सन्धिकार्यार्थ उपयोगिनी संज्ञाओं का प्रकरण समाप्त हुआ। अभी अनेक संज्ञा अवशिष्ट हैं-भ-पद आमेडित, प्रगृह्य आदि।

रत्नप्रभा में संज्ञाप्रकरण समाप्त।

अथ परिभाषाप्रकरणम्

३४–इको गुणवृद्धी १।१।३।

गुणवृद्धिशब्दाभ्यां यत्र गुणवृद्धी विधीयेते तत्रेक इति षष्ठ्यन्तं पदमुपतिष्ठते ।

गुण या वृद्धि शब्द को उच्चारण कर गुण या वृद्धि का जहां विधान रहें वहां इक् षष्ठ्यन्त पद की उपस्थिति होती है ।

विमर्श—तात्पर्य यह है कि विधिसूत्रों में अमुक के स्थान में गुण या वृद्धि होती है ऐसा स्पष्ट जहाँ न बताया गया हो वहाँ यह परिभाषा इक की उपस्थिति करती है, यथा 'मिदेर्गुणः' यहाँ 'मिदेः' अवयव षष्ठ्यन्त है, मिद के अवयव अनेक हैं, गुण का स्थानी निर्देश नहीं हैं, यहां इक् की उपस्थिति होकर मिद् अवयव इक् का गुण होता है । 'मृजेर्वृद्धिः' में इस परिभाषा से इक् ऋ की आर् वृद्धि हुई । 'अदेङ्गुणः' से गुण की, वृद्धिरादैच् से वृद्धि की यहां अनुवृत्ति है । इस सूत्रस्थ गुण का अदेङ् वृद्धि का आदैच् अर्थ है । अनुवृत्त गुणवृद्धी का स्वकीय वर्णमाला रूप ही अर्थ है ।

दीर्घ आकार, ए ओ ऐ औ, व्यञ्जन इन वर्णों का गुण न हो जाय अतः यह परिभाषा की है—इक् को गुण होता है । इक् में इ उ ऋ ऌ एवं उनके सवर्णी हैं । अतः 'याता' 'वाता' में आ का 'अ' गुण न हुआ, आ इक् नहीं है ।

(सूत्र खण्डन)—"आतोऽनुपसर्गे कः" उदाहरण गोदा क, क् की इत् संज्ञा लोप कित्त्व होने से 'आतो लोपः' से आकार लोप 'गोदः' यदि आकार का गुण अकार होता तब आलोप के लिए कित् व्यर्थ है । 'अ' प्रत्ययविधान कर धातु के आ का गुण अ कर अ प्रत्यय का अ इन दोनों का पररूप से 'गोदः' बन जायगा । कित् व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि आकार का गुण नहीं होता है ।

विधान सामर्थ्य से सन्ध्यक्षरों का गुण नहीं होता है, 'सप्तम्यां जने डः' में टिलोपार्थ डित् ग्रहण व्यर्थ होकर कहेगा कि व्यञ्जन का गुण नहीं होता है । अन्यथा 'ड' न कहकर अप्रत्यय करते 'न्' का अकार गुण से 'मन्दुरजः' प्रयोगसिद्धि होती । अतः इक् ग्रहण व्यर्थ है ।

(समाधान) गम् धातु से म् को ओकार गुण प्राप्त हैं स्थान कृत सादृश्य सब से प्रबल है अतः इक् की आवश्यकता है । एवं अनेक क्लिष्ट कल्पनाओं में ज्ञानगौरव भी है ।

३५–अचश्च १।२।२८।

ह्रस्वदीर्घप्लुतशब्दैर्यत्राज्विधीयते तत्राच इति षष्ठ्यन्तपदमुपतिष्ठते ।

जहां ह्रस्व दीर्घ प्लुत का विधान हो वहां "अच् के स्थान में वह कार्य है" ऐसे अर्थबोधनार्थक 'अचः' यह षष्ठ्यन्त पद उपस्थित होता है । इसका उदाहरण—'ह्रस्वो नपुंसके' 'शमामष्टानां दीर्घः' में अच् का दीर्घ हुआ । 'श्रीपम्' शाम्यति ।

३६–आद्यन्तौ टकितौ १।१।४६।

टित्कितौ यस्योक्तौ तस्य क्रमादाद्यन्तावयवौ स्तः ।

टित् एवं कित् आगम जिन आगमियों को विधीयमान रहें उनके क्रमशः आद्यवयव एवं अन्त्यावयव होता है ।

विमर्श—ट् की इत् संज्ञक को टित् एवं क् की इत्संज्ञक को कित् कहते हैं, सूत्र में आदि शब्द का अर्थ प्रथम अवयव, अन्त का अर्थ है चरम अवयव। टित्—'धुट्' आगम, कित्—तुक् आगम, जिसको आगम हो उसको आगमी कहते हैं, आगम मित्रवत् है। आगम से आगमी का आक्षेप अर्थापत्ति से होता है। उपपाद्य के ज्ञान से उपपादक के ज्ञान को अर्थापत्ति कहते हैं।

'षड् सन्तः' प्रयोग में 'ङः सि धुट्' से सकार आगमी के पूर्व में उसका अवयव धुट् हुआ है। धुट् टित् होने से आद्यवयव हुआ। 'सन् शम्भुः' में 'शि तुक्' से कित् तुक् का तकार न् के बाद उसका अवयव हुआ। कित् अन्तावयव होता है।

३७–मिदचोऽन्त्यात् परः १।१।४७।

अच इति निर्द्धारणे षष्ठी। अचां मध्ये योऽन्त्यस्तस्मात् परस्तस्यैवान्तावयवो मित् स्यात्।

अच् समुदाय में जो अन्त्य अच उससे पर मित् होता है, वह मित् अच् समुदाय घटित शब्द का अवयव होता है।

विमर्श—म् की इत् संज्ञा जहां होती है, उसे मित् कहते हैं। 'ज्ञान इ' यहां 'नपुंसकस्य' सूत्र से नुम् होता है उ म् की इत्संज्ञा, ज्ञान शब्द में 'आ अ' दो अच् है अन्तिम अच् अ है उस से पर 'न्' हुआ वह 'न्' आगम अच् घटित समुदाय ज्ञान उसका अवयव हुआ। ज्ञान आगमी हुआ ज्ञानग्रहण से ज्ञानन् का ग्रहण हुआ, नान्त पद की उपधा का दीर्घ से 'ज्ञानानि' प्रयोग बना। पचन्ती, दीव्यन्ती आदि अनेक मित् के उदाहरण हैं

३८–षष्ठी स्थानेयोगा १।१।४९।

अनिर्धारित सम्बन्धविशेषा षष्ठी स्थाने योगा बोध्या। स्थानञ्च प्रसङ्गः।

निश्चित नहीं है सम्बन्धविशेष जिसका ऐसी षष्ठी स्थान पदार्थानुयोगिक सम्बन्ध प्रतिपादक है अर्थात् वहां स्थानपदार्थ की विशेष्यतया उपस्थिति होती है।

विमर्श—सम्बन्ध अर्थ में 'शेषे षष्ठी' से सम्बन्ध के प्रतियोगि वाचक शब्द से षष्ठी होती है। यहाँ यह विचार आवश्यक है कि सम्बन्ध किसको कहते हैं। अलग-अलग पदार्थों को परस्पर जोड़ने वाले को सम्बन्ध कहते हैं। 'राज्ञः पुरुषः' यहां राजपदार्थ, पुरुषपदार्थ अलग-अलग स्वतन्त्र है, सम्वन्धार्थिका षष्ठी ने स्वामि-सेवकत्व सम्बन्ध प्रतिपादन किया, राजपदार्थ विशेषण, पुरुषपदार्थ विशेष्य हुआ, यहां पूर्वोक्त सम्बन्ध का विशेषणतया राजपदार्थ प्रतियोगी है। विशेष्यतया भासमान पुरुषपदार्थ अनुयोगी है। प्रतियोगी एवं अनुयोगी से भिन्न सम्बन्ध होता है, वह सम्बन्ध प्रतियोगी, एवं अनुयोगी में रहता है, सम्बन्ध आधेय है। अधिकरण = प्रतियोगी एवं अनुयोगी है। यहां सम्बन्ध ज्ञान = (स्वामि-सेवकत्व) सुस्पष्ट है।

इको यणचि में इक् पदोत्तर षष्ठी का अर्थ सम्बन्ध है, सम्बन्ध अनेक है—सामीप्य, अवयव-अवयवीभाव आदि। उसका प्रतियोगी इव् है किन्तु अनुयोगी का ज्ञान नहीं है, वहां इस सूत्र की आवश्यकता है। अर्थ—"जिसका सम्बन्धी (अनुयोगी) शब्द द्वारा ज्ञात न हो वहां स्थानपदार्थ को अनुयोगी मानकर कार्य निर्वाह करना, अर्थात् जिस षष्ठी का कोई सम्बन्धविशेष निर्दिष्ट नहीं है वह षष्ठी स्थानेयोगा जाननी चाहिए। यहाँ 'स्थानेयोगा' में बहुव्रीहि है, अन्यपदार्थ षष्ठ्यर्थ है। व्यधिकरण बहुव्रीहि से स्थानेन योगो यस्याः सा स्थानेयोगा = स्थाने यहां निपातन से एत्व है अनुयोगी जिसका ऐसा षष्ठ्यर्थ है, अर्थात् स्थानपदार्थानुयोगी सम्बन्ध बोधक षष्ठी है। 'ऊदु-

पधायाः गोहः' 'शास इदङ् हलोः' वहां उपधापदसन्निधान से अवयव अवयवीभाव सम्बन्ध निश्चित है वहां यह सूत्र प्रवृत्त न होगा। अव्यवस्था में व्यवस्था करना परिभाषा का कर्तव्य है। स्थान शब्द प्रसङ्गवाची है।

३९–स्थानेऽन्तरतमः १।१।५०।

प्रसङ्गे सति सदृशतम आदेशः स्यात्। यत्रानेकविधमान्तर्य्यं तत्र स्थान त आन्तर्य्यं बलीयः।

एक वर्ण के स्थान में अनेक वर्णों की प्राप्ति होने पर प्राप्त होने वाले आदेशों के मध्य में स्थान व प्रयत्न करके अतिशय सदृश आदेश होता है।

जहाँ अनेक प्रकार के सादृश्य दिखें वहाँ स्थानसम्बन्धी सादृश्य का बल विशेष जानना चाहिये।

विमर्श—सादृश्य अनेक प्रकार के हैं किन्तु मुख्य चार हैं। १—स्थानतः, २—अर्थतः, ३—गुणतः, ४—प्रमाणतः। १ सुधी उपास्य में इकार को यकार इकार एवं यकार को स्थान समान हैं। शब्द के अनित्यत्व वारणार्थ आनुमानिक स्थान्यादेशभाव माना गया है उस पक्ष में तृतीया तत्पुरुष समास युक्त सुधी उपास्य के साथ में यण् युक्त तृतीया तत्पुरुष वाला ही आदेश होता है। बहुव्रीहि समास युक्त यण् घटित नहीं। यह भी अर्थकृत आन्तरतम्य का उदाहरण है। सुधीभिः उपास्यः। सुधीः उपास्यो यस्य सः दो समास सम्भव है अर्थभेद हैं। २ शृगालवाचक क्रोष्टु शब्द तदर्थक क्रोष्टृ शब्द समानार्थक है। ३ 'ह-घ' का संवार नाद घोष महाप्राण प्रयत्न समान है। ४ 'अदसोऽसेः' से ह्रस्व के स्थान में ह्रस्व उकार, दीर्घ स्थानी के स्थान में दीर्घ ऊकार—'अमुष्मै' 'अमूभ्याम्'। यहां प्रमाणकृत आन्तर्य है। गुण पद से स्थानतः अर्थतः प्रमाणतः से भिन्न सर्वविध सादृश्य का ग्रहण होता है गुण से बाह्यादि, आदि पद से आभ्यन्तर का ग्रहण करना। यहां १ 'अन्तरतमः' २ 'स्थाने' योग विभाग, भिन्न क्रम से दो सूत्र हैं। १ प्रसङ्ग होने पर स्थानी सदृश आदेश होता है। २-पूर्वोक्त १ का ही अर्थ इसका है। २-स्थाने नियमार्थ है—इस नियम से प्राप्त 'यत्रानेकविधम्' यह परिभाषा है। 'चेता' में इकार का एकार हुआ, प्रमाणतः इकार का अकारगुण प्राप्त था वह न हुआ।

४०–तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य १।१।६६

सप्तमी निर्देशेन विधीयमानं कार्यं वर्णान्तरेणाव्यवहितस्य पूर्वस्य बोध्यम्।

औपश्लिक सप्तमी निर्देश द्वारा जिसका विधान हुआ हो ऐसा कार्य सप्तमी विभक्त्यन्तपदार्थ से अव्यवहित पूर्व को ही होता है।

विमर्श—अधिकरण में सप्तमी होती है। आधार को अधिकरण कहते हैं। इसकी सत् सप्तमी में प्रवृत्ति नहीं है, 'कर्तृकर्मणोः कृतिः' में 'कृति' सत्सप्तमी है। अतः इसकी प्रवृत्ति न हुई। सत्सप्तमी में 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' प्रमाण है। औपश्लेषिक सप्तम्यन्त पदघटित शास्त्र में यह परिभाषा अव्यवहितांश, पूर्वत्वांश, षष्ठ्यंश इन तीन अंशों की उपस्थित कहती है, इनमें से जो अंश सिद्ध रहे या बाधित रहे उस अंश की उपस्थिति नहीं होती है। इको यणचि में इक् शब्द का अच् के साथ सामीप्य सम्बन्ध है। उप = समीपे श्लेषः सम्बन्धः। सामीप्य एतन्मूलक सम्बन्ध अव्यवहितपूर्वत्व या अव्यवहितोत्तरत्व है। अच् इक् का आधार है, अच् में इक् अव्यवहितोत्तरत्व-सम्बन्ध से स्थित है। आधेय इक् का आधार अच् है। अच् अव्यवहित पूर्व इक् को ही यण्

होता है। यहां आधार कल्पित है। 'वटे गावः' की तरह, इति शब्द के सन्निधान से सूत्र में तत सप्तम्यन्त पदार्थक है, 'तस्मिन्नणि' सूत्रस्थ तस्मिन् का अनुकरण नहीं है। 'निर्दिष्ट का अव्यवहित उच्चारित अर्थ है।

४१–तस्मादित्युत्तरस्य १।१।६७।

पञ्चमी निर्देशेन क्रियमाणं कार्यं वर्णान्तरेणाव्यवहितस्य परस्य ज्ञेयम् ।

'तस्मात्' में पञ्चमी दिग्योग लक्षणा है। यहाँ तत् शब्दार्थ = पञ्चम्यन्त पदार्थ है। दिग् योग लक्षण पञ्चम्यन्त पदघटित शास्त्र में अव्यवहितांश, उत्तरांश, षष्ठ्यंश इन अंशत्रय की उपस्थिति होती है। अथवा पञ्चम्यन्त शब्द का उच्चारण कर जो कार्य विधीयमान हो तो उसके आगे का अतिनिकट जो वर्ण उसको वह कार्य होता है।

विमर्श—"उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य" "तिङतिङ" इसके उदाहरण हैं। 'उदः' पञ्चम्यन्त है, उद् से अव्यवहित पर (अगला अतिनिकट स्था या स्तम्भ है उसको पूर्वसवर्ण होता है। उद् अस्थात् में उद् एवं स्था के बीच में अकार का व्यवधान होने से पूर्व सवर्ण न हुआ। उद् से अस्थात् अतिनिकट है किन्तु षष्ठी प्रकृति स्था से स् थ् आ ही उपस्थित है वही निर्दिश्यमान है, उसी को आदेश होता है। सप्तम्यन्त एवं पञ्चम्यन्त पदार्थ का निर्दिश्यमान में ही अन्वय होता है। अन्य में नहीं।

४२–अलोऽन्त्यस्य १।१।५२।

षष्ठीनिर्दिष्टस्यान्त्यस्याल आदेशः स्यात् ।

स्थानषष्ठ्यन्त से निर्दिष्ट आदेश स्थान षष्ठी की प्रकृति सदृश शब्द के अन्तिम अल् को होता है। 'त्यदादीनाम् अः' 'सः तौ ते' उदाहरण है।

४३–ङिच्च १।१।५३।

अयमप्यन्त्यस्यैव स्यात् । सर्वस्येत्यस्यापवादः ।

जिस इत्संज्ञक ङकार का अन्य कोई प्रयोजन नहीं वह ङित् आदेश अन्त्य को होता है। 'सखा' यहां अनङ् 'खि' के इकार जो अन्त्य हे उसे हुआ 'भवतु' में तु को विधीयमान तातङ् के ङकार की इत् संज्ञा से 'तात्' ङित् है परन्तु उस ङकार का गुणनिषेध आदिफल है अतः वहाँ यह न लगा, परत्वेन 'अनेकाल्' की ही प्रवृत्ति हुई। अतः फलितार्थ यही है कि अन्यार्थ ङित्व में प्रवृत्त यह सूत्र नहीं। गो अग्रम् अवङ् 'गवाग्रम्'। यह सूत्र 'अनेकाल्' सूत्र का बाधक है।

४४–आदेः परस्य १।१।५४।

परस्य यद्विहितं तत्तस्यादेर्बोध्यम् ।

किसी शब्द के अनन्तर आने वाले पर अर्थात् आगे के शब्द को कोई कार्य कहा गया हो तो वह कार्य उस पर शब्द के आदि (प्रथम) वर्ण को होता है। यह अलोऽन्त्यस्य सूत्र का बाधक है। 'उद् स्थानम्' यहाँ स्था के आदि अल् स् के स्थान में पूर्वसवर्ण थ् होता है।

४५–अनेकाल् शित्सर्वस्य १।१।५५।

स्पष्टम् । अलोऽन्त्यसूत्रापवादः । अष्टाभ्य औश् इत्यादावादेः परस्येत्येतदपि परत्वादनेन बाध्यते ।

जिसमें एक से अधिक वर्ण रहे उसको अनेकाल् कहते हैं, शकार की इत् संज्ञा जहाँ हो उसे

शित् कहते हैं। अनेकाल् एवं शित् आदेश जिस शब्द को कहा हो उस सम्पूर्ण शब्द का नाश करके उसके स्थान में उक्त आदेश होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' सूत्र का यह अपवाद = बाधक है। 'रह कर न रहें' उसको स्थानी कहते हैं। 'न प्रथम रहकर बाद में रहें' उसे आदेश कहते हैं।

अष्टन् से प्रथमा एवं द्वितीया के बहुवचनसम्बन्धी अस् प्रत्यय को औश् (औ) ऐसा शित् आदेश विधीयमान है वह अस् सम्पूर्ण का नाश करके सर्वादेश होता है। यहाँ अलोऽन्त्यस्य प्राप्त था, उसका 'आदेः परस्य' ने बाध किया, अस् के आदि केवल अकार को 'औ' प्राप्त हुआ यद्यपि 'आदेः परस्य' 'अनेकाल्' सूत्र का बाधक है तथापि यहाँ 'आदेः परस्य' न लगा, क्योंकि अपवाद 'आदेः परस्य' अनेकाल् सूत्र की अप्राप्ति स्थल में सावकाश = चरितार्थ है, अतः अन्यत्र बाधक 'आदेः परस्य' को परत्व के कारण 'अनेकाल्' सूत्र बाध करता है, अर्थात् बाधक आदेः परस्य यहाँ बाध्य हो गया। शिष्टों ने कहा है कि—"अपवादो यद्यन्यत्र चरितार्थश्चेत्परान्तरङ्गाभ्यां बाध्यते" इति।

४६—स्वरितेनाधिकारः १।३।११।

स्वरितत्वयुक्तं शब्दस्वरूपमधिकृतं बोध्यम्। परनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः। असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे। अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः। निमित्तं विनाशोन्मुखं दृष्ट्वा तत्प्रयुक्तं कार्यं न कुर्वन्तीत्यर्थः।

इति परिभाषाप्रकरणम्।

यहाँ स्वरित शब्द धर्मप्रधान निर्दिष्ट है, स्वरित वर्ण को न बोधन कर स्वरितत्व रूप धर्म का प्रत्यायक है। पूर्ववर्णित अच् वृत्ति केवल यह धर्म नहीं है किन्तु विलक्षण है, वह अच् में, हल् में, अच् हल् उभय में रहता है। इस स्वरितत्व का ज्ञान व्यवहारतः होता है। उत्तरोत्तर सम्बान्धार्थक यहाँ अधिकार शब्द है। 'जटाभिः तापसः' की तरह यहाँ 'इत्थंभूत लक्षणे' से तृतीया है। १ स्वरितत्व प्रतिज्ञायुक्त का उत्तरोत्तर सम्बन्ध है, अग्रिम सूत्रों में उसकी अनुवृत्ति होती है। २ स्वरितत्व प्रतिज्ञायुक्त शब्द से अधिक अर्थ की प्रतीति होती है। यथा—ह्रस्वविधायक 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' में गो साहचर्य से 'स्त्री' शब्दस्वरूप का ग्रहण प्राप्त हुआ। किन्तु स्त्री पर स्वरितत्व प्रतिज्ञा होने से टाप् ङीप् ङीष् ङीन् आदि स्त्रीप्रत्ययों का बोध कराकर 'स्त्रीप्रत्ययान्त' अर्थ हुआ।

आनुनासिक्य की तरह स्वरितत्व का ज्ञान शिष्टकथन से या "कार्यात् कारणमनुमीयते" अनुवृत्तिरूप कार्य से अनुवृत्त पद स्वरितत्वप्रतिज्ञायुक्त है, ऐसा ज्ञान करना।

पर नित्य, अन्तरङ्ग एवं अपवाद इनमें क्रम से एक-एक उत्तरोत्तर बली हैं। अष्टाध्यायी में त्रिपादिस्थ शास्त्रों को छोड़कर पूर्वशास्त्र से परशास्त्र 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' इनकी सहायता से बलवान् है। परबलवान् है, एतावता पूर्व दुर्बल है, दुर्बल को बलवान् बाध करता है। यदि पूर्वशास्त्र नित्य है तो पर को बाधकर नित्य पूर्वशास्त्र बली होने से प्रवृत्त होता है। पर से नित्य बलवान् है, नित्य से अन्तरङ्ग बली है, उससे अपवाद बलवान् है। क्रम से उदाहरण—१ वृक्षेभ्यः' पूर्वस्थित 'सुपि च' को बाधकर पर 'बहुवचने' से एकार हुआ। २ 'पर से नित्य—'तुदति' में लघूपधक गुण को बाधकर शविकरण हुआ। ३—नित्य से अन्तरङ्ग—नपुंसकत्वप्रयुक्त नुम् को बाधकर अन्तरङ्ग, ह्रस्व हुआ—ग्रामणिने। ४—अन्तरङ्ग से अपवाद—'सुधियौ' यहाँ अन्तरङ्गयर्ण को बाधकर अपवाद इयङ् हुआ।

विमर्श—बहिरङ्ग शास्त्र अन्तरङ्ग शास्त्र की दृष्टि में असिद्ध है, अनेक विध अन्तरङ्ग है जातबहिरङ्ग या समकालिक बहिरङ्ग अन्तरङ्ग की दृष्टि में असिद्ध है। 'वाह ऊठ्' का ऊठ् ग्रहण एवं 'ओमाङोश्च'

का आङ् ग्रहण से यह परिभाषा सिद्ध हुई है, तथाहि—विश्ववाह अस् यहां सम्प्रसारण व् को उकार कर, पूर्वरूप के बाद, लघु उपधा में है गुणकर वृद्धि से 'विश्वौहः' की सिद्धि होती ऊठ् ग्रहण व्यर्थ होकर इस परिभाषा में ज्ञापक है, परिभाषा रहने पर 'वृद्धिरेचि' से विहित वृद्धि अन्तरङ्ग है, गुण बहिरङ्ग है वह असिद्ध होगा एच् परक न होने से वृद्धि नहीं होगी। अतः ऊठ् किया, ऊढ् को मान कर 'एत्येधत्योः' से वृद्धि हुई।

'शिव आ इहि' में दीर्घ करके गुण से शिवेहि की सिद्धि हो जाती, * पररूपार्थ आङ् का ओमाङोश्च में ग्रहण किया है वह व्यर्थ होकर अन्तरङ्ग परिभाषा में ज्ञापक है, ज्ञापन करने के पश्चात् 'धातूपसर्ग' का कार्य गुण अन्तरङ्ग एवं दीर्घ बहिरङ्ग है, गुण के बाद वृद्धि की व्यावृत्ति के लिए आङ् ग्रहण पररूपार्थ सार्थक है।

अन्तरङ्ग परिभाषा त्रिपादिस्थ शास्त्रों में प्रवृत्त नहीं होती है। त्रिपादी अन्तरङ्ग शास्त्र असिद्ध होने से वहां इस परिभाषा को अन्तरङ्ग शास्त्रत्व रूप से अन्तरङ्ग का ज्ञान नहीं है। अतः 'राज्ञः' इत्यादि में अन्तरङ्ग बहिरङ्ग भाव से श्चुत्व का निरास न करना।

सभी संज्ञाएँ एवं परिभाषाओं में अधिकारी भेद से दो पक्ष हैं—१ यथोद्देश २—कार्यकाल। आचार्य प्रदत्त उपदेश की अपेक्षा कर बुद्धिमान् छात्र प्रथमपक्ष में कारण है। उपेक्षा बुद्धिमान् द्वितीयपक्ष में कारण है। संज्ञा सूत्रार्थ, परिभाषा सूत्रार्थ का जिस प्रदेश में सूत्र है वहीं ज्ञान करने वाला आचार्यवचन पर विश्वस्त अपेक्षा धीमान् जो स्नातक है वह संज्ञासूत्र देश में एवं परिभाषा-देश में संज्ञा सूत्रार्थ एवं परिभाषार्थ का ज्ञान करता है। प्रयोजनाभाव से उस समय उपेक्षा से ज्ञान न कर विधिप्रदेश में परिभाषार्थ ज्ञान, एवं संज्ञापदार्थ ज्ञानवाला उपेक्षाबुद्धियुक्त छात्र कार्यकाल पक्ष में बीज है।

शास्त्र की प्रवृत्ति में निमित्त जो है उसका भविष्यकाल में यदि बिनाश होने वाला है तो अन्तरङ्ग भी कार्य आचार्य पूर्व में नहीं करते हैं। यथा 'सेद् वस् अस्' यहाँ अन्तरङ्ग वलादि निमित्तक इट् न हुआ, क्योंकि भविष्य में वकार का सम्प्रसारण से उकार होने पर वलादित्व जो इट् प्रवृत्ति में निमित्त है वह न रहेगा। उदाहरण—'सेदुषः'। "प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादेव पलायनम्" न्याय से यही अर्थ उचित है। कार्य प्रथम करना बाद में निमित्त कर नाश होने पर जातकार्य की निवृत्ति करना यह पक्ष सर्वथा अनुचित है, अतः "कृतमपि निवर्तयन्ति" यह परिभाषान्तर को स्वीकार न करना ही श्रेयस्कर है। "अकृतव्यूहाः" परिभाषा का खण्डन परि० शे० में विस्तृत है।

विधिसूत्रों से आकाङ्क्षित, प्रथमाध्याय की, एवं सन्धिकार्योपयोगिनी परिभाषाओं का प्रकरण पूर्ण हुआ। परिभाषा का लक्षण—"अनियमे नियमकारित्वम्" (जहाँ अव्यवस्था प्रतीयमान हो वहाँ व्यवस्था करने वाली जो है उसको परिभाषा कहते हैं)। विशेष लक्षण—"संकेतग्राहक-भिन्नत्वे सति विधिशास्त्रविशिष्टत्वम्। वैशिष्ट्यञ्च—अननुवृत्त्या स्वजन्यप्रमात्मक बोधोपकारकत्व-स्वप्रवृत्ति-निवृत्त्यन्यतरप्रयोजकत्वविशिष्टपाणिनिप्रयत्न-न्यायान्यतरसिद्धत्वान्यतरसम्बन्धेन। १—संकेत बोधकभिन्न कथन से संज्ञासूत्रों में परिभाषा का लक्षण न गया। २—'अननुवृत्त्या' = अनुवृत्ति-रहित कथन से अधिकार सूत्रों की व्यावृत्ति हुई। ३—विधिशास्त्र के प्रमात्मक=प्रामाणिक बोध में उपकारक कहने से अष्टाध्यायी में पठित परिभाषाओं का संग्रह हुआ। ४—ज्ञापक एवं न्यायसिद्ध यावत् सभी परिभाषाओं का संग्रह हुआ।

* रत्नप्रभा में परिभाषाप्रकरण समाप्त *

अथाच्सन्धिप्रकरणम्

पूर्व में सन्धि शब्द का स्मरण है, स्मृतपदार्थ की उपेक्षा उचित नहीं है अतः प्रसङ्ग संगति से प्रधान स्वरनिमित्तक सन्धि का प्रारम्भ है—

४७-इको यणचि ६।१।७७।

इकः स्थाने यण् स्यादचि संहितायां विषये। सुधी उपास्य इति स्थिते। स्थानत आन्तर्यादीकारस्य यकारः। सु ध् य् उपास्य इति जाते।

संहिता संज्ञा के विषय में अच् से अव्यवहित पूर्व इक् को यण् आदेश होता है।

विमर्श—यहाँ इक् से ६६ वर्ण का ज्ञान है। यण् से सात वर्ण, अच् से अनेक स्वरों का ज्ञान होने से समान संख्यक उद्देश्य एवं विधेय न होने से स्थानतः सादृश्य से ईकार का यहाँ यकार आदेश किया। विद्वानों से पूज्य इस अर्थबोधक तृतीया तत्पुरुष समास युक्त 'सुधी उपास्यः' उकार से व्यवधान रहित ध् के बाद ई वर्ण को यणादेश हुआ। स् के बाद उकार एवं ईकार के मध्य में ध् होने से प्रथम उकार को यण् नहीं हुआ। यणादेश से सु ध् य् उपास्य ऐसा रूप बना।

४८-अनचि च ८।४।४७।

अचः परस्य यरो द्वे वा स्तो न त्वचि। इति धकारस्य द्वित्वम्।

अच् से अव्यवहित पर यर् का विकल्प से द्वित्व होता है, २-अच् से अव्यवहित पूर्व एवं अच से अव्यवहित उत्तर जो यर् उसका द्वित्व नहीं होता है।

विमर्श—यहाँ योग विभाग के द्वारा दो सूत्र हैं—१ 'च' २ अनचि। दोनों का क्रम से अर्थ पूर्व में निर्दिष्ट है। यहाँ 'यर्' पद से रेफ भिन्न यर् प्रत्याहार के अक्षरों का ग्रहण होता है। रेफ में द्वित्वीय निमित्तता है, उससे स्थानिता का बाध है। द्वित्व से दो धकार निष्पन्न हुए।

४९.-स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ १।१।५६।

आदेशः स्थानिवत्स्यान्न तु स्थान्यलाश्रयविधौ। अनेनेह यकारस्य स्थानिवद्भावेनाच्त्वमाश्रित्यानचीति द्वित्वनिषेधो न शङ्क्योऽनल्विधाविति तन्निषेधात्।

आदेश स्थानी के तुल्य होता है, स्थानी के रहने पर जो कार्य होता है वह आदेश होने पर भी होता है। परन्तु जो स्थानी अल् अर्थात् एक वर्ण हो और उसके आश्रय से कार्य होता हो तो आदेश स्थानी तुल्य नहीं होता। आशय यह है ऐसे प्रसङ्ग में स्थानी के रहने से होने वाला कार्य आदेश होने पर नहीं होता है। प्रकृत में यकार को स्थानिवद्भाव से अच्त्व मानकर 'अनचि च' इस द्वित्व निषेधक से ध् का द्वित्व न होना चाहिए, यह शङ्का यहाँ न करनी, कारण यह है कि अल् विधि में स्थानिवद्भाव नहीं होता है सूत्र में 'अनल् विधौ' है। अल् के आश्रय से कुछ विधान हो तो आदेश स्थानिवत् नहीं होता। अतः ध् के द्वित्व में यहाँ बाधा नहीं है।

विमर्श—रहकर बाद में न रहे उसको स्थानी, एवं पूर्व में न रहकर बाद में रहे उसको आदेश कहते हैं। छः प्रकार के सूत्रों में यह आरोप बोधक अतिदेश शास्त्र है। आदेश से स्थानी का नाश होने पर स्थानी की सत्ता कदापि नहीं रहती है। किन्तु स्थान में रहने वाले धर्म =

सुप्त्वादि का आदेश य आदि में आक्षेपमात्र है वस्तुतः 'रामाय' राम य वहाँ 'य' में सुप्त्व नहीं है। किन्तु इस अतिदेश ने सुप्त्व के अभाववान् यकारादेश में सुप्त्व का आरोप किया, 'सुपि च' से दीर्घ होकर 'रामाय' आदि प्रयोग सिद्ध हुए।

अतिदेश सूत्रारम्भ सामर्थ्य से आहार्य्यारोप ही यहाँ प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का नियामक है। परमार्थ स्थिति का आदर न करना। प्रक्रियाओं में अविद्या हो उपवर्णित है। प्रदीव्य, प्रपठ्य में स्थानिवद्भाव निषेध से इट् आगम वलादित्व के अभाव से नहीं हुआ। "स्थानिघटकालवृत्तिधर्मे-घटितधर्मनिमित्तके विधौ न स्थानिवत्" व्यूढोरस्केन, द्यौः, द्युकामः, 'क इष्टः' यहाँ स्थानिवद्-भाव निषेध से क्रमेण णत्व-विभक्तिलोप-वलोप-हशि च से उत्व कार्य न हुए। 'अल्विधि' शब्द में तृतीया-पञ्चमी-षष्ठी-सप्तमी तत्पुरुष समास है, उसी क्रम से पूर्वोक्त उदाहरण है। अतः क्रमेण अट्त्व-हल्त्व-वत्व-हश्त्व का स्थानिवद्भाव से आरोप न हुआ आदेशों में। इस सूत्र का विषय महान् है। "स्थानिनि सति यद् भवति तदादेशेऽपि भवति"। ऐसा भावातिदेश होता है।

५०–अचः परस्मिन् पूर्वविधौ १।१।५७।

अल्विध्यर्थमिदम्। परनिमित्तोऽजादेशः स्थानिवत्स्यात्, स्थानिभूतादचः पूर्वत्वेन दृष्टस्य विधौ कर्तव्ये। इति यणः स्थानिवद्भावे प्राप्ते।

पूर्वसूत्र से अल् विधि में स्थानिवद्भाव नहीं होता। यह व्यवस्था स्पष्ट हो चुकी है अतः यह सूत्र अल् विधि में स्थानिवद्भावार्थ आवश्यक है। परवर्ण के निमित्त से केवल अच् के स्थान में जो आदेश हो वह स्थानिवत् होता है, आदेश के स्थानी अच् से पूर्व में रहने वाले वर्ण को कार्य हो तब।

विमर्श—सूत्र में केवल अच् के स्थान में आदेश हो यही अर्थ है, अच् एवं हल् उभयस्थान में जायमान आदेश स्थानिवत् नहीं होता है। 'मरुतम् आचष्टे' यहाँ टि संज्ञक उत् का लोप से मर् णिच् से 'मारयति' में उत् के लोप का इससे स्थानिवद्भाव न हुआ। पूर्वविधि में पूर्वस्य विधिः। षष्ठी तत्पुरुष एवं पूर्वस्मात् विधिः पञ्चमीतत्पुरुष है। ष० त० स० में अर्थ कह चुके हैं प० त० स० पक्ष में पूर्वत्वेन दृष्ट जो वर्ण उससे परवर्ण को कार्य कर्तव्य रहें तब परनिमित्तक अच स्थानिक आदेश स्थानिवृत्ति धर्मवान् होता है। बेभिदिता, माथतिकः, अपीपचन् यहाँ क्रमशः स्थानिवद्भाव से इट् निषेध-कादेश-जुस् कार्य न हुए। अन्यथा एकाच् उपदेशे से इट्निषेध प्रथम प्रयोग में होता। २ यहाँ स्थानिवद्भाव से तान्त नहीं अतः 'इसुस्' सूत्र से ठ को कादेश न हुआ। ३ में स्थानिवद्भाव से 'सिचः' सूत्र से 'झोऽन्तः' को बाधकर जुसादेश नहीं हुआ।

१—'प्रविगणय्य' इस भाष्य प्रयोग से एवं २—'निष्ठायां सेटि' में सेट् ग्रहण से यह पञ्चमी समास पूर्वस्मात् विधिः पूर्वविधिः अनित्य है।

१—णिच् के पूर्व में गण धातु के अवयव अकार लोप हुआ है, उसका इस सूत्र से स्थानिवद्भाव करने पर अपूर्व जो ण् है वह लघु नहीं है, लघु गकार के बाद अ है वह ण् से व्यवहित है अतः 'ल्यपि' लघुपूर्वात् से णि के इ को अयादेश न होगा, अतः पञ्चमी समास के अनित्यत्व से स्थानिवद्भाव निषेध से अयादेश हुआ है।

२—करितम् आदि में पञ्चमी समास से स्थानिवद्भाव से ही अनेकाच् होने से 'एकाच्' सूत्र से इट् निषेध न होगा पुनः कालावधारणार्थ = इटि कृते एव णिलोपः (इट् करने पर ही णिलोप (इलोप) होता है इस विशेषार्थ प्रत्यायक सेट् ग्रहण व्यर्थ होगा प० स० अ० पक्ष में इट् निषेध णिलोप होने पर हो जायगा, अतः पूर्व इट् ततः णि (इ) लोप 'कारितम्'। आदेश से

स्थानी का अपहार = नाश है तो भी उपलक्षण प्रकार से स्थानीभूत अच् से ही पूर्वत्व का ज्ञान करना आदेश एवं निमित्त से पूर्व न लेना, अन्यथा 'वैयाकरणः' यहाँ ऐ को आय् आदेश होगा— भाष्योक्तिः-"स्थानीभूतादयः पूर्वत्वेन विज्ञानाद् ऐचोः श्रवणं सिद्धम्" 'सौवश्व' में औ को आव् न हुआ। उपलक्षण की परिभाषा-स्वयं न रहकर अन्य की व्यावृत्ति (निषेध) करें। यथा "काकवन्तो देवदत्तस्य गृहाः" यहाँ गृह के परिचयकरण समय में काक था किन्तु बाद में उसके न रहने पर भी 'देवदत्तगृहं गच्छ' कहने पर उस गृह को कहा जाता है जहाँ काक था। प्रकृत में आदेश से नष्ट अच है तो भी आदेश के पूर्व में जब अच् की स्थिति थी उससे पूर्व वर्ण का ग्रहण करना। सु ध् य् उ० प्रकृतोदाहरण में ईवर्ण वृत्ति अच्त्व का ज्ञान यकार में कर के इससे स्थानिवद्भाव प्राप्त हुआ। किन्तु उसके निषेधक सूत्र का आरम्भ करते हैं—

५१-न पदान्तद्विर्वचनवरेयलोपस्वरसवर्णानुस्वारदीर्घजश्चर्विधिषु १।१।५८।

पदस्य चरमावयवे द्विर्वचनादौ च कर्तव्ये परनिमित्ताजादेशो न स्थानिवत्। इति स्थानिवद्भावनिषेधः।

द्वन्द्व समास के अन्त में विधि शब्द का प्रत्येक में अन्वय है—'पदान्तविधौ' आदि। अन्त शब्द का चरम (अन्तिम) अवयव अर्थ है। विधान कार्य का जो कर्म उसको विधेय कहते हैं। १ पदचरमावयव विधेय रहे, २ द्विर्वचन = द्वित्व विधि में, ३ वरच् प्रत्ययपरक अजादेश कर्तव्य रहें, ४ यलोप विधान में, ५ स्वर विधान में, ६ सवर्ण विधान में, ७ अनुस्वार विधान में, ८ दीर्घ विधान में, ९ जश्त्व कर्तव्य रहे वहाँ एवं १० चर्त्व विधान में परनिमित्तक अच् के स्थान में उत्पन्न आदेश स्थानिवत् = स्थानितुल्य = तद्वृत्ति धर्मवान् नहीं होता है।

इससे यहाँ स्थानिवद्भाव निषेध से ध्-ध् घटित प्रयोग होकर 'सुध् ध् य् उपास्यः' बना, क्रमशः उदाहरण १-प्रथम वाक्य निर्माण कर जिस क्रम से कार्य प्राप्त रहे वह करना वाक्य संस्कार-पक्ष में 'कानि सन्ति' 'कौस्तः' यहाँ अस् धातु का अकारलोप स्थानिवत् न होने से यण् एवं आव् आदेश न हुए। २-सुध् य् उपास्य में यणादेश का स्थानिवद्भाव न हुआ। ३-'यायावरः' अकार का लोप का स्थानिवद्भाव से 'आतो लोपः' सूत्र से आकार लोप में स्थानिवद्भाव का निषेध। ४-'याति' 'यायाय ति' अलोप, यलोप आलोप यलोप के बाद आकार लोप का स्थानिवद्भाव से य् लोप नहीं प्राप्त होता था अतः स्थानिवद्भाव का निषेध हुआ। ५-'चिकीर्षकः' में सन् के अकारलोप का स्थानिवद्भाव से 'की' के ईकार को 'लिति' से आद्युदात्त निषेध में स्थानिवद्भाव न होने से आद्युदात्त हुआ। ६-७-'शिण्ढि' यहाँ श्नम् विकरण का अलोप है उसका स्थानिवद्भाव न होने से अनुस्वार कर परसवर्ण करने में भी स्थानिवद्भाव निषेध हुआ। ८-'प्रतिदीना' दीर्घ करने में अकार लोप का स्थानिवद्भाव न हुआ 'हलि च' से दीर्घ हुआ। ९-'सग्धिः' यहाँ घस् के अकार का लोप है उसका जश्त्व करने में स्थानिवद्भाव का निषेध है। १०-'जक्षतु' यहाँ घस् के अकार का लोप है उसका स्थानिवद्भाव निषेध से चर्त्व से ककारादेश हुआ।

५२-झलां जश् झशि ८।४।५३।

स्पष्टम्। इति धकारस्य दकारः।

झश् से अव्यवहित पूर्व झल् के स्थान में जश् होता है। इससे ध् को द् होकर 'सु द् ध् य् उपास्यः'।

५३-अदर्शनं लोपः १।१।६०।

प्रसक्तस्यादर्शनं लोपसंज्ञं स्यात्।

प्राप्त वर्ण के अदर्शन = नहीं दीखने को लोप कहते हैं। प्रथम दृष्टिगोचर वर्ण के मिट जाने का नाम लोप है। यह लोप भी अन्य आदेशों के समान आदेश है किन्तु यणादि आदेश भावात्मक = भावस्वरूप है। लोप अभावस्वरूप = अर्थात् शून्यस्वरूप है, वह किसी का अवयवस्वरूप नहीं, प्रत्युत नाशस्वरूप है।

५४-संयोगान्तस्य लोपः १।१।६०।

संयोगान्तं यत्पदं तदन्तस्य लोपः स्यात्। इति यलोपे प्राप्ते। ❀ यणः प्रतिषेधो वाच्यः ❀। ❀ यणो मयो द्वे वाच्ये ❀। मय इति पञ्चमी यण इति षष्ठीति पक्षे यकारस्यापि द्वित्वम्। तदिह धकारयकारयोर्द्वित्वविकल्पाच्चत्वारि रूपाणि। एकधमेकयम्। द्विधं द्वियम्। द्विधमेकयम्। एकधं द्वियम्। सुद्ध्युपास्यः। मध्वरिः। धात्त्रंशः। लाकृतिः।

जिस पद के अन्त में संयोग रहे उसको संयोगान्त पद कहते हैं। यहाँ अलोऽन्त्यस्य से अन्त्याल् की उपस्थिति है। संयोगान्त पदावयव अन्त्य अल् का लोप होता है। इससे 'य्' का लोप प्राप्त है किन्तु संयोगान्त पद का अन्त्य अल् यदि य् व् र् ल् रहे तो लोप नहीं होता है ऐसा जानना चाहिये। यहाँ कार्य के अनुरोध से 'मयः' पञ्चम्यन्त है, 'यणः' षष्ठ्यन्त है। मय के अव्यवहित यदि यण् रहे तब यण् का द्वित्व होता है। इस पक्ष से यकार का द्वित्व है। इस प्रकार धकार एवं यकार के द्वित्व विकल्प से चार रूप हुए। १—एक ध् एक य् २—दो ध् दो य्। ३—दो ध् एक य्। ४—एक ध् दो य्। १—सुध्युपास्यः २—सुद्ध्य्यपास्यः। सुद्ध्युपास्यः। ४—सुध्य्युपास्यः। विद्वानों से उपासना करने योग्य।

विमर्श—अग्निपुराण, नारदपुराणादि में अनेक उदाहरण निर्दिष्ट हैं उन्हीं को अनेकत्रस्थल में भट्टोजि दीक्षित ने कौमुदी में दिये हैं। अनेक उदाहरण भाष्यादि प्रदर्शित भी हैं एवं कुछ उन्होंने अपनी प्रतिभा से दिये हैं। अग्निपु० ३४९ अ० में स्कन्द की उक्ति व्याकरण विषय में है—कात्यायन एवं बालकों के सुखबोध के लिए सिद्ध शब्दों के स्वरूप ज्ञानरूप व्याकरण के सार को मैं कहता हूँ। शब्दशास्त्र के व्यवहार के लिये प्रत्याहारादिक संज्ञाएँ बताता हूँ। अकार से ल् तक ५४ वर्णों का निर्देश कर अन्त में **'इति प्रत्याहारः'** यह लिखा है। इसके बाद सन्धिप्रकरण आदि अनेक प्रकरण हैं। यह अग्निपुराण की कथा है।

नारदपुराण में सनन्दन व्याकरणशास्त्र का वर्णन करते हैं कि 'हे नारद! वेदाङ्ग व्याकरण संक्षेप से मैं कहता हूँ। इस पुराण में पद आदि संज्ञाएँ हैं पदावलि सम्बोधन प्रातिपदिक प्रथमादि संज्ञाएँ। कारक = कर्तृ आदि संज्ञाएँ हैं। धातु लकारादि निर्देश भी हैं। हरेऽव आदि अनेक उदाहरण भी उसमें प्रदर्शित हैं। शब्दों के रूप भी हैं। तद्धित कृत्प्रत्ययों का समावेश है। सनादि प्रक्रियायें निर्दिष्ट हैं।

अन्य पुराणों में 'व्याकरण विमर्श' विशिष्ट इसकी भूमिका में दिया जायगा। पुराणों का कालनिर्देश इतिहास का विषय है। पुराणकाल पाणिनि मुनि के पूर्ववर्ती है या नहीं? अतः अइउण् यह १४ सूत्र पुराणनिर्दिष्ट वस्तु के अपवादमात्र हैं या नहीं? पाणिनि की प्रत्याहार रचना भी अनुवाद मात्र है। आदि संदेह होता है। पुराणादि में वर्णित यावद् शब्दशास्त्र का उन्होंने सूक्ष्म

अध्ययन किया और उन ग्रन्थों को ही अपनी कृति का आधारस्तम्भ माना, यही प्रतीति उचित नहीं है। कई स्थानों में उन्होंने पुराणादिक में वर्णित विषय का अक्षरशः अनुवादमात्र ही किया है, यह कथन ठीक नहीं है पुराणकाल से पूर्वकाल में पाणिनि का उत्पत्तिकाल सिद्ध हो चुका है, पाणिनि की कृतियों का ही पुराणों में प्रदर्शन है। इससे २७०० वर्ष पूर्व पाणिनिकाल है। पुराणकाल ७०० वर्ष का ही है।

मधु अरिः, उकार को वकार यण् म ध् य् अरि ध् का द्वित्व, जश्च मद्धरिः=मधु नामक दैत्य के शत्रु विष्णु। धातृ अंश, ऋकार् का र् धात्रंशः = ब्रह्मा का अंश। 'ऌ आकृतिः' ऌ को ल् लाकृति= ऌकार की आकृति। मध्वारि में ध् व् के द्वित्वविकल्प से चार रूप हैं। लाकृति का अर्थ—देव जाति की माता का स्वरूप।

यण् सन्धि के कुछ अन्य उदाहरण—दध्यत्र, = यहाँ दहि है। वध्वासनम् = वधुका आसन पितृ अर्थः, पित्रर्थः = पिता का धन। यह संहार सन्धि है।

५५-नादिन्याक्रोशे पुत्रस्य ८।४।४८।

पुत्रशब्दस्य न द्वे स्त आदिनी शब्दे परे आक्रोशे गम्यमाने। पुत्रादिनी त्वमसि पापे। आक्रोशे किम्। तत्त्वकथने तु भवत्येव। पुत्त्रादिनी सर्पिणी। * तत्परे च *। पुत्रपुत्रादिनी त्वमसि पापे। * वा हतजग्धयोः * पुत्त्रहती, पुत्त्रहती। पुत्त्रजग्धी पुत्त्रजग्धी।

पुत्र शब्दावयव यर् का द्वित्व नहीं होता है आदिनी शब्द उत्तरपद में रहते, निन्दा की जहाँ प्रतीति गम्यमान रहे। यहाँ 'आदिनी' का अर्थ=खाने वाली है। हे पापिणी ! तू बच्चों को खानेवाली है। सत्यभाषण में द्वित्व होता है—सर्पपत्नी अपने बच्चों को खाने वाली है। * पुत्रादिनी शब्दपरक पुत्र शब्द के तकार को द्वित्व नहीं होता है *। * हत या जग्ध शब्दपरक पुत्रशब्दावयव तकार का विकल्प से द्वित्व होता है *। बच्चों को मारने वाली या खानेवाली। यहाँ शंका होती है कि 'आदिनी आक्रोशे' में प्रगृह्य संज्ञा क्यों नहीं हुई—ईदूतौ च सप्तम्यर्थे से किन्तु सौत्रत्वात् संधि हुई है या 'अदिनि' पुंस्त्वपाठ है, किन्तु मूर्ख समाज में स्त्रियों में ही इस प्रकार का गाली देने का रिवाज है वृत्ति में लिङ्गविशिष्ट परिभाषा से 'आदिनी' लिखा है अथवा सप्तमी को 'सुपां सुलुक्' से आ आदेश है 'आदिन्या आक्रोशे' में दीर्घ सन्धि है।

५६-त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य ८।४।५०।

त्रादिषु वर्णेषु संयुक्तेषु वा द्वित्वम्। इन्न्द्रः। इन्द्रः। राष्ष्ट्रम्। राष्ट्रम्।

अच् से पर तीन या अधिक का संयोग रहे तो वहाँ विकल्प से द्वित्व का निषेध होता है। न् प् का उदाहरण में द्वित्वनिषेध, एवं द्वित्वनिषेध का अभाव हुआ, अभावाभावप्रतियोगी स्वरूप है अर्थात् द्वित्व। देवस्वामी = इन्द्रः। अनेक भिन्न-भिन्न विचार के व्यक्तियों का समाज राष्ट्र है—यथा भारतवर्ष योगरूढ यह शब्द देशविशेष का भी प्रत्यापक है।

५७-सर्वत्र शाकल्यस्य ८।४।५१।

द्वित्वं न। अर्कः। ब्रह्मा।

शाकल्यमत के अनुसार अच् से पर यर् का सर्वत्र द्वित्व का निषेध है। अर्कः। ब्रह्मा। शाकल मुनि के गोत्रापत्य को शाकल्य कहते हैं।

५८–दीर्घादाचार्याणाम् ८।४।५२।

द्वित्वं न। दात्रम्। पात्रम्।

आचार्यों के मत में दीर्घ स्वर से अव्यवहित पर यर् का द्वित्व नहीं होता है। आचार्य पद से पाणिनि का ग्रहण यह भी पक्ष है। अन्य मत है कि आचार्य नाम से प्रसिद्ध कोई वैयाकरण थे। यह मत उचित प्रतीत होता है। आदरार्थ बहुवचन शब्द का प्रयोग है। दात्रम् = हंसुवा का नाम है। 'पात्रम्' यह शब्द अनेकार्थक है। लोक में कुपात्र, सुपात्र 'सुपात्रनिक्षेपनिराकुलात्मना' (माघ) सत्पात्रे विनियोगः। पात्रे जलम् पात्रं नष्टम् आदि।

५९–अचो रहाभ्यां द्वे ८।४।४६।

अचः पराभ्यां रेफहकाराभ्यां परस्य यरो द्वे वा स्तः। हर्य्यनुभवः। हर्यनुभवः। न ह्य्यस्ति, न ह्यस्ति।

अच् से व्यवधानरहित रेफ या हकार रहें उनसे व्यवधानरहित यर् का विकल्प से द्वित्व होता है। हरि + अनुभवः से यण् करके ह् र् य् अनुभवः है, यर् = य् का द्वित्वपक्ष में दोय्। पक्ष में एक य् है। 'न हि + अस्ति' यण्, द्वित्व, द्वित्वाभाव दोय् एक य्।

विमर्श—सब ब्राह्मणों को दही दो और कौण्डिन्य को मट्ठा, यहाँ मट्ठा देने से दही नहीं दी जाती है। ऐसा तक्रकौण्डिन्यन्याय है, उसी प्रकार यहाँ रेफ में द्वित्व शास्त्र की निमित्तता है, निमित्तता से स्थानिता का बाध होता है, अतः रेफ से अतिरिक्त यर् का द्वित्व होता है। हकार तो यर् ही नहीं है उसका द्वित्व प्राप्त नहीं है। "नेमौ रहौ कार्य्यिणौ किन्तर्हि निमित्तं द्विर्वचनस्य" यहाँ हकारोक्ति केवल दृष्टान्त प्रतिपादक ही है। संस्कृत में तक्रकौण्डिन्यन्याय प्रसिद्ध है— "सर्वेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयतां तक्रं कौण्डिन्याय" यह न्याय स्वरूप है।

६०–हलो यमां यमि लोपः ८।४।६४।

हलः परस्य यमो लोपः स्याद् वा यमि। इति लोपपक्षे द्वित्वाभावपक्षे चैकयं रूपं तुल्यम्। लोपारम्भफलन्तु आदित्यो देवताऽस्येति आदित्यं हविरित्यादौ। 'यमां यमि' इति यथासंख्यविज्ञानान्नेह—माहात्म्यम्।

यहां 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति है। यम से अव्यवाहित पूर्व हल् से अव्यवहित उत्तर यम रहें वहां यम् का विकल्प से लोप होता है। यहाँ स्थानी यम् एवं निमित्त यम का यथासंख्य है।

'हर्य्यनुभवः हर्यनुभवः' इत्यादि में द्वित्व निष्पन्न 'य् य्' में एक य् का लोप इससे है। द्वित्व के अभाव में भी एक य् है। लोपविधायक सूत्र का प्रयोजन क्या है?

जिस हविः का आदित्य देवता है इस अर्थ में आदित्य से ण्यप्रत्यय होकर भ संज्ञक अकार लोप 'आदित्य् य' यहां यकार लोपार्थ इस सूत्र की आवश्यकता है।

आदित्यं हविः। 'माहात्म्यम्' में त् से पर म् का लोप नहीं हुआ निमित्तय के पूर्व य रहे वहां लोप होता है, क्रमिक अन्वय से।

द्वित्व प्रकरण एवं लोप प्रकरण समाप्त हुआ।

६१–एचोऽयवायावः ६।१।७८।

एचः क्रमाद् अय् अव् आय् आव् एते स्युरचि।

ए ओ ऐ औ के स्थान में क्रम से अय् अव् आय् आव् आदेश होते हैं अच् पर में रहते।

विमर्श—एच् ३६ है आदेश चार है अतः स्थानप्रयत्नतः सादृश्य है—१ संवृत अकारयुक्त कण्ठ तालु स्थान से उत्पन्न एकार के स्थान में उसके समान अय् आदेश। २ संवृत कण्ठ ओष्ठजन्य ओकार के स्थान में तत्समान अवादेश। ३ विवृता आकारयुक्त तालु ओष्ठ स्थानजन्य ऐकार को आय् आदेश ४ तादृश औकार को आव् आदेश होता है। या जातिपक्ष मान कर एत्व ओत्व ऐत्व औत्व, जातिगत तत्तत् एकत्व एकारादि में आरोप कर चार वर्ण को चार आदेश होते हैं।

६२–तस्य लोपः १।३।९।

तस्येतो लोपः स्यात्। इति यवयोर्लोपो न, उच्चारणसामर्थ्यात्। एवं चेत् संज्ञापीह न भवति। हरये, विष्णवे, नायकः, पावकः।

इत्संज्ञक वर्ण का लोप होता है। इत् की अनुवृत्ति कर उसका विभक्ति विपरिणाम से सूत्र में 'इत् का' यह अर्थ लाभ होता है 'तस्य' से सम्पूर्ण इत्संज्ञक वर्ण का लोप होता है अयादि में अन्तिम य् एवं व् की 'हलन्त्यम्' से इत् संज्ञा है किन्तु य् व् का उच्चारण ही लोप होने में व्यर्थ है, अतः लोप उनका इससे न हुआ, ऐसी परिस्थिति में निष्फल इत् संज्ञा भी 'य् व्' की नहीं होती हैं। वैयाकरणमते "या या संज्ञा सा सा फलवती" यह नियम है। नमः के योग में चतुर्थी है। हरे ए, विष्णो ए, नै अकः, पौ अकः, क्रमेण अय् 'हरये'। अव् 'विष्णवे'। आय् 'नायकः'। आव् पावकः। पुराणों में यही उदाहरण है। १ विष्णु के लिए नमस्कार। २ विष्णु भगवान् के लिए नमस्कार। ३ नायक=नेता या प्रधान। ४ पवित्रकर्ता या अग्नि। अग्नि से सभी पदार्थ पवित्र होते हैं। काशीखण्ड में पावक का पवित्रकर्ता अग्नि का वर्णन है।

विमर्श—ग्रन्थकार ने य् व् की इत्संज्ञा के अभाव में जो समाधान दिया वह उचित नहीं है। क्षय्यः, जय्यः, गव्यूतिः, गव्यम् में यकार वकार का उच्चारण सार्थक है। अतः यकार वकार के लोपाभाव में अन्य निर्देश रूप समाधान देना चाहिए यथा—'गवि च युक्ते' 'इतावनार्षे' 'परिक्रयणे' आदि।

६३–वान्तो यि प्रत्यये ६।१।७९।

यकारादौ प्रत्यये परे ओदौतोरव् आव् एतौ स्तः। गोर्विकारो गव्यम्। गोपयसोर्यत्। नावा तार्यं नाव्यम्। नौवयोधर्मेत्यादिना यत्। ❀ गोर्यूतौ छन्दस्युपसंख्यानम् ❀। ❀ अध्वपरिमाणे च ❀। गव्यूतिः। ऊतियूतीत्यादिना यूतिशब्दो निपातितः। वान्त इत्यत्र वकाराद् गोर्यूताविर्त्यत्र छकाराद् वा पूर्वभागे लोपो व्योरिति लोपेन वकारः प्रश्लिष्यते। तेन श्रूयमाणवकारान्त एवादेशः स्यात्। वकारो न लुप्यत इति यावत्।

उत्थिता आकाङ्क्षा से वान्त ज्ञानार्थ पूर्वत्र निर्दिष्ट अव् आव् का ज्ञान होता है स्थानी ज्ञान के लिए वार्तिक यहां है—ओदौतोरिति वक्तव्यम्। उससे ओ औ का ज्ञान होता है, यहां वान्त प्रत्यय अर्थ अभिमत नहीं है अतः 'प्रत्ययग्रहणे यस्मात्' इस परिभाषा की बाधक परिभाषा यह है—"यस्मिन् विधिस्तदादावल् ग्रहणे" से आदि अर्थ का लाभ होता है। अल् बोधक सप्तम्यन्त विशेषण रहें तो जिस विधेय कार्य का यकारादि प्रत्यय से अव्यवहित पूर्व ओकार एवं औकार को क्रमशः विधान है, वहां तदादि की उपस्थिति होती है अव् आव् आदेश होते हैं।

गव्यम्—यहाँ यत्, ओकार को अव् आदेश हुआ है। षष्ठ्यन्त गोशब्द से विकारार्थ में यत्, प्रत्ययान्त से विभक्ति कार्य है। अर्थ—गो का विकार—दूध, दही, घृत, गोमूत्र, गोबर। नाव्यम्—नौका से पार करने योग्य अर्थ में यत्। औ को आव् आदेश। नौका से पार करने योग्य जल।

* यूति शब्द से पूर्व गो का ओकार को छन्द में अव् आदेश होता है * मार्ग के परिणाम रूप संज्ञा में यूतिपूर्वक गो के ओकार को अव् आदेश होता है *। यूति का अर्थ मिश्रण है। गव्यूति का अर्थ—दो कोस का नाप।

विमर्श—प्रश्न—'गव्यम्' 'गव्यूति' इनमें 'लोपः शाकल्यस्य' से वकार का लोप प्राप्त हुआ, किन्तु गव्य गव्यूति में वलोप युक्त रूप नहीं दिखता तो उसकी क्या व्यवस्था समझनी चाहिये ?।

समाधान) वान्त के वकार के पहले एवं गोर्यूतौ के बाद छकार के पहले वकार का उभयत्र प्रश्लेष है। अर्थात् 'व् वान्त' 'व्छन्दसि' ऐसी मूलस्थिति है। प्रश्लेष किया हुआ वकार का 'लोपो व्योर्वलि' से लोप है। इस प्रयास का यही फल है कि अव् का वकार प्रयोग में सदा श्रूयमाण ही रहता है उसका लोप नहीं होता है। यदि लोप होता तो यह गुरुभूत प्रयास व्यर्थ सिद्ध होगा।

प्रश्न—गव्यम्, में लोप की प्राप्ति ही नहीं है। 'लोपः शाकल्यस्य' सू० पदान्तवकार का लोप करता है। यहां यकारादि यत् प्रत्ययपरक गो शब्द भसंज्ञक है। यचि भम् से। ओकार पदान्त नहीं उसके स्थान में अवादेश का वकार पदान्त नहीं है किन्तु भसंज्ञ के अन्त में भान्त है। ऐसी परिस्थिति में सूत्र में प्रश्लेष का क्या प्रयोजन है? (समा०) गाम् इच्छति = 'गव्यति' यहाँ वकारलोप वारणार्थ सूत्र में वकार का प्रश्लेष है। यहाँ लुप्त अम् प्रत्यय का प्रत्ययलक्षण कर 'सुप्तिङन्तम्' से पद संज्ञा गो की है ओ में पदान्तत्व है वह स्थानिवद्भाव से आदेश अव् में है। अतः यहां पदान्त वकार है। (प्रश्न) यहां तो 'न क्ये' सूत्र से पदसंज्ञा की व्यावृत्ति होती है, क्यच् एवं क्यङ् पर में रहें वहां नान्त की ही पदसंज्ञा होती है यहां गो ओकारान्त है। (समाधान)—गां नयति गोनीः गोन्यम् आचष्टे गोनयति, गोनयति गोन् गोनम् इच्छति गव्यति = गो को ले जाने वाला मनुष्य के समान आचरण करने वाले की इच्छा करने वाला इस अर्थ में 'गोन् यति' में नान्त की पदसंज्ञा, न लोप से पदान्त गो के ओकार को अव् आदेश—'गव्यति' यहाँ वकार लोप निवृत्ति के लिए 'वान्त' सूत्र में वकार प्रश्लेष आवश्यक है।

प्रश्न—'गव्यूति' छन्द में तो सभी शास्त्रविकल्प से इष्टानुरोध से लगते हैं। अतः लोप नहीं होगा। एवं लोक में दो कोस का नापरूप संज्ञा को मान कर विधीयमान अव् आदेश लोप में निमित्त नहीं होगा। संज्ञा स्वरूप 'गयूति' से भङ्ग होने के भय से। अतः उपजीवक अयादेश उपजीव्य संज्ञा के स्वरूपनाशक सन्निपातपरिभाषा से न होने से लोप की अप्राप्ति है, पुनः वार्तिक में वकार प्रश्लेष व्यर्थ ही है। अतः प्रश्लेष वकार का वार्तिक में न करना चाहिए।

६४-धातोस्तन्निमित्तस्यैव ६।१।८०।

यादौ प्रत्यये परे धातोरेचश्चेद्वान्तादेशस्तर्हि तन्निमित्तस्यैव, नान्यस्य। लव्यम्। अवश्यलाव्यम्। तन्निमित्तस्यैवेति किम्। ओयत। औयत।

सामान्यतः पूर्वसूत्र से यकारादि प्रत्ययपरक ओ औ को अव् आव् आदेश होते हैं किन्तु वह नियम धातुओं में सर्वत्र नहीं लगता। उस सामान्य वचन का यह नियम सूत्र है। प्राप्त कार्य का पुनः विधायक नियमार्थ है। यहां एवकार उलटे नियम के वारणार्थ है। नियमस्वरूप

इस प्रकार का है—यकारादि प्रत्ययपरक धातु के एच् को वान्तादेश हो तो वह एच् यादि प्रत्यय निमित्तक ही होना चाहिए, अन्यथा नहीं। यदि प्रत्यय निमित्तक एच् को वान्तादेश हो तो वह एच् धातु का अवयव रहे। यह विपरीत नियम मानते तो 'बाभ्रव्यः' 'माधव्य' की सिद्धि न होती वहां एच् प्रातिपदिक का अवयव है। 'गोप्यम्' में ओ यकारादि प्रत्यय से अव्यवहित पूर्व नहीं है। यहां 'न यकि' न्यास न करना, 'भोयम्' में अवादेश की आपत्ति होगी।

च्छेदनार्थक लु धातु से कर्म में यत् गुण अवादेश लव्यम् = काटने योग्य। ण्यत् वृद्धि से अवश्य लौ य औ का आवादेश अवश्यलाव्यम् = अवश्य काटने योग्य। थोड़ा बुना जाता है इस अर्थ में ओयते। औयत = बुना गया। यहां 'ओ' 'औ' यादि प्रत्यय निमित्तक नहीं है अतः वान्त आदेश न हुआ। १ में 'आद्गुणः' से ओ है २ वृद्धि से औ है। वेञ् धातु के कर्म में लट् का रूप एवं लङ् लकार के दोनों रूप हैं।

६५—क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे ६।१।८१।

यान्तादेशनिपातनार्थमिदम्। क्षेतुं शक्यं क्षय्यम्। जेतुं शक्यं जय्यम्। शक्यार्थे किम्, क्षेतुं जेतुं योग्यं क्षेयं पापम्। जेयं मनः।

शक्य अर्थ में यत् प्रत्यय से पूर्व क्षिधातु सम्बन्धी एच् एवं जिधातु सम्बन्धी एच् को निपातन करके यान्त अयादेश होता है। क्षयार्थक एवं जयार्थक क्षि, एवं जि धातु से कर्म में 'अचो यत्' से यत्, गुण निपातन से अयादेश क्षय्यम् = क्षय पाने को शक्य। जय्यम् = जय पाने शक्य। योग्यता अर्थ में अयादेश नहीं होता है। जेयम् = जीतने योग्य मन। क्षेयम् = नाश करने योग्य पाप। प्रत्युदाहरण में 'अर्हे' सूत्र से योग्यता अर्थ में यत् प्रत्यय है।

६६—क्रय्यस्तदर्थे ६।१।८२।

तस्मै=प्रकृत्यर्थायेद तदर्थम्। क्रेतारः क्रीणीयुरिति बुद्ध्या आपणे प्रसारितं क्रय्यम्। क्रेयमन्यत्। क्रयणार्हमित्यर्थः।

ग्राहक मोल लें इस निमित्त बेचने के स्थान में धरा हुआ पदार्थ इस अर्थ में यादि प्रत्यय से पूर्व क्री धातु सम्बन्धी एच् को अय् आदेश निपातित है। द्रव्य के विनिमय अर्थबोधक डुक्रीञ् धातु है। डुञ् का लोप। क्री से कर्म में यत् गुण क्रे + य अयादेश क्रय्यम्। बेचने योग्य तो है, परन्तु घर में या और चाहे जहाँ रखा हो वह क्रेय कहाता है। बेचने योग्य क्रेयम् का अर्थ है।

६७—लोपः शाकल्यस्य ८।३।१९।

अवर्णपूर्वयोः पदान्तयोर्यवयोर्वा लोपोऽशि परे। पूर्वत्रासिद्धमिति लोपशास्त्रस्यासिद्धत्वान्न स्वरसन्धिः। हर एहि। हरयेहि। विष्ण इह। विष्णविह। श्रिया उद्यतः। श्रियायुद्यतः। गुरा उत्कः। गुरावुत्कः।

कानि सन्ति कौ स्त इत्यत्रास्तेरल्लोपस्य स्थानिवत्त्वेन यणावादेशौ प्राप्तौ न पदान्तेति सूत्रेण पदान्तविधौ तन्निषेधान्न स्तः।

अश् परक अवर्ण पूर्वक पदान्त यकार, वकार का विकल्प से लोप होता है। हरे + एहि, एकार को अयादेश, य् का इस सूत्र से विकल्प लोप, लोप पक्ष में हर एहि यहां 'ओमाङोश्च' से पररूप प्राप्त है, किन्तु 'पूर्वत्रासिद्धम्' से सपादसप्ताध्यायी 'ओमाङोश्च' की दृष्टि में त्रिपादीस्थ यह

लोप असिद्ध है, अ ए के बीच में य् बुद्धि होने से पररूप न हुआ हर एहि। लोप शास्त्र वैकल्पिक होने से पक्षमें 'हरयेहि' हुआ। विष्णो + इह, अवादेश, वकार लोप, लोपाभाव, विष्ण इह विष्णविह। श्रियै + उद्यतः श्रिया उद्यतः, श्रियाबुद्यतः। गुरौ + उत्कः गुराव् उत्कः, गुरा उत्कः, गुरा—वुत्कः। १—हे विष्णु आप आइये। २—विष्णु यहां है। ३—लक्ष्मी प्राप्ति के लिए उद्युक्त। ४—गुरु के विषय में उत्कंठित।

वाक्य संस्कार पक्ष में 'कानि सन्ति' में अस् धातु को लुप्त अकार का 'अचः परस्मिन्' सूत्र से स्थानिवद्भाव से यण् प्राप्त हुआ, 'कौ स्त' में औ का आव् आदेश 'एचोऽय' से प्राप्त है किन्तु 'न पदान्त' से पदान्त विधि में स्थानिवद्भाव का निषेध से अच् परक इकार, औकार नहीं है। अतः यण् आव् आदेश न करना चाहिये।

६८–एकः पूर्वपरयोः ६।१।८४।

इत्यधिकृत्य।

पूर्व स्थानी के स्थान में भिन्न आदेश प्राप्त था एवं परस्थानी के स्थान में भिन्न आदेश प्राप्त था वह न हो किन्तु पूर्व पर दोनों के स्थान में एक ही आदेशार्थ यह अधिकार सूत्र करके आचार्य कहते हैं—

६९–आद्गुणः ६।१।८७।

अवर्णादचि परे पूर्वपरयोरेको गुण आदेशः स्यात् संहितायाम्। उपेन्द्रः। रमेशः। गङ्गोदकम्।

अ या आ उसके आगे अच् रहें तो पूर्व और पर इन दोनों के स्थान में मिलकर एक गुण आदेश होता है। यथा 'उप इन्द्रः' 'अ इ' के समान स्थान वाला एकार होकर उपेन्द्रः = विष्णुः। रमा ईशः रमेशः = विष्णुः। गङ्गा उदकम् गङ्गोदकम् = गङ्गाजलम्।

अवर्ण के आगे ऋ या ऌ रहे तो कौन सा गुण होना चाहिए? अवर्ण ऋकार का कण्ठ-मूर्द्धन्य स्थान है, अवर्ण ऌवर्ण का कण्ठ दन्त्य स्थान है। ऐसा गुण संज्ञक कोई वर्ण नहीं है। अतः इस शङ्का का समाधान अग्रिम सूत्र की व्याख्या अनन्तर होगा। अथवा जिस प्रकार नष्टाश्वरथदग्धन्याय—दो राजा वन में गये अपने २ रथ से. एक का अश्व पलायित हुआ, दूसरे राजा का रथ जल गया ऐसी परिस्थिति में उन दोनों का परस्पर सहायतार्थ संयोजन होता है 'तव अश्वो नष्टः, मम रथो दग्धः' आवयोः संयोगः। उसी प्रकार यहां अकार गुण संज्ञक को स्थानी की अपेक्षा है अकार ऋकार को गुण संज्ञक आदेश की अपेक्षा है। अतः परस्पर स्थानाभावरूप आनन्तर्य लेकर अकार ऋकार का गुण अकार उत्तर सूत्र सहायता से रपर अर्। वृद्धि आर्। अ ऌ का गुण अल् वृद्धि आल्। भाष्य में "अनान्तर्यमेव एतयोरान्तर्यम्" कहा है गुण कृत आन्तर्य से तीन को छोड़कर सर्वविध आन्तर्य का ग्रहण है।

७०–उरण् रपरः १।१।५१।

ऋ इति त्रिंशतः संज्ञेत्युक्तं तत्स्थाने योऽण् स रपरः सन्नेव प्रवर्तते। तत्रान्तरतम्यात् कृष्णर्धिरित्यत्रार्। तवल्कार इत्यत्राल्। अचो रहाभ्यामिति पक्षे द्वित्वम्।

ऋ ऌ की परस्पर सवर्ण संज्ञा है। ऋ के अठारह और ऌ के बारह मिलकर तीस भेद है।

उन सबों का ऋ में ही ग्रहण होता है। ऋ के स्थान में जायमान अण् (अ इ उ) रपर होकर ही लक्ष्य में आता है। अर्थात् प्रथम स्थानी के स्थान में अण् होकर बाद में रपर नहीं होता है। अर् आर्, अल् आल् इर् उर् इनको रपरक लपरक अण् कहते हैं। ऋ एवं ऌ शब्द के रूपों का ज्ञान कम ही लोगों को होता है अतः ऋ के रूप इस प्रकार है—

आ अरौ अरः। अरम् अरौ ऋन्। रा ऋभ्याम् ऋभिः। रे ऋभ्याम् ऋभ्यः। उः ऋभ्याम् ऋभ्यः। उः रोः ऋणाम्। अरि रोः ऋषु। हे अः हे अरौ हे अरः।

ऌशब्द के रूप—आ अलौ अलः। अलम् अलौ ऋन्। ला ऌभ्यां ऌभिः। ले ऌभ्याम् ऌभ्यः। उल् ऌभ्याम् ऌभ्यः। उल् लोः ऋणाम्। अलि लोः ऌषु। हे अल् हे अलौ हे अलः सम्बोधन में। कृष्ण ऋद्धिः। अवर्ण गुण संज्ञक है, अवर्ण ऋकार के स्थान में अर् करने पर स्थानी द्वय एवं आदेश का समान स्थान है = कण्ठ–मूर्द्धन्य। 'जलतुम्बिका' न्याय से रेफ का ऊर्ध्व गमन है। कृष्णर्द्धिः = कृष्ण का अभ्युदय। एवं तव ऌकारः में अवर्ण ऌकार का कण्ठ–दन्त स्थान समान 'अल्' आदेश से तवल्कारः = तेरा ऌकार। इसी प्रकार अवर्ण ऋकार का आ प्राप्त होते ही 'आर्' वृद्धि होती है। अवर्ण ऌकार की वृद्धि 'आ' प्राप्त होते ही 'आल्' वृद्धि होती है। ऋ ऌ वर्णों की गुण वृद्धी अर्, अल् आर् आल् ही है। यथा नष्ट अश्व दग्ध रथ वाले दोनों का कार्यार्थ सम्मेलन होता है तथैव गुण संज्ञक अकार स्थानी वर्ण का अन्वेषण में तत्पर है एवं अकार ऋकार वे दोनों, एवं अकार ऌ वर्ण वे दोनों आदेश के अन्वेषण में प्रयत्नयुक्त है अतः रपर अवर्ण, लपर अवर्ण होता है। एवं वृद्धि में आर आल् समझना।

सूत्र में ऋशब्द का षष्ठ्यन्त 'उः' रूप है, अण् से अ इ उ इन तीन वर्णों का तत्सवर्णा वर्णों का बोध है। 'रपरः' में बहुब्रीहि समास है = रेफ है पर में जिसके। यहां र प्रत्याहार है रेफ एवं ऌकार इन दो उसके संज्ञी है। यदि लण् मध्यस्थ अवर्ण में अननुनाशिकत्व है इत्संज्ञा लोप नहीं हो होते इस नागेशभट्ट मत स्वीकार करेंगे तब वहां 'लपरश्चेति वक्ष्यामि' इस भाष्यवार्तिक से लपर अल् आल् गुण एवं वृद्धि करनी चाहिये। श० शे० में विस्तार इसका है। कृष्णर्द्धि में 'अचो रहाभ्याम्' से धकार का द्वित्व कर जश् से ध् को द् है द्वित्वाभाव पक्ष में केवल धकार घटित रूप है।

७१–झरो झरि सवर्णे ८।४।६५।

हलः परस्य झरो लोपो वा स्यात् सवर्णे झरि। द्वित्वाभावे लोपे सत्येकधम्। असति लोपे, द्वित्वलोपयोर्वा द्विधम्। सति द्वित्वे लोपे चासति त्रिधम्। १ कृष्णर्धिः २ कृष्णर्द्धिः ३ कृष्णर्द्द्धिः। 'यण इति पञ्चमी, मय इति षष्ठी' इति पक्षे ककारस्य द्वित्वम्। लस्य 'त्वनचि चे'ति तेन 'तवल्कारः' इत्यत्र रूपचतुष्टयम्।

द्वित्वं लस्यैव कस्यैव नोभयोरुभयोरपि।
तवल्कारादिषु बुधैर्बोध्यं रूपचतुष्टयम्॥

सवर्ण झर से पूर्व हल् से पर झर् का विकल्प से लोप होता है। इस कारण द्वित्व न करके लोप किया जाय तो एक ध् युक्त रूप। लोप न किया जाय अथवा द्वित्व एवं लोप दोनों कार्य किये जायँ तो दो धकारों से युक्त रूप। द्वित्व किया जाय, किन्तु लोप न किया जाय तो तीन धकारों से युक्त रूप तीन रूप होते है।

'यणो मयो द्वे वाच्ये' में प्रयोगानुसारी शिष्टोक्त व्याख्यान से उभय पक्ष है। १—'यणः'

पञ्चम्यन्त है यह एक पक्ष है। २—'मयः' पञ्चम्यन्त है यह पक्ष भी है। प्रथम पक्ष का अवलम्बन यहां कर यण् से पर मय् का द्वित्व होता है, तवल्कार के ककार का द्वित्व हुआ। 'अनचि च' से लकार का वैकल्पिक द्वित्व हुआ इस कारण इस शब्द के चार रूप होते हैं। द्वित्वमिति। १—एक बार लकार का द्वित्व, २—एक बार ककार का द्वित्व, ३—एक बार दोनों का द्वित्व नहीं, ४—एक बार दोनों का द्वित्व। इस कारण बुद्धिमानों को तवल्कार आदि शब्दों में चार रूप जानने चाहिये। १—तवल्ल्कारः। २—तवल्क्कारः। ३—तवल्कारः। तवल्ल्क्कारः।

७२–वृद्धिरेचि ६।१।८८।

आदेचि परे वृद्धिरेकादेशः स्यात्। गुणापवादः। कृष्णैकत्वम्। गङ्गौघः। देवैश्वर्य्यम्। कृष्णौत्कण्ठ्यम्।

अ अथवा आकार बाद ए ओ ऐ औ वर्ण रहे तो पूर्ववर्ण परवर्ण इन दोनों के स्थान में वृद्धिरूप एक आदेश होता है। यह सूत्र 'आद् गुणः' से विधीयमान गुण का अपवाद है। १—कृष्ण एकत्वम् असमस्त है, षष्ठी समास का 'पूरणगुण' से निषेध है। वृद्धि अ ए इन दोनों की ऐ, संयोजन से कृष्णैकत्वम् = आप में एकत्व है। २—गङ्गा ओघः=गङ्गौघः=गङ्गा का प्रवाह। ३—देव ऐश्वर्य्यम्, यहाँ भी समास नहीं है। वृद्धि देवैश्वर्य्यम्=हे देव इस संसार पर आपका स्वामित्व है। ४—कृष्ण औत्कण्ठ्यम् वृद्धिः–कृष्णौत्कण्ठ्यम् = कृष्णविषयक—भक्त की उत्कट प्राप्ति की इच्छा। या कृष्ण की उत्कण्ठा। स्थानतुल्यता प्रयुक्त ऐकार औकार वृद्धि इन प्रयोगों में हुई।

७३–एत्येधत्यूठ्सु ६।१।८९।

अवर्णादेजाद्योरेत्येधत्योरूठि च परे वृद्धिरेकादेशः स्यात्। पररूपगुणापवादः। उपैति। उपैधते। प्रष्ठौहः। एजाद्योः किम्। उपेतः। मा भवान् प्रेदिधत्। पुरस्तादपवादन्यायेनेयं वृद्धिः 'एङि पररूपमि'त्यस्यैव बाधिका न त्वोमाङोश्चे-त्यस्य तेनावेहि इति वृद्धिरसाधुरेव। ❀ अक्षादूहिन्यामुपसंख्यानम् ❀। अक्षौहिणी सेना। ❀ स्वादीरेरिणोः ❀। स्वैरः। स्वेनेरितुं शीलमस्येति स्वैरी। स्वैरिणी। ❀ प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु ❀। प्रौहः। प्रौढः। अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ग्रहणम्। 'वश्चे'ति सूत्रे राजेः पृथग् भ्राजिग्रहणाज्ज्ञापकात्। तेन ऊढग्रहणेन क्तान्तमेव गृह्यते, न तु क्तवत्वन्तस्यैकदेशः। प्रोढवान्। प्रौढिः। इष इच्छायां तुदादिः। इष गतौ दिवादिः। इष आभीक्ष्ण्ये क्र्यादिः। एषां घञि ण्यति च 'एषः' 'एष्यः' इति रूपे तत्र पररूपे प्राप्तेऽनेन वृद्धिः। प्रैषः। प्रैष्यः। यस्तु 'ईष उञ्छे' यश्च 'ईषगतिहिंसादर्शनेषु' तयोर्दीघोपधत्वात् ईषः, ईष्यः। तत्राद्गुणेन प्रेषः, प्रेष्यः। ❀ ऋते च तृतीया समासे ❀। सुखेन ऋतः = सुखार्तः। तृतीयेति किम्। परमर्तः। ❀ 'प्रवत्सतरकम्बलवसनार्णदशानामृणे' ❀। प्रार्णम्। वत्सतरार्णमित्यादि। ऋणस्यापनयनाय यदन्यद् ऋणं क्रियते, तद् ऋणार्णम्। दशार्णो देशः। नदी च दशार्णा। ऋणशब्दो दुर्गभूमौ, जले च।

सम्भव एवं व्यभिचार से एचि एति एधति का विशेषण है असम्भव होने से ऊठ् का विशेषण नहीं है। "सम्भवव्यभिचाराभ्यां स्याद् विशेषणमर्थवत्" अवर्ण से एच् आदि इण् या एजादि एध

तथा ऊठ् पर में रहें वहाँ पूर्व पर इन दोनों के स्थान में वृद्धिरूप एक आदेश होता है। गत्यर्थक इण् में णकार की इत्संज्ञा लोप होने इकारमात्र में एजादित्व नहीं है किन्तु इकारमात्र को भी व्यपदेशिवद्भाव से एजादित्व इकार में है ऐसा ज्ञान करना चाहिये। पररूप एवं गुण का यह अपवाद है। उप एति वृद्धि से उपैति = समीप में जाता है। उप एधते उपैधते=समीप बढ़ता है। प्रष्ठ ऊहः वृद्धि से प्रष्ठौहः = सिखाने के लिये जिसके गले में लकड़ी बाँध देते हैं उस बछड़े को प्रष्ठवाह् कहते हैं=अल्पवयस्क बैल।

सूत्र में एच् की अनुवृत्ति न करते तो 'उप इतः' यहाँ भी वृद्धि होती वह न हुई गुण से 'उपेतः'=समीप गया हुआ। मा भवान् प्र इदिधत् ण्यन्त एध् का लुङ् में इदिधत् मा के योग में आट् का अभाव है। एकदेशविकृतन्याय से इध् भी एध् है। यहाँ गुण से मा भवान् प्रेदिधत् = आप बहुत मत बढ़िये।

पररूप विधायक सूत्रों में यह किस पररूप विधायक शास्त्र का बाधक है, यह विशेष जिज्ञासा हुई, उसकी निवृत्ति के लिए ग्रन्थकार कहते हैं कि पूर्व में पठित अपवाद (बाधक) शास्त्र अगले निकटवर्ती शास्त्र का ही केवल बाधक होते हैं, उससे परविधान (शास्त्र) के बाधक नहीं होते, ऐसा न्याय=परिभाषा है। आशय यह है कि पहले अपवाद और पीछे उत्सर्ग पढ़ा है तो वह अपवाद अपने समीपस्थ उत्तरकार्यविधायक का ही बाधक होता है, उससे पर का नहीं। अतः यह एङि पररूपम्। ६।१।९४। का ही बाधक है। ओमाङोश्च ।६।१।९५ का बाधक नहीं है। अतः 'अव आ इहि' यहाँ अन्तरङ्ग गुण 'अव एहि' 'अन्तादिवच्च' से पूर्वान्तवद्भाव से 'ओमाङोश्च' से पररूप अवेहि=आवो। यहाँ वृद्धिघटित रूप का न चाहिये। 'अवैहि' यह अपशब्द है। बाध्यविशेष चिन्तापक्ष यहाँ आश्रयण किया है।

वक्ष्यमाण वार्तिकों में आत् अच् की अनुवृत्ति है—'आद्गुणः' 'इको यणचि' से। अक्ष शब्द के अवयव अकार से ऊहिनी शब्द के अवयव अच् रूप ऊकार पर में रहे वहाँ पूर्व पर उभयस्थानी के स्थान में एकादेश वृद्धि होती है।

उपसंख्यान शब्द का अर्थ उप=समीपे ख्यानम्=बोधनम् से समीप बोधन है। वृद्धिविधायक सूत्र के समीप में बोधन करने से यह वार्तिक वृद्धि विधायक है। अक्ष ऊहिनी वृद्धि अक्षौहिणी सेना = "दशानीक्योऽक्षौहिणी" उन उन सेना विशेष में गजादि के निर्णय के लिए चक्र यह है।

सेना	पत्तिः	सेनामुखम्	गुल्मः	गणः	वाहिनी	पृतना	चमूः	अनीकिनी	अक्षौहिणी
गजाः, रथाः	१	३	९	२७	८१	२४३	७२९	२१८७	२१८७०
अश्वाः	३	९	२७	८१	२४३	७२९	२१८७	६५६१	६५६१०
पदातयः	५	१५	४५	१३५	४०५	१२२५	३६४५	१०९३५	१०९३५०

स्व शब्द के अवयव अवर्ण से ईर् ईरिन् शब्दावयव अच् पर में रहे वहाँ पूर्वपर इनके स्थान में वृद्धिरूप एकादेश होता है। स्व ईरः स्वैरः = स्वतन्त्रः। स्वः ईरिन् स्वैरी = स्वेच्छा से गमनशील। 'प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्'। परिभाषा से ईरिन् से ईरिणी का भी ग्रहण है। स्व ईरिणी के ईरिणी में ईरिन् शब्दत्व = ईरिन्त्व का आरोप कर वृद्धि से स्वैरिणी = जारिणी = व्यभिचारिणी अर्थ हुआ। पतञ्जलि की उक्ति है—"कथं सभायां स्त्री साध्वी स्यात्" सभा उपलक्षण है।

प्रशब्दावयव अवर्ण से ऊह ऊढ ऊढि एष एष्य शब्दावयव अच् पर में रहे वहाँ पूर्वपर के स्थान में वृद्धिरूप एकादेश होता है। उदाहरण—प्र ऊहः प्रौहः=बड़ा भारी तर्क। प्र ऊढः प्रौढः = विचारशील। वार्तिक में ऊढ कर्म में वह से क्त है क्तान्त अर्थवान् का ग्रहण है ऊढवान् क्तवतु

प्रत्यान्त का एकदेश = एकावयव ऊढ सर्वथा निरर्थक है। प्रकृति, प्रत्यय एवं उनका समुदाय अर्थवान् है। अतः वहाँ गुण ही होगा प्र ऊढवान् प्रोढवान् = जो ढोकर ले गया वह = भूतकाल में वहन क्रिया कर्म।

विमर्श—परिभाषा में प्रमाण—षविधायक 'व्रश्चभ्रस्ज' में राज़ से भ्राज़ का अनर्थक राज़ का भी ग्रहण यदि होता तो उस सूत्र में राज़ से पृथक् भ्राज़ का ग्रहण व्यर्थ है वह भ्राज़ग्रहण इस परिभाषा ज्ञापनार्थ है। यहाँ राज़ साहचर्य्य से 'टुभाज़' का ग्रहणार्थ भ्राज़ सार्थक है, अन्यथा दीप्यर्थक भाज़ का भ्राज् का भी ग्रहण होकर विभ्राक् विभ्राग् न होकर उसका भी 'विभ्राट्' 'विभ्राड्' अनिष्ट रूप होंगे ऐसी परिस्थिति में भ्राज़ ग्रहण व्यर्थ नहीं है। परिभाषा में क्या प्रमाण ?, दीप्यर्थक को भ्राज़ न पढ़कर ऋभ्राज् पढ़ने से षकार न होता, भ्राज़ ग्रहण परिभाषा में प्रमाण है। अथवा अर्थबोधक शब्द का ही ग्रहण शास्त्र में होता है, शास्त्र में शब्द में अर्थ का विशेषण—तया भान होता है तो उसका त्याग न करना इस युक्तिमूलक ही 'अर्थवद्ग्रहणे' परिभाषा है।

उपस्थितस्यार्थस्य शब्दम्प्रति विशेषत्वसम्भवे तत्त्यागे मानाभावः। लोक में अर्थ विशेष्य है उसमें शब्द विशेषण है, किन्तु शास्त्र में उससे विपरीत क्रम है, क्योंकि अर्थ को एवं अर्थपरत्व से आदेश प्रत्यय विधान बाधित है। अर्थ का उच्चारण भी सम्भव नहीं है सूत्रों का वैयर्थ्य से अर्थ-वाचक शब्दों को आदेश एवं अर्थवाचक शब्दों से परप्रत्यय विधान होता है।

इस व्याख्यानमूलक "अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ग्रहणम्" वचन स्वतःसिद्ध है। ज्ञापक की अपेक्षा ही नहीं है यही ग्रन्थ रहस्य है।

प्रौढिः = बड़पन। तीन गणों में पठित इष धातु से घञ् प्रत्यय से एष रूप की सिद्धि कर 'प्र एषः' प्रैषः। ण्यत् में 'प्र एष्यः' वृद्धि प्रैष्यः। यहाँ 'एङि पररूपम्' से पररूप को वृद्धि ने बाध किया है। दाना-दाना बीनना, गति, हिंसादर्शन इन अर्थों में अन्यतम अर्थ का प्रकरण से निर्णय करना। प्रैष्य = नौकर भृत्य को भी कहते हैं।

अवर्ण से तृतीया समास घटक ऋत शब्द के अवयव अच् पर में रहे वहाँ वृद्धि रूप एकादेश होता है। 'सुख ऋतः' यहाँ अ ऋ की 'उरण्' सूत्र के सहयोग से आर् वृद्धि हुई। सुखार्तः = सुखी या सुख से पूजित। कर्मधारय समास में परम ऋतः' यहाँ गुण से अर् परमर्तः = अत्यन्त सुखी या पूजित। प्र वत्सतर कम्बल वसन ऋण दशन शब्द के अवयव अवर्ण से पर ऋण शब्द के अवयव अच् पर में रहें वहाँ पूर्वपर के स्थान में वृद्धिरूप एकादेश होता है। उदाहरणों में सर्वत्र अ ऋ को वृद्धि आर् होती है। प्र ऋणम्—प्रार्णम् = अतिशय ऋण। वत्सरार्णम् = गाय के बच्चे के लिए कर्जा। कम्बलार्णम् = कम्बल के लिए कर्जा। दशार्णम् = दश दुर्गवाला देश। दश नदियाँ जहाँ मिली हों उसको दशार्णा नदी। बुन्देलखण्ड में 'दशान' नामक नदी है। ऋण शब्द का कर्जा अर्थ की तरह दुर्ग भूमि और जल भी अर्थ है। ऋण ऋणम् ऋणार्णम् = एक कर्ज को देने के लिए अन्य कर्ज को ग्रहण करना।

७४–उपसर्गादृति धातौ ६।१।९१।

अवर्णान्तादुपसर्गादृकारादौ धातौ परे वृद्धिरेकादेशः स्यात्। प्रार्च्छति। उपार्च्छति।

अवर्णान्त या आवर्णान्त उपसर्ग से ऋकारादि धातु का अवयव अच् पर में रहे यहाँ वृद्धि होती है। उप ऋच्छति उपार्च्छति = समीप चलता है। प्र ऋच्छति प्रार्च्छति=अधिक चलता है।

विमर्श—यहाँ शब्दनित्यवादी का मत है कि बुद्धि ही परिवर्तनशील है। शब्द स्थिर-नित्य है। इस मत का आश्रय कर व्याकरण में आनुमानिक स्थान्यादेश माना है। प्रकृत में वे

प्र, ऋच्छ या प्र ऋच्छति समुदाय को स्थानी मानते हैं। अर्थबोधनार्थ प्र के उच्चारण में प्रार्—बुद्धि, ऋच्छ शब्दोच्चारण में आर्च्छ बुद्धि या प्र ऋच्छति में प्रार्च्छति बुद्धि होती है। बुद्धि ही अनित्य है। ऐसी स्थिति अन्यत्र वर्णित है। एवं शब्दों में पौर्वापर्य भी बुद्धिस्थ ही है "बुद्धौ कुर्यात् पौर्वापर्यम्"। इति।

७५—अन्तादिवच्च ६।१।८५।

योऽयमेकादेशः स पूर्वस्यान्तवत्परस्यादिवत्स्यात्। इति रेफस्य पदान्तत्वे।

एकादेश शास्त्र की प्रवृत्ति के पूर्व असंहितावस्था में पूर्वस्थानिघटित समुदाय में, एवं परस्थानिघटित समुदाय में रहने वाले धर्म=उपसर्गत्व-निपातत्व-प्रातिपदिकत्व-सुबन्तत्व-पदत्व आदि वे धर्म एकादेशविशिष्ट समुदाय में आरोपित होते हैं। प्रकृत में प्र वृत्ति धर्म-पदत्व का प्रार् में आरोप कर पदान्त रेफ का आगे के सूत्र से विसर्ग प्राप्त हुआ। यहाँ अनुवृत्त पूर्वपर की पूर्वघटितसमुदाय में, एवं परघटित समुदाय में लक्षणा है।

७६—खरवसानयोर्विसर्जनीयः ८।३।१५।

खरि अवसाने च पदान्तरेफस्य विसर्जनीयः स्यात् पदान्ते। इति विसर्गे प्राप्ते। अन्तवद्भावेन पदान्तरेफस्य न विसर्गः। उभयथर्क्षु, 'कर्तरि चर्षिदेवतयोरि'त्यादिनिर्देशात्। उपसर्गेणैव धातोराक्षेपे सिद्धे धाताविति योगविभागेन पुनर्वृद्धिविधानार्थम्। तेन 'ऋत्यकः' इति पाक्षिकोऽपि प्रकृतिभावोऽत्र न भवति।

खर् पर में रहें, या अवसान संज्ञा का विषय रहें तो वहाँ पदान्त रेफ का विसर्ग होता है। यहाँ प्रार् के रेफ का विसर्ग प्राप्त है, किन्तु उभयथा ऋक्षु गुण से विसर्ग रहित आचार्य निर्देश से, एवं 'चर्षि' निर्देश से यह ज्ञाप्य वचन है कि "अन्तादिवच्च" सूत्र से पूर्वान्तवद्भाव से पूर्व समुदाय वृत्ति धर्मारोप नहीं होता है, अतः रेफ का विसर्ग न हुआ। "उभयथर्क्षु" ८।३।८ का सूत्र है। कर्तरि चर्षि देवतयोः।३।२।१८६ का अ० सू० है।

प्रादि की क्रियायोग में ही उपसर्ग संज्ञा होती है, अतः उपसर्ग से क्रियारूप अर्थ का अर्थापत्ति रूप प्रमाण से आक्षेप होता है। क्रियारूप अर्थ का वाचक धातु है, अर्थतः धातु का लाभ है पुनः 'उपसर्गादृति धातौ" में धातु ग्रहण क्यों किया?, वह व्यर्थ होकर योगविभाग द्वारा अर्थात् १–उपसर्गाद् ऋति २–धातौ। सूत्र द्वय है। प्रथम वृद्धिविधायक सूत्र का बाधक 'ऋत्यकः' से प्राप्त वैकल्पिक प्रकृतिभाव को द्वितीय सूत्र बाधकर यहाँ एक ही वृद्धिघटित रूप हुआ, दो रूप न हुए। यहाँ ग्रन्थकार ने पाक्षिक शब्द का उच्चारण इस लिए किया कि वृद्धिविधायक सूत्र व्यर्थ नहीं है पक्ष में चरितार्थ होगा। क्रिया के दो भेद हैं—साध्यरूपा एवं सिद्धरूपा। तिङ् प्रकृतिवाच्य क्रिया साध्या, कृदन्त स्थल में साधनरूपा।

७७—वा सुप्यापिशलेः ६।१।९२।

अवर्णान्तादुपसर्गादृकारादौ सुप्धातौ परे वृद्धिरेकादेशो वा स्यात्। आपिशलिग्रहणं पूजार्थम्। प्रार्षभीयति। प्रर्षभीयति। सावर्ण्याद् लृवर्णस्य ग्रहणम्। प्राल्कारीयति। प्रल्कारीयति। तपरत्वाद् दीर्घे न। उप ॠकारीयति=उपर्कारीयति।

अवर्णान्त उपसर्ग से ऋकारादि नामधातु के अवयव अच् पर में रहें वहाँ विकल्प से वृद्धि-रूप एकादेश होता है। सूत्र में विकल्पार्थक 'वा' शब्द है, अतः आपिशलि ग्रहण परस्पर प्रशंसा के लिए ही है। सुबन्त प्रकृति से क्यच् आदि प्रत्यय होते हैं उस निमित्त धातुसंज्ञा 'सनाद्यन्ताः धातवः' से होती है, अतः उनको नामधातु कहते हैं। प्र ऋषभीयति–आर् वृद्धि। पक्ष में गुण दो रूप हुए, उसका अर्थ = बैल सा आचरण करने वाला। ऋ ऌ की सवर्ण संज्ञा से ऌ पर में रहे वहाँ भी विकल्प से वृद्धि आल् पक्ष में गुण अल् होता है। ऌकार की विशेषकर इच्छा करनेवाला। दीर्घ ऋकारादि धातु रहे वहाँ वृद्धि विकल्प से नहीं होगी क्योंकि सूत्र में ऋत् ह्रस्व ऋकार की ही संज्ञा 'तपर' सूत्र ने बोधित की है। अतः वहाँ केवल गुण से एक ही रूप होता है—उपर्कारीयति = समीपस्थ ऌकार की इच्छा करने वाला।

७८–एङि पररूपम् ६।१।९४।

अवर्णान्तादुपसर्गादेङादौ धातौ परे पररूपमेकादेशः स्यात्। प्रेजते। उपोषति। इह वा सुपीत्यनुवर्त्य वाक्यभेदेन व्याख्येयम्। तेन एङादौ सुब्धातौ वा। उपेडकीयति। उपैडकीयति। प्रोघीयति। प्रौघीयति। ❀ एवे चानियोगे ❀। नियोगोऽवधारणम्। क्वेव भोक्ष्यसे। अनवक्लृप्तावेवशब्दः। अनियोगे किम्। तवैव।

अवर्णान्त उपसर्ग से एङादि धातु पर में रहे वहाँ पूर्वपर स्थानी के स्थान में पररूप होता है। प्र एजते प्रेजते = बहुत कम्पित होता है। उप ओषति उपोषति = उपवास करता है। यहाँ पूर्वसूत्र से 'वा सुपि' की अनुवृत्ति कर भिन्न वाक्य से व्याख्या करनी चाहिये। एङादि नामधातु पर में रहें वहाँ विकल्प से पररूप होता है। पक्ष में वृद्धि उप एडकीयति–उपेडकीयति। वृद्धि में उपैडकीयति। मेढक के समान आचरण करता है। प्रोघीयति। प्रौघीयति = प्रवाह के समान विशेष आचरण करता है। अवर्णान्त शब्द से अनिश्चितार्थक एव शब्द पर में रहे वहाँ पररूप एकादेश होता है। अर्थतः यह सिद्ध हुआ कि निश्चयार्थक एव शब्द रहे वहाँ वृद्धि होती है। 'क्व एव भोक्ष्यसे' यहाँ एवशब्दार्थ अनिश्चितार्थ बोधक है। पररूप से 'क्वेव' बना। (स्थान संकीर्ण होने से) कहां भोजन तुम करोगे। 'तव एव' यहां निश्चितार्थ एव से वृद्धि तवैव=तुम्हारा ही भोजन करूंगा।

७९–अचोऽन्त्यादि टि १।१।६४।

अचां मध्ये योऽन्त्यः स आदिर्यस्य तट्टिसंज्ञं स्यात्। ❀ शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम् ❀। तच्च टेः। शकन्धुः। कर्कन्धुः। कुलटा। ❀ सीमन्तः केशवेशे ❀। सीमान्तोऽन्यः। मनीषा। हलीषा। लाङ्गलीषा। पतञ्जलिः। ❀ सारङ्गः पशुपक्षिणोः ❀। साराङ्गोऽन्यः। आकृतिगणोऽयम्। मार्तण्डः। ओत्वोष्ठयोः समासे वा। स्थूलोतुः। स्थूलौतुः। बिम्बोष्ठः। बिम्बौष्ठः। समासे किम्। तवौष्ठः।

शब्द के सब अचों में जो अन्त्य अच् वह आदि है जिस भाग का उसको टि कहते हैं। जहां अन्त्य अच् किसी के आदि में नहीं है वहां क्या करना ? वहाँ व्यपदेशिवद्भाव से अन्त्य अच् में ही तदादित्व व्यवहार होता है। यथा एक ही पुत्र में ज्येष्ठत्व; मध्यमत्व, कनिष्ठत्व के व्यवहार से यही बड़ा, यही मध्यम, यही छोटा है, तथैव यहां कार्य करना।

शकन्धु आदि गण में पठित शब्दों की सिद्धि के अनुकूल पररूप होता है। वह सिद्धि टि का पररूप से ही होती है। अतः टि का पररूप करना चाहिये। शक अन्धु यहाँ अन्त्य क् के बाद अकार की टिसंज्ञा, पररूप शकन्धुः = शक देश का कुँआ। कर्क अन्धुः—कर्कन्धुः = कर्क नामक राजा से निर्मित कुँआ। कुल कर्म में शेषत्वविवक्षा से षष्ठी है अटा अच् प्रत्ययान्त टाबन्त। अतः कुम्भकार की तरह अण् उपपद समास नहीं है कुलस्य अटा कुलटा पररूप है। 'कुलटा' के दो अर्थ हैं सती स्त्री भिक्षार्थ कुलों में घुमने वाली, या दुष्टा असती स्त्री। केशों के अलङ्करण अर्थ में सीमन् शब्द की अन् टि को पररूप होता है। सीमन् अन्त पररूप से अन् का अपहार सीमन्तः = स्त्री प्रथम गर्भ को जब धारण करती है षष्ठ या सातवें मास में एक सीमन्त नामक संस्कार होता है। उसमें गर्भिणी स्त्री के केशों को वह स्त्री अलङ्कृत करती जिसके पुत्र सभी जीवित रहे हों। गुजरात प्रान्त में यह संस्कार बड़े ही समारोह के साथ मनाया जाता है। मनस् ईषा अस् की टिसंज्ञा पररूप मनीषा = मन पर निग्रह करने वाली बुद्धि। यहाँ ईषा शब्द सादृश्यमूलक लक्षणावृत्ति से इस का प्रत्यायक है। हल ईषा पररूप हलीषा = हल का ईषा दण्ड। लाङ्गल ईषा पररूप। अर्थ। हल की डंडी। पतत् अञ्जलिः, टि अत् का पररूप पतञ्जलिः = नमस्कार करने योग्य, या मुनि की अञ्जलि से सर्प रूप से गिरा हुआ या जल। योगरूढ ऋषि वाचक है। पशु या पक्षि अर्थ में सार शब्द की टि का पररूप होता है अच् पर में रहें। पशु = चित्रवर्ण के हरिण आदि। पक्षि = मयूर चातक आदि। सार शब्द अनेकार्थक है—बल स्थिर अंश, न्यायोचित व्यवहार, अम्बर आदि।

पशुपक्षी से भिन्न अर्थ में दीर्घ, 'साराङ्गः' = जिसका सुन्दर अङ्ग है। आकृति गण का तात्पर्य यह है कि गणपठित नहीं है एवं शिष्ट प्रयुक्त पररूप निष्पन्न है तो उनकी भी शकन्ध्वादि गण में कल्पना करना = अर्थात् इन शब्दों का भी पाठ था, लेखक प्रमाद से वे शब्द गण में नहीं लिखे हैं। मृत अण्ड मृतण्ड अण् आदि वृद्धि अकार लोप से मार्तण्डः = सूर्य + या मृतण्ड का पुत्र। मृतण्ड = ब्रह्माण्ड का नाम है।

अवर्ण से समासावयव ओतु या ओष्ठ शब्द के अवयव अच् पर में रहें वहाँ पररूप विकल्प से होता है। पक्ष में वृद्धि होती है। स्थूल ओतुः पररूप स्थूलोतुः = मोटी बिल्ली। बिम्ब ओष्ठ पररूप बिम्बोष्ठः = कुंदुरु के समान लाल ओष्ठ। वृद्धि में औकार का श्रवण रहेगा। समास में ही वा० से प०। अन्यत्र वृ० 'तवौष्ठः' असमास है।

८०—ओमाङोश्च ६।१।९५।

ओमि आङि चात्परे पररूपमेकादेशः स्यात्। शिवायों नमः। शिव + एहि-शिवेहि।

अवर्ण से ओम् या आङ् (आ) शब्दावयव अच् पर में रहे तो पररूप एकादेश होता है। शिवाय ओम् नमः। पररूप से 'अ ओ' को ओम् का अनुस्वार शिवायों नमः। रक्षा करने वाले शिव को नमस्कार। शिव आ इहि अन्तरङ्ग होने से दीर्घ को बाधकर प्रथम गुण बाद में 'ए' में परादिवद्भाव से आङ्त्व बुद्धि से पररूप शिवेहि = हे शिव रक्षार्थ आओ। धातु एवं उपसर्ग सम्बन्धी कार्य अन्तरङ्ग है। गुण में अन्तरङ्गत्व एवं दीर्घ में बहिरङ्गत्व है।

८१—अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ ६।१।९८।

ध्वनेरनुकरणस्य योऽच्छब्दस्तस्मादितौ पररूपमेकादेशः स्यात्। पटत् इति पटिति। * एकाचो न *। श्रदिति।

ध्वनि का जो फिर उच्चारण उसको अनुकरण कहते हैं उसमें का जो अत् उसके बाद में इति शब्द आवे तो पररूप एकादेश होता है। यहाँ अस्फुट ध्वनि में वर्णकल्पना सर्वथा कल्पित है। पटत् इति अत् इ के स्थान में पररूप निष्पन्न अपूर्व इकार हुआ। पटिति = पटत् ऐसा ध्वनि का अनुकरण।

यह अनुकरण यदि एकाच् रहें वहाँ इति पर में पररूप नहीं होता है। श्रत् अनुकरण के अत् का एवं इकार का पररूप न हुआ जत्व से त् को द् श्रुदिति=श्रत् ऐसा ध्वनि का अनुकरण। 'इतौ अनेकाच् ग्रहणम्' इस वार्तिक का फलितार्थ कथन 'एकाचो न' है।

८२—नाम्रेडितस्यान्त्यस्य तु वा ६।१।९९।

आम्रेडितस्य प्रागुक्तं न स्यात्। अन्त्यस्य तु तकारमात्रस्य वा स्यात्। 'डाचि बहुलं द्वे भवतः' इति बहुलग्रहणाद् द्वित्वम्।

आम्रेडितसंज्ञक शब्दावयव अत् का इति शब्द पर में रहे तो पररूप नहीं होता है, किन्तु अत् के तकार मात्र का पररूप विकल्प से होता है। आम्रेडित संज्ञक अनुकरण का द्वित्व विकल्प से होता है डाच् प्रत्यय विवक्षित रहे तो।

८३—तस्य परमाम्रेडितम् ८।१।२।

द्विरुक्तस्य परं रूपमाम्रेडितसंज्ञं स्यात्। पटत्पटेति।

द्विरुक्ति में जो दो रूप होते हैं उनमें दूसरे रूप की आम्रेडितसंज्ञा होती है। यथा 'पटत्-पटत् इति' में दूसरा पटत् आम्रेडित है, इति शब्द पर में है वहां केवल त् का ही पररूप होता है विकल्प से, पटत् पट इति गुण पटत्पटेति। पक्ष में सन्धिकार्यार्थ-सूत्र—

८४—झलां जशोऽन्ते ८।२।३९।

पदान्ते झलां जशः स्युः। पटत्पटदिति।

पद के अन्त में जो झल् उसके स्थान में जश् होता है, इस कारण अन्त्य तकार को द् हुआ पटत्पटदिति।

८५—अकः सवर्णे दीर्घः ६।१।१०१।

अकः सवर्णेऽचि परे दीर्घ एकादेशः स्यात्। दैत्यारिः। श्रीशः। विष्णूदयः। अचि किम्। कुमारी शेते। नाऽज्झलाविति सावर्ण्यनिषेधस्तु न दीर्घशकारयोः। ग्रहणकशास्त्रस्य सावर्ण्यविधि-निषेधाभ्यां प्रागनिष्पत्तेः। अकः किम्। हरये। 'अकोऽकि दीर्घः' इत्येव सुवचम्। ❀ ऋति सवर्णे ऋ वा ❀। होतॄकारः। होतृकारः। ❀ लृति सवर्णे लृ वा ❀। होत्लृकारः। पक्षे ऋकारः सावर्ण्यात्- होतॄकारः। ऋति ऋ वा, लृति लृ वेत्युभयत्रापि विधेयं वर्णद्वयं द्विमात्रम्। आद्यस्य मध्ये द्वौ रेफौ तयोरेका मात्रा, अभितोऽज्भक्तेरपरा। द्वितीयस्य मध्ये द्वौ लकारौ। शेषं प्राग्वत्। इहोभयत्रापि ऋत्यक इति पाक्षिकः प्रकृतिभावो वक्ष्यते।

अक् के पश्चात् सवर्ण अच् रहे तो दोनों के स्थान में दीर्घ एकादेश होता है। दैत्य अरिः—दीर्घ दैत्यारिः = विष्णु। श्री ईशः-श्रीशः = विष्णु। विष्णु उदयः—विष्णूदयः = विष्णु का अवतार।

अच् पर में रहे ऐसा न कहते तो ईकार शकार की सवर्ण संज्ञा होती है 'कुमारी शेते' यहाँ दीर्घ की प्राप्ति होने लगेगी। 'नाऽज्झलौ' सूत्र से कहा गया जो सावर्ण्यनिषेध वह दीर्घ ईकार शकार इनके सावर्ण्य का बाधक नहीं है। अणुदित ग्रहणक शास्त्र की यहाँ प्रवृत्ति नहीं है, सावर्ण्य एवं उसका निषेध के प्रथम वह कार्य करने में असमर्थ है, अर्थात् अणुदित्सूत्रार्थ इस अवस्था में अज्ञात है। प्रथम कह चुके हैं पञ्चधा महावाक्यार्थ बोधानन्तर ही अणुदित्सूत्र की प्रवृत्ति होती है। हरे ए यहाँ एकार अक् नहीं अतः ए को अय् हरये। अक् के बाद अक् रहे वहाँ दीर्घ होता है यह न्यास उचित है इसमें लाघव है 'सवर्णे' नहीं करना पड़ता। अर्धमात्रा लाघव को वैयाकरण पुत्रजन्मोत्सवतुल्य मानते हैं। इस न्यास में यथासंख्य अन्वय व्यक्ति का नहीं जाति का अतः ऋ में ऌ में परस्पर जाति के आरोप न होने से दोष नहीं। वस्तुतः उत्तर वार्तिक द्वय में सवर्ण की अनुवृत्यर्थ सूत्र में 'सवर्णे' की आवश्यकता है भाष्य में वार्तिक दो में सवर्णघटित पाठ नहीं है—'ऋति ऋ वा' 'ऌति ऌ वा' यहाँ सवर्ण की पूर्वसूत्र से अनुवृत्ति है अतः यथाश्रुत सूत्र ही उचित है।

वार्तिकार्थ इस प्रकार है—आगे सवर्ण ह्रस्व ऋकार रहे तो विकल्प से ऋकार होता है। होतृ ऋकारः—दोनों ऋ वर्णों का दीर्घ को बाधकर इससे ऋकार हुआ होतृकारः=हवनकर्ता पुरुष से उच्चारित ऋकार। पक्ष में दीर्घ-होतॄकारः।

सवर्ण ह्रस्व ऋ आगे रहे तो विकल्प से ऌकार होता है। होतृ ऌकार—होत्ऌकारः = होता से उच्चरित ऌकार। पक्ष में ऋ ऌ उभय का दीर्घ ऋकार से होतॄकारः। इन दो वार्तिक द्वारा विधेय ऋकार एवं ऌकार इन प्रत्येक में दो वर्ण मिलाकर दो मात्रा है, ऐसा जानना चाहिए। आद्य = ऋ इसके बीच में दो रेफ एवं दोनों को एकत्र रखने वाला चारो तरफ अच्, भाग अर्थात् स्वरांश है, दोनों रेफों की आधी-आधी मात्रा मिलकर एक हुई। और स्वरांश की एक इस प्रकार सब मिल कर दो मात्रा हुई। ऌ में भी दो लकार मध्य में अगल-बगल अच्-भाग वहाँ भी पूर्ववत् दो मात्रा है। यह विलक्षण ऋ एवं ऌ का ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न है, लघु अक्षर का जो कालमान उसको मात्रा वा एकमात्रा कहते हैं। गुरु अक्षर के कालमान को दो मात्रा कहते हैं। परन्तु व्यञ्जन की आधी मात्रा ली जाती है, इस कारण ऋ ऌ लघु है तो भी इनमें दो मात्रा है। इन दोनों स्थलों में ऋ ऌ सवर्ण आगे रहे तो 'ऋत्यकः' से विकल्प प्रकृति भाव होता है। जहाँ प्रकृतिभाव होता है वहाँ रूपान्तर नहीं होता।

८६—एङः पदान्तादति ६।१।१०९।

पदान्तादेङोऽति परे पूर्वरूपमेकादेशः स्यात्। हरेऽव। विष्णोऽव।

पदान्त ए ओ के अनन्तर ह्रस्व अकार पर रहे तो पूर्वपर इन दोनों के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है। 'हरे अव' पूर्वरूपें हरेऽव = हे हरि रक्षा करो। विष्णोऽव = हे विष्णु रक्षा करो। पदान्त ग्रहण न करते तो भो + अ ति भवति में पूर्वरूप की आपत्ति होती।

८७—सर्वत्र विभाषा गोः ६।१।१२२।

लोके वेदे चैङन्तस्य गोरति वा प्रकृतिभावः स्यात् पदान्ते। गो अग्रम्। गोऽग्रम्। एङन्तस्य किम्। चित्रग्वग्रम्। पदान्ते किम्। गोः।

लौकिक एवं वैदिक इन दो प्रकार के प्रयोगों में एङन्त (ओकारान्त) जो गोशब्द के आगे ह्रस्व अकार रहे वहाँ विकल्प से प्रकृतिभाव होता है। यह प्रकृतिभाव ओकार का ही होता है। प्रकृतिभाव बोधन करने से 'एङः पदान्तादति' से पूर्वरूप न हुआ—गो अग्रम्। पक्ष में गोऽग्रम् =

गायों में श्रेष्ठ। प्रकृतिभाव = स्वभाव से स्थिति। अर्थात् विकारात्मक कोई भी कार्य होकर रूपान्तर नहीं होता है। प्रकृतिशब्द अनेकत्र स्थलों में स्वभाववाचक देखा गया है यथा—श्वपुच्छः प्रकृतिं गतः। प्रकृतिस्तु दुःत्यजा। सूत्र में पदान्त ग्रहण से गो अस् यहाँ भसंज्ञक गो का ओ पदान्त नहीं है अतः 'ङसिङसोश्च' सूत्र से पूर्वरूप हुआ गोः।

एङन्त गो कहने से चित्रगु अग्रम् यहाँ प्रकृतिभाव न हुआ, य् आदेश से चित्रग्वग्रम्। चित्रा गावो यस्य स बहुव्रीहि है। गोका ओकार का ह्रस्व है। चित्रवर्णयुक्त गायों के स्वामी वह श्रेष्ठ है।

८८–अवङ् स्फोटायनस्य ६।१।१२३।

'अति' इति निवृत्तम्। अचि परे पदान्ते गोरवङ् वा स्यात्। गवाग्रम्। पदान्ते किम्। गवि। व्यवस्थितविभाषया गवाक्षः।

'एङ् पदान्तादति' से अत् की यहाँ निवृत्ति है। अतः इको यणचि से अच् की अनुवृत्ति आती है। यदि अत् की अनुवृत्ति आती तो भाष्य विरोध होता। 'इन्द्रे च' सूत्र में विभाषा की अनुवृत्ति नहीं है, 'इन्द्रे च' आरम्भ सामर्थ्य से। अन्यथा पूर्व से ही अवङादेश हो जाता। यदि अवङ् स्फो० में अत् की अनुवृत्ति होती तो गो इन्द्र में इकार अत् नहीं है पूर्व से ही अवङ् इस कथन से यहाँ अत् निवृत्त है। अच् परक पदान्त एङन्त गो शब्द को अवङादेश विकल्प से होता है। यह अवङ् अन्त्य ओकार को होता है। गो अग्रम्—गवाग्रम् = गो इ यहाँ भसंज्ञक गो के अन्त में ओकार पदान्त नहीं अतः अवादेश से गवि = गो के विषय में। गवामक्षीव गवाक्षः। यह व्युत्पत्तिमात्र है—गाय के नेत्र समान अर्थ यहाँ नहीं है। खिड़की या वातायन में यह रूढ़ शब्द है गो अक्षि समास में षच् प्रत्यय इकार का लोप गो अक्ष व्यवस्थित विभाषा से अवङ् युक्त ही रूप होता है अन्यरूप पक्ष में नहीं होता है।

विमर्श—व्यवस्थित विभाषा का तात्पर्य यह है कि—उद्देश्य में कुछ प्रयोगों में भावात्मक कार्य ही बोधन करना, कुछ प्रयोगों में अभावात्मक ही कार्य बोधन करना। गवाक्ष में भावात्मक अवङ् ही होता है। उसका अभाव नहीं। उद्देश्ये क्वचित् भावबोधनम्, क्वचिद् अभावबोधनम् = व्यवस्थित विभाषा वह ६ स्थान में मान्य है। अन्यत्र नहीं। यह वैयाकरणों का सिद्धान्त है। १–देवत्रातः २–गलः ३ ग्राहः। ४–शतृशानच् इति योग में नित्य ही (करिष्यन्निति) ५–गवाक्षः, ६ संशितः व्रत अर्थ में। यहाँ पक्ष में विकल्प से अधोलिखित रूप नहीं होते हैं—१–देवत्राणः २–गरः ३–ग्रहः। ४–करोति इति। ५–गो अक्षः या गोऽक्षः। ६–संश्यानः।

भाष्यकारिका इस प्रकार है—

देवत्रातो गलो ग्राह इति योगे च सद्विधौः।
मिथस्ते न विभाषन्ते गवाक्षः संशितव्रतः॥

८९–इन्द्रे च ६।१।१२४।

गोरवङ् स्यादिन्द्रे। गवेन्द्रः।

गोशब्द के अवयव एङ् (ओकार) को अवङादेश होता है इन्द्र शब्दावयव अच पर में रहे तो। गो इन्द्र–गवेन्द्रः, बड़ा बैल। वैदिकों ने "इन्द्रे च नित्यम्" पाठ माना है वह असङ्गत है सूत्र में विकल्प की अनुवृत्ति सूत्र वैयर्थ्य से ही नहीं आती है नित्यम् की कोई आवश्यकता नहीं है। उत्तर सूत्र में नित्य ग्रहण का अन्यफल है वह आगे स्पष्ट होगा।

अथ प्रकृतिभावः

९०-प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् ६।१।१२५।

प्लुताः प्रगृह्याश्च वक्ष्यन्ते तेऽचि परे नित्यं प्रकृत्या स्युः। एहि कृष्ण ३ अत्र गौश्चरति। हरी एतौ। नित्यमिति किम्। हरी एतावित्यादावयमेव प्रकृतिभावो यथा स्यादिकोऽसवर्णे इति ह्रस्वसमुच्चितो मा भूत्।

प्रकृत्यान्तः पादमव्यपरे।६।१।११५। से इस 'सर्वत्र विभाषा गोः' आदि सूत्रों में प्रकृति का अधिकार है इसको बोधनार्थ 'अथ प्रकृतिभावः' यह लिखा है। किसी ने लाघवार्थ "नान्तः पाद-मव्यपरे" न्यास किया है, उस मत में 'सर्वत्र विभाषा' आदि में 'न' का अधिकार आने पर भी दोष नहीं है। किन्तु 'प्लुतप्रगृह्याः' सूत्र में न के सम्बन्ध से इष्टार्थसिद्धि नहीं है अतः उत्तरोत्तर अनुवृत्त्यर्थ प्रकृति का ही सम्बन्ध आवश्यक है, 'नान्तः पादम्' यह असङ्गत है एतदर्थ लिखा—अथ प्रकृतिभाव इति।

प्लुत एवं प्रगृह्य आगे कहे जायँगे वे अच् परक रहें तो नित्य प्रकृतिभाव से रहते हैं। अर्थात् सन्धि के कारण रूपान्तर नहीं होता है। आवो कृष्ण यहां गायें चरती हैं = एहि कृष्ण ३ अत्र गोश्चरति। 'दूराद्धूते च' से कृष्ण का अकार प्लुत है। यहाँ दीर्घ सन्धि प्रकृतिभाव होने से न हुई। वे दोनों सिंह हैं—'हरी एतौ' यहाँ ईकारान्त द्विवचन हरी की 'ईदूदेत्' सूत्र से प्रगृह्य संज्ञा है। यहाँ यण् प्रकृतिभाव होने से न हुआ।

प्रश्न—६।१।२४ में विभाषा की अनुवृत्ति नहीं यहाँ नित्यप्रकृतिभाव होता नित्यग्रहण सूत्र में क्यों किया ?, (समा-) १ प्लुतप्रगृह्या अचि' २ नित्यम्' इस प्रकार योग विभाग है। १ के समान ही अर्थ २ का है अतः 'नित्यम्' सूत्र बाधक बोधनार्थ है, तात्पर्य यह है कि 'हरी एतौ' इत्यादि लक्ष्यों में १ से प्राप्त प्रकृतिभाव को इकोऽसवर्णे विकल्प से बाध करने के लिये प्रवृत्त है उसको 'नित्यम्' ने बाध किया। अतः ह्रस्व समुच्चित प्रकृति भाव का अभाव बोधन कर 'हरी एतौ' एक ही रूप हुआ।

९१-इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च ६।१।१२७।

पदान्ता इकोऽसवर्णेऽचि परे प्रकृत्या स्युर्ह्रस्वश्च वा। अत्र ह्रस्वविधान-सामर्थ्यादेव प्रकृतिभावे सिद्धे तदनुकर्षणार्थश्चकारो न कर्तव्य इति भाष्ये स्थितम्। चक्रि अत्र। चक्र्यत्र। पदान्ता इति किम्। गौर्य्यौ। ❀ न समासे ❀। वाप्यश्वः। ❀ सिति च ❀। पार्श्वम्।

असवर्ण अच् पर में रहे तो पदान्त इक् को विकल्प प्रकृतिभाव और ह्रस्व होता है। पक्ष में यणादेश होता है। ह्रस्वविधि पक्षमें यण् होने पर तो ह्रस्व का विधान करना ही व्यर्थ है, इस कारण सन्धि न हुई, ऐसी स्थिति में प्रकृतिभाव के अनुकर्ष के लिए सूत्र में चकार व्यर्थ है। इन् प्रत्ययान्त चक्री आगे अत्र ह्रस्व प्रकृतिभाव चक्रि अत्र। पक्षमें यण् चक्र्यत्र = विष्णु यहां है। गौरी औ, में ईकार पदान्त नहीं है। यण्, 'अचो रहाभ्याम्' य् का द्वित्व विकल्प से गौर्य्यौ, गौर्यौ दो रूप। समास में असवर्ण अच् परक पदान्त इक् को ह्रस्व प्रकृतिभाव नहीं होता है। वापी अश्वः यण् वाप्यश्वः = तलाव का घोड़ा, या किसी का संज्ञा। सकार इत्संज्ञक प्रत्यय के अच् पर में रहे वहां विकल्प से पदान्त इक् को ह्रस्व और प्रकृतिभाव नहीं होता है। पर्शु से समूह अर्थ में णस—

अस् आदि वृद्धि पार्शु अः ह्रस्व प्रकृतिभाव का निषेध यण् पार्श्वम् = कोंख। पर्शु का अर्थ है कोख की हड्डी = अस्थि है।

९२—ऋत्यकः ६।१।१२८।

ऋति परेऽकः प्राग्वद् । ब्रह्म ऋषिः । ब्रह्मर्षिः । पदान्ता इत्येव । आर्च्छत् । समासेऽप्ययं प्रकृतिभावः । सप्त ऋषीणाम् । सप्तर्षीणाम् ।

अक् आगे रहे तो ह्रस्व पदान्त ऋकार को ह्रस्व और प्रकृतिभाव विकल्प से समास में असमासे होता है। न समासे वार्तिक यहां नहीं पढ़ा है। अतः फलितार्थ कथन है सर्वत्र। ब्राह्मण वर्ण का ऋषि अर्थ में ब्रह्म ऋषिः ह्रस्व प्रकृतिभाव ब्रह्म ऋषिः। पक्षमें अ ऋकार अर् गुण रेफ का ऊर्ध्वगमन ब्रह्मर्षिः। मन्त्रद्रष्टा को ऋषि कहते हैं। ऋषि से वेदका भी बोध होता है तदुक्तम्—ऋषिणा= वेदेन। समास में भी ह्रस्व प्र०, सप्त ऋषीणाम् पक्षमें गुण सप्तर्षीणाम्। सात ऋषियों का। आ ऋच्छत् में आगम आ पदान्त नहीं, 'आटश्च' सूत्र से आ ऋ की आर् वृद्धि हुई आर्च्छत् = गया।

९३—वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः ८।२।८२।

इत्यधिकृत्य—

वाक्य की टि को प्लुत एवं उदात्त होता है। ऐसा यह सूत्र उत्तरोत्तर सूत्र में अधिकृत होकर बोधन करता है। यह केवल अधिकार सूत्र प्लुत और उदात्त दो परों के अधिकारार्थ है। इस सूत्र का अधिकारपूर्वक आगे के सूत्र को आचार्य उच्चारण करते हैं। पूर्वकालिक अधिकार क्रिया उत्तर कालिक कथन क्रिया अतः अधिकृत से क्त्वा गतिसमास ल्यप् तुक् होकर 'अधिकृत्य' की सिद्धि है। "समानकर्तृकयोः पूर्वकाले प्राचां क्त्वा" सूत्र है।

९४—प्रत्यभिवादेऽशूद्रे ८।२।८३।

अशूद्रविषये प्रत्यभिवादे यद् वाक्यं तस्य टेः प्लुतः स्यात्, स चोदात्तः। अभिवादये देवदत्तोऽहम् भोः। आयुष्मान् एधि देवदत्त ३। ॐ स्त्रियां न ॐ। अभिवादये गार्ग्यहम्। भो आयुष्मती भव गार्गि। ॐ नाम गोत्रं वा यत्र प्रत्यभिवादवाक्यान्ते प्रयुज्यते तत्रैव प्लुत इष्यते ॐ। नेह—आयुष्मान् एधि। ॐ भो राजन्यविशां वेति वाच्यम् ॐ। आयुष्मान् एधि भोः ३। आयुष्मान् एधि इन्द्रवर्म३न्। आयुष्मानेधीन्द्रपालित ३।

प्रणाम करने के पश्चात् उस प्रणाम करने वाले से उलटकर आशीर्वादादि युक्त गुरु आदि का भाषण रूप प्रत्यभिवाद, उसका विषय = जिन को प्रत्यभिवादन करना है वह मनुष्य जो शूद्र न हो अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य हो तो प्रत्यभिवाद के वाक्य की टिसंज्ञक को प्लुत आदेश होता है वह उदात्त है। मैं देवदत्त प्रणाम करता हूं, उसके बाद गुरु आदि कहते हैं—देवदत्त ३ तुम्हारी बड़ी उम्र हो। स्त्री के प्रणाम बाद प्रत्यभिवादन के वाक्य होने से 'गार्गि' यहां प्लुत न हुआ। मैं गार्गी प्रणाम करती हूं, हे गार्गी तुम अधिक वयः से युक्त हो। जहाँ प्रत्यभिवादन वाक्य के अन्त में नाम या गोत्र = वंशवाचक शब्द हो वहां टिसंज्ञक को उदात्तत्वविशिष्ट प्लुतादेश होता है। जहाँ नाम या गोत्रार्थक शब्द नहीं है वहाँ प्लुतादेश नहीं होता है। भो शब्द राजन्य = क्षत्रियवाचक शब्द, विश् = वैश्य वाचक शब्द वाक्य के अन्त में रहे वहाँ प्लुत होता है—मूल में क्रम से तीन उदाहरण है। भो ३ प्लुत वर्म३न् प्लुत, पालित ३ प्लुत है। इन्द्रवर्मन् क्षत्रिय का नाम। इन्द्रपालित वैश्य का नाम है।

९५–दूराद्धूते च ८।२।८४।

दूरात्सम्बोधने यद् वाक्यं तस्य टेः प्लुतः स्यात्। सक्तून् पिब देवदत्त ३।

स्वाभाविक प्रयत्न से अधिक प्रयत्न श्रवणार्थ किया जाय उसको दूर कहते हैं। जिसको बुलाया जाय वह सुनेगा या नहीं उस संदेह से अधिक प्रयत्न से उच्चारण यह अर्थ दूर का हुआ। दूर से बुलाने के वाक्य की टि को प्लुत होता है। सक्तून् पिब देवदत्त ३ यहां अकार अन्तिम को प्लुत हुआ। देवदत्त तूं सत्तु पी।

९६–हैहेप्रयोगे हैहयोः ८।२।८५।

एतयोः प्रयोगे दूराद्धूते यद् वाक्यं तत्र हैहयोरेव प्लुतः स्यात्। है ३ राम। राम हे ३।

है हे शब्द इन शब्दों से सम्बोधन अर्थ की प्रतीति होती है, अतः दोनों हूयमानार्थक हैं, 'गुरोरनृत' से प्लुत सिद्ध था यह सूत्र नियमार्थ है।

दूर से बुलाने के वाक्य की टि को प्लुत हो तो 'है' 'हे' शब्द की टि को ही, अन्य को नहीं। सूत्रमें प्रथम 'है' शब्द है अतः उसका प्रथम उदाहरण देना ही उचित है, बाद में 'हे' का। अन्य आचार्य का यह मत है कि नाम ग्रहण नहीं हैं वहाँ प्लुत निषेध होता है ऐसे प्रयोग में प्लुत करने के लिये विध्यर्थ है हे ग्रहण है। यथा एहि है ३ यहाँ इसने प्लुत किया। एहि हैं ३ आदि। द्वितीय 'हैहयोः' हे राम ३ यहाँ पूर्व से अप्राप्त प्लुत है अतः यह द्वितीय विभक्त योगविभाग भी विध्यर्थ है। यहां प्रयोग ग्रहण अर्थवद् रहित भी है हे को प्लुत करने के लिए है।

९७–गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम् ८।२।८६।

दूराद्धूते यद्वाक्यं तस्य ऋद्भिन्नस्यानन्त्यस्यापि गुरोर्वा प्लुतः स्यात्। दे३वदत्त। देवद३त्त। देवदत्त ३। गुरोः किम्? वकारात् परस्याकारस्य मा भूत्। अनृतः किम्? कृष्ण ३। एकैकग्रहणं पर्यायार्थम्। इह प्राचामिति योगो विभज्यते। तेन सर्वः प्लुतो विकल्प्यते।

दूर से सम्बोधनार्थ वाक्य की टि को ही प्लुत होता है, ऐसा नहीं किन्तु तादृश वाक्य का ऋकार एवं अन्त्यभिन्न गुरु संज्ञक अच् पर्याय से (एक साथ नहीं) प्लुत होता है विकल्प से। क्रमशः उदाहरण प्लुत के मूल में दिये हैं। वकारोत्तर देवदत्त में अकार लघु को प्लुत निषेधार्थ सूत्रमें गुरुपद है। कृष्ण ३ में ऋवर्ण को प्लुत निषेधार्थ अनृत है। सूत्रमें अपि शब्द अन्त्य अनन्त्य सभी को प्लुतार्थ है। पर्याय से ही प्लुत हो एतदर्थ सूत्र में एकैक ग्रहण है। एक साथ सभी गुरुवर्णों को प्लुत न हुआ, देवदत्त में जब एकार को प्लुत तब अकार दोनों को नहीं अकारों को भी एकसाथ नहीं। 'प्राचाम्' को पूर्व से अलगकर पूर्व सूत्रों से विहित सभी प्लुत प्राचीन वैयाकरणों के मत से विकल्प से होते हैं। जहाँ प्लुत नहीं है वहां प्रकृतिभाव न होने से सन्धि होती है।

९८–अप्लुतवदुपस्थिते ६।१।१२९।

उपस्थितोऽनार्ष इतिशब्दस्तस्मिन् परे प्लुतोऽप्लुतवद्भवति, (अप्लुतकार्यं यणादिकं करोतीत्यर्थः)। सुश्लोक ३ इति। सुश्लोकेति। वत् किम्? अप्लुत इत्युक्तेऽप्लुत एव विधीयते, प्लुतश्च निषिध्यते। तथा च प्रगृह्याश्रये प्रकृतिभावे प्लुतस्य श्रवणं न स्यात्। अग्नी ३ इति।

वेदमन्त्र घटक से भिन्न इति शब्द पर में रहे वहां प्लुत प्लुतभिन्न की तरह होता है। अर्थात् इस प्लुतनिमित्तक प्रकृतिभाव न हुआ, अतः सन्धिकार्य निर्बाध होता है। जिस प्लुत को अप्लुत सदृश करते हैं उस प्लुत का प्लुतत्व अक्षुण्ण है। नष्ट न हुआ। यथा ब्राह्मणसदृश क्षत्रिय है वहाँ क्षत्रियत्व सदृश कहने से नष्ट नहीं होते हैं। सुश्लोक ३ इति—यहाँ क् के बाद का आकार प्लुत को अप्लुतवद्भाव से प्लुतनिमित्तक प्रकृतिभाव के अभाव से गुण होकर सुश्लोकेति।

सूत्र में 'अप्लुत' इतना ही कहिये, वत् ग्रहण क्यों किया ? इस शङ्का का समाधान—यदि सूत्र में 'वत्' न करते तो सूत्रार्थ इस प्रकार का होता—अवैदिक इति शब्द पर में रहे वहां प्लुत नहीं होता है, इस अर्थ से प्लुतश्रवण का अभाव होता, क्योंकि प्लुत हुआ ही नहीं। ऐसी परिस्थिति में 'अग्नी३ इति' यहाँ ईकार की 'ईदूदेद्' सूत्र से प्रगृह्यसंज्ञा हुई है वहां अग्नी का ईकार में इष्ट प्लुत श्रवण न होगा। वत् ग्रहण सूत्र में करते हैं तो 'अप्लुतवत्' से प्लुत अप्लुत सदृशमात्र होने से प्लुतत्व उसमें निर्बाध है, अतः प्लुत का श्रवण होता है, अग्नी इति में ईकार अप्लुतवत् होते हुए वहां सन्धिकार्य न हुआ, प्लुतनिमित्तक प्रकृतिभाव यहां न होते हुए भी प्रगृह्य निमित्त प्रकृतिभाव है अतः सन्धि न हुई। प्रकृतिभाव में दो निमित्त हैं १ प्लुत २ प्रगृह्य। सुश्लोक शब्द का यश अर्थ है। यथा 'पुण्यश्लोको नलो राजा' इति। 'शोभनाः श्लोकाः=यशांसि यस्य सः' यहाँ बहुव्रीहि है, सम्बोधन में हे सुश्लोक।

९९.—ई३चाक्रवर्मणस्य ६।१।१३०।

ई३ कारः प्लुतोऽचि परेऽप्लुतवद् वा स्यात्। चिनुहि ३ इति चिनु हीति। चिनु हि ३ इदम्। चिनु हीदम्। उभयत्र विभाषेयम्।

प्लुत ईकार चाक्रवर्मण मुनि के मत में अप्लुतवत् (प्लुतभिन्नसदृश) होता है अच् पर में रहें। मुझे क्या करना चाहिये ? इस प्रश्न के बाद आज्ञा—चिनु हि, इति। चिनु हि, इदम्। यहाँ इति इदम्। रहित ही उत्तर है इन दोनों का कथन अच् परत्व सम्पादनार्थ एवं प्राप्ताप्राप्त विभाषा द्योतन के लिए भी 'इदम्' है। यहाँ हि का इकार को 'विभाषा पृष्टप्रतिवचने हेः' से प्लुत हुआ है, 'हि' अव्यय निश्चयार्थक है चिनु लोडन्त है, सिपः स्थानिक हि का 'उतश्च' सूत्र से लोप है। अप्लुतवद् भावपक्ष में दीर्घ। अभाव पक्ष में प्लुतनिमित्तक प्रकृतिभाव से सन्धि का अभाव है। चिनु का अर्थ है—इकट्ठा करो। सूत्र में ह्रस्व इकार का निर्देश ही उचित है, अन्यथा भ्रम होगा उदाहरण में भी हि का इकार है प्लुत का अनुकरण इकार है तथापि सूत्र निर्देशसमय ई लिखना ठीक नहीं है। प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों में 'ई' ऐसा पाठ नहीं है 'इ३' ऐसा ही पाठ है। विद्वान् विचार करें। इकार को प्लुत सदृश बोधन है। ईकार को नहीं है। इसके बाद प्रगृह्य कहते हैं।

१००—ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् १।१।११।

ईदूदेदन्तं द्विवचनं प्रगृह्यसंज्ञं स्यात्। हरी एतौ। विष्णू इमौ। गङ्गे अमू। पचेते इमौ। 'मणीवोष्ट्रस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम' इत्यत्र त्विवार्थे वशब्दो वाशब्दो वा बोध्यः।

यह सूत्र संज्ञा विधायक है अतः 'संज्ञाविधौ' प० से द्विवचनान्तार्थ न हुआ। दीर्घ ईकारान्त दीर्घ ऊकारान्त एवं एकारान्त द्विवचन की प्रगृह्य संज्ञा होती है। यह दो सिंह है—हरी एतौ। यहां 'अन्तादिवच्च' से परादिवद् भाव से ईकार में द्विवचनत्व है। प्रगृह्य से प्रकृतिभाव यण् सन्धि यहाँ न

हुई। यह दो विष्णु है—विष्णू इमौ प्रगृह्यसंज्ञा प्रकृतिभाव। गङ्गे अमू में अय् न हुआ। पचेते इमौ यहाँ भी अय् न हुआ। द्विवचनान्त 'मणी इव' में प्रगृह्य निमित्तक प्रकृतिभाव से दीर्घ निषेध क्यों नहीं हुआ ?, यहाँ सादृश्यार्थक वा अथवा व अव्यय है। इव शब्द का प्रयोग ही नहीं है न दीर्घ सन्धि हुई है। 'व' वरुण का वाचक एवं सादृश्यार्थक भी है। व वा पर्य्यायवाचक है। कोई कृषक के दो बछड़े दूर-दूर पर एक ही रस्सी में बंधे हुए, उनके बीच में ऊँट ने उन दोनों को उपरि उठा लिया तब वह कृषक कहता है की दो मणियों के समान मेरे प्रिय दो बछड़े ऊँट के अगल-बगल लटक रहे है। "मणी वोष्ट्रस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम" यह महाभारत का वाक्य है।

१०१-अदसो मात् १।१।१२।

अस्मात् परावीदूतौ प्रगृह्यौ स्तः। अमी ईशाः। रामकृष्णावमू आसाते। मात् किम्। अमुकेऽत्र। असति माद्ग्रहणे एकारोऽप्यनुवर्तेत।

अदस् शब्द के अवयव मकार से अव्यवहित उत्तर दीर्घ ईकार या दीर्घ ऊकार की प्रगृह्यसंज्ञा होती है। अमी ईशाः प्रगृह्यसंज्ञा प्रकृतिभाव से यहाँ दीर्घ न हुआ। यह बहुत समर्थ हैं। रामकृष्णौ वे दोनों द्विवचनान्त शब्द प्रयोग अदस् शब्द यहाँ पुलिङ्ग इसके ज्ञानार्थ है। अदस् शब्द के रूपसिद्धि में मुत्व मीत्व कार्य असिद्ध से बाद में होते हैं प्रथम विभक्ति कार्य से यहाँ अदौ की सिद्धि बाद में दकार को मकार औकार को दीर्घ ऊकार हुआ है 'अमू आसाते' प्रगृह्यनिमित्तक प्रकृतिभाव से यण् न हुआ। पुलिङ्ग नपुंसक में अदे बनकर द्विवचन में अमू हुआ वहाँ मुत्व मीत्वादि असिद्ध होने पर द्विवचन बहुवचन में 'अदे' की प्रगृह्यसंज्ञा पूर्वसूत्र से सिद्ध है। किन्तु पुंसि अदौ की किसी से प्रगृह्यसंज्ञा सिद्ध नहीं है। 'अदसो मात्' सूत्र के आरम्भ सामर्थ्य से यहाँ 'पूर्वत्र' सूत्र मुत्व मूत्व भी को असिद्ध नहीं करता है अर्थात् 'अदसोऽसेः' असिद्ध न हुआ।

मात् किम् १ सूत्र में मात् ग्रहण न करते तो पूर्वसूत्र से ईत् ऊत् की अनुवृत्ति जिस प्रकार यहाँ आती है, उसी प्रकार 'एत्' की भी अनुवृत्ति आती, तब अकच् प्रत्यययुक्त बहुवचन में 'अमुके अत्र' यहाँ भी प्रगृह्यसंज्ञा प्रयुक्त प्रकृतिभाव से पूर्वरूप जो इष्ट है वह न हो सकेगा। मात् ग्रहण करने पर पञ्चमी परिभाषा से मकार से अव्यवहित अदस् शब्द का अवयव एकार नहीं सम्भव है अतः एत् की अनुवृत्ति न हुई। मात् ग्रहण से पूर्वसूत्र के एकदेश—ईत् ऊत् की ही अनुवृत्ति स्वरितत्व प्रतिज्ञाबल से हुई। 'अमुके' यहाँ अदस् शब्द की टि अ+स् उसके पूर्व में अकच् होकर 'अदकस्' भी तन्मध्यपतितन्याय से अदस् ही है। १ माद् ग्रहण से एकार की अनुवृत्ति का अभाव। २ एकदेश की अनुवृत्ति। ३ मात् कहने से ही सूत्र वैयर्थ्यमूलक 'पूर्वत्रासिद्धम्' की यहाँ अप्रवृत्ति है।

१०२-शे ३।१।१३।

अयं प्रगृह्यः स्यात्। अस्मे ईन्द्राबृहस्पती।

शकारेत् संज्ञक ए आदेश की प्रगृह्यसंज्ञा होती है। 'अस्मे' (ऋ० म० सू० ४९ म० ४) यहाँ 'सुपां सुलुक्' ११।२१।१९। से भ्यस् को शे आदेश हुआ है। एकार शित् होने से सर्वादेश है। चतुर्थी बहुवचन में अस्मभ्यम् न होकर 'अस्मे' यहाँ प्रगृह्य प्र० से अय् न हुआ।

१०३-निपात एकाजनाङ् १।१।१४।

एकोऽज्निपात आङ्वर्जः प्रगृह्यः स्यात्। इ विस्मये, इ इन्द्रः। उ वितर्के,

उ उमेशः । अनाङित्युक्तेरङिदाकारः प्रगृह्य एव । आ एवं नु मन्यसे । आ एवं किल तत् । ङित्तु न प्रगृह्यः । ईषदुष्णम्—ओष्णम् । वाक्यस्मरणयोरङित् ।

ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः ।
एतमातं ङितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरङित् ॥ इति ।

अन्यत्र ङिदिति विवेकः ।

अधिकरण घञ् प्रत्ययान्त निपात का अर्थ = अनेक अर्थ जहाँ उपस्थित हो । अर्थात् अनेक अर्थ का बोधक निपात शब्द है इसी लिए कहते हैं कि निपात के अनेक अर्थ हैं । एकाच् में कर्मधारय है एक अच्रूप निपात । अनाङ् का ङित् आकाररहित अर्थ है । ङकार इत्संज्ञक आ को छोड़कर एक अच्रूप निपात की प्रगृह्यसंज्ञा होती है । यह इन्द्र है = 'इ इन्द्रः' 'चादयोऽसत्त्वे' से इकार की निपात संज्ञा है । निपात पद योगरूढ है । इससे प्रगृह्यसंज्ञा प्रकृतिभाव से दीर्घ यहाँ न हुआ । क्या यह शंकरजी हैं='उ उमेशः' प्र० प्रकृ० दीर्घ का अभाव । ईषदर्थ-क्रियायोग-मर्य्यादा-अभिविधि इन अर्थों में आ ङित् है अन्यत्र = वाक्य-स्मरण में आ अङित् है । "ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः । एतमातं ङितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरङित् ॥" यह कारिका मूल में प्राचीन पुस्तकों में नहीं है, टीकाओं में पठित इसको मूल में जोड़ दी गई है ।

वाक्य में—पहले आप मुझे वैसा नहीं समझते थे सम्प्रति वैसा समझने लगे हैं = 'आ एवं नु मन्यसे । आ की प्रगृह्यसंज्ञा के पूर्व में निपातसंज्ञा करनी । वृद्धि न हुई । स्मरणार्थ—'आ एवं किल तत्' निपात प्रगृह्य प्र० भा० वृद्धि का अभाव । मुझे स्मरण हो रहा है कि यह बात ऐसी ही है । विवेक = विचारार्थक है ।

१०४—ओत् १।१।१५।

ओदन्तो निपातः प्रगृह्यः स्यात् । अहो ईशाः ।

ओकारान्त निपात की प्रगृह्यसंज्ञा होती है । अहो ईशाः, यहाँ निपातसंज्ञापूर्वक प्रगृह्यसंज्ञा तन्निमित्तक प्रकृतिभाव से सन्धि न हुई ।

१०५—सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे १।१।१६।

सम्बुद्धिनिमित्तक ओकारो वा प्रगृह्योऽवैदिके इतौ परे । विष्णो इति–विष्ण इति विष्णविति । अनार्षे इति किम् । ब्रह्मबन्धवित्यब्रवीत् ।

सूत्र में 'सम्बुद्धौ' सप्तम्यन्त पद है, यहाँ निमित्त सप्तमी है । पर सप्तमी मानने पर नपुंसक में हे त्रपो इति यहाँ विभक्तिलुक् से सम्बुद्धिपरक ओकार नहीं है । प्रत्ययलक्षण नहीं है । 'न लुमता' से उसका निषेध है । निषेध सर्वत्र अनित्य हैं उसमें प्रमाण नहीं है सर्वत्र निषेध अनित्य रहे तो न लुमता का निर्माण ही व्यर्थ हो जायगा । इस पक्ष का आश्रय कर ग्रन्थकार अर्थ निर्देश कर रहे हैं कि—

सम्बोधन एकवचन की सम्बुद्धि संज्ञा को मानकर ओकार वेदभिन्न इति शब्द के पूर्व में रहे तो उसकी (ओकार की) विकल्प से प्रगृह्यसंज्ञा होती है ।

विष्णु शब्द के सम्बोधन में एकवचन सु की सम्बुद्धि संज्ञा, उसको निमित्त मानकर 'ह्रस्वस्य गुणः' से गुणकर 'हे विष्णो इति' प्रगृह्य प्रकृतिभाव में रूपान्तर न हुआ । पक्ष में ओ को अवादेश 'लोपः शाकल्यस्य' से विकल्प लोप हुआ, लोप 'पूर्वत्र' से असिद्ध होने से गुण का अभाव 'विष्ण इति' लोपाभाव में विष्णविति तीन रूप । वैदिक मन्त्र में ब्रह्मबन्धु ने ऐसा कहा =

ब्रह्मबन्धो इति में इसकी प्रवृत्ति न हुई ओ को अव् आदेश हुआ छान्दसत्वात् वकार लोपाभाव है। मन्त्र में—"एता गा ब्रह्मबन्धवित्यब्रवीत्"।

१०६–उञः १।१।१७।

उञ इतौ वा प्रागुक्तम्। उ इति-विति।

ञकारेत् संज्ञक निपात उकार की इति शब्द पर में रहे तो विकल्प से प्रगृह्यसंज्ञा होती है। उ इति यहां यण् न हुआ। पक्ष में यण् विति = उकार का उच्चारण। यहाँ तीन रूप होते हैं दो बता चुके है। एक और बताया जायगा।

१०७–ऊँ १।१।१८।

उञ इतौ दीर्घोऽनुनासिकः प्रगृह्यश्च ऊँ इत्ययमादेशो वा स्यात् ऊ इति-विति।

पक्ष में पूर्वोक्त दो मिल कर तीन रूप हुए।

१०८–मय उञो वो वा ८।३।३३।

मयः परस्य उञो वो वा स्यादचि। किमु उक्तम्। किम्वुक्तम्। वस्यासिद्धत्वान्नानुस्वारः। (वत्वस्यासिद्धत्वान्नानुस्वारः)

मय् से पर ञकार की इत्संज्ञा वाला निपातसंज्ञक उकार को वकार विकल्प से अच् पर में रहे तो होता है। 'किम् उ उक्तम्' यहां प्रथम उकार को वादेश से किम्वुक्तम्। पक्ष में निपात की प्रगृह्यसंज्ञा, प्रकृतिभाव 'किमु उक्तम्' दीर्घ का अभाव। क्या कहा।

विमर्श—'किम्वुक्तम्' यहाँ वकाररूप हल् निमित्तक 'मोऽनुस्वारः' से अनुस्वार न् का क्यों न हुआ ?, 'मय-उञो वो वा' परत्रिपादी शास्त्र है। 'मोऽनुस्वारः' ।८।३।१३ पूर्वत्रिपादी शास्त्र है यहाँ 'पूर्वत्रासिद्धम्' सू० से पूर्वत्रिपादी शास्त्र की दृष्टि में पर त्रिपादी शास्त्र असिद्ध है, शास्त्र असिद्ध से तद्बोध्य कार्य भी असिद्ध स्वतः होता है, अतः अनुस्वार न हुआ। 'वस्यासिद्धत्वात्' यह पाठ प्राचीन पुस्तकों में ही है। 'वत्वस्य' माने वत्व का आश्रय वकार ही अर्थ है धर्म तो होता नहीं लक्ष्य में। धर्मी प्रयोग में आता है। जश्त्व कुत्व श्चुत्व ष्टुत्व आदि में यही क्रम से ज्ञान करना, आचार्यों ने ऐसा क्यों कहा उसका समाधान यह है कि उपाधियाँ एवं धर्म कल्पित हैं। अर्थात् विशेषणीभूत यावत्पदार्थ पारमार्थिक दशा में कल्पित है विशेष्यांश ब्रह्म स्वरूप है। ब्रह्म स्वरूप विशेष्यांश का विधान सम्भव नहीं है। धर्म का ज्ञान जो अज्ञानमूलक कल्पित है, उसमें विधान का ज्ञान करना।

'मय उञो वा' ऐसा न्यास कर इसको 'इको यणचि' के बाद पढ़कर यण् की इसमें अनुवृत्ति कर 'मय् से पर उकार को यण् होता है अच् पर में रहे तो' इस न्यास में लाघव है। अनुस्वार की यद्यपि इस पक्ष में प्राप्ति है किन्तु अन्तरङ्ग परिभाषा से बहिरङ्ग यण् अन्तरङ्ग अनुस्वार की दृष्टि में असिद्ध है। यह समाधान अत्यन्त असङ्गत है। त्रैपादिक अन्तरङ्ग शास्त्र रहे वहाँ अन्तरङ्ग परिभाषा की प्रवृत्ति किसी भी पक्ष में नहीं होती है यह वैयाकरणों का सिद्धान्त है। सन्निपात परिभाषा से यहाँ अनुस्वार नहीं होगा। 'प्रत्यङ्ङ्वात्मा की सिद्धि के लिए यथाश्रुत न्यास को ही रखना उचित है। प्रत्यङ् उ आत्मा उ को व्, वह वकार असिद्ध होने से 'ङमो ह्रस्वात्' से ङट् इति संज्ञक ङ् हुआ। 'गवाग्रम्' आदि में दीर्घ दर्शन से सन्धि कार्य में सन्निपात

परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है। 'किम्वुक्तम् किम् उ उक्तम्' २ रूप होते हैं। २८ रूप कहना अत्यन्त असङ्गत है।

१०९–ईदूतौ च सप्तम्यर्थे १।१।१९।

सप्तम्यर्थे पर्यवसन्नमीदूदन्तं प्रगृह्यं स्यात्। सोमो गौरी अधिश्रितः। ऋ० वे० म० सू० १२ म० ३ मामकी तनू इति सुपां सुलुगिति सप्तम्या लुक अर्थग्रहणं किम्। वृत्तावर्थान्तरोपसंक्रान्ते मा भूत्। वाप्यामश्वो वाप्यश्वः।

सप्तमी के अर्थ में स्थिर रहने वाला (परन्तु प्रत्यक्ष सप्तम्यन्त नहीं) ईकारान्त या ऊकारान्तरूप प्रगृह्य जानना। सोमो गौरी अधिश्रितः, मामकी तनूः' इति। इन वैदिक उदाहरणों में 'सुपां सुलुक्' से सप्तमी का लुक् = अदर्शन है। यहाँ मूलरूप ही रह गया है 'गौरी' 'तनू' इनके आगे अच् वर्ण रहने पर प्रगृह्यसंज्ञा, प्रकृतिभाव से सन्धिकार्य न हुआ। गौरी ईकारान्त तनू ऊकारान्त सप्तमी के अधिकरण के अर्थ में स्थिर हैं, अन्य अर्थ की ओर इसका क्रमण नहीं है। यहाँ अन्य अर्थ से प्रकृत्यर्थ से अन्य अर्थ लेना। यह सूत्रार्थ है।

(प्रश्न) "अर्थग्रहण किम्" ईकारान्त ऊकारान्त शब्द सप्तमी के अर्थ में हो ऐसा क्यों कहा? अर्थग्रहण करने का आशय यह है कि अन्त तक सप्तमी का ही अर्थ रहना चाहिये, नहीं तो समासादि वृत्ति से अन्य अर्थ की ओर उसका क्रमण हो जाने पर वहाँ भी प्रगृह्य संज्ञा हो जावेगी। यथा—'वाप्याम् अश्वः' इसमें बावडी में घोड़ा ऐसा मूल का अर्थ होते समास होने से वापी का अश्व शब्द के अर्थ की ओर क्रमण हुआ है, इस कारण वापी शब्द प्रगृह्य न होते तलाव पर का घोड़ा ऐसे अर्थान्तर की प्रतीति से सन्धिकार्य यण् होकर 'वाप्यश्वः' की सिद्धि हुई।

वृत्तौ—१ कृत्, २ तद्धित, ३ समास, ४ सन. न्त धातु, ५ एकशेष इसको वृत्ति कहते हैं। वृत्ति = अर्थ विस्तार करने वाली शब्द स्थिति। समासादि वृत्ति में पूर्वपद एवं उत्तरपद स्वार्थ को कहते हुए समुदायार्थवाचक भी है। सप्तमी तत्प्रकृति इनके अर्थमात्र वाचक नहीं हैं। ईकारान्त ऊकारान्त गौरी तनू शब्द 'यः शिष्यते' न्याय से अधिकरणार्थक है। अर्थान्तर से प्रकृत्यर्थ प्रत्यार्थ भिन्न अन्य अर्थ का अवाचक यह अर्थ करना।

विमर्श—सूत्र में अर्थग्रहण न करना। ईकारान्त ऊकारान्त सप्तमी की प्रगृह्यसंज्ञा होती है यहाँ 'संज्ञाविधौ' परिभाषा से तदन्त विधिनिषेध से ईकारान्त ऊकारान्त सप्तमी की प्रगृह्यसंज्ञा अर्थ से लुप्त विभक्तिक स्थल में प्रत्यय लक्षण का 'वर्णाश्रये नास्ति प्रत्ययलक्षणम्' निषेध होने से वहाँ प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होगी, इस अर्थ में सूत्र वैयर्थ्य से तदन्त विधिनिषेधक 'संज्ञाविधौ' परि० की प्रवृत्ति न होगी। ययी पपी शब्द के सप्तमी में भाष्यप्रामाण्य से रूप ही सप्तमी एकवचन नहीं होते यदि होते हैं तो 'यय्यि' 'पप्यि' यही। "नात्र ईदन्ता, सप्तमी" यह भाष्य है। ऐसी परिस्थिति में ईकारान्त ऊकारान्त सप्तम्यन्त अर्थ सूत्रारम्भ से होगा, अर्थग्रहण का क्या प्रयोजन है? अथवा लाघवमूलक न्यासान्तर १–ईदूतौ च सप्तमी प्रगृह्यम् २–अदसः, ३–एच्च द्विवचनम्। १ ईत् ऊत् की अनुवृत्ति २ में आने से मात् की कोई आवश्यकता नहीं है। ३ में ईत् ऊत् की अनुवृत्ति से कार्य निर्वाह होगा। गुरुभूत न्यास करण से यहाँ तदन्त विधि होती है। 'ईदूदेत्' में तदन्तविधि नहीं होती है वहाँ तदन्तविधि न होने से 'कुमार्य्यगारम्' हुआ, यहाँ तदन्तविधि से लुप्तविभक्त्यन्त गौरी आदि का प्रगृह्यसंज्ञा हुई। पुनः सूत्र में अर्थग्रहण कर वाप्यश्व आदि मूलोक्त फल ही है। गुरुभूत न्यास में पूर्व प्रदर्शित वैजात्य है।

११०–अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः ८।४।५७।

अप्रगृह्यस्याणोऽवसानेऽनुनासिको वा स्यात्। दधिँ, दधि। अप्रगृह्यस्य किम्। अग्नी।

इत्यच्सन्धिः।

अवसान में अप्रगृह्य अण् (अ इ उ) को अनुनासिक विकल्प से होता है। दधि यहाँ 'विरामोऽवसानम्' से अवसान संज्ञा है, अवसान में विद्यमान ह्रस्व इकार अप्रगृह्य है, विकल्प से अनुनासिक हुआ। पक्ष में निरनुनासिक है। दधि का अर्थ दही है। अग्नी का ईकार प्रगृह्य है अतः निरनुनासिक ही ईकार है। सन्धि शब्द शब्दसंहितनिमित्तक कार्य को प्रतिपादन करता है। अच् का सन्धिनिमित्तक कार्य समाप्त हुआ। अक्सन्धि कुत्व से होना चाहिये किन्तु 'अल्पाच्-तरम्' सूत्र निर्देश से, एवं 'अनच्त्वात्' 'अनच्त्वम्' इस प्रकार के भाष्यप्रयोगों से वृत्तिघटक अच् पद में पदान्त कार्य का अभाव होता है। वृत्ति घटक च वर्ग का क्वचित् कुत्व का अभाव है, अतः 'अक् सन्धि' ऐसा रूप नहीं हुआ।

"रत्नप्रभा" व्याख्या में अच् सन्धि प्रकरण समाप्त।

अथ हल्सन्धिः । ४

१११–स्तोः श्चुना श्चुः ८।४।४०।

सकारतवर्गयोः शकारचवर्गाभ्यां योगे शकारचवर्गौ स्तः । हरिश्शेते । रामश्चिनोति । सच्चित् । शार्ङ्गिञ्जय ।

सकार एवं तवर्ग के साथ शकार एवं चवर्ग का योग रहे तो यथाक्रम सकार के स्थान में शकार और तवर्ग के स्थान में चवर्ग होता है । यह योग पीछे या आगे कहीं भी हो । यहाँ स्थानी एवं आदेश का यथासंख्य है—स् त थ द ध न को क्रमशः श् च छ ज झ ञ् होता है । निमित्त एवं स्थानी में यथासंख्य नहीं है इसमें 'शात्' सूत्र ही प्रमाण है । अर्थात् सकार को श एवं चवर्ग के योग में भी शकार होता है । एवं तवर्ग को शकार या चवर्ग के योग में भी चवर्ग होता है । हरिस् शेते यहाँ स् को श् हुआ=हरि शयन करते हैं । रामस् चिनोति, स् को श् हुआ = राम एकत्र वस्तुओं को करते हैं । सत् चित् यहाँ त् को च् सच्चित् = सत्य एवं ज्ञान । शार्ङ्गिन् जय, न् को ञ् = हे कृष्ण आप विजयी हों । सूत्र में तु = तवर्ग, चु = चवर्ग बोधक है ।

११२–शात् ८।४।४४।

शात्परस्य तवर्गस्य चुत्वं न स्यात् । विश्नः । प्रश्नः ।

शकार के बाद तवर्ग रहे वहाँ चु = चवर्ग नहीं होता है । यह पूर्वसूत्र का बाधक है 'विश् नः' यहाँ शकार के योग में न को ञकार पूर्वसूत्र से प्राप्त था उसका निषेध से विश्नः = जानेवाला । प्रश्नः, न् को ञ् न हुआ = पूछना । यहाँ प्र के रेफ का 'ग्रहिज्या' सूत्र से सम्प्रसारण ऋकार प्राप्त है, किन्तु 'प्रश्ने चासन्नकाले' सूत्रनिर्देश से सम्प्रसारण न हुआ । अन्यथा 'पृश्ने' आचार्य बोलते ।

११३–ष्टुना ष्टुः ८।४।४१।

स्तोः ष्टुना योगे ष्टुः स्यात् । रामष्षष्ठः । रामष्टीकते । पेष्टा । तट्टीका । चक्रिण्ढौकसे ।

षकार और टवर्ग के साथ योग हो तो सकार और तवर्ग के स्थान में यथाक्रम षकार और टवर्ग होता है । रामस् षष्ठः, यहाँ स् को ष् हुआ । छठवाँ राम । रामस् टीकते स् को ष् रामष्टीकते= राम जाता है । पेष् ता, यहाँ त् को ट् से पेष्टा = पीसने वाला । तत् टीका त् को ट् तट्टीका = उसकी व्याख्या । 'चक्रिन् ढौकसे' यहाँ न् को ण् चक्रिण्ढौकसे = कृष्ण आप जाते हों ।

११४–न पदान्ताट्टोरनाम् ८।४।४२।

'अनाम्' इति लुप्तषष्ठीकं पदम् । पदान्ताट्टवर्गात्परस्यानामः स्तोः ष्टुर्न स्यात् । षट् सन्तः । षट् ते । पदान्तात्किम् । ईट्टे । टोः किम् । सर्पिष्टमम् । ॐ अनाम्नवतिनगरीणामिति वाच्यम् ॐ । षण्णाम् । षण्णवतिः । षण्णगर्यः ।

सूत्र में अनाम् के आगे षष्ठी विभक्ति थी, उसका लोप है । किन्तु व्याख्यान समय षष्ठ्यन्त समझ कर अर्थनिर्देश होता है ।

पद के अन्त में टवर्ग का कोई वर्ण रहे और उसके आगे नाम का नकार को छोड़ कर सकार तवर्ग के स्थान में षकार और टवर्ग नहीं होता है ।

'षट् सन्तः' यहां पूर्वसूत्र से सकार को षकार प्राप्त था किन्तु इस निषेध सूत्र ने पूर्वसूत्र का बाध किया, अतः षकार न हुआ षट् सन्तः = छः साधु । 'षट् ते' यहां तकार को टकार न हुआ । वे छः । ईड् ते यहां डकार पदान्त न होने से निषेध ष्टुत्व का न हुआ । अतः त् को ट् 'खरि च' से डकार को टकार होकर ईट्टे = वह स्तुति करता है ।

विमर्श—१—'न पदान्तात्' सूत्र में 'टोः' ग्रहण न करते तो पूर्वसूत्र से 'ष्टु' तृतीयान्त की अनुवृत्ति आती, अर्थवश विभक्ति का विपरिणाम होता है तृतीयान्त का षष्ठ्यन्त से विपरिणाम होकर पदान्त षकार एवं टवर्ग से पर सकार एवं तवर्ग का ष्टुत्वनिषेध होने से 'सर्पिष् तमम्' यहां पदान्त षकार है उससे पर तकार का टकार जो इष्ट है वह न होगा । सूत्र में 'टोः' ग्रहण से यहां पदान्त टकार न होने से तकार को टकार से 'सर्पिष्टमम्' प्रयोग की सिद्धि हुई ।

२—पुनः पूर्वपक्षी शङ्का करता है कि 'ष्टुना' का एक अंश टु की यहां अनुवृत्ति से कोई दोष नहीं है 'टोः' ग्रहण 'न पदान्तात्' में क्यों किया ?

ष्टु समस्त सन्नियोग शिष्ट है—'सन्नियोगशिष्टानां सहैव प्रवृत्तिः सहैव निवृत्तिः' (परि०) यदि अनुवृत्ति पूर्व से आवेगी तो ष्टु की आ सकती है, केवल टु की नहीं इस परिभाषा से

३—इस परिभाषा में क्या प्रमाण ?

यदि यह परिभाषा न होती तो 'स्तोः श्चुना' से सकार को छोड़कर केवल 'तोः' की अनुवृत्ति से तवर्ग का लाभ होता पुनः 'तोः षि' में 'तोः' ग्रहण व्यर्थ होता अतः 'तोः' ग्रहण भी इस परिभाषा में ज्ञापक है ।

४—पूर्वपक्षी कहता है कि 'अदसो मात्' में 'ईदूदेद्' में एकार को छोड़कर 'ईत्' 'ऊत्' इन अंश द्वय की 'मात्' ग्रहण से अनुवृत्ति हुई है अतः 'क्वचिदेकदेशोऽप्यनुवर्तते' से एकदेश की अनुवृत्ति होती है, पुनः 'टोः' ग्रहण क्यों किया ? यह 'टोः' ग्रहण व्यर्थ पड़ कर ज्ञापन करता है कि 'क्वचिदेकदेश' परिभाषा अनित्य है ।

५—पुनः पूर्वपक्षी कहता है कि 'सर्पिष्टमम्' बनता ही नहीं है । 'सर्पिस् तमम्' इस स्थिति में सकार को जश्त्व प्राप्त है, जश्त्व को अपवाद कर रुत्व प्राप्त है । रुत्व को बाधकर 'ह्रस्वात्तादौ तद्धिते' से सकार को षकार प्राप्त है । 'पूर्वत्रासिद्धम्' से षत्व के असिद्ध से जश्त्व प्राप्त है उसको बाधकर रुत्व प्राप्त है अतः यहां 'चक्रकापत्ति' दोष से कोई भी कार्य न होना चाहिए ?

(उत्तर) चतुर् तयम् यहां रेफ का 'खरवसानयोः' से विसर्ग हुआ । विसर्ग को 'विसर्जनीयस्य सः' से सकारादेश हुआ । यह सकार असिद्ध होने से यहां रुत्व एवं जश्त्व की प्राप्ति नहीं है, यहां सकार को षत्व कर 'ह्रस्वात्तादौ' षत्वविधायक सूत्र चरितार्थ है अतः 'सर्पिस् तमम्' यहां षत्वविधायक शास्त्र असिद्ध होने से विसर्ग, विसर्ग को सकार उसको मूर्द्धन्य षकार सर्पिष् तमम् यहां ष्टुत्व सम्पादनार्थ सूत्र में 'टोः' ग्रहण सार्थक है ।

६—पुनः पूर्वपक्षी—'सर्पिष् तमम्' यहां तादितद्धित प्रत्यय तमप् को मानकर (उपजीव्यतया) जायमान षकार ष्टुत्व में निमित्त न होगा । यहां उपजीवक = सहायता प्राप्त करने वाला षकार है । उपजीव्य सहायता देने वाला तादितद्धित प्रत्यय तमप् है । उपजीवक को चाहिये कि अपने उपजीव्य का नाशक कार्य में प्रवृत्त न हो षकार निमित्त ष्टुत्व करेंगे तो तकार का टकार होने से तादितद्धित न रहेगा अतः यहां सन्निपात परि० से ष्टुत्व नहीं होता है पुनः 'टोः' ग्रहण व्यर्थ है ?

(उत्तर) सन्धि कार्य में 'सन्निपातलक्षणो विधिः' इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है अनित्य होने से, इसका ज्ञापनार्थं सूत्र में 'टोः' की आवश्यकता है। सर्पिष्टमम् = बहुत घी।

पदान्त टवर्ग के बाद नाम शब्द का अवयव नकार, नवति का नकार नगरी का नकार रहे वहां 'न पदान्तात्' सूत्र नहीं लगता है अर्थात् वहां ष्टुत्व होता है।

षण्णाम्—षष् नाम् पदसंज्ञा होकर जश्त्व से षकार को डकार उसको ष्टुत्व से णकार 'प्रत्यये भाषायाम्' से डकार को णकार हुआ। षडधिका नवति में 'दिक्संख्ये' इस नियम से समास 'अनवति' कथन से ष्टुत्वनिषेध न हुआ। ष्टु से षण्णवतिः। ९६ अर्थ है। षण्णगर्य्यः = षट् नगर्य्यः पृथक् पद है ष्टुत्व से रूपसिद्धि। अर्थ छः नगरी।

११५—तोः षि ८।४।४३।

तवर्गस्य षकारे परे न ष्टुत्वम्। सन् षष्ठः।

त वर्ग को षकार पर रहने ष्टुत्व नहीं होता है। सन् के नकार को ष्टुत्व न हुआ। सन् षष्ठः = सज्जन छठा। अनुवृत्ति के कारण ष्टुत्व निषेध कहा है, यहां केवल टुत्व का ही प्रयोजन है।

झलां जशोऽन्ते। सू० ८४। [८।२।३९]

वागीशः। चिद्रूपम्।

पदान्त झल् के स्थान में जश् होता है। वाक् ईशः, ककार को गकार हुआ, वागीशः=बृहस्पति। चिद्रूपम्, द् को त् हुआ। ज्ञानस्वरूप।

प्रयोजनवश यह सूत्र प्रथम पड़ गया था, किन्तु मुख्य विषय यहां है, अतः पुनः कहा गया है।

११६—यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा ८।४।४५।

यरः पदान्तस्यानुनासिके परेऽनुनासिको वा स्यात्। एतन्मुरारिः। एतद्-मुरारिः। स्थानप्रयत्नाभ्यामन्तरतमे स्पर्शे चरितार्थो विधिरयं रेफे न प्रवर्तते। चतुर्मुखः। ॐ प्रत्यये भाषायां नित्यम् ॐ। तन्मात्रम्। चिन्मयम्। कथं तर्हि 'मदोदग्राः ककुद्मन्तः' इति, यवादिगणे दकारनिपातनात्।

अनुनासिक वर्ण पर में रहते पदान्त में स्थित यर् को विकल्प से अनुनासिक होता है। 'एतद् मुरारिः' दन्तस्थान समान होने से दकार के स्थान में नकार हुआ। यद्यपि लं भी स्थान तुल्य है, किन्तु न हुआ अर्धमात्रिक दकार के स्थान में अर्धमात्रिक स्थानी तुल्य नकार ही होता है। नकार स्थानकृत सादृश्य एवं प्रमाणतः अन्तरतम है।

एषश्चासौ मुरारिः 'एतन्मुरारिः' यह समस्त रूप है। असमास में 'एष मुरारिः' यही रूप होता है। अर्थ—यह मुर नामक राक्षस के वधकर्ता श्रीकृष्ण।

विमर्श—चतुर्मुखः—यहाँ मूर्द्ध स्थान से उत्पन्न रेफ के स्थान में स्थानतः सादृश्य से णकार अनुनासिक क्यों न हुआ ?, 'स्थाने अन्तरतमः' इस प्रथमान्त पाठपक्ष में निर्द्धार्य्यमाण आदेश ही है। एक रेफरूप स्थानी के स्थान में अनेक आदेश प्राप्त है = ञमङणन एवं अनुनासिक अच्। उनमें मूर्द्धस्थान एवं प्रमाणकृत द्विविध सादृश्य से रेफ का णकार अनुनासिक प्राप्त है।

'स्थानेऽन्तरतमे' इस सप्तम्यन्त पाठ पक्षमें "आदेश अतिशयसदृश स्थानी के स्थान में होता है" इस अर्थ में णकाररूप आदेश जहाँ अनेक स्थानी रहें तब किसके स्थान में होगा यह आकाङ्क्षा होने पर जो आदेश का अतिशयसदृश स्थानी उसी के ही स्थान में होता है। 'चतुर्मुखः' यहाँ णकाररूप आदेश के स्थानी यर् है, उनमें स्थानतः सादृश्य से र ट ठ ड ढ ण ष इन सभी वर्ण णकारादेश के सदृश स्थानी है। किन्तु घोष संवार नाद प्रयत्नवान् णकार का समान प्रयत्न युक्त र ड ढ स्थानी यर के अन्तरतम है। उनमें भी अल्पप्राण युक्त णकार का अल्पप्राणवान् डकार एवं रेफ स्थानी अन्तरतम है। प्रथम कह चुके हैं कि आन्तरतम्य परीक्षा में बाह्यप्रयत्न की तुल्यता ही अपेक्षित है, अतः यहां रेफ एवं डकार वर्ण में वह है अतः यहाँ रेफ को णकार क्यों न हुआ ?,

आभ्यन्तर प्रयत्नभेद से 'डकार के स्थान में ही णकार होता है' न रेफ के स्थान में णकार। तात्पर्य यह है कि—स्पृष्ट प्रयत्नवान् णकार है, तादृश ही डकार है। दोनों स्पर्श वर्ण हैं उन दोनों का एक प्रयत्न आभ्यन्तर है। रेफ का स्थानसाम्य णकार के साथ यद्यपि है किन्तु रेफ का आभ्यन्तर प्रयत्न ईषत् स्पृष्ट है, अतः प्रयत्नभेद से णकार रेफ के स्थान में न हुआ। किन्तु षड् णाम् में डकार का णकार अनुनासिक होकर 'षण्णाम्' आदि प्रयोगों की सिद्धि हुई। १ स्थानतः २ अर्थतः ३ गुणतः ४ प्रमाणतः, इन चार में गुणपद से बाह्यादि लेना, अतः आदि पद से आभ्यन्तर प्रयत्नसाम्य का भी क्वचित् अन्तरतम परीक्षा में उपयोग होता है। अथवा प्रमाण पद से पूर्वोक्त तीन प्रकार को छोड़कर शेष सर्वविध सादृश्य का ग्रहण करना यह बात भाष्य एवं शब्दरत्न आदि ग्रन्थों में है।

सप्तम्यन्त पाठ में आदेश स्थानी का अन्वेषणार्थ प्रवृत्त होता है। न स्थानी। इसी परिस्थिति में 'इको यणचि' सूत्र से विधीयमान यणादेश का अन्तरतम स्थानी स्थानतः प्रमाणतः ह्रस्व इकार ही है, उसी के स्थान में यणादेश होगा, दीर्घ के स्थान में नहीं, तब 'सुध्युपास्यः' की असिद्धि होगी। प्रथमान्त पाठ में रेफ के स्थान में णकार अनुनासिक की प्राप्ति है। अतः क्या करना ?, प्रथमान्त पाठ का ही आदर करना उचित है। "अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः" से एकदेश सवर्ण पर स्वरितत्व प्रतिज्ञाबल से सवर्ण का अपकर्षण कर—"यर् के स्थान में सवर्ण अनुनासिक होता है विकल्प से यय् परमें में रहे तो। रेफ वर्ण अनुनासिक नहीं है। "अमोऽनुनासिकाः, न ह्रौ"। यह शिष्टोक्ति है। "रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति" यह भाष्योक्ति है। अष्टाध्यायी के क्रम में 'स्थानेऽन्तरतम उरण् रपरः' यह संहिता पाठ से पदविभाग में 'अन्तरतमः' या 'अन्तरतमे' दो पाठ की सम्भावना से यहां दो पक्षों का उपस्थापन कर गुण दोष का विवेचन किया है।

वार्त्तिकार्थ—प्रत्यय के अवयव अनुनासिक वर्ण पर मे रहे वहां अवैदिक प्रयोग में पदान्त यर् का नित्य अनुनासिक होता है। जश्त्वका अपवाद यह है।

'तत् मात्रम्' यहां तकार को नकार हुआ तन्मात्रम् = यही केवल। यहां प्रमाण अर्थ में मात्रच् प्रत्यय है। 'चित् मयम्' तकार को नकार चिन्मयम् = ज्ञानमय। 'ककुद्मन्तः' यहां ककुद्-मन्त में जश्त्व को बाधकर अनुनासिक नकार क्यों नहीं हुआ ?, यह कालिदास प्रयोग असङ्गत है ?, 'झयः' सूत्र से मतुप् के मकार को वकारादेश वारणार्थ 'मादुपधायाः' सूत्र में अयवादिशब्द रहे, वहां मकार को वकारादेश होता है यवादिगण पठित शब्द से पर मतुकामकार को वकारादेश नहीं होता है। प्रकृत में ककुद् का दकार को अनुनासिक नकार होता तो वहां 'ककुन्' ऐसा पाठ यवादि गण में करते। अतः दकारान्त पाठ से यहां अनुनासिक नहीं होत है। अथवा अष्टाध्यायी में 'यचि भम् तसौ मत्वर्थे' पाठ है, यहां तसौ के तकार पूर्व दकार का प्रश्लेष कर उसका

'झरो झरि' से लोप है, "दान्त तान्त सान्त की भसंज्ञा होती है मत्वर्थक प्रत्यय पर में रहे तो," इससे यहां भसंज्ञा है, अतः पदान्तपर नहीं है, अतः अनुनासिक की प्राप्ति ही नहीं है।

११७–तोर्लि ८।४।६०।

तवर्गस्य लकारे परे परसवर्णः स्यात् । तल्लयः । विद्वाँल्लिखति । नस्यानुनासिको लकारः ।

लकार से पूर्व तवर्ण के स्थान में परसवर्ण होता है। 'तत् लयः' तकार को लकार तल्लयः = उसका नाश। विद्वान् लिखति नकार अनुनासिक है, अतः स्थानी सदृश अनुनासिक लकार हुआ। विद्वाल्ँ लिखति = विद्वान् लिखता है।

११८–उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य ८।४।६१।

उदः परयोः स्थास्तम्भोः पूर्वसवर्णः स्यात् । आदेः परस्य । उत्थानम् । उत्तम्भनम् । अत्राघोषस्य महाप्राणस्य सस्य तादृश एव थकारः । तस्य 'झरो झरी'ति पाक्षिको लोपः । लोपाभावपक्षे तु थकारस्यैव श्रवणं न तु 'खरि चे'ति चर्त्वम् । चर्त्वं प्रति थकारस्यासिद्धत्वात् ।

उद् से व्यवधानरहित स्था एवं स्तम्भ का आदि अल् को पूर्व सवर्ण आदेश होता है। 'तस्माद' पञ्चमी परिभाषा से व्यवधानरहित अर्थ का लाभ हुआ, 'आदेः परस्य' से आदि का लाभ हुआ। अघोष महाप्राणयुक्त सकार के स्थान में वैसा ही थकार पूर्व सवर्ण हुआ। उद् थ् थानम्। उद् थ् तम्भनम्। उसका 'झरो झरि' से विकल्प लोप हुआ। 'खरि च' से चर्त्व दकार को तकार हुआ। लोपाभाव पक्ष में चर्त्व नहीं होता है, चर्त्व के प्रति पूर्वसवर्ण विधायक शास्त्र असिद्ध है। उत्थानम् = उठना। उत्थ्थानम्। उत्तम्भनम्। उत्थ्तम्भनम् = थमाना।

११९–झयो होऽन्यतरस्याम् ८।४।६२।

झयः परस्य हस्य पूर्वसवर्णो वा स्यात् । घोषवतो नादवतो महाप्राणस्य संवृतकण्ठस्य हस्य तादृशो वर्गचतुर्थ एवादेशः । वाग्घरिः । वाग्हरिः ।

झय् से अव्यवहित उत्तर हकार को पूर्वसवर्ण विकल्प से होता है। घोष-नाद-संवार—महाप्राण—एवं कण्ठस्थानोच्चरित हकार को समान स्थान प्रयत्नक कवर्ग का चतुर्थ वर्ण घकार हुआ—वाक् हरिः—वाक् घरिः, ककार का जत्व से गकार वाग्घरिः, पक्ष में वाग्हरिः = बृहस्पति या सिंहवत् वाणी से गर्जना करने वाला।

१२०–शश्छोऽटि ८।४।६३।

पदान्ताज् झयः परस्य शस्य छो वा स्याद् अटि । दस्य चुत्वेन जकारे कृते ।

पद के अन्त में स्थित झय् से व्यवधानरहित शकार को विकल्प से छकार होता है अट् पर में रहें तो। 'स्तोः श्चुना' सूत्र से छकार के योग में दकार का जकार कर।

१२१–खरि च ८।४।५५।

खरि परे झलां चरः स्युः । इति जकारस्य चकारः । तच्छिवः । तच्शिवः ।

❁ छत्वममीति वाच्यम् ❁। तच्छ्लोकेन। तच्श्लोकेन। अमि किम्। वाक्श्च्योतति।

झल् को खर पर में रहे तो चर् होता है। इस सूत्र से जकार को चकार हुआ।

'तद् शिवः' जश्त्व से तकार को दकार कर दकार को चुत्व से जकार, शकार को छकार जकार को चर्त्व से चकार हुआ (मूल त् को द् ज् च् हुए)। छत्वाभावपक्ष में तच्शिवः। सूत्र में 'अटि' को निकाल कर उसके स्थान में 'अमि' पढ़ना चाहिये। इससे तद् श्लोकेन यहां लकार अट् नहीं तो भी 'अम्' प्रत्याहार बोध्य होने से तद् श्लोकेन यहां छकार शकार को विकल्प से हुआ। तद् श्लोकेन शकार को छकार तकार को पूर्ववत् दकार जकार चकार हुए। पक्ष में छकार न हुआ वहां तच् श्लोकेन = उस श्लोक ने (स्तुति की है)। 'वाक्श्च्योतति' यहां अम् परक न होने से छकार न हुआ। अर्थ—जीभ लड़खड़ाती है।

१२२–मोऽनुस्वारः ८।२।२३।

मान्तस्य पदस्यानुस्वारः स्याद्धलि। अलोऽन्त्यस्य। हरिं वन्दे। पदस्य किम्। गम्यते।

मकार है अन्त्य में जिसको ऐसे पद के अन्त वर्ण का हल् पर में रहे तो अनुस्वार होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' से अन्त वर्ण का लाभ हुआ है। 'सुप्तिङन्तम्' से 'हरिम्' की पदसंज्ञा, अन्त्य मकार का अनुस्वार, हल् वन्दे का वकार है। हरि को नमस्कार 'हरिं वन्दे'। 'गम्यते' यहां पदान्त मकार न होने से अनुस्वार न हुआ।

विमर्श—पदस्य किम्—पदग्रहण व्यर्थ है, अपदान्त मकार को अनुस्वार हो तो झल् पर में रहे वहाँ ही अन्यत्र नहीं इस प्रकार 'नश्चापदान्तस्य' नियमार्थ होकर गम्यते में मकार झल् परक नहीं है अतः अनुस्वार न होगा, पुनः 'पदस्य' की आवश्यकता नहीं है। विपरीत नियम में—"झल् परक मकार का अनुस्वार हो तो अपदान्त का ही" इस से हरिं वन्दे यहाँ अनुस्वार न होगा। विपरीत नियम में 'हे मपरे वा' सूत्र का वैयर्थ्य से विपरीत नियम नहीं होगा, यह नहीं कह सकते हैं 'प्रशाम् हलयति' में प्राप्त 'मो नो धातोः' से नत्व की व्यावृत्ति के लिए वह चरितार्थ है।

१२३–नश्चापदान्तस्य झलि ८।३।२४।

नस्य मस्य चापदान्तस्य झल्यनुस्वारः। यशांसि। आक्रंस्यते। झलि किम्। मन्यते।

सजातीय स्थानी को देखकर पूर्व सूत्र से मकार की अनुवृत्ति न आती थी उसको लाने के लिए सूत्र में चकार है। 'पदस्य' अधिकार प्राप्त था, अतः अपदान्तस्य कहा। पदान्तभिन्न नकार एवं मकार को अनुस्वार होता है झल् पर में रहते। 'यशान् सि' नकार का अनुस्वार 'यशांसि' = बहुत यश। 'आक्रंस्यते' मकार का अनुस्वार। आक्रमण करेगा। मन् यते यहाँ यकार झल् नही अनुस्वार न हुआ मन्यते = मानता है।

'हे राजन् पाहि' यहाँ नकार पदान्त है, अतः अनुस्वार न हुआ। हे राजन् रक्षा करो।

१२४–अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः ८।४।५८।

स्पष्टम्। अङ्कितः। अञ्चितः। कुण्ठितः। शान्तः। गुम्फितः। 'कुर्वन्ति' इत्यत्र णत्वे प्राप्ते तस्यासिद्धत्वादनुस्वारे परसवर्णे च कृते तस्यासिद्धत्वान्न णत्वम्।

अनुस्वार का परसवर्ण होता है यय् परमे रहे तो। भूतार्थक क्त प्रत्ययान्त कित-चित-ठित-त-फित परक मकार या नकार का अनुस्वार को परसवर्ण से इन पाँच प्रयोगों की सिद्धि हुई है। प्रयोग मूल में उद्घृत है। क्रमेण अर्थ १—अङ्कित = चिह्नित किया हुआ। २—अञ्चितः = पूजित हुआ। ३—कुण्ठितः = स्तब्ध। ४—शान्तः = शान्त हुआ। ५—गुम्फितः = गूंथा गया।

'कुर्वन्ति' यहाँ अनुस्वार को बाधकर परत्वात् 'अट्कुप्वाङ्' से णकार नकार को प्राप्त है किन्तु 'पूर्वत्रासिद्धम्' णत्वविधायक शास्त्र असिद्ध है। अतः पूर्व अनुस्वार ततः परसवर्ण के बाद णकार नकार को प्राप्त है किन्तु परसवर्ण निष्पन्न नकार असिद्ध होने से णकार न हुआ।

१२५—वा पदान्तस्य ८।४।५९।

पदान्तस्यानुस्वारस्य ययि परे परसवर्णो वा स्यात्। त्वङ्करोषि। त्वं करोषि। सयँय्यन्ता। संयन्ता। सवँव्वत्सरः। संवत्सरः। यलँल्लोकम्। यं लोकम्। अत्रानुस्वारस्य पक्षेऽनुनासिका यवलाः।

पदान्त अनुस्वार को यय् परमें रहे तो विकल्प से परसवर्ण होता है। त्वं करोषि यहाँ ककार का सवर्णो ङकार हुआ। पक्ष में अनुस्वार भी। स्थिति से दो रूप तू कार्य करता है। 'संयन्ता' अनुस्वार का परसवर्ण अनुनासिकत्व धर्मयुक्त यँ हुआ पक्षमें अनुस्वार। संयम करने वाला। सं वत्सरः अनुनासिक परसवर्ण वँकार हुआ। पक्षमें अनुस्वार। वर्षवाचक यह शब्द है। यं लोकम्। अनुनासिक लँ परसवर्ण। पक्षमें अनुस्वार। जिस लोक को। स्थानिवृत्ति धर्मवान् आदेश होते। अनुस्वार स्थानी अनुनासिक है उसके स्थान में जायमान आदेश भी अनुनासिक ही हुए।

१२६—मो राजि समः क्वौ ८।३।२५।

क्विबन्ते राजतौ परे समो मस्य म एव स्यात्। सम्राट्।

क्विप् प्रत्ययान्त राज्धातु पर में रहते सम् उपसर्ग के मकार के स्थान में अनुस्वार न होकर मकार का मकार ही रहता है। सम् राट् यहाँ अनुस्वार न हुआ। सार्वभौम अर्थ में सम्राट् का प्रयोग होता है। सन्निपात परिभाषा मूलक 'संज्ञा भङ्गभिया' न्याय का यहाँ विषय ही नहीं है। उपजीव्य का नाशक उपजीवक रहें वहाँ सन्निपात परिभाषा एवं तन्मूलक संज्ञा भङ्गभिया न्याय की प्रवृत्ति होती है। अतः यहाँ प्राप्त अनुस्वार वारणार्थ इस सूत्र की आवश्यकता है।

१२७—हे मपरे वा ८।३।२६।

मपरे हकारे परे मस्य म एव स्याद् वा। ह्मल ह्मल चलने। किम् ह्मलयति। किं ह्मलयति। ❀ यवलपरे यवला वेति वक्तव्यम् ❀।

मकार है पर में जिससे ऐसे हकार पर में रहे तो मकार का मकार ही रहता है। अर्थात् अनुस्वार नहीं होता है। किम् ह्मलयति में अनुस्वार न हुआ। अर्थ—यह क्या चलता है। य व र में से कोई वर्ण परमें है जिस हकार से ऐसे हकार पूर्वक मकार को क्रमशः य् व् ल् विकल्प से होते हैं क्रमिक होते हैं इसके लिए सूत्र कहते हैं—

१२८—यथासंख्यमनुदेशः समानाम् १।३।१०।

समसम्बन्धी विधिर्यथासंख्यं स्यात्। किय्ँ ह्यः। किं ह्यः। किव्ँ ह्वलयति। किं ह्वलयति। किल्ँ ह्लादयति। किं ह्लादयति।

समान समानों का उच्चारण करके कोई विधान कहा हो तो वह विधान यथासंख्य (क्रम के उल्लङ्घन रहित) करके जानना चाहिये। अर्थात् प्रथम को प्रथम, द्वितीय को द्वितीय, तृतीय को तृतीय आदि इस प्रकार से हो। १—कल क्या, २—वह क्या चलाता है। ३—क्या हर्षता है।

यहाँ यकार परक हकार रहे तो मकार के स्थान में यँ, वकार परक हकार रहे तो मकार के स्थान में वँ, लकार परक हकार रहे तो मकार के स्थान में लँ होते है। विधेय तीन, निमित्तदल में प्रविष्ट तीन है क्रमिक अन्वाख्यान इस सूत्र ने बोध न किया। इस प्रसङ्ग पूर्व में भी कई स्थानों में अपक्षित रहा वहाँ इस सूत्र का उपन्यास करना उचित था किन्तु क्यों नहीं किया गया ?, यह सूत्र मन्द प्रयोजनार्थ है। बुद्धिमान् सूत्र विना ही क्रमिक ज्ञान कर लेते है यथा लोक में—"शत्रुं मित्रं विपत्तिञ्च जय रञ्जय भञ्जय" यहाँ शत्रुं जय, मित्रं रञ्जय, विपत्तिं भञ्जय। इस प्रकार 'एचोऽयवायावः' में जाति पक्ष में एत्व ओत्व ऐत्व औत्व चतुर्थ संज्ञा व्यक्तियों में आरोप कर कार्य निर्वाह होता है। 'माहात्म्यम्' यहाँ 'यमां यमि' का भी क्रमिक स्थानी एवं आदेश का अन्वय होगा यह सूत्र सर्वथा व्यर्थ है।

१२९–नपरे नः ८।३।२७।

नपरे हकारे परे मस्य नः स्याद् वा। किन् ह्नुते। किं ह्नुते।

न परक हकार पर में रहे तो मकार को विकल्प से नकार आदेश होता है। पक्ष में मकार का अनुस्वार। दो प्रकार के रूप हुए। अर्थ—वह क्या छिपाता है।

१३०–ङ्णोः कुक्टुक्शरि ८।३।२८।

ङकारणकारयोः कुक्टुकावागमौ वा स्तः शरि। कुक्टुकोरसिद्धत्वाज्जशत्वं न। * चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम् *। प्राङ्ख् षष्ठः। प्राङ्क् षष्ठः। प्राङ् षष्ठः। सुगण्ठ् षष्ठः। सुगण्ट् षष्ठः। सुगण् षष्ठः।

शर् पर में रहे तो ङकार को कुक् आगम होता है, एवं शर् पर में रहे तो णकार को टुक् आगम होता है। अथवा शर्परक ङकारणकार को क्रमशः कुक् टुक् आगम होते हैं। कुक् में उकार ककार की एवं टुक् में उक् की इत्संज्ञा लोप होता है। इस आगम के ककार एवं णकार को जश्त्व नहीं होता है, 'झलां जशोऽन्ते' सूत्र की दृष्टि में यह सूत्र असिद्ध है। शर् पर में रहे तो चय् के स्थान में अपने-अपने वर्ग का दूसरा अक्षर होता है पौष्करसादि आचार्य के मत में। अर्थात् विकल्प से।

'प्राङ् षष्ठः' यहां ङकार को कुक् हुआ, द्वितीय अक्षर उस वर्ग का ख् हुआ विकल्प कुक् न हुआ इस प्रकार तीन रूप दो कार्य विकल्प से हुए। प्राङ्ख षष्ठः। प्राङ् क्षष्ठः क् ष् का क्षकार हुआ। प्राङ् षष्ठः। सुगण् ठ् षष्ठः। सुगण् ट् षष्ठः। सुगण् षष्ठः। असिद्ध आगम होने से जश् न हुआ। अर्थ—पहला, छठवाँ। छठवाँ अच्छा गणित जानने वाला।

१३१–डः सि धुट् ८।३।२९।

डकारात् परस्य सस्य धुड् वा स्यात्। षट्त्सन्तः। षट् सन्तः।

यहां 'डः' दिग्योगलक्षणा पञ्चमी है। 'सि' औपश्लेषिक अधिक में सप्तमी है। पञ्चम्यन्त को देखकर 'तस्मात्' परिभाषा से अव्यवहित उत्तर को आगम प्राप्त है। सप्तम्यन्त 'सि' को देखकर

अव्यवहित पूर्व को आगम पाया, अतः यहाँ आगमी का निर्णय नहीं है, ऐसी परिस्थिति में "उभयनिर्देशे पञ्चमी निर्देशो बलीयान्" इस परिभाषा से पञ्चम्यन्त निर्देश से पञ्चमी परिभाषा की उपस्थिति हुई 'सि' सप्तम्यन्त षष्ठ्यन्त हुआ। 'उभयनिर्देशे' में परत्व ही बाधक बीज है। तस्मिन् की अपेक्षा 'तस्मात्' प० पर है। सकार आगमी है।

सूत्रार्थ—डकार से व्यवधानरहित उत्तर सकार को विकल्प से धुट् आगम होता है। षड् सन्तः—षड् ध् सन्तः, खरि च से ड् को ट्, पुनः खरि च से ध् को त् हुआ वर्णभेद से लक्ष्यभेद है। एक ही वर्ण में एक ही शास्त्र दो बार प्रवृत्त नहीं होता है "न संप्रसारणे सम्प्रसारणम्" सूत्रारम्भ से लक्ष्य भेद में 'लक्ष्ये लक्षणं सकृदेव प्रवर्तते' यह न्याय नहीं लगाया है—अतः 'तल्लक्ष्ये तल्लक्षणं सकृदेव प्रवर्तते' यह न्यायाकार हुआ। यहाँ डकार भिन्न एवं धकार भिन्न लक्ष्य है।

१३२–नश्च ८।३।३०।

नकारान्तात् परस्य सस्य धुड् वा स्यात्। सन्त्सः। सन्सः।

नकारान्त से पर सकार को विकल्प से धुट् (ध्) आगम होता है। सन् सः धुट् में उट् की इत्संज्ञा लोप है, 'खरि च' से चर्त्व। एवं धुट् का अभाव। वह साधु अर्थ है।

१३३–शि तुक् ८।३।३१।

पदान्तस्य नस्य शे परे तुग् वा स्यात्। 'शश्छोऽटी'ति छत्वविकल्पः। पक्षे 'झरो झरी'ति चलोपः। सञ्छम्भुः। सञ्चछम्भुः। सञ्चशम्भुः। सञ्शम्भुः।

ञ्छौ ञ्चछा ञ्चशा ञ्शाविति चतुष्टयम्।
रूपाणामिह तुक्छत्वचलोपानां विकल्पनात्॥

पदान्त नकार को विकल्प से तुक् आगम होता है। ककार की 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा उकार की 'उपदेशे' सू० से इत् संज्ञा दोनों का लोप केवल त् मात्र अवशिष्ट है।

सन् त् शम्भुः, तकार को 'स्तोः श्चुना' से चकार, एवं नकार को ञकार, शश्छोऽटि से श् को विकल्प छ्, पक्ष में 'झरो झरि' से च् का लोप १ सञ् छम्भुः। च् के लोपाभाव में २ सञ्च् छम्भुः। वैकल्पिक छकार के अभाव में ३ सञ् च् शम्भुः। तुगागम के अभाव में नकार को केवल चुत्व से ४ सन् शम्भुः। १—ञ् छ् २—ञ् च् छ् ३—ञ च श् ४—ञ श् इस प्रकार तुक्, छ, च लोप तीन कार्य विकल्प से यहाँ चार रूप जानने चाहिये।

१३४–ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम् ८।३।३२।

ह्रस्वात् परो यो ङम् तदन्तं यत्पदं तस्मात् परस्याचो नित्यं ङमुडागमः स्यात्। प्रत्यङ्ङात्मा। सुगण्णीशः। सन्नच्युतः।

ह्रस्व से पर जो ङम् (ङ् ण् न्) यह है अन्त में जिस पद के उससे पर अच् को क्रमशः ङमुट् (ङुट् णुट् नुट् = ङ् ण न्) आगम होता है। अन्तरात्मा अर्थ में प्रत्यङ् आत्मा ङ् आगम दो ङ् ङ् घटित प्रत्यङ्ङात्मा। श्रेष्ठ गणित का ज्ञाता अर्थ में 'सुगण् ईशः' णुट् = ण् आगम दो ण् ण् घटित रूप। साधु विष्णु अर्थ में सन् अच्युतः नुट् = न्, नकारद्वय युक्तरूप। ङम् यहां प्रत्याहार है उसके संज्ञी तीन वर्ण है—ङ् ण् न्। विधेय दल में भी ङम् प्रत्याहार बोध्य तीन वर्णों में प्रत्येक के अन्त में उट् लगाना चाहिये। उकार टकार इत् संज्ञक है।

विमर्श—इस सूत्र में विकल्प से अनुवृत्ति न होने से आगम नित्य होते पुनः व्यर्थ नित्यग्रहण ङमुडागम को अनित्य बोधनार्थ है, अत एव 'सनाद्यन्ता धातवः' में ङमुट् से नकार द्वय निर्देश नहीं है। यह कहना उचित नहीं, क्योंकि भाष्यकार से यह अनुक्त है। 'गणेशः' वनेशः यहां 'एकदेश-विकृत' न्याय से गन् वन् ङमन्त पद है, 'अन्तादिवच्च' से एश परादिवद्भाव से पद है यहां ङमुडागम प्राप्त है। त्रिपादी में स्थानिवद्भाव नहीं होता है, 'तस्य दोष' वार्तिक में लत्वसाहचर्य से णकारादेश का ही ग्रहण होता है, आगम णकार का नहीं। किन्तु 'समासान्ताः' 'तनादि कृञ्भ्यः' यहां सम् के मकार को रु, एवं तन् का नलोप इन दोनों कार्यों के अदर्शन से कल्पना करते हैं कि—एकादेश के पूर्वभाग में 'एकदेशविकृत' न्याय से अथवा पूर्वान्तवद्भाव से पदत्व नहीं आता है। अतः 'गणेशः' 'वनेशः' 'वनान्तः' 'सान्तः' 'सनाद्यन्ताः' इत्यादि प्रयोगों की सिद्धि हुई। 'आगम-जमनित्यम्' यह परिभाषा भाष्य सम्मत नहीं है। इकोऽचि यण् यह लघुभूत न्यास से कार्य-निर्वाह होगा, गुरुभूत 'इको यणचि' से कल्पना कोई करता है कि आगम अनित्य है, अत एव सागरं तर्तुकामः यहाँ 'तरितुम्' इट् आगम न हुआ।

१३५–समः सुटि ८।३।५।

समो रुः स्यात् सुटि। 'अलोऽन्त्यस्य'।

सम् शब्दावयव अन्त्य अल् को रु आदेश होता है, सुट् सम्बन्धी सकार पर में रहे तो। 'संपरिभ्यां करोतौ भूषणे' सूत्र से सम् से पर भूषण अर्थ में कृधातु को सुट् आगम यहां हुआ है। तृच् प्रत्ययान्त कर्तृ का प्रथमा एकवचन में कर्ता रूप है। सम् स्कर्ता अन्त्य अल् मकार को रु आदेश—स र् स्कर्ता। यहां विधानावस्था में ही उकार की इत् संज्ञा एवं लोप से र् मात्र शेष रहा।

१३६–अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा ८।३।२।

अत्र रुप्रकरणे रोः पूर्वस्यानुनासिको वा स्यात्।

इस रु प्रकरण में रु के पूर्व वर्ण को विकल्प से अनुनासिक होता है। इस रु प्रकरण कहने से 'ढो ढे लोपः' (८-३-१३) इस स्थल में प्रयोग में पूर्ववर्ती वर्ण को अनुनासिक न हुआ। सँ र् स्कर्ता।

१३७–अनुनासिकात् परोऽनुस्वारः ८।३।४।

अनुनासिकं विहाय रोः पूर्वस्मात् परोऽनुस्वारागमः स्यात्। 'खरवसानयो-र्विसर्जनीयः'।

अनुनासिक को छोड़कर दूसरे निरनुनासिक में के रूप में के रेफ पूर्ववर्ती वर्ण के अनन्तर अनुस्वार का आगम होता है। सं र् स्कर्ता। दोनों के रेफ का 'खरवसानयोः' से विसर्ग हुआ—सँः स्कर्ता, संः स्कर्ता।

१३८–विसर्जनीयस्य सः ८।३।३४।

खरि विसर्जनीस्य सः स्यात्। एतदपवादे 'वा शरी'ति पाक्षिके विसर्गे प्राप्ते। * संपुंकानां सो वक्तव्यः *। सँस्कर्ता, संस्कर्ता। 'समो वा लोपमेके' इति भाष्यम्। लोपस्यापि रुप्रकरणस्थत्वादनुस्वारानुनासिकाभ्या-मेकसकारं रूपद्वयम्। द्विसकारन्तूक्तमेव। तत्रानचि चेति सकारस्य द्वित्वपक्षे

त्रिसकारमपि रूपद्वयम् । अनुस्वारविसर्गजिह्वामूलीयोपध्मानीययमानामकारोपरि शर्षु च पाठस्योपसंख्यातत्वेनानुस्वारस्यापि अच्त्वात् । अनुनासिकवतां त्रयाणां ❀ शरः खयः ❀ इति कद्वित्वे षट् । अनुस्वारवतामनुस्वारस्यापि द्वित्वे द्वादश । एषामष्टादशानां तकारस्य द्वित्वे वचनान्तरेण पुनर्द्वित्वे च एकतं द्वितं त्रितमिति चतुष्पञ्चाशत् । अणोऽनुनासिकत्वेऽष्टोत्तरशतम् ।

खर् पर में रहे तो विसर्ग का सकार आदेश होता है। इससे पूर्व प्रदर्शित दो रूपों के विसर्गों को नित्य सकारादेश प्राप्त हुआ। किन्तु इसका बाधक 'वा शरि' सूत्र है, वह कहता है कि "शर् परक विसर्ग का वैकल्पिक विसर्ग ही रहता है।" इस विशेष वचन से पूर्व शास्त्र का बाध प्राप्त हुआ, इसको बाधकर के विसर्ग को नित्य सकारार्थ वार्तिक है—सम् पुम् कान् सम्बन्धी विसर्ग को सकारादेश होता है। विसर्ग को स् करने पर रूप—सँस्स्कर्ता, संस्स्कर्ता। भूषित करने वाला।

कितने वैयाकरण सम् के मकार का विकल्प से लोप होता है ऐसा कहते है। यह भाष्य का वचन है। इस कारण 'स स्कर्ता' यह रूप सिद्ध होता है। यह लोप भी रूपकरण में किया गया है, इस कारण पूर्व दो सूत्रों से अनुनासिक एवं अनुस्वारागम युक्त एक सकारवान् रूपद्वय हुए। सँस्कर्ता, संस्कर्ता। दो सकार वाले रूप प्रथम कहे गये है। तत्र = द्विसकार युक्त दो रूपों में सकार का 'अनचि च' से विकल्प द्वित्व से तीन सकार वाले अनुनासिक के तीन रूप हुए। अनुनासिकत्व यहाँ अच्वृत्तिधर्म विशेष है, बर्णान्तर नहीं है, वह अच् है, किन्तु अनुस्वार वर्णान्तर है, उसमें सम्प्रति अच्त्व नहीं है अतः यत्न करते है कि वह (अनुस्वार) अच् कहा जाय—यत्न प्रकार—'अनुस्वार—विसर्ग—जिह्वामूलीय—उपध्मानीय—यम' इनका अकार के उपरि पाठ है, एवं शर् में पाठ है, अतः अनुस्वार भी अच् है, ऐसा मानकर अनुस्वार वाले तीन रूप में जो सकार है, उस सकार का द्वित्व से तीन सकारवाला, दो सकारवाला एक सकारवाला अनुस्वार घटित तीन इस प्रकार छ रूप दोनों के मिल कर हुए (३ ३) अनुनासिक वाले तीन रूप में ककार का 'शरः खयः' से वैकल्पिक द्वित्व से द्वित्व द्वित्वाभाव से एक ककार दो ककार युक्त छः रूप हुए। अनुस्वार युक्त जो तीन रूप हैं उनके ककार का भी विकल्प द्वित्व से एक ककार के तीन, दो ककार के तीन, छः रूप हुए। अनुस्वार का शर् के उपरि पाठ होने से उसे यर् मान कर उसका (अनुस्वार) द्वित्व से एवं द्वित्वाभाव से १२ रूप केवल अनुस्वार घटित के हुए। अनुनासिक के छः रूप सिद्ध हो चुके हैं मिलाकर अठारह रूप हुए। इनमें तकार का 'अचो रहाभ्याम्' से विकल्प द्वित्व किया। पुनः 'यणो मयो द्वे वाच्ये" से विकल्प तकार का द्वित्व से १८ एक तकार घटित, १८ दो तकार युक्त, १८ तीन तकार युक्त, ५४ रूप। उनके अन्त्य अच् को अणोऽप्रगृह्यस्य' से वैकल्पिक अनुनासिक हुआ। पक्ष में अननुनासिक से १०८ रूप हुए।

१३९—पुमः खय्यम्परे ८।३।६।

अम्परे खयि पुम्शब्दस्य रुः स्यात् । व्युत्पत्तिपक्षे 'अप्रत्ययस्ये'ति षत्वपर्युदासात् ᳲकᳲपयोः प्राप्तौ । अव्युत्पत्तिपक्षे तु षत्वप्राप्तौ संपुंकानामिति सः । पुँस्कोकिलः । पुंस्कोकिलः । पुँस्पुत्रः । पुंस्पुत्रः । अम्परे किम् । पुंक्षीरम् । खयि किम् । पुंदासः । ख्याञादेशे न । पुंख्यानम् ।

अम् प्रत्याहार बोध्य वर्ण परे है जिससे ऐसा खय् प्रत्याहार बोध्य वर्ण पर में हो तो पुम् शब्द के अन्त्य अल् के स्थान में उकारेत्संज्ञक र् होता है।

रुत्व करण के कारण वैकल्पिक अनुनासिक करना, उसके अभाव में अनुस्वारागम। इससे म् को र् पुँर् कोकिलः। पुंर् कोकिलः। रेफ का 'खरवसानयोः' से विसर्ग। शब्दों का ज्ञान दो प्रकार से होते हैं—१ व्युत्पत्तिपक्ष से, २ अव्युत्पत्तिपक्ष से। १ प्रकृतिप्रत्यय ज्ञानपूर्वक शास्त्रों की प्रवृत्ति। २ प्रकृति-प्रत्यय होते हुए भी शास्त्रप्रवृत्ति समय उनका ज्ञानाभाव पूर्वक शास्त्र की (रुढि की तरह भान कर) प्रवृत्ति। उणादि में दो पक्ष भाष्य सम्मतः। यथा 'शङ्खः' 'शण्ढः' यहाँ 'आयने' सूत्र से ख को ईन् एवं ढ को एय् आदेश प्रवृत्ति की शङ्काकर भाष्यकार ने कहा कि "उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि" अतः तत् तत् कार्य न हुए। इस पक्ष को स्वीकार करने पर 'अयामन्ता' सूत्र में अय् विधानार्थ क्रियमाण आलु आय्य इत्नु इष्णु व्यर्थ होगें, उनके ग्रहण सामर्थ्य से एवं "इसुसोः सामर्थ्ये" से "अव्युत्पन्नान्यपि" अर्थात् अपि से व्युत्पति पक्ष भी है। १ यहाँ व्युत्पत्ति पक्ष में पा धातु से डुम्सुन् प्रत्यय हैं। ड् स् उ न् इत्संज्ञक हैं। उम् मात्र अवशिष्ट रहता है पा की टि आकार का लोप पुम्स् सकार का संयोगान्त लोप 'पुम्' यहाँ प्रत्यय के अवयवभिन्न म् स्थान में रेफ होकर विसर्ग नहीं है, किन्तु प्रत्ययावयव सम्बन्धी विसर्ग है, अतः 'इदुदुपधस्य' से षकार अप्राप्त हैं। किन्तु ककार पर में रहे वहाँ विसर्ग को जिह्वामूलीय प्राप्त है। पकार पर में रहे वहाँ उपध्मानीय प्राप्त हैं, उनको बाधकर 'संपुंकानाम् *' से सकारादेश विसर्ग को हुआ। २ अव्युत्पत्ति पक्ष में षकार प्राप्त है उसको बाधकर विसर्ग को सकारादेश हुआ। पुम् कोकिलः—पुर् कोकिलः पुँर् कोकिलः, पुंर् कोकिलः विसर्ग सकार = पुँस्कोकिलः। पुंस्कोकिलः। यह दो रूप हुए। कोयल पक्षियों में नर। १-२ पक्ष में क्रमशः जिह्वामूलीय एवं षत्व न हुआ किन्तु वा० से स् ही हुआ। इसी प्रकार 'पुम् पुत्रः' यहाँ र् अनुनासिक पक्ष में अनुस्वार, र् का विसर्ग कर उपध्मानीय प्राप्त था, उसको बाध कर वार्तिक से सकारादेश दो रूप १ पुँस्पुत्रः २ पुंस्पुत्रः। अर्थ वीर पुत्र है। पुम् क्षीरम् में अम्परक य् न होने से मकार का 'मोऽनुस्वारः' से अनुस्वार पुंक्षीरम् = दुध का स्वामी पुरुष है। स्त्री नहीं है। पुम् दास में दकार खय् नहीं है अतः अनुस्वार। पुरुष स्वामी है जिसका ऐसा दास।

व्यक्तार्थक चक्ष धातु से ल्युट् प्रत्यय यु की अनादेश धातु को ख्याञ् आदेश। 'पुम् ख्यानम्' यहाँ 'पुमः' सूत्र से उकारेत्संज्ञक र् न हुआ, क्योंकि आदेश चक्ष के स्थान में जो हुआ है वह ख्शाञ् है। असिद्ध काण्डस्थ 'शस्य यो वा' से तालव्यशकार को यकारादेश विकल्प से है, वह यकारादेश 'पुमः' सूत्र की दृष्टि में असिद्ध है, अतः अम् परक खय् नहीं, क्योंकि शकार अम् में नहीं है, अप्राप्त रुत्व का ही बोधक वचन 'ख्याञादेशे न' है, अपू. न ही है। 'ख्या प्रकथने' का सार्वधातुक में ही प्रयोग है। अतः प्रकथनार्थक से ल्युट् प्रत्यय नहीं है, 'नमः ख्यात्रे' यहाँ जिह्वामूलीय के वारणार्थ भाष्यकार ने 'ख्श् आञ्' आदेश को मान कर श् को य् असिद्ध है, अतः 'श र्परे खरि' से विसर्ग ही रहा, यहाँ यह भाष्य प्रमाण है। अर्थ पुरुष का वर्णन।

१४०—नश्छव्यप्रशान् ८।३।७।

अम्परे छवि नकारान्तस्य पदस्य रुः स्यात्, न तु प्रशान् शब्दस्य। विसर्गः। सत्वम्। श्चुत्वम्। शार्ङ्गिँश्छिन्धि। शार्ङ्गिंश्छिन्धि। चक्रिँस्त्रायस्व। चक्रिंस्त्रायस्व। पदस्य किम्। हन्ति। अम्परे किम्। सन्त्सरुः; त्सरुः—खड्ग-मुष्टिः। अप्रशान् किम्। प्रशान् तनोति।

अम् जिस के आगे दो ऐसे छव् पर में रहे तो नकारान्त पद के अन्त्य अल् को उकारेत् र् होता है, किन्तु प्रशान् शब्द वैसा रहते हुए भी उसके अन्त्य अल् नकार को र् नहीं होता है। 'शार्ङ्गिन् छिन्धि' यहाँ र् विसर्ग सकार श्चुत्व अनुनासिक, अनुस्वार कार्य से मूलोक्त दो रूप हुए। अर्थ—

हे कृष्ण भवसागर के बन्धनों का विदारण करो। 'चक्रिन् त्रायस्व' नकार को र् अनुनासिक, अनुस्वार उसका 'खरवसानयोः' से विसर्ग उसका 'विसर्जनीयस्य' से सकार उसको श्चुत्व से शकार दो रूप। हन्ति में नकार पदान्त नहीं अतः इस से रु नहीं हुआ। सन् त्सरुः यहाँ अम् पर में नहीं है र् न हुआ। सूत्र में 'अप्रशान्' ग्रहण से 'प्रशान् तनोति' यहाँ नकार को र् न हुआ।

१४१ नॄन्पे ८।३।१०।

नॄन् इत्यस्य रुः स्याद् वा पकारे परे।

यहाँ नॄन् ऋकारान्त नृ शब्द के द्वितीया का बहुवचन का अनुकरण है। निमित्त 'पे' में अकार उच्चारणार्थ ही है विवक्षित नहीं है 'प' 'पि' 'पु' कोई पर में रहें पकार से अव्यवहित पूर्व नॄन् के अन्त्य अल् को विकल्प से रु (र्) आदेश होता है। यहाँ विकल्पार्थक 'उभयथा' की अनुवृत्ति है।

१४२ कुप्वोः ≍क≍पौ च ८।३।३७।

कवर्गे पवर्गे च परे विसर्जनीयस्य क्रमाज्जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ स्तः, चाद् विसर्गः। 'येन नाप्राप्त' इति न्यायेन 'विसर्जनीयस्य सः' इत्यस्यापवादोऽयम्, न तु 'शर्परे विसर्जनीयः' इत्यस्य। तेन 'वासः क्षौममि'त्यादौ विसर्ग एव।

कवर्ग या पवर्ग के वर्ण से पूर्व विसर्ग को क्रमशः जिह्वामूलीय एवं उपध्मानीय होते हैं। सूत्र में चकार से पक्षमें विसर्ग की स्थिति रहती है।

विमर्श—न्याय का पूर्ण स्वरूप = "येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति"। जिस कार्य की अवश्य प्राप्ति में जिसका आरम्भ किया जाता है, वह उस कार्य का (उस कार्य विधायक शास्त्र का) अपवाद = (बाधक) होता है। एवं अपवाद की अप्राप्ति स्थल में जो चरितार्थ है एवं अपवाद के विषय में भी कार्यार्थ प्रवृत्त है वह बाध्य है। बाध्य शास्त्र को बाधक रोकता है। अन्यथा विशेष शास्त्र व्यर्थ ही होगा। यथा—'रामाणाम्' यहाँ सुडागम की अप्रवृत्ति है वहाँ नुडागम चरितार्थ है। सर्व आम् यहाँ 'सुट्' 'नुट्' दोनों की एक समय प्राप्ति है अतः विशेषवचन से सामान्य वचन का बाध होने से सुट् ही हुआ 'सर्वेषाम्' में। प्रकृत में 'कुप्वोः' शास्त्र के विषय में अवश्य प्राप्त 'विसर्जनीयस्य सः' उसका ही यह बाधक है। कादाचित्क = कभी कभी प्राप्त (शर्परे विसर्जनीयः)का बाधक नहीं है, अतः रेशमी वस्त्रार्थक 'वासः क्षौमम्' यहाँ विसर्ग का 'शर्परे' से विसर्ग ही रहा। कवर्ग का ककार परमें रहते भी जिह्वामूलीय न हुआ। सामान्य शास्त्र को बाध्य कहते हैं। विशेष शास्त्र को बाधक कहते हैं (विशेषशास्त्रोद्देश्यवृत्तिसामान्यधर्मावच्छिन्नोद्देश्यताकशास्त्रस्य विशेषशास्त्रेण बाधः) (परि० शे०)

यहाँ पाँच रूप होते हैं। 'नॄन् पाहि' यहाँ 'नॄन् पे' से रु (र्) रेफ का विसर्ग 'खरवसानयोः' से, अनुनासिक, अनुस्वार कर विसर्ग का विसर्जनीयस्य से सकार प्राप्त था उसको बाधकर 'कुप्वोः' से उपध्मानीय हुआ पक्षमें विसर्ग, रुत्व के अभाव में—१ नॄँ≍ पाहि। २ नॄं≍ पाहि। ३ नॄँः पाहि। ४ नॄंः पाहि। ५ नॄन्पाहि।

१४३ कानाम्रेडिते ८।३।१२।

कान् नकारस्य रुः स्यादाम्रेडिते परे। 'संपुंकानामि'ति सः। यद्वा।

द्विरुक्त के पर भाग की अम्रेडित संज्ञा होती है। आम्रेडित संज्ञक शब्द पर में रहे तो कान् का अन्त्य अल् को रु (र्) होता है। विसर्ग के बाद जिह्वामूलीय को बाधकर 'संपुकानाम्' से कान् सम्बन्धी विसर्ग को सकारादेश ही होता है। अथवा

१४४ कस्कादिषु च ८।३।४८।

एष्विण उत्तरस्य विसर्गस्य षः स्यात्, अन्यस्य तु सः। ≍ क ≍ पयोरपवादः। इति सः। काँस्कान्। कांस्कान्। कस्कः। कौतस्कुतः। सर्पिष्कुण्डिका। धनुष्कपालम्। आकृतिगणोऽयम्।

कस्कादिगण पठित शब्दों के अवयव इण् से उत्तर विसर्ग को षकार आदेश होता है, यदि इण् से उत्तर विसर्ग न रहे तो भी विसर्ग को सकार आदेश होता है। यह अपवाद (बाधक है) जिह्वामूलीय उपध्मानीय विधायक शास्त्र बाध्य है। पुंलिङ्ग किम् शब्द के द्वितीया बहुवचन में कान् रूप होता है, उसका 'नित्यवीप्सयोः' से द्वित्व कान् कान्, पर कान् की तस्य परमाम्रेडितम् से आम्रेडितसंज्ञा, तत्संज्ञक कान् के नकार को रु (र्) अनुनासिक, अनुस्वार र् का विसर्ग के पश्चात् संपुकानाम् से या 'कस्कादिषु' से सकार रूपद्वय। किन किन् को। (कः कः) यहाँ विसर्ग को सकारादेश। 'कुतः कुतः आगतः' इस अर्थ में द्वित्व अण् प्रत्यय, वृद्धि विसर्ग को सकारादेश। अर्थ=कहाँ का कहाँ का। किम् शब्द पञ्चम्यन्त से तसिल् प्रत्यय किम् को कु आदेश से 'कुतः' अव्यय है; द्वित्वादि। घी का पात्र अर्थ में सुप् इस् गुण सर्पिस् कुण्डिका सकार को रुत्व विसर्ग, विसर्ग को सकारादेश प्राप्त था उसको बाध कर इण् के उत्तर विसर्ग को षकारादेश हुआ। धनुष की रस्सी अर्थ में धनुः कपालः में विसर्ग को षकार। कस्कादि आकृतिगण है। गणपाठ अन्त में दिया जायगा।

१४५ संहितायाम् ६।१।७२।

इत्यधिकृत्य।

यह अधिकार सूत्र है। इसके पर सूत्रों में इसका सम्बन्ध होकर उन सूत्रों से विधीयमान कार्य संहिता में ही होंगे। जहाँ असंहिता की विवक्षा है वहाँ वे कार्य नहीं होते हैं। संहिता एकपद में नित्य है। धातु तथा उपसर्ग की संहिता नित्य है। समास में संहिता नित्य है। यहाँ समास उपलक्षण है वृत्तिमात्र में संहिता नित्य है। वाक्य में तो उच्चारयिता पुरुष की इच्छा के अधीन संहिता या उसका अभाव है। 'परः सन्निकर्षः संहिता' सूत्र संहिता संज्ञा विधायक है वस्तुतः वह व्यर्थ है। लोकव्यवहार मात्र में संहिता ज्ञान होता है।

१४६ छे च ६।१।७३।

ह्रस्वस्य छे परे तुगागमः स्यात् संहितायाम्। श्चुत्वस्यासिद्धत्वाज्जश्त्वेन दः। ततश्चर्त्वस्यासिद्धत्वात् पूर्वं श्चुत्वेन जः। तस्य चर्त्वेन चः। चुत्वस्यासिद्धत्वा'च्चोः कुरि'ति कुत्वं न। स्वच्छाया। शिवच्छाया।

छकार पर में रहे वहाँ ह्रस्व को तुक् आगम होता है संहिता में। जहां 'स्तोः श्चुना श्चुः' से श्चुत्व एवं 'झलां जशोऽन्ते' से जश्त्व एक समय प्राप्त रहे वहाँ श्चुत्व 'पूर्वत्र' सूत्र से असिद्ध है। अतः प्रकृत में जश्त्व से तकार को दकार करना। एवं 'खरि च' एवं श्चुत्व दोनों एक समय दकार को प्राप्त रहें वहाँ चर्त्व असिद्ध है। दकार को चुत्व से जकारादेश करना, पश्चात् जकार को 'खरि च' से चर्त्व करना। 'खरि च' से विधीयमान चर्त्व असिद्ध होने से 'चोः कुः' से कुत्व नहीं होता है।

'स्व छाया' 'छे च' से तुक् आगम (उक् की इत् संज्ञा लोप) स्वत् छाया यहाँ पूर्वोक्त क्रमसे जश्त्व से दकार, चुत्व से जकार, चर्त्व से चकार, इस चकार को असिद्धत्वेन कुत्वाभाव क्रमशः 'त् द् ज् च्' से स्वच्छाया = अपनी छाया। 'शिव छाया' में त् द् ज् च् से शिव की छाया में शिवच्छाया।

१४७ आङ्माङोश्च ६।१।७४।

एतयोश्छे परे तुक् स्यात्। 'पदान्ताद्वा, इति विकल्पापवादः। आच्छादयति। मा च्छिदत्।

छकार परमें रहे तो ङकारेत्संज्ञक आ एवं मा को तुक् आगम होता है। 'पदान्तात्' सूत्र का यह बाधक वचन है। अतः उदाहरणों में विकल्प तुक् उससे न होगा। ढकता है इस अर्थ में आङ् का आ पर में छादयति यहाँ तुक् (तकार) त् द् ज् च् पूर्ववत् कार्य करना। मत ढको अर्थमें निषेधार्थक ङित मा के योग में अट् आगम न हुआ मा छिनत् त् द् ज् च् हुए।

१४८ दीर्घात् ६।१।७५।

दीर्घाच्छे परे तुक् स्यात्। दीर्घस्यायं तुक्, न तु छस्य। 'सेनासुराच्छाये'ति ज्ञापनात्। चेच्छिद्यते।

छकार पर में रहे तो दीर्घ को तुक् आगम होता है। उकार ककार की इत्संज्ञा लोप से त् मात्र फिर फिर (पुनः पुनः) काटा जाता है इस अर्थ में 'चेच्छिद्यते' यहाँ एकाररूपदीर्घ को तकार हुआ, द् ज् च् पूर्ववत् से 'चेच्छिद्यते' प्रयोग की सिद्धि हुई। सूत्र में सुरा = छाया निर्देश से दीर्घ को ही तुक् दीर्घ का अन्त्यावयव होता है यदि छकार को तुक् होता तो 'आद्यन्तौ' सूत्र सहयोग से छकार के बाद छकार का ही अवयव होता सूत्र निर्देश असङ्गत होने से मूलकार लिखते कि दीर्घ को ही तुक् होता है।

१४९. पदान्ताद् वा ६।१।७६।

दीर्घात् पदान्ताच्छे परे तुग्वा स्यात्। लक्ष्मीच्छाया। लक्ष्मी छाया।

इति हल्सन्धिप्रकरणम्।

छ से पूर्व दीर्घान्तपदान्त के अन्त्य अल् को तुक् आगम विकल्प से होता है। वह दीर्घ का अन्त्य अवयव ईकार है। लक्ष् से ईकार प्रत्यय मुट् आगम से लक्ष्मी छाया यहाँ त् द् ज् च् लक्ष्मीच्छाया। पक्षमें लक्ष्मी छाया = लक्ष्मी की छाया = कृपा। लक्ष्मी का ईकार ङीप् ङीष् ङीन् का नहीं है अतः प्रथमा एकवचन में विभक्ति का लोप न होकर विसर्ग से 'लक्ष्मीः' रूप बनता है।

रत्नप्रभा व्याख्या में हल्सन्धि (व्यञ्जनसन्धि) प्रकरण समाप्त।

अथ विसर्गसन्धिः ९

विसर्जनीयस्य सः ८।३।३४।

विष्णुस्त्राता ।

विसर्ग के स्थान में सकारादेश होता है खर् पर में रहे तो ।

विसर्गः = विसृज्यते शब्दोऽनेनेति विसर्गः । वि उपसर्गपूर्वक सृज् धातु से करण अर्थ में घञ् प्रत्यय है । प्रायः अवसान में ही विसर्ग का श्रवण होता है अतः विसर्ग शब्द अवयवार्थबोधक होते हुए समुदाय अर्थ का प्रत्यायक होने से योगरूढ है । विसर्ग से पदों का पृथक् करण होता है । पद विभाग का कारण प्रायः होने से उसका अन्वर्थ नाम विसर्ग है ।

विष्णुस्त्राता, विसर्ग को सकारादेश । रक्षा करने वाले विष्णु ।

१५० शर्परे विसर्जनीयः ८।३।३५।

शर्परे खरि विसर्जनीयस्य विसर्जनीयः, न त्वन्यत् । कः त्सरुः । 'घनाघनः क्षोभणः । इह यथायथं सत्वं जिह्वामूलीयश्च न ।

शर् है पर में जिसको ऐसा खर् पर में रहे वहां विसर्ग का विसर्ग रहता हैं । अर्थात् अन्य-प्राप्त कार्य नहीं होते हैं । पूर्व से विसर्जनीय की अनुवृत्ति आती पुनः इस सूत्र में विसर्जनीय शब्द के उच्चारण से अधिकार्थ की प्रतीति होकर अन्य कार्य का सर्वथा अभाव बोधन किया । 'अधिकम् अधिकार्थम्' न्याय से । कः त्सरुः यहां सकार आदेश विसर्ग को न हुआ । अर्थ—कौन सी तलवार की मूठ । 'घनाघनः क्षोभणः' यहां विसर्ग का विकल्प से जिह्वामूलीय न हुआ । इन्द्रप्रेरक ।

१५१ वा शरि ८।३।३६।

शरि परे विसर्जनीयस्य विसर्जनीय एव वा स्यात् । हरिश्शेते । हरिः शेते । ❀ खर्परे शरि वा विसर्गलोपो वक्तव्यः ❀ । रामस्थाता । रामः स्थाता । हरिस्फुरति । हरिः स्फुरति । पक्षे विसर्गे सत्वे च त्रैरूप्यम् । कुप्वोः ᳵकᳶपौ च । कᳵकरोति । कः करोति । कᳵखनति । कः खनति । कᳶपचति । कः पचति । कᳶफलति । कः फलति ।

शर् परक विसर्ग का विसर्ग ही रहता है विकल्प से । सादेश का यह सूत्र बाधक है । हरिः शेते पक्ष में विसर्ग को स्, सकार को श्चुत्व से शकार हरिश्शेते = हरि शयन करते हैं ।

खर् है पर में जिसके ऐसा शर् पर में रहे तो विकल्प से विसर्ग का लोप होता है । यहां तीन रूप होंगे । १ विसर्ग का लोप २ लोपाभाव में वा शरि से विकल्प सकार । ३ विसर्गयुक्त । कवर्ग या पवर्ग परक विसर्ग का क्रमशः जिह्वामूलीय एवं उपध्मानीय होता है पक्ष में विसर्ग से दो रूप उदाहरणार्थ स्पष्ट हैं किम् शब्द प्रश्नार्थक है ।

१५२ सोऽपदादौ ८।३।३८।

विसर्जनीयस्य सः स्यादपदाद्योः कुप्वोः परयोः । ❀ पाशकल्पककाम्येष्विति वाच्यम् ❀ पयस्पाशम् । यशस्कल्पम् । यशस्कम् । यशस्काम्यति । ❀ अन-

व्ययस्येति वाच्यम् ॐ प्रातः कल्पम् । ॐ काम्ये रोरेवेति वाच्यम् ॐ । नेह—गीः काम्यति ।

द्विवचनान्त कुप्वोः के साथ अन्वय के लिए 'अपदादौ' का विभक्ति विपरिणाम है । अपदादि कवर्ग पवर्ग पूर्वक विसर्ग को सकारादेश होता है । अपदादि कवर्ग पवर्ग का सम्भव पाशप् प्रत्यय, कल्पप् प्रत्यय, कप्रत्यय एवं काम्यच् प्रत्यय पर में ही प्रायः है वहां इनके पर में विसर्ग को सकारादेश होता है । कुत्सित दूध अर्थ में निन्दा में पाशप् (पाश) प्रत्यय है पयः पाशम् में विसर्ग का सकारादेश । यशः कल्पम् । यहां ईषदसमाप्ति में कल्पप् प्रत्यय, पूर्व विसर्ग का स् । यश के समान ।

अल्प अर्थ में कन् यशः कम् स् । यशस्कम् = अल्पयश । यश की इच्छा करता है उस अर्थ में यहां इच्छार्थक काम्यच् प्रत्यय हुवा है, विसर्ग को स् से यशस्काम्यति । प्रातःकाल के कुछ पूर्व अर्थ में प्रातः कल्पम् , यहां अव्ययसम्बन्धी विसर्ग होने से सकारादेश नहीं हुआ विसर्ग का ही श्रवण हुआ । काम्यच् प्रत्यय परक रु के रेफ का ही विसर्ग जहां होगा वहां ही विसर्ग को सकारादेश होता है । वाणी की इच्छा रखता है इस अर्थ में गीः काम्यति यहाँ 'गीः' शब्द इस प्रकार बना है—गॄ से क्विप्, 'ऋत इद्' से इत्व रपर् दीर्घ गीर् रेफ का विसर्ग यह विसर्ग रुसम्बन्धी रेफ स्थानी नहीं है । अतः काम्यप्रत्यय पर में रहे वहां विसर्ग का सकारादेश न हुआ । गीः काम्यति ।

१५३ इणः षः ८।३।३९।

इणः परस्य विसर्गस्य षकारः स्यात् पूर्वविषये । सर्पिष्पाशम् । सर्पिष्कल्पम् । सर्पिष्कम् । सर्पिष्काम्यति ।

पाश-कल्प-क-काम्य इनके पूर्व इण से उत्तर विसर्ग को षकारादेश होता है । पूर्वोक्त चारों में विसर्ग को षकारादेश हुआ । १ खराब घी, २ घी के समान, ३ थोड़ा घी । ४ घी की इच्छा करता है ।

१५४ नमस्पुरसोर्गत्योः ८।३।४०।

गतिसंज्ञयोरनयोर्विसर्गस्य सः कुप्वोः परयोः । नमस्करोति । साक्षात्प्रभृतित्वात् कृञो योगे विभाषा गतिसंज्ञा । तदभावे = नमः करोति । 'पुरोऽव्ययम्' इति नित्यं गतिसंज्ञा । पुरस्करोति । अगतित्वान्नेह—पूः पुरौ पुरः, प्रवेष्टव्याः ।

कवर्ग पवर्ग पर में रहें तो गतिसंज्ञा युक्त नमस् पुरस् शब्दावयव विसर्ग को सकारादेश होता है । यहां नमस् की गतिसंज्ञा कृञर्थयोग में 'साक्षात्प्रभृतिषु च' से है ।

नमस् करोति में सकार को रुत्व रेफ का विसर्ग होने से सकार में नमस् का अवयवत्व है वह रेफ में तदवयवत्व विसर्ग में होने से विसर्ग भी अवयव गतिसंज्ञक का है । नमस्करोति । पक्ष में गतिसंज्ञा न होने से नमः करोति । नमन करता है । नमन = प्रणाम । अव्यय पुरस् की गतिसंज्ञा पुरः करोति पुरस् करोति=आगे करता है । अव्ययभिन्न पुरः प्रवेष्टव्या में पुरस् है अतः विसर्ग को सकारादेश न हुआ, प्रवेश करने योग्य नगरी ।

१५५ इदुदुपधस्य चाप्रत्ययः ८।३।४१।

इकारोकारोपधस्याप्रत्ययस्य विसर्गस्य षः स्यात्कुप्वोः । निष्प्रत्यूहम् । आविष्कृतम् । दुष्कृतम् । 'अप्रत्ययस्य' किम् । अग्निः करोति । वायुः करोति ।

एकादेशशास्त्रनिमित्तकस्य न षत्वम् , कस्कादिषु भ्रातुष्पुत्रस्य पाठात् । तेनेह— न—मातुः कृपा । ❀ मुहुसः प्रतिषेधः ❀ मुहुः कामा ।

ह्रस्व इकार या ह्रस्व उकार है उपधा में जिसके ऐसा अप्रत्यय रूप (प्रत्यय भिन्न या प्रत्ययावयवभिन्न) विसर्ग उसके स्थान में षकारादेश होता है कवर्ग या पवर्ग के वर्ण पर में रहे तो । निः प्रत्यूहम् यहां अन्त्य अल् विसर्ग उसे पूर्व इकार की उपधा संज्ञा है इकार ह्रस्व भी है निर् उपसर्ग के रेफ के स्थान का विसर्ग अप्रत्ययरूप है निमित्त पकार पर में है अतः विसर्ग को षकारादेश हुआ निष्प्रत्यूहम् = विघ्नरहित । आविः कृतम् षकारादेश आविष्कृतम् = प्रकटित । दुःकृतम् विसर्ग को षकार । दुष्कृतम् = बुरा कर्म । 'अग्निः करोति' यहां सु के सकार प्रत्यय है, उसके स्थान में रेफ स्थानिवद्भाव से प्रत्यय है, रेफ में प्रत्ययत्व स्था० भा० से विसर्ग में यहां अप्रत्ययरूप विसर्ग नहीं किन्तु प्रत्ययरूप है अतः विसर्ग को षकारादेश न हुआ । इसी प्रकार वायुः करोति यहां भी षकारादेश न हुआ ।

विमर्श—एकादेशशास्त्रनिमित्तकस्य—तात्पर्य यह—एकादेशशास्त्र साक्षात् या परम्परा से निमित्त है जिसका ऐसा विसर्ग, ह्रस्व इकार, या ह्रस्व उकार से पर रहें वहां षकारादेश नहीं होता है । इसमें प्रमाण है—कस्कादि गण में षकारादेशविधानार्थ भ्रातुष्पुत्र का पाठ ही । पूर्वोक्त वचन अस्वीकार करने पर 'भ्रातुष्पुत्रः' में 'इदुदुपधस्य' से ही षकारादेश विसर्ग को होता भ्रातुष्पुत्रः का पाठ वहां व्यर्थ होता । अतः 'मातुः कृपा' में षकार न हुआ । 'मातुः' रूप की सिद्धि प्रकार-मातृ अस् यहां ऋकार एवं अकार इन दोनों को 'ऋत उत्' से उकारादेश रपर है—मातुर्स् संयोगसंज्ञा से प्रत्ययसम्बन्धी या प्रत्यय स् अवशिष्ट था उसका संयोगान्त लोप हो गया । रपर वाले रेफ् अप्रत्ययस्वरूप है उसी का विसर्ग हुआ है । यहां एकादेशशास्त्र = 'ऋत उत्' वह रेफोत्पत्तिद्वारा विसर्ग में परम्परा से निमित्त है, अतः यहां विसर्ग को ज्ञापक से ज्ञाप्यवचन से षकारादेश न हुआ । 'शकहूषु' इस भाष्यप्रयोग से यहां 'षत्वतुकोः' शास्त्र की प्रवृत्ति न हुई, अतः एकादेशशास्त्र सिद्ध है । वह सूत्र पदान्त-पदादि का जहां एकादेश होता है वहां एकादेश शास्त्र को असिद्ध करता है ।

मुहुस् सम्बन्धी विसर्ग में पूर्ववर्णित सूत्र षत्व नहीं करता है । फिर इच्छा करने वाली इस अर्थ में 'मुहुः कामा' यहां षकारादेश न हुआ ।

१५६ तिरसोऽन्यतरस्याम् ८।३।४२।

तिरसो विसर्गस्य सो वा स्यात् कुप्वोः । तिरस्कर्ता । तिरः कर्ता ।

तिरस् शब्दसम्बन्धी विसर्ग का सकार विकल्प से होता है कवर्ग पवर्ग पर में रहे तो। तिरस्कर्ता=तिरस्कार करने वाला । पक्षमें तिरः कर्ता ।

१५७ द्विस्त्रिश्चतुरिति कृत्वोऽर्थे ८।३।४३।

कृत्वोऽर्थे वर्तमानानामेषां विसर्गस्य षकारो वा स्यात् कुप्वोः । द्विष्करोति । द्विः करोति, इत्यादि । 'कृत्वोऽर्थे' किम् , चतुष्कपालः ।

क्रिया को बार बार दुहराने के अर्थ में कृत्वसुच्प्रत्यय एवं सुच्प्रत्यय संख्यावाचक शब्दों से होते हैं । सुच्प्रत्यय कृत्वसुच् का बाधक है, वह द्वि, त्रि, चतुःशब्द से होता है । कृत्वसुच्प्रत्यय के अर्थ में विधीयमान सुच् प्रत्ययान्त द्विस् त्रिस् एवं चतुःशब्दसम्बन्धी विसर्ग को षकार विकल्प से होता है कवर्ग पवर्ग पर में रहे तो । द्विस् करोति स् को र् रेफ का विसर्ग, उसको विकल्प से

षकार पक्ष में विसर्ग ही दो रूप। दो बार क्रिया करता है। चतुःकपाल में सुच्प्रत्यय नहीं अतः 'इदुदुपधस्य' से नित्य षकारादेश चतुष्कपालः = चार पात्रों में संस्कृत हविः (पुरोडाश)।

१५८ इसुसोः सामर्थ्ये ८।३।४४।

एतयोर्विसर्गस्य षः स्याद्वा कुप्वोः। सर्पिष्करोति, सर्पिः करोति। धनुष्करोति, धनुः करोति। सामर्थ्यमिह व्यपेक्षा। 'सामर्थ्ये' किम्। तिष्ठतु सर्पिः, पिब त्वमुदकम्।

इस् उस् सम्बन्धी विसर्ग को षकार होता है कवर्ग पवर्ग पर में रहे तो व्यपेक्षारूप सामर्थ्य में। षकारयुक्त, एवं विसर्गयुक्त दो रूप हुए। १ घी बनाता है। २ धनुष् बनाता है। सामर्थ्य दो प्रकार के हैं १—व्यपेक्षा एवं २—एकार्थीभाव। व्यपेक्षा = अन्वय बोध होने के निमित्त शब्दविशेष की विशेष अपेक्षा होना है।

स्वार्थपर्य्यवसायिनां पदानामाकाङ्क्षादिवशात्परस्परं सम्बन्धः सा व्यपेक्षा। २ विशेष्यविशेषणभावापन्न होकर एक विशिष्टार्थ (समुदायार्थ) जहां प्रतीति रहे उसको एकार्थीभावरूप सामर्थ्य कहते हैं (देखिए पञ्चोलिविरचित वैयाकरणभूषण की प्रभा टीका)। "तिष्ठतु सर्पिः, पिब त्वमुदकम्" यहां सर्पिः पदार्थ का पान क्रिया में अन्वय नहीं है, अतः सामर्थ्याभाव से षकारादेश विसर्ग को न हुआ।

१५९ नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्य ८।३।४५।

इसुसोर्विसर्गस्यानुत्तरपदस्थस्य समासे नित्यं षः स्यात् कुप्वोः परयोः। सर्पिष्कुण्डिका। 'अनुत्तरपदस्थस्ये'ति किम्। परमसर्पिःकुण्डिका। कस्कादिषु सर्पिष्कुण्डिकाशब्दोऽसमासे व्यपेक्षाविरहेऽपि षत्वार्थः। व्यपेक्षायां नित्यार्थश्च।

उत्तर पद में स्थित न हो ऐसे इस् और उस् शब्दों के सम्बन्धी विसर्ग के स्थान में सर्वदा षकार हो कवर्ग पवर्ग पर रहते समास में। घी का पात्र अर्थ में षष्ठीतत्पुरुष समास कर सर्पिः कुण्डिका में विसर्ग के स्थान में षकारादेश। सर्पिष्कुण्डिका। परम सुबन्त का सुबन्त सर्पि के साथ समास कर परमसर्पिः सुबन्त का सुबन्तकुण्डिका के साथ समास से निष्पन्न 'परमसर्पिः कुण्डिका' यहां कर्मधारयसमास का उत्तरपद सर्पिः है अतः यहां विसर्ग को षकारादेश न हुआ। बड़ा घी का पात्र। असमास में एवं व्यपेक्षा के अभाव में षकारादेशार्थ कस्कादि में सर्पिष्कुण्डिका का पाठ है। एवं व्यपेक्षालक्षणसामर्थ्य में नित्य षकारार्थ है। अनेक प्रयोजन है। १—'इदं सर्पिः कुण्डिकायाः' यहां समास नहीं है तो भी विसर्ग को षकारादेश से—इदं सर्पिष्कुण्डिकायाः। २—तिष्ठतु सर्पिष्कुण्डिकामानय। यहां व्यपेक्षा का अभाव है। एवं व्यपेक्षा में नित्य षत्वार्थ है।

१६० अतः कृकमिकंसकुम्भपात्रकुशाकर्णीष्वनव्ययस्य ८।३।४६।

अकारादुत्तरस्यानव्ययस्य विसर्गस्य समासे नित्यं सकारादेशः स्यात् करोत्यादिषु परेषु, न तूत्तरपदस्थस्य। अयस्कारः। अयस्कामः। अयस्कंसः। अयस्कुम्भः। अयस्पात्रम्। अयःसहिता कुशा अयस्कुशा। अयस्कर्णी। 'अतः' किम्। गीः कारः। 'अनव्ययस्य' किम्। स्वः कामः। समासे किम्। यशः करोति। 'अनुत्तरपदस्थस्ये'ति किम्। परमयशःकामः।

ह्रस्व अकार से अव्यवहित उत्तर अव्यय सम्बन्धी भिन्न अनुत्तरपदस्थ विसर्ग को समास में

नित्य सकारादेश होता है। कृ आदि धातु है आदि में जिनके ऐसा उत्तरपद रहे, एवं कंसादि-शब्द उत्तरपद में रहे। 'विष्वग्देवयोः' सूत्रस्थ वप्रत्ययग्रहण ज्ञापन करता है कि "धातुग्रहण जहां किया हो वहां तदादिविधि करना चाहिये।

सूत्र में प्रदर्शित सातो उदाहरणों में सकारादेश विसर्ग का हुआ। क्रम से अर्थ। १—अयस्कारः = लुहार। २—अयस्कामः = लोहा चाहने वाला। ३—अयस्कंसः = लोहे का पात्र। ४—अयस्पात्रम् = लोहे का पात्र विशेष। ५—अयस्कुशा = लोहसहित औदुम्बरशंकु। छन्दोगा ऋषयः = वेदपारङ्गतऋषिगण स्तोत्रसम्बन्धिनी गणना (गिनती) प्रयोजन के लिए उदुम्बर निर्मित शंकुओं की संज्ञा कुशा है ऐसा व्यवहार वे करते थे। कम वैयाकरण इस अर्थ को जानते हैं। केवल प्रक्रियामात्र ही पढ़ाया जाता है। छात्रों को अर्थ ज्ञान न कराने से अनुवाद या संस्कृत-भाषा के मर्मज्ञान से वे वञ्चित रहते हैं। अर्थज्ञान के लिए शब्दप्रयोग होता है, व्यर्थ आयास एवं फलांश में शून्य यह क्रम सम्प्रति अज्ञताप्रयुक्त चल रहा है। जो पढ़ाया जाय या छात्र जो पढ़े दोनों का कर्तव्य है कि अर्थज्ञानप्रयुक्त शब्दज्ञान करावे या करें। ६—अयस्कुम्भः = लोहे का घड़ा। ७—अयस्कर्णी = लोहे का बाण विशेष। 'गीः कार' में विसर्ग अकार के बाद नहीं है। स्वर्ग को चाहने वाला अर्थ में 'स्वः कामः' का विसर्ग अव्ययावयव है। यशः करोति—यहां समास नहीं है। परमयशःकार में उत्तरपदस्थविसर्ग है। बड़ा यश करने वाला।

१६१ अधश्शिरसी पदे ८।३।४७।

एतयोर्विसर्गस्य सादेशः स्यात् पदशब्दे परे। अधस्पदम्, शिरस्पदम्। समास इत्येव। अधः पदम्। शिरः पदम्। अनुत्तरपदस्थस्येत्येव। परमशिरःपदम्। 'कस्कादिषु च' भास्करः।

इति विसर्गसन्धिः।

अधस्शब्दसम्बन्धी एवं शिरस्शब्दसम्बन्धी अनुत्तरपदस्थ विसर्ग को समास में पद शब्द पर रहे सकारादेश होता है। 'अधः पदम्' विसर्ग के स्थान में सकारादेश। अधस्पदम् = नीचे स्थान। शिरस्पदम् = शिरस्थान। समासाभाव में अधः पदम्। शिरः पदम्। 'परमशिरः पदम्' यहां उत्तरपदस्थ विसर्ग है अतः सकारादेश न हुआ।

कस्कादिगणपठित शब्दों में इण् से उत्तर विसर्ग का षकारादेश। इण् से अनुत्तरविसर्ग को सकारादेश होता है। भाः कर—भास्करः। यहां 'अतः कृमि' सूत्र नहीं लगता, वहां अत् में त पर से ह्रस्वाकार का ही ग्रहण है।

सन्धानार्थकसन्धिशब्द का वाच्य अर्थ = संहिता है। संहिता निमित्तककार्य में सन्धिशब्द लाक्षणिक है। संहितानिमित्तकार्य विसर्ग का समास हुआ। अथवा सन्धिनिमित्तकार्यप्रकरण को भी सन्धिशब्द कहता है।

रत्नप्रभा व्याख्या में विसर्गसन्धि प्रकरण समाप्त।

अथ स्वादिसन्धिः ६

'स्वौजसमौट्' इति सुप्रत्यये 'शिवस् अर्च्यः' इति स्थिते—

प्रातिपदिकसंज्ञकशब्दों से स्वादि इक्कीस प्रत्ययों का विधान में सर्वप्रथम सुप्रत्यय हैं, इस लिए इस प्रकरण को स्वादि प्रकरण कहते हैं। विशेषतया 'स्' का कार्य सर्वप्रथम होता है। सु औ जस् अम् औट्' आदि प्रत्ययों में सर्वप्रथम सुप्रत्यय है। न रुप्रत्यय इसका भी ध्वनन किया। सु के स्थान में रु पढ़ेगें तो 'यशोऽत्र' आदि प्रयोगों की सिद्धि न होगी। अतः यथाश्रुत न्यास ही उचित है—अतः 'सुप्रत्यये' लिखा है। शिवस् अर्च्यः—तब।

१६२ ससजुषो रुः ८।२।६६।

पदान्तस्य सस्य सजुषशब्दस्य च रुः स्यात्। जश्त्वापवादः।

पद के अन्त में विद्यमान सकार और सजुष् शब्द के अन्त्य अल् को रु आदेश होता है। यह सूत्र 'झलां जशोऽन्ते' से प्राप्त जश्त्व का अपवाद है। जहां जहां रु आदेश प्राप्त है, वहां सर्वत्र जश्त्व प्राप्त है। 'येन नाप्राप्ते' न्याय से यहां बाध्यबाधकभाव है। सजुष का अर्थ है खेल की गुइयाँ। अनुबन्धरहित की लक्ष्य में उपस्थिति होती है, अतः उकार की इत्संज्ञा लोप होकर लक्ष्य में रेफ भाव का ही आगमन होता है। शिवर् अर्च्यः—

१६३ अतो रोरप्लुतादप्लुते ६।१।११३।

अप्लुतादतः परस्य रोः उः स्यादप्लुतेऽति। 'भोभगोअघो' इति प्राप्तस्य यत्वस्यापवादः। उत्वं प्रति रुत्वस्यासिद्धत्वन्तु न भवति, रुत्वमनूद्य, उत्वविधेः सामर्थ्यात्।

प्लुतभिन्न ह्रस्व अकार से पर रु को उकारादेश होता है प्लुत भिन्न ह्रस्व अकार पर में रहते। यह सूत्र यकारविधायक 'भोभगो' सूत्र का बाधक है। सपाद सप्ताध्याय का उविधायक शास्त्र है, रुविधायक त्रिपादी है। 'पूर्वत्रासिद्धम्' से उकारविधायकशास्त्र की दृष्टि में त्रिपादी रुविधायक असिद्ध यहां नहीं होता है, यदि असिद्ध होता तो रु को उद्देश्य कर उकारविधान व्यर्थ होता 'शिव उ अर्च्यः' ऐसी स्थिति हुई।

१६४ प्रथमयोः पूर्वसवर्णः ६।१।१०२।

अकः प्रथमाद्वितीययोरचि परे पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेशः स्यात्। इति प्राप्ते।

अक् से प्रथमा या द्वितीयाविभक्ति का अवयव अच् पर रहे वहां पूर्वसवर्णदीर्घ पूर्व पर के स्थान में होता है। इससे उकार एवं अ दो के स्थान में आरूपपूर्वसवर्ण प्राप्त है किन्तु इस सूत्र के निषेधार्थ सूत्र—

१६५ नादिचि ६।१।१०४।

अवर्णादचि परे न पूर्वसवर्णदीर्घः। 'आद्गुणः'। 'एङः पदान्तादति'। शिवोऽर्च्यः। 'अतः' इति तपरः किम्। देवा अत्र। 'अति' इति तपरः किम्। श्व आगन्ता। 'अप्लुतात्' किम्। एहि सुस्रोत ३ अत्र स्नाहि। प्लुतस्यासिद्धत्वादतः

परोऽयम् । 'अप्लुतात्' इति विशेषणे तु तत्सामर्थ्यान्नासिद्धत्वम् । तपरकरणस्य तु न सामर्थ्यं दीर्घव्यावृत्त्या चरितार्थत्वात् । 'अप्लुते' इति किम् । तिष्ठतु पय अ ३ ग्निदत्त । 'गुरोरनृतः' इति प्लुतः ।

अवर्ण से इच् पर में रहे वहां पूर्वसवर्णदीर्घ नहीं होता है । शिव उ अर्च्यः यहां पूर्वसवर्ण-दीर्घ निषेध करने पर अ उ का ओकार गुण से शिवो अर्च्यः 'एङः पदान्तादति' से पूर्वरूप शिवोऽर्च्यः । इस ऽ चिह्न का कोई तात्पर्य नहीं है ।

'अतो रोरप्लुतात्' सूत्र में पञ्चम्य अतः है । वह तपर ग्रहण क्यों किया ? तपर न करते तो देवार् अत्र यहां र् को उत्व होता । आकार अत् पद बोध्य न होने से वहां र् को यकार उसका लोप से 'देवा अत्र' बना । सप्तम्यन्त 'अति' यह यहां तपर न करे तो श्वर् आगन्ता यह उकार हो जाता । पञ्चम्यन्त अत् का विशेषण अप्लुतात् न कहते तो सुस्रोत ३ अत्र यहां प्लुत असिद्ध है अतः अत् से पर मानकर रेफ को उत्व होता । पुनः शंका करते हैं कि अप्लुतात् कहने पर भी प्लुत असिद्ध से उकार होना चाहिए, उस पर ग्रन्थकार कहते हैं कि अप्लुतात् कहने से प्लुत असिद्ध नहीं होता है । दीर्घ से पर रेफ को उकार रोकने के लिए 'अतः' का तपर ग्रहणचरितार्थ है व्यर्थ नहीं है वह प्लुत के असिद्धत्वाभाव नहीं बोधन कर सकता है । सूत्र में 'अप्लुते' सप्तम्यन्त न करते तो पयर् अ३ ग्निदत्त यहां प्लुत असिद्ध से अतपरक मान कर उकार होता, उसके वारणार्थ 'अप्लुते' है । अ ३ ग्निदत्त के अकार को गुरोरनृत से प्लुत हुआ है ।

१६६ हशि च ६।१।११४।

अप्लुतादतः परस्य रोः उः स्याद्धशि । शिवो वन्द्यः । रोरित्युकारानुबन्ध-ग्रहणान्नेह—प्रातरत्र । भ्रातर्गच्छ । 'देवास् इह' इति स्थिते । रुत्वम् ।

प्लुत भिन्न ह्रस्व अकार से पर रु को उकारादेश होता है हश् पर रहे । 'शिवस् वन्द्यः' सकार को र् रेफ को उकार 'आद् गुणः' से गुण शिवो वन्द्यः=शिव पूजनीय है । यद्यपि रु में उकारेत्संज्ञक है रु को उद्देश्य करके कार्य रेफ को ही होते हैं तो भी उकारेत्संज्ञक रेफविधीयमानकार्य केवल रेफ जहां उकार की इत्संज्ञा नहीं है वहां कार्य न हो एतदर्थं है, यथा 'प्रातर् अत्र' यहां रेफ को उकार न हुआ । उसी प्रकार भ्रातर्गच्छ में भी उकारादेश न हुआ । देव शब्द के प्रथमाबहुवचन में देव अस् आगे इह है, पूर्वसवर्ण दीर्घ देवास् इह सकार को रेफ देवार् इह यहां—

१६७ भोभगोअघोऽपूर्वस्य योऽशि ८।३।१७।

एतत्पूर्वस्य रोर्यादेशः स्यादशि परे । असन्धिः सौत्रः । 'लोपः शाकल्यस्य' । देवा इह, देवायिह । 'अशि' किम् । देवास्सन्ति । यद्यपीह यत्वस्यासिद्धत्वाद् विसर्गो लभ्यते, तथापि विसर्गस्य स्थानिवद्भावेन रुत्वाद्यत्वं स्यात्, न ह्यय-मल्विधिः, रोरिति समुदायरूपाश्रयणात् । भोस् भगोस् अघोस् इति सका-रान्ता निपाताः । तेषां रोर्यत्वे कृते ।

'भो भगो अघो' एवं अवर्ण से पर रु के स्थान में यकारादेश होता है अश् पर में रहते । सूत्र में सन्धि सौत्रत्वात् न हुई । अर्थात् 'एङः पदान्तादति' सूत्र से पूर्वरूप न हुआ । यद्यपि 'एङः पदान्तादति' सूत्र की दृष्टि में भोभगो त्रिपादी होने से असिद्ध है अतः पूर्वरूप रूप सन्धि प्राप्त ही नहीं है यह शङ्का न करनी चाहिए । 'पूर्वत्रासिद्धम्' में कह चुके हैं कि वह शास्त्र का असिद्धत्व-प्रतिपादन करता है, 'भगो अघो' इस प्रकार के प्रयोग को वह असिद्धत्वप्रतिपादन नहीं करता

प्रयोग में प्राप्त पूर्वरूप को सूत्रनिर्देश से वारण किया, अतः 'असन्धिः सौत्रः' यह कहना सर्वथा उचित है। देवार् इह यहां रेफ को 'भो भगो' से यकारादेश 'देवाय् इह' यकार का लोपः शाकल्यस्य से विकल्प लोप, लोपपक्ष में सन्धि नहीं होती है, यलोप गुण की दृष्टि में असिद्ध है, 'देवा इह' पक्ष में देवायिह।

'भो भगो' सूत्र में अशि ग्रहण न करते तो देवार् सन्ति यहां भी रेफ को यकारादेश होता, सकार अश् नहीं हैं, अतः यहां यकारादेश न हुआ, रेफ का विसर्ग से 'देवाः सन्ति' प्रयोग की सिद्धि हुई।

विमर्श—(शङ्का)—अश्ग्रहणसूत्र में न करने पर भी यहां दोष नहीं है, तथाहि—'देवार् सन्ति' यहां यकारादेश एवं रेफ का विसर्ग दोनों कार्य एक ही समय में प्राप्त है, पर होने से यकार प्राप्त हुआ किन्तु 'पूर्वत्र' से यकारविधायकशास्त्र असिद्ध है, अतः यकारादेश न होकर रेफ का विसर्ग हो जायगा अश् ग्रहण क्यों किया?, विसर्ग करने पर भी स्थानिवद्भाव से विसर्ग में रुत्वबुद्धि से यकारादेश पाया, यहां रु = रेफ उ समुदाय का आश्रय से केवल एकवर्ण का आश्रय न होने से 'अल् विधौ न स्थानिवत्' की प्राप्ति नहीं है। यत्वविधायक में रु समुदाय स्थानित्वेन आश्रीयमाण है। अतः अश्ग्रहण सूत्र में आवश्यक है यदि 'रो रि' से रेफ की अनुवृत्ति कर यत्वविधायकशास्त्र का केवल रेफ ही स्थानी है ऐसा मानने पर अश् यहां अनावश्यक है, या उत्तरार्थ है।

भोस् आदि तीन सकारान्तनिपात है उनके सकार को रुत्वकरके यकारादेश के बाद—

१६८ व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य ८।३।१८।

पदान्तयोर्वकारयकारयोर्लघूच्चारणौ वयौ वा स्तोऽशि परे। यस्योच्चारणे जिह्वाग्रोपाग्रमध्यमूलानां शैथिल्यं जायते, स लघूच्चारणः।

अश् पर में रहे तो पदान्त में स्थित यकार एवं वकार के स्थान में विकल्प से लघूच्चारण क्रमशः व् य् होते हैं।

जिसके उच्चारण में जीभ के अग्र, उपाग्र, मध्य मूल इनको शिथिलता होती है, वह लघूच्चारण कहाता है। यह शाकटायन का मत है। भोय् अच्युतः यहां यकार को विकल्प से लघूच्चारणयुक्त यकार किया, पक्ष में अलघुप्रयत्नक यकार है। दो रूप में—

१६९ ओतो गार्ग्यस्य ८।३।२०।

ओकारात् परस्य पदान्तस्यालघुप्रयत्नस्य यकारस्य नित्यं लोपः स्यात्। गार्ग्यग्रहणं पूजार्थम्। भो अच्युत। लघुप्रयत्नपक्षे भोयच्युत। 'पदान्तस्य' किम् तोयम्।

ओकार पर पदान्त में स्थित अलघुप्रयत्न वाले यकार का नित्य लोप हो यह गार्ग्य का मत है। यहां गार्ग्यपद विकल्पार्थ नहीं है किन्तु पूजा के निमित्त है। भोर् अच्युतः यहाँ 'भो भगो' से यकारादेश उसका इससे लोप 'भो अच्युतः' लघुप्रयत्न पक्ष में 'भो यच्युतः'। 'तोयम्' में यकार पदान्त नहीं है। तोयम् का अर्थ जल है।

१७० उञि च पदे ८।३।२१।

अवर्णपूर्वयोः पदान्तयोर्यवयोर्लोप उञि च परे। स उ एकाग्निः। पदे

किम्। तन्त्रयुतम्। वेञः सम्प्रसारणे रूपम्। यदि तु प्रतिपदोक्तो निपातः उञिति ग्रहीष्यते, तर्ह्युत्तरार्थं पदग्रहणम्।

अवर्ण से पर पदान्त में स्थितयकार या वकार का लोप होता है ञकारेत्संज्ञक उकार पर में रहे। 'सस् उ एकाग्निः' सकार को रु उसको यकार उसका इससे लोप। वहीं एक अग्नि। 'स उ एकाग्निः' उ निपात की प्रगृह्यसंज्ञा प्रकृति भाव से उकार को यण् न हुआ। सूत्र में पदे ग्रहण क्यों कहा ?' वेञ् धातु से क्तप्रत्यय एकार का आकार वकार का संप्रसारण, पूर्वरूप उतम्। तन्त्रे उतम्, एकार को अय् तन्त्रय् उतम् यहां उकार रूप पद नहीं अतः पदान्त वकार का लोप नहीं हुआ, पदे न कहते तो ञकार इत्संज्ञक उ है लोप होता। यदि "लक्षणप्रतिपदोक्तयोर्मध्ये प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्" इससे प्रतिपदोक्त उकार का ग्रहण करेगें तो यहां कोई दोष नहीं है पुनः 'पदे' ग्रहण 'ङमो ह्रस्वात्' के लिए उत्तरार्थ है। उञ् निपात का उकार रूप लक्षणवश नहीं है यहां उतम् का उकार लक्षणवश सम्पन्न से लाक्षणिक है। तन्त्रयुतम् = तन्त्र में गुथा हुआ।

१७१ हलि सर्वेषाम् ८।३।२२।

भोभगोअघोअपूर्वस्य लघ्वलघूच्चारणस्य यकारस्य लोपः स्याद्धलि सर्वेषां मतेन। भो देवाः। भो लक्ष्मि। भो विद्वद्वृन्द। भगो नमस्ते, अघो याहि, देवा नम्याः। देवा यान्ति। 'हलि' किम्। देवायिह, देवा इह।

आगे हल् रहे तो भोपूर्वक भगोपूर्वक अघोपूर्वक एवं अवर्णपूर्वक लघुप्रयत्नक या अलघुप्रयत्नक यकार का लोप होता है सब आचार्यों के मत में। भोस् देवाः स् को रु उसको यकार उसका इससे लोप भो देवाः = हे देवताओं। भोस् लक्ष्मि पूर्ववत् कार्य। हे लक्ष्मी। भोस् विद्वद्वृन्द भो विद्वद्वृन्द = हे पण्डितसमूह। भगोस् नमस्ते, भगो नमस्ते = तुमको प्रणाम। अघोस् याहि अघो याहि = अरे पापी तू जा। देवास् नम्याः देवा नम्याः = देवता पूज्य। देवास् यान्ति देवा यान्ति = देवता जाते हैं। 'देवाय् इह' यहां हल्परक यकार नहीं है लोप न हुआ। = देवता यहां है।

१७२ रोऽसुपि ८।२।६९।

अह्नो रेफादेश स्यान्न तु सुपि। रोरपवादः। अहरहः। अहर्गणः। 'असुपि' किम्? अहोभ्याम्। अत्राहन्निति रुत्वम्। ❀ रूपरात्रिरथन्तरेषु रुत्वं वाच्यम् ❀। अहो रूपम्। गतमहो रात्रिरेषा। एकदेशविकृतस्यानन्यत्वादहोरात्रः। अहोरथन्तरम्। ❀ अहरादीनां पत्यादिषु वा रेफः ❀। विसर्गापवादः। अहर्पतिः। गीर्पतिः। धूर्पतिः। पक्षे विसर्गोपध्मानीयौ।

अहन् शब्द के अन्त्य अल् (नकार) को रेफ आदेश होता है, सुप् पर में रहे तो नहीं होता है। यह सूत्र 'अहन्' सूत्र का अपवाद है अतः रु नहीं होता है।

गमन आदि क्रिया से दिन को व्याप्त करता है इस अर्थ 'नित्यवीप्सयोः' से अहन् का द्वित्व 'अहन् अहन्' दोनों नकारों को 'रोऽसुपि' से रेफ अहरहः। रेफ होता है वहां रु नहीं अतः उत्वयत्वादिकार्य नहीं होते। अहरहः = दिन दिन। दिवसों का समूह ३० तीन समूह मास इस अर्थ में अहन् गणः रेफादेश नकार को अहर्गणः = दिनों का गण = समुदाय। 'अहन् भ्याम्' अहन् सूत्र से रु उसको उकार गुण यहां रेफ न हुआ सुप् पर में भ्याम् है—अहोभ्याम् = दो दिन बाद।

* रूप रात्रि रथन्तर यह पर में रहे तो अहन् शब्द के नकार को रु होता है। अहन् रुप नकार को रु उसको 'हशि' च से उकार गुण अहोरूपम् = दिवस का रूप। दिन व्यतीत हुआ रात्रि आ गई इस अर्थ में अहन् रात्रिः नकार को रु उसको उकार गुण अहोरात्रिः। दिन और रात इसमें समाहारद्वन्द्व, अहस्सर्वैकदेश से अच् अहन् रात्रः यहां एकदेश = एकावयव से विकारयुक्त अनन्यवत् = स्ववत् से रात्र शब्द भी रात्रि से लिया जायगा नकार को रुत्व उकार गुण अहोरात्रः = दिन और रात। 'अहन् रथन्तरम्' नकार को रु, उ, गुण अहो रथन्तरम् = दिन में रथ से जाने वाला। * अहन् आदि शब्दों के अन्त्यवर्ण को रेफादेश विकल्प से होता है पति आदि शब्द पर में रहें।

यह विसर्ग का अपवाद है। अहर्पतिः = सूर्य। गीर् धूर् के रेफ को रेफादेश होता है, विसर्ग का अपवादार्थ गीर्पतिः = बृहस्पति। धूर्पतिः = भारवाहक धुरन्धर। यहां पक्ष में विसर्ग एवं उपध्मानीय होता है।

इस वार्तिक में आदिशब्द दो बार है आदि का अर्थ है प्रकार = सदृश।

पत्यादि में आदिशब्द प्रकारार्थ मान कर 'स्वर्चक्षा रथिरः' यहां भी रेफादेश हुआ।

१७३ रो रि ८।३।१४।

रेफस्य रेफे परे लोपः स्यात्।

रेफ का रेफ पर रहते लोप होता है।

१७४ ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः ६।३।१११।

ढरेफौ लोपयतीति तथा, तस्मिन् वर्णेऽर्थाद् ढकाररेफात्मके परे पूर्वस्याणो दीर्घः स्यात्। पुना रमते। हरी रम्यः। शम्भू राजते। 'अणः' किम्। तृढः। वृढः। 'तृहू हिंसायाम्, वृहू उद्यमने'। पूर्वग्रहणमनुत्तरपदेऽपि पूर्णमात्रस्यैव दीर्घार्थम्। अजर्घाः। लीढः। 'मनस् रथः' इत्यत्र रुत्वे कृते 'हशि चे'त्युत्वे 'रोरी'ति लोपे च प्राप्ते।

ढकार और रेफ का जो लोप करवावें ऐसे ढकार एवं रेफ पर में रहें तो पूर्व अण् (अ इ उ) का दीर्घ होता है। पुनर् रमते, हरिर् रम्यः, शम्भुर् राजते इन तीनों में पूर्वसूत्र 'रो रि' से रेफ का लोप रेफ निमित्तक है। अतः रेफलोपनिमित्तक रेफ पर में यहां है अतः क्रमेण 'आ' 'ई' ऊ दीर्घ हुआ। १ फिर खेलता है। २ विष्णु मनोहर है। ३ शिव शोभित होते हैं। सूत्र में अण् न करते तो 'अचश्च' प० से अच् का दीर्घ पद के श्रवण से उपस्थिति होकर अच् का दीर्घ होने से 'तृढः' 'वृढः' यहां भी ऋकार का दीर्घ हो जाता—तृह्तः बृह्तः, यहां ढकार धकार ष्टुत्व से तृढ् ढः, वृढ् ढः, 'ढो ढे लोपः' से पूर्वढकार का उत्तरढकारनिमित्तक लोप है किन्तु पूर्व अण् में ऋकार न आने से दीर्घ न हुआ तृढः। वृढः। १ भरा हुआ, २ उद्युक्त।

विमर्श—पूर्वग्रहणमिति—सूत्र में 'ढ्रलोपे' यह सप्तम्यन्त पद है एवं सप्तमी औपश्लेषिकाधिकरणरूप अर्थ में है यहां 'तस्मिन्' परिभाषा से अव्यवहित एवं पूर्वस्य का अर्थ लाभ होता है पुनः सूत्र में पूर्वग्रहण का क्या फल है?, 'अलुगुत्तरपदे' से यहां पूर्वग्रहण के अभाव में उत्तरपद का अधिकार आता, उत्तरपद शब्द 'समास चरमावयवपद' में रूढ है तब सूत्रार्थ यह होता— समास चरमावयवपद में स्थित ढकार एवं रेफ, ढकार लोप रेफ लोप में निमित्त रहे वहां ही पूर्व अण् का दीर्घ होता है" इस अर्थ से असमास में 'पुना रमते' आदि में दीर्घ जो इष्ट है वह नहीं होगा।

पञ्चमीतत्पुरुष में निर् रक्तम्, दुर् रक्तम्, यहां रेफ लोपकर दीर्घार्थ सूत्र चरितार्थ है नीरक्तम्। दूरक्तम्। लिड्ः ढौकनम् लीढौकनम् आदि स्थलों में। सूत्र में अण्ग्रहणसामर्थ्य से 'उत्तरञ्च तत्पदम्' यही उत्तर पद का अर्थ से तृढः, वृढः यह प्रत्युदाहरण सुसङ्गत हुवे। रमते आदि उत्तरपद शब्द को यौगिक मान कर है दीर्घ होगा 'पूर्वस्य' ग्रहण क्यों किया ?। १ 'पितर् राज्यम् २ लिड् ढौकनम्' यहा रेफ लोप, ढत्व होकर ऋकार को दीर्घ व्यावृत्ति के लिए अण्ग्रहण सार्थक है यौगिकउत्तरपद ग्रहण में प्रमाण का अभाव से रूढपक्ष में सूत्रोदाहरणों में दीर्घ नहीं होता एतदर्थ पूर्वग्रहण है।

लिढ् ढौकनम् में जश्त्व प्राप्त है जश्त्व की दृष्टि में 'ढो ढे लोपः' असिद्ध है। अतः 'लिड् ढौकनम्' यही होता है, ढकारांश में अण्ग्रहण अचरितार्थ है उससे यौगिक उत्तरपद का अर्थाश्रयण से सर्वत्र दोषाभाव है पूर्वग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापन = बोधन करता है कि 'अनुत्तरपद = उत्तरपद पर में न रहे वहां भी पूर्व का दीर्घ होता है अपि से उत्तरपद पर में रहे वहां भी दीर्घ होता है। एवं यौगिक उत्तरपद है। इससे अजर्घाः, 'लीढः' में दीर्घ हुआ। १—गृध का अर्थ इच्छा करना यङन्त में यङ् लोपादि कार्य से यह रूप बना। २—चाटा गया अर्थ है।

'मनस् रथः' सकार को 'ससजुषोः' से रु (र्) करने पर 'हशि च' से रेफ के स्थान में उकारादेश प्राप्त है एवं 'रो रि' से लोपादेश प्राप्त है। 'हशि च' की अप्राप्तिस्थल में 'पुनः रमते' आदि लक्ष्यों में 'रो रि' चरितार्थ है। 'रो रि' की अप्राप्ति जहां है वहां 'शिवो वन्द्यः' में 'हशि' च कृतार्थ है यहां दोनों एकस्थानी के स्थान में विरुद्धकार्यकरणार्थ प्रवृत्त है क्या करना ?

१७५ विप्रतिषेधे परं कार्यम् १।४।२।

तुल्यबलविरोधे सति परं कार्यं स्यात्। इति लोपे प्राप्ते। 'पूर्वत्रासिद्धमि'ति 'रो री'त्यस्यासिद्धत्वादुत्वमेव। मनोरथः।

भिन्न भिन्न जगह दोनों सूत्र अपना अपना कार्य करके चरितार्थ रहे और एक जगह दोनों की साथ ही प्रवृत्ति हो तो परशास्त्र से विधीयमानकार्य उस जगह करना। यह शास्त्र परशास्त्र को बलवत्ता बोधन करता है अर्थात् पूर्वशास्त्र दुर्बल है, दुर्बल को बलवान् बाध करें यह स्वाभाविक है। प्रकृत में 'रो रि' सूत्र से लोप पाया उत्व को बाध कर किन्तु त्रिपादी 'रो रि' सपादसप्ताध्यायी 'हशि च' की दृष्टि में असिद्ध होने से 'मनर् रथः' में उकारादेश हुआ, गुण से मनोरथ की सिद्धि हुई। मन की इच्छा यह अर्थ है।

विमर्श—'विप्रतिषेधे' सूत्रनियमार्थमूलक एक परिभाषा है—१ सकृद् गतौ विप्रतिषेधे यद्बाधितं तद्बाधितमेव। २ विध्यर्थकमूलक—३ पुनः प्रसङ्गविज्ञानात् सिद्धम्। परिभा० शे० में विस्तृत स्वरूप है।

१७६ एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे ६।१।१३२।

अककारयोरेतत्तदोयः सुस्तस्य लोपः स्याद्धलि, न तु नञ्समासे। एष विष्णुः, स शम्भुः। 'अकोः' किम्। एषको रुद्रः। 'अनञ्समासे' किम्। असः शिवः। 'हलि' किम्। एषोऽत्र।

ककारयुक्त न हो ऐसे एतद् एवं तद् इन दोनों शब्दों से पर सु के सकार लोप होता है हल् पर में रहे, एवं नञ्समास न हो। अथवा ककारयोगरहित एतत् या तत् उनके अर्थगत एकत्व-संख्या का वाचक सुसम्बन्धी सकार का लोप होता है हल् पर में रहे एवं नञ्समास न हो तो। एषस् विष्णुः सलोप एष विष्णुः = यह विष्णु सस् शम्भुः सकारलोप। यह शंकर जी है। ककार-

युक्त न हो ऐसा कहने से अकच् प्रत्यययुक्त 'एषकस् रुद्रः' यहां सलोप न हुआ, सकार को रुत्व उत्व गुण से एषको रुद्रः = यह रुद्र। असस् में नन्तत्पुरुष हैं, अतः शिव के योग में सकारलोप का अभाव असः शिवः = यह शिव नहीं है। एषस् अत्र यहां स्वर पर में है अतः सलोप न हुआ रुत्व, उत्व, गुण पूर्वरूप एषोऽत्र = वह यहां है।

१७७ सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम् ६।१।१३४।

स इत्येतस्य सोर्लोपः स्यादचि पादश्चेल्लोपे सत्येव पूर्येत। 'सेमामविड्ढि-प्रभृतिम्'। 'इह ऋक्पाद एव गृह्यते' इति वामनः। 'अविशेषाच्छ्लोकपादोपी'त्यपरे। सैष दाशरथी रामः। 'लोपे चेदि'ति किम्। स इत्त्वेति। स एवमुक्त्वा। 'सत्येवे'त्यवधारणन्तु 'स्यश्छन्दसि बहुलमि'ति पूर्वसूत्राद्बहुलग्रहणानुवृत्त्या लभ्यते। तेनेह न—'सोऽहमाजन्मशुद्धानाम्'।

इति स्वादिसन्धिः।

यदि लोप करने पर ही पाद की पूर्ति होती हो तो अच् पर में रहते 'सः' इस पद के सु (स्) विभक्ति के सकार का लोप होता है। अन्यत्र लोप नहीं होता है।

ऋ० मं० २ सू० २४ मँ० १ का यह मन्त्र है। 'यथो नो' शब्द मन्त्र के आदि अंश है यहां 'सस् इमाम्' में पादपूर्त्यर्थ सकार का लोपे गुण से सेमाम् बना है। वामनाचार्य यहां पादपद से ऋग्वेद का ही पाद (चरण) चतुर्थांश लेते हैं। अन्यवैयाकरणमत से विशेषार्थ बोधन में प्रमाण नहीं अतः समान्यतः सभी पाद का ग्रहण से श्लोक का चतुर्थांश का भी ग्रहण होता है। सस् एष यहां अनुष्टुभछन्द की पूर्ति के लिए सकार का लोप हुआ, लोप न करते तो श्लोक में छन्द का भङ्ग होता। 'सैष राजा युधिष्ठिरः' यहां भी सकार का लोप कर वृद्धि। 'सैष कर्णो महात्यागी' यहां सलोप वृद्धिः। सैष भीमो महाबलः। सलोप वृद्धि। लोप न करने पर ही जहां पादपूर्ति सन्धिकार्य से हो सकती है वह लोप न करना अत 'स इत् क्षेति' (ऋ० म० ४ सू० ५०) मन्त्र में सस् के सकार को रुत्व यत्व लोप से पादपूर्ति हुई यहां लोप सकार का नहीं हुआ।

विमर्श—पूरा मन्त्र इस प्रकार है—"स इत्क्षेति सुधित ओकसि स्वेतस्मा इळा पिन्वते विश्वदानीम्। तस्मै विशः स्वयमेवानमन्ते यस्मिन् ब्रह्मा राजनि पूर्व एति"। इसी प्रकार 'स एव-मुक्त्वा" रघुवं० स० ३ श्लो० ५२। में सन्धिकार्य से पादपूर्ति हुई वहां सकार का लोप न हुआ। निश्चयार्थकबोधकबहुलग्रहण की अनुवृत्ति यहां है। यहां लोप न हुआ एवं छन्दोभङ्ग भी नहीं है—'सोऽहमाजन्मशुद्धानाम्' र० वं० स० ९ श्लो० ५।

विमर्श—याज्ञवल्क्यशिक्षा में पदपाठ के अनन्तर सातवें सूत्र मे "सन्धिश्चतुर्विधो भवति" सन्धि के चार भेद हैं। १ लोप २ आगम ३ वर्णविकार ४ प्रकृतिभाव। ऋक्प्रातिशाख्य में—प० २ सू० ८ के भाष्य में चारप्रकार की सन्धियँ बताई गई है—१—दो स्वरों की २—दो व्यञ्जनों की ३—व्यञ्जन स्वर की ४—स्वर व्यञ्जन की। शिक्षा में चकारघटित पाठ से ५—च से प्रकृतिभाव का भी ग्रहण है। पाँच सन्धियाँ हैं। व्याकरणदर्शनभूमिका, पीठिका एवं प्रतिभा इन तीन के लेखक महावैयाकरण पुण्यश्लोक श्री रामाज्ञा पाण्डेय (रतसर बलिया) महोदय ने अनु-सन्धानद्वारा तीन सन्धियाँ मानी है। १—सृष्टिसन्धिः २—स्थितिसन्धिः ३—संहारसन्धिः। 'आद् गुणः' आदि अधिकमात्रिकत्वसम्पादन से सृष्टिशब्द से व्यवहृत है। प्रकृतिभाव में रूपान्तर न

होने से स्थिति सन्धि से व्यवहृत है। 'इको यणचि' आदि एकमात्रिक द्विमात्रिक वर्ण को अर्धमात्रिक बना देते हैं अतः संहारसन्धि से उनका ग्रहण होता है। य व र ल का संप्रसारण से उनके रूप को इ उ ऋ ऌ ने धारण किया है, अतः इक् का मूल यण् ही है। वह मूलरूप 'इको यणचि' ने बोधन किया इ उ ऋ ऌ आदि का संहार हुआ। अर्थात् इक् स्वकारणभूत यण् में लीन हुआ, अतः संहारसन्धि से उसका व्यवहार हुआ। वैष्णव जगत् में पूजा में पाँच पात्र स्नान अर्चन आदि में रहते हैं पाँच कटोरे उसको पञ्चपात्र कहते हैं किन्तु अन्यसम्प्रदाय में ३ पात्र को पञ्चपात्र शब्द को रुढ मान कर व्यवहार करते हैं तथैव पञ्चसन्धि शब्दरूढ है यह कथन अत्यन्त असङ्गत है। आकाश वायु तेज जल पृथिवी इन पञ्चमहाभूत से वर्णों की उत्पत्ति होती है। एवं षोडश मातृका मार्कण्डेयपुराण में वर्णित है। नारायणभट्टविरचित प्रक्रियासर्वस्व में वर्णनीति वर्णित है वैयाकरणों को इन सब ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिए। षोडशमातृका कर्मकाण्ड में केवल पूजा का ही विषय नहीं है उसमें दार्शनिक रहस्य शब्दब्रह्म का ज्ञान छिपा हुआ है। शैव एवं शाक्ततन्त्र में भी व्याकरणोपयोगी अनेक विमर्श है। अहिर्बुध्न्यसंहिता भी द्रष्टव्य है भासुरानन्दविरचित वरिवस्या रहस्य में वर्णविभाजन पद्धति है। इच्छा होते हुए लेख संक्षेपार्थ उन विषयों का विस्तृत उपन्यास नहीं यहां किया है केवल जिज्ञासा उत्पन्न कराने के लिए ही यह प्रयास है। स्थूल-सूक्ष्म-सूक्ष्मतर-सूक्ष्मतम से चार प्रकार की वाणी है—१ वैखरी २ पश्यन्ती ३ मध्यमा ४ परा आदि भेद से।

रत्नप्रभा व्याख्या में पञ्चसन्धिप्रकरण में स्वादिप्रकरण समाप्त।

अथ अजन्तपुँल्लिङ्गप्रकरणम् ७

१७८ अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् १।२।४५।

धातुं प्रत्ययं प्रत्ययान्तञ्च वर्जयित्वाऽर्थवच्छब्दस्वरूपं प्रातिपदिकसंज्ञं स्यात्।

धातुभिन्न प्रत्ययभिन्न प्रत्ययान्ततदादिभिन्न अर्थवाचक शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा होती है। 'अहन्' में प्रातिपदिकसंज्ञा होकर नलोप न हो जाय इस लिए धातुभिन्न कहा। केवल प्रत्यय की प्रातिपदिकसंज्ञा से विभक्ति उत्पन्न होकर पदसंज्ञा से षत्व का निषेध न हो एतदर्थ प्रत्ययभिन्न कहा 'हरिषु' 'करोषि'। प्रत्यय शब्द की आवृत्ति कर प्रत्यय है अन्त में जिसके प्रकृति है आदि में जिसके ऐसे शब्द की 'हरिपु' समुदाय की प्रातिपदिकसंज्ञानिवारणार्थ प्रत्ययान्ततदादि कहा। अर्थवद्रहित की प्रातिपदिकसंज्ञा न करने से अनर्थकसमुदाय की प्रातिपदिकसंज्ञा न हुई वहां अवान्तरविभक्तियाँ का लुक् न हुआ—'दश दाडिमानि षडपूपाः' आदि में। प्रातिपदिकसंज्ञा प्राचीन है वेद पुराणों में व्यवहृत है, नवीन नहीं है, रूढिशब्द है। व्युत्पत्तिमात्र हो सकती है परन्तु अर्थज्ञान का अभाव है—पदं पदं प्रतिपदम्, प्रतिपदम् अर्हतीति प्रातिपदिकम्। प्रकृति आदि में रहे प्रत्यय अन्त में रहे उसको तदादि कहते हैं।

१७९ कृत्तद्धितसमासाश्च १।२।४६।

कृत्तद्धितान्तौ समासाश्च प्रातिपदिकसंज्ञाः स्युः। पूर्वसूत्रेण सिद्धे समासग्रहणं नियमार्थम्। यत्र संघाते पूर्वो भागः पदं तस्य चेद् भवति तर्हि समासस्यैव। तेन वाक्यस्य न।

अर्थवाचक कृदन्त तदादि, तद्धितान्त तदादि एवं समास की प्रातिपदिकसंज्ञा होती है। कृत् प्रत्यय की संज्ञा है, 'कृदतिङ्' से। चयः जयः चेयम् जेयम् उदाहरण कृदन्त के है। दाक्षिः, औपगवः ये तद्धितान्त का उदाहरण है। राजपुरुषः आदि समास के उदाहरण हैं। अनुक्तसमुच्चयार्थक सूत्र में चकार से अनर्थक निपात जो केवल पादपूर्ति मात्र के लिए हैं, उनकी प्रातिपदिकसंज्ञा हुई।

समाससंज्ञक 'राजन् अस् पुरुष स्' आदि की 'अर्थव'त्सूत्र से प्रातिपदिकसंज्ञा सिद्ध ही थी समासग्रहण व्यर्थ होकर नियमार्थ है। नियम का स्वरूप—जिस शब्दसमूह में पूर्वभाग पद रहे उसकी प्रातिपदिकसंज्ञा हो तो समास की ही, इस नियम से वाक्य, महावाक्य की प्रातिपदिकसंज्ञा न हुई। वाक्य की प्रातिपदिकसंज्ञा होती तो तद्घटक अवान्तरविभक्तियाँ का 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' से लुक् हो जाता एकपदत्व होता। 'यत्र संघाते पूर्वो भागः पदम्' यह अंश नियमशरीर में कैसे प्रविष्ट हुआ ?, जहां २ समास होता है वहां २ पूर्वभाग पद हैं, अर्थात् नियमसाजात्य की अपेक्षा करता है, उससे वह अंश लब्ध है। 'वृषणवसुः' में पूर्व वृषन् पदसंज्ञक नहीं है, भसंज्ञा से पदसंज्ञा का बाध है तो भी पदसंज्ञा की योग्यता उसमें है। 'जन्मन् सु मत' की तद्धितान्तत्वेन प्राप्तप्रातिपदिकसंज्ञा की नियम से व्यावृत्ति पाई अतः उत्तरस्तु तत्प्रकृतिविहितप्रत्यय न रहें वहां नियम की प्रवृत्ति होती है।

'बहु पटु जस्' यहां पूर्वभाग का बहुच् प्रत्यय पद या पदसंज्ञाप्राप्ति की योग्यता वाला नहीं है वहां नियम की प्रवृत्ति न होने से प्रातिपदिकसंज्ञा से जस् के अस् का लुक् होकर अन्त्य उकार उदात्त हुआ, 'बहुपटवः' प्रयोग में टकाराकार उदात्त वकाराकार अनुदात्त है। पूर्वसूत्र में अनर्थकशब्दसमुदाय की प्रातिपदिकसंज्ञा अकरणार्थ अर्थवद्ग्रहण का भाष्यकार ने प्रयोजन दिया है, वहां नियमप्रवृत्ति रोकने के लिए समुदाय अर्थवान् रहे वहां हां नियम की प्रवृत्ति होती है। सारांश यह हुआ कि—"जिस समुदाय में पूर्वभाग स्वतन्त्र प्रयोगयोग्य रहे, तद्युक्त की प्रातिपदिकसंज्ञा हो तो समास की ही, किन्तु उत्तर में तत्प्रकृतिकप्रत्यय न रहें एवं समुदाय अर्थवान् रहें। यह संक्षेपार्थ है। १—नियम स्थल में उत्सर्गशास्त्र कार्य करता है, इतरव्यावृत्ति नियम का फल है। २—प्राप्तकार्य का संकोच कर स्वयं कार्य करना यह भी पक्ष है। १—निषेधमुख से प्रवृत्ति, २—विधिमुख से प्रवृत्ति। व्याकरणशास्त्र में नियमशब्द मीमांसकसम्मत परिसंख्या = "तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते" परक है। न नियमपरक "नियमः पाक्षिके सति" है। परिसंख्या होते हुए भी प्रकृत में "उद्देश्यतावच्छेदकनिष्ठव्याप्यतानिरूपितव्यापकता नियमे भासते" एतदर्थं परिसंख्या होते हुए भी यहां विधेयभूतप्रातिपदिकसंज्ञायुक्त को ही साधुत्व है। तद्रहित को नहीं।

१८० प्रत्ययः ३।१।१।

आपञ्चमपरिसमाप्तेरधिकारोऽयम्।

यह अधिकार सूत्र है, तीसरे अध्याय के प्रारम्भ से पाँचवें अध्याय के अन्त तक अधिकृतसूत्रविहित की प्रत्ययसंज्ञा होती है।

१८१ परश्च ३।१।२।

अयमपि तथा।

यह अधिकार सूत्र है, प्रत्यय पूर्व में या पर में या मध्य में प्रकृति से हो यह अव्यवस्थानिवारणार्थ 'प्रत्यय' पर में ही होता है या सूत्रविहित की पदसंज्ञा होती है। विशेषयत्न स्थल में कभी प्रत्यय पूर्व में भी होता है। यथा 'विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु'। यहां पूर्वार्थक पुरस्तग्रहण से बहुच्प्रत्यय पूर्व में हुआ।

अकच्विधायक सूत्र में 'प्राक्' ग्रहण से अकच् टिसंज्ञक से पूर्व हुआ। १—बहुपटवः। २—सर्वके।

१८२ ङ्याप्प्रातिपदिकात् ४।१।१।

ङ्यन्तादाबन्तात्प्रातिपदिकाच्चेत्यापञ्चमपरिसमाप्तेरधिकारः। प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणमित्येव सिद्धे ङ्याब्ग्रहणं ङ्याबन्तात्तद्धितोत्पत्तिर्यथा स्यात् ङ्याब्भ्यां प्राङ् मा भूदित्येवमर्थम्।

ङकार इत्संज्ञक नकार इत्संज्ञक षकार इत्संज्ञक स्त्रीप्रत्यय ङीप्, ङीन् ङीष् का ग्रहणार्थसूत्र में अनुबन्धरहित निर्देश है। चाप् आप् का आप् से ग्रहण है।

ङीप्रत्ययान्त आप्प्रत्ययान्त एवं प्रातिपदिक इन तीन पदों का पांचवें अध्याय की समाप्ति तक अधिकार है। गौरी, रमा आदि शब्दों में गौर, रम में रहने वाला धर्म = प्रातिपदिकत्व स्त्रीप्रत्यय 'आ' 'ई' से युक्त रमा गौरी में परिभाषा से आता पुनः सूत्र में ङ्याप् ग्रहण क्यों किया अर्थात् ङ्यन्त आबन्त का अधिकार व्यर्थ है। परिभाषार्थ—लिङ्गबोधक प्रत्यय रहित में इष्ट

प्रातिपदिकत्व या उसका व्याप्यधर्म लिङ्गबोधकप्रत्ययविशिष्ट में आता है। प्रातिपदिकत्व सामान्य धर्म है, युवन् शब्दत्व' 'समर्थकुमारत्व' विशेष धर्म है। प्रकृत में 'ङ्याप्' ग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि—स्त्रीप्रत्यय = ङीप् ङीष् ङीन् टाप् चाप् प्रत्ययों की उत्पत्ति के बाद ही तद्धितप्रत्ययों की उत्पत्ति होती है, पूर्व में नहीं १—विशेषार्थप्रतिपादकतद्धितप्रत्यय २—स्वार्थिकतद्धितप्रत्यय, ३—अत्यन्तस्वार्थिकतद्धितप्रत्वय, इन तीनों की स्त्रीप्रत्यय के बाद ही उत्पत्ति होती है।

विमर्श—तात्पर्य यह है कि १ स्वार्थ = धर्म, २ द्रव्य = धर्मी, ३ लिङ्ग-पुंलिङ्ग-स्त्रीलिङ्ग-नपुंसक, ४ संख्या = एकत्वादि, ५ कारक = कर्ता कर्म-करण-संप्रदान-अपादान-अधिकरण। इन निमित्तक कार्यों में पूर्व पूर्व अन्तरङ्ग है, अर्थात् पर पर बहिरङ्ग है। इसका बोधक न्याय है—"स्वार्थ-द्रव्य-लिङ्ग-संख्या-कारकाणां क्रमेण उत्पत्तिः"। 'ङ्याप्' ग्रहण से यह न कहते तो श्रेष्ठ स्त्री वाचक आर्य शब्द से बहिरङ्ग टाप् के अपेक्षा अन्तरङ्ग अत्यन्त स्वार्थिक कन् होकर आर्यक से टाप् कर दीर्घ से 'आर्यका' यहां य् के उत्तर अकार आकार स्थान में न होने से "उदीचामातः स्थाने" की प्रवृत्ति न होगी, 'प्रत्ययस्थात्' से नित्य इकार होकर 'आर्यिका' एक ही रूप बनता, ज्ञापक स्वीकार से आर्य से कन् तद्धित के पूर्व टाप् आर्या से कन् 'केऽणः' से आकार का ह्रस्व अकार आर्यक से टाप् आर्यका यहां ककार पूर्ववती अकार आतः स्थानिक से नित्य इकार को बाध कर विकल्प से इकार पक्ष में उसका अभाव दो रूप हुए १ आर्यिका, २ आर्यका। अत्यन्त स्वार्थिक प्रत्यय विधान में 'न सामिवचने' सूत्र ही प्रमाण है।

१८३ स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङेभ्याम्भ्यस्ङसिभ्याम्भ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप् ४।१।२।

ङ्यान्तादाबन्तात् प्रातिपदिकाच्च परे स्वादयः प्रत्ययाः स्युः। सुङस्योरुकारेकारौ जशटङपाश्चेतः।

ङ्यन्त, आबन्त एवं प्रातिपदिक संज्ञक से सु औ जस् आदि प्रत्यय पर में होते हैं। सु में उकार, ङसि ङस् में दोनों ङकार, इकार, जस् का जकार, शस् का शकार, टा का टकार, सुप् का पकार वे इत्संज्ञक हैं, उनका लोप होता है। २१ प्रत्ययों में तीन तीन का विभाग से ज्ञान करना।

१८४ विभक्तिश्च १।४।१०४।

सुप्तिङौ विभक्तिसंज्ञौ स्तः। तत्र सु औ जस् इत्यादीनां सप्तानां त्रिकाणां प्रथमादयः सप्तम्यन्ताः प्राचां संज्ञास्ताभिरिहापि व्यवहारः।

सु से लेकर प् तक सुप् प्रत्याहार है। २१ प्रत्यय संज्ञी हैं, सुप् उनकी संज्ञा है, ति से महिङ् के ङकार तक तिङ् प्रत्याहार है। १८ तिप् आदि प्रत्यय संज्ञी उनकी तिङ् संज्ञा है। उन २१ प्रत्ययों में तीन तीन के सात विभाग करना क्रमशः उन तीन की प्रथमा द्वितीया तृतीया चतुर्थी पञ्चमी षष्ठी सप्तमी सात संज्ञाएँ होती हैं यथा—१—सु औ जस् प्रथमा। २—अम् औट् शस् द्वितीया। ३—टा भ्याम् भिस् तृतीया। ४—ङे भ्याम् भ्यस् चतुर्थी। ५—ङसि भ्याम् भ्यस् पञ्चमी। ६—ङस् ओस् आम् षष्ठी। ७—ङि ओस् सुप् सप्तमी।

१८५ सुपः १।४।१०३।

सुपस्त्रीणि त्रीणि वचनान्येकश एकवचनद्विवचनबहुवचनसंज्ञानि स्युः।

सुप् प्रत्याहारों में तीन तीन प्रत्ययों की एक एक विभक्ति संज्ञा कही है, उनमें प्रथम प्रत्यय की एकवचन, दूसरे की द्विवचन एवं तीसरे की बहुवचन संज्ञा होती है।

(तिङ् में भी १८ प्रत्ययों में तीन तीन के ६ विभाग कर प्रत्येक तीन प्रत्ययों की क्रमशः एकवचन द्विवचन बहुवचन संज्ञा होती है = तिप् तस् झि प्रथमपुरुष इसमें १ एकवचन २ द्विवचन ३ बहुवचन आदि ज्ञान करना)।

१८६ द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने १।४।२२।

द्वित्वैकत्वयोरेते स्तः।

संख्या का आश्रय द्रव्य होता है। संख्या आधेय है, दोनों का समवाय सम्बन्ध है। द्वित्व एवं एकत्व संख्या कहने की इच्छा हो तो क्रमशः द्विवचन एकवचन के प्रत्यय होता है।

१८७ बहुषु बहुवचनम् १।४।२१।

बहुत्वे एतत्स्यात्। रुत्वविसर्गौ रामः।

दो से अधिक संख्या बोधन में बहुवचनसंज्ञक प्रत्यय होता है। कारक प्रकरण में विभक्तियों के अर्थ एवं विधान का विस्तृत विचार है।

प्रातिपदिक को नाम भी कहते हैं। नाम से विभक्ति लगाकर उसको दिखलाने का प्रकरण दो है। अजन्त एवं हलन्त, इन दोनों में भी लिङ्गत्रय से प्रत्येक के तीन भेद मिलकर छ प्रकरण हुए उसको षडलिङ्ग प्रकरण कहते हैं। अइउण् क्रम से यहां शब्द निर्देश है। राम, विश्वपा, हरि, आदि १—अर्थवत् , २—कृत्तद्धित इन दो सूत्रों का एक उदाहरण हो सके ऐसा शब्द राम है अव्युत्पत्ति पक्ष में अर्थवत् सूत्र से प्रातिपदिकसंज्ञा होती है इसकी। व्युत्पत्ति पक्ष में क्रीडार्थक रम् धातु से 'हलश्च' सूत्र से अधिकरण में घञ् प्रत्यय कर वृद्धि से राम कृदन्त तदादि हैं, अतः 'कृत्तद्धित' से प्रातिपदिक संज्ञा। प्रथमा विभक्ति के एकवचन में उकारेत्संज्ञक सु हुआ 'राम स्' 'सुप्तिङन्तम्' से पद संज्ञा, सकार को उकारेत् संज्ञक र् 'ससजुषोः' सूत्र से हुआ, पदान्त रेफ का 'खरवसानयोः' से विसर्ग रामः = योगिगण जिनका समाधि में ध्यान करते हैं वह ब्रह्मतत्व ही राम पदार्थ है। राम के अन्य अर्थ—गन्धर्व-शरभ-गवय-शश-आदि हैं। इन अर्थों में रामशब्द रूढ है।

१८८ सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ १।२।६४।

एकविभक्तौ यानि सरूपाण्येव दृष्टानि तेषामेक एव शिष्यते। प्रथमयोः पूर्वसवर्णः। नादिचि। वृद्धिरेचि। रामौ।

यहां 'वृद्धो यूना' से 'एव' की अनुवृत्ति है, विभक्ति सारूप्य में उपलक्षण है, निमित्त नहीं है, अतः द्वन्द्वापेक्षया अन्तरङ्ग है। द्वन्द्व की प्रवृत्ति पूर्व एकशेष होता है।

'सरूपाणाम्' में निर्द्धारण में षष्ठी है। समान आनुपूर्वी वाले शब्द को सरूप कहते हैं। यथा राम राम, घट घट। समान वर्णयुक्त शब्द में रहने वाले धर्म को सारूप्य कहते हैं। विभक्ति से व्यवधान रहित सारूप्य युक्त समुदाय घटक का ही एकशेष होना है। अर्थात् अन्य का लोप द्वारा निवृत्ति है। 'रामश्च रामश्च इति' राम औ यहां 'प्रथमयोः' सूत्र से पूर्वसवर्ण दीर्घ वृद्धि को बाधकर प्राप्त हुआ किन्तु नादिचि ने पूर्वसवर्ण का निषेध किया, अतः वृद्धिरेचि से 'अ औ' की औ वृद्धि हुई—रामौ = दो राम। लुप्त के अर्थ को शेषशब्द बोधन करता है। 'तौ सत्' निर्देश से यहां 'भ्रष्टावसर' न्याय का या 'देवदत्तहन्तृहतः' न्याय का विषय नहीं है। अथवा उन दोनों

न्यायों की प्राप्ति ही नहीं है। इसी प्रकार द्विवचन बहुवचन में एकशेष करना चाहिए, यह प्रत्येक में बताने की आवश्यकता नहीं है। बहुवचन में राम जस् के बाद—

१८९ चुटू १।३।७

प्रत्ययाद्यौ चुटू इतौ स्तः। इति जस्येत्संज्ञायाम्।

प्रत्यय के आदि अवयव चवर्ग, टवर्ग की इत्संज्ञा होती है। जकार की इत संज्ञा से राम अस्।

१९० न विभक्तौ तुस्माः १।३।४।

विभक्तिस्थास्तवर्गसकारमकारा इतो न स्युः। इति सकारस्य नेत्त्वम्।

विभक्ति संज्ञक प्रत्ययों के अवयव तवर्ग, सकार एवं मकार की इत्संज्ञा नहीं होती है। 'विभक्तिश्च' से अस् को विभक्ति संज्ञा है, 'हलन्त्यम्' से प्राप्त इत्संज्ञा का निषेध हुआ।

१९१ अतो गुणे ६।१।९७।

अपदान्तादकाराद् गुणे परतः पररूपमेकादेशः स्यात्। इति प्राप्ते परत्वात्पूर्वसवर्णदीर्घः। अतो गुणे इति हि पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरानिति न्यायेनाकः सवर्ण इत्यस्यैवापवादो न तु प्रथमयोरित्यस्यापि। रामाः।

गुणसंज्ञक वर्ण = अ ए ओ से व्यवधान रहित पूर्व में अपदान्त अवर्ण रहे वहां पूर्व पर दोनों के स्थान में पर के रूप समान रूप होता है (परसवर्ण होता है)।

राम अस् में पररूप एवं पूर्व सवर्णदीर्घ दोनों की प्राप्ति है, 'विप्रतिषेधे' से पर होने से पूर्व सवर्ण दीर्घ हुआ, सकार का रुत्व विसर्ग से रामाः।

पूर्वपठित अपवाद शास्त्र 'अतो गुणे' वह स्वसमीपवर्ती 'अकः सवर्णे' का ही बाधक है दूरस्थ 'प्रथमयोः' का बाधक नहीं है। अतो गुणे = के उदाहरण—अ अ पचन्ति, भवन्ति। अ ए एधे। अ ओ—हे तितउ, उकार का गुण तित ओ पररूप हे तितो? यही एकमात्र अ ओ का उदाहरण है।

विस्तारार्थक तन् से डप्रत्यय उकार डकार सन्वत है द्वित्वादिकार्य = तन् तन्, त तन् टिलोप अभ्यास को इत्व तित उ = सक्तु वाचक है। इस उदाहरण को कम लोग जानते हैं।

१९२ एकवचनं सम्बुद्धिः २।३।४९।

सम्बोधने प्रथमाया एकवचनं सम्बुद्धिसंज्ञं स्यात्।

सम्बोधन में प्रथमा के एकवचन की सम्बुद्धि संज्ञा होती है। सम्बोधनार्थक द्योतक भी हे आदि शब्द हैं। हे राम स् यहां सु के स् की संबुद्धि संज्ञा है। 'सुः सम्बुद्धिः' यह न्यास उचित था।

१९३ एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः ६।१।६९।

एङन्ताद्ध्रस्वान्ताच्चाङ्गाद्धल् लुप्यते सम्बुद्धेश्चेत्। सम्बुद्ध्याक्षिप्तस्याङ्गस्यैङ्ह्रस्वाभ्यां विशेषणान्नेह। हे कतरत्कुलेति। हे राम, हे रामौ, हे रामाः। एङ्ग्रहणं किम्। हे हरे। हे विष्णो। अत्र परत्वान्नित्यत्वाच्च सम्बुद्धिगुणे कृते ह्रस्वात्परत्वं नास्ति।

एङन्त अङ्ग एवं ह्रस्वान्त अङ्ग से पर सम्बुद्धि संज्ञक प्रत्यय का अवयव हल्का लोप होता है ।

सम्बुद्धि संज्ञक प्रत्यय है । प्रत्यय पर में होता है, प्रत्यय से पूर्व अङ्ग का आक्षेप होता है, आक्षेप किया हुआ अङ्ग विशेष्य है उसका एङ् एवं ह्रस्व—विशेषण है, अर्थ हुआ—एङन्त अङ्ग ह्रस्वान्त अङ्ग इसका फल हुआ—हे कतर सुको अद्ड् आदेश, टिका लोप हे कतर् अद् यहां ह्रस्वान्त अङ्ग नहीं है किन्तु रेफान्त है इस सूत्र से अद् के दकार सम्बुद्धि का अवयव है तो भी लोप न हुआ । हे कुल सुको अम् हे कुल अम् , 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप हे कुलम् , यहां ह्रस्वान्त अङ्ग से पर सम्बुद्धि का अवयवमकार का लोप हुआ । जिससे जिसका आक्षेप हो उसका उसी के साथ अन्वय होना चाहिए—"येन यद् आक्षिप्यते तस्य तेनैवान्वयः" इस नियम से यह अर्थ होगा कि—"अङ्ग से पर सम्बुद्धि उसका अवयव का लोप होता है वह हल एङ् या ह्रस्व से पर रहें तब (अङ्गात्परा या सम्बुद्धिः तदवयवो यो हल् स च लुप्यते एङ्ह्रस्वाभ्यां परिभूतश्चेत्) इस अर्थ में 'हे कतर् अद्' यहां टिलोप से हलन्त कतर् है । यहां दकार का लोप हो जायगा एवं अनिष्ट हे कतर् रूप होगा । हे कुल म् में अङ्ग से पर सम्बुद्धि नहीं अतः म् का लोप न होगा—अव्याप्ति अतिव्याप्ति दो दूषणों को रोकने के लिए एङन्ताङ्ग ह्रस्वान्ताङ्ग अर्थ किया है । अलक्ष्य में लक्षण की प्रवृत्ति को अतिव्याप्ति कहते हैं । लक्ष्य में लक्षण की अप्रवृत्ति को अव्याप्ति कहते हैं । हे कुल यहां अव्याप्ति प्रसङ्ग, हे कतरद् वहां अतिव्याप्ति प्रसङ्ग अब नहीं है । अर्थापत्ति से आक्षिप्त अङ्ग क शाब्दबोध में भान हुआ । हे राम, रामौ रामाः । एङ् ग्रहण का प्रयोजन—हे हरि स् हे विष्णु स् यहां ह्रस्वान्त से पर सकार का लोप होगा एङ् ग्रहण क्यों किया ?, प्रथम सम्बुद्धि लोप को बाध कर पर एवं नित्य गुण होगा गुण करने पर ह्रस्वान्त नहीं है अतः एङन्त अङ्ग को मान कर लोपार्थ एङ् ग्रहण है ।

यहां परत्वात् यह अधिकोक्ति वादि पराजयार्थ है । अथवा पर शब्द उत्कृष्ट वाचक है, बाधकत्व लक्षण उत्कर्ष गुण में है, बाध्यत्व लक्षण अपकर्ष लोप में है, अपवाद प्रवृत्ति में वह हेतु है, स्वतन्त्र हेतु नहीं है ।

१९४ अमि पूर्वः ६।१।१०७।

अकोऽम्यचि परतः पूर्वरूपमेकादेशः स्यात् । रामम् ; रामौ ।

अक् से अम् सम्बन्धी अच् पर रहे वहां पूर्व पर इनके स्थान में पूर्व रूप होता है । अम् सम्बन्धी का अर्थ = अम् का अवयव अच् यह अर्थ सम्भव नहीं है, अवयव में अवयवी उत्पन्न होता है न अवयवी में अवयव । अमि में अधिकरण में सप्तमी भी अनुचित है, अच् आधार है । अम् आधेय है, तन्तु में पट, न पट में तन्तु । यहां वर्णित विषय सत्य है किन्तु "सिद्धस्य गतिश्चिन्तनीया" से अम् में आधारत्व आरोपित मान कर यथाकथञ्चित् कार्यनिर्वाह करना । राम अम् पूर्व सवर्ण से रामम् । 'रामौ' बन चुका है (राम शब्द के द्वितीया बहुवचन में राम शस् यहां—

१९५ लशक्वतद्धिते १।३।८।

तद्धितवर्जप्रत्ययाद्या लशकवर्गा इतः स्युः । इति शसः शस्येत्संज्ञा ।

तद्धितभिन्न प्रत्यय के आदि में स्थित ल श एवं कवर्ग की इत्संज्ञा होती है । राम के शकार की इत् संज्ञा लोप, पूर्वसवर्ण दीर्घ से रामास् यहां—

१९६ तस्माच्छसो नः पुंसि ६।१।१०३।

पूर्वसवर्णदीर्घात्परो यः शसः सकारस्तस्य नः स्यात् पुंसि । रामान् ।

पूर्वसवर्ण दीर्घ से पर शस् के अवयव सकार उसको नकार होता है। यहां पूर्वसवर्ण दीर्घ का शस् के साथ अन्वय नहीं किन्तु सकार के साथ अन्वय है अन्यथा दीर्घ करने पर शस् नहीं है। आदेश में अकार उच्चारणार्थ है। रामान्।

१९७ अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि ८।४।२।

अट् कवर्ग पवर्ग आङ् नुम् एतैर्व्यस्तैर्यथासम्भवं मिलितैश्च व्यवधानेऽपि रषाभ्यां परस्य नस्य णः स्यात् समानपदे। पदव्यवायेऽपीति निषेधं बाधयितुमाङ्ग्रहणम्। नुम्ग्रहणमनुस्वारोपलक्षणार्थम्। तच्चाकर्तुं शक्यम्। अयोगवाहानामट्सूपदेशस्योक्तत्वात्। इति णत्वे प्राप्ते।

एकपद में रेफ या षकार इनके बाद अट् कवर्ग पवर्ग आङ् (आ) नुम् (न) यह अलग रहे या यथासम्भव (दो-तीन आदि) मिले हुए भी बीच में हो तो भी नकार के स्थान में णकार होता है।

पदव्यवायेऽपि = बीच में अन्य पद आवे तो भी णकारादेश नहीं होता है। उस निषेध को बाध करने के लिए विशेष रूप से सूत्र में आङ् ग्रहण किया है। अन्यथा अट् व्यवधान से ही गतार्थ होता। नुम् ग्रहण सूत्र में है वह अनुस्वार का उपलक्षणार्थ है। इस परिस्थिति में तो इसकी आवश्यकता ही नहीं है, क्योंकि अयोगवाह अनुस्वार का अकार के उपरि पाठ है, अतः वह अट् ग्रहण से ही गतार्थ है। व्यर्थ होने से नुम् का प्रत्याख्यान ही उचित है। रामान् में रेफ के बाद अट् एवं पवर्ग इन दोनों का व्यवधान है तो भी णत्व इस सूत्र से प्राप्त हुआ, उसके निषेध के लिए वचन—

१९८ पदान्तस्य ८।४।३७।

पदान्तस्य नस्य णत्वं न स्यात्। रामान्।

यहां 'न भाभू' ८।४।३४। से न की अनुवृत्ति है। पदान्त नकार को णकारादेश नहीं होता है। रामान् के नकार को णत्व का निषेध हुआ।

१९९ यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् १।४।१३।

यः प्रत्ययो यस्मात् क्रियते तदादि शब्दस्वरूपं तस्मिन् प्रत्यये परेऽङ्गसंज्ञं स्यात्। 'भवामि' 'भविष्यामि' इत्यादौ विकरणविशिष्टस्याङ्गसंज्ञार्थं तदादि ग्रहणम्। विधिरिति किम्। स्त्री इयती। प्रत्यये किम्। प्रत्ययविशिष्टस्य ततोऽप्यधिकस्य वा मा भूत्।

जो प्रत्यय जिस शब्द से विहित रहे उस प्रत्यय पर में रहे वहां तदादि शब्द स्वरूप की अङ्ग संज्ञा होती है। तदादि = वह शब्द आदि में जिसके अथवा—जो प्रत्यय जिस शब्द के आगे किया जाता है वह प्रत्यय आगे रहते तदादि (वह शब्द है आदि में जिसके) ऐसे शब्द स्वरूप की अङ्ग संज्ञा होती है। 'भव मि' 'भविष्य मि' यहां विकरण शप् विकरण स्य इनसे युक्त 'भव' 'भविष्य' की अङ्ग संज्ञार्थ सूत्र में तदादि ग्रहण है। अङ्गसंज्ञा का फल अतो दीर्घो यञि से अकारान्त अङ्ग का दीर्घ फल है।

सूत्र में विधिग्रहण न कर 'प्रत्यय पर में रहें वहां तदादि की अङ्गसंज्ञा' इस अर्थ में क्या आपत्ति है ?, स्त्री इयती (स्त्री इतनी बड़ी) यहां इयत् पर में है स्त्री शब्द की अङ्ग संज्ञा से

'स्त्रियाः' सूत्र से इयङादेश न हो एतदर्थ विधिग्रहण है। इयती—इदम् वतुप्, वकार को घ, उसको इयादेश, इदम् को इकारादेश, इकार का लोप इयत् स्त्रियां ङीप् इयती। अजादि प्रत्यय निमित्तक अङ्गसंज्ञक स्त्री शब्द के अन्त्य अल् को इयङादेश होता है, अतः स्त्री शब्दोत्तर सुनिमित्तक अङ्ग संज्ञा होते हुए भी इयङादेश यहां न हुआ। 'न पदान्त' सूत्र से स्थानिवद्भाव का निषेध से इशादेश का इकार का स्थानिवद्भाव नहीं होता है। यस्येति च सूत्र के निमित्त से 'स्त्रियाः' सूत्र स्त्री शब्द रूप अधिकापेक्ष से व्याश्रय है, दोनों में समानाश्रयत्व नहीं है अतः आभीयत्वेन इकार लोप असिद्ध न हुआ। स्त्री शब्द से विहित अजादिप्रत्यय रहे वहां इयङादेश 'प्रत्यासत्ति' न्याय से होगा, तब विधिग्रहण का क्या प्रयोजन? अभन् अकत् यहां विधिग्रहण के अभाव में अकच् प्रत्यय पर में अभन् की अङ्गसंज्ञा से अल्लोपोऽनः में नकार लोप होने लगेगा अतः विधिग्रहण आवश्यक है।

विमर्श—प्रत्यये किम् = यस्मात् प्रत्ययविधि सूत्र में सप्तम्यन्त प्रत्ययग्रहण न करने पर भी प्रत्यय विधि में प्रत्ययपद श्रुत होने से उसका अवधि प्रत्यय ही होता, पुनः प्रत्यय ग्रहण क्यों किया?, आदि प्रत्यय ग्रहण तदादि में तत्पदार्थ निर्णायक होने से कृतार्थ है, वह मर्य्यादा रूप अवधि निर्णायक न होगा। ऐसी स्थिति में अङ्गसंज्ञा प्रकृतिप्रत्ययान्त की, या उसके भी अधिक की न हो जाय एतदर्थ सूत्र में 'प्रत्यये' किया है। अङ्ग संज्ञा को परनिमित्तत्व सम्पादनार्थ 'प्रत्यये' ग्रहण आवश्यक है। इसका फल—'वव्रश्च' है। यहां 'उरत्' सू० अङ्गाधिकारीय है, अङ्ग से प्रत्यय का आक्षेप से ऋकार वृत्ति सम्प्रसारणत्व 'अचः परस्मिन्' से स्थानिवद्भाव से अकार में आने से 'न संप्रसारणे' निषेध हुआ, अतः वकार का उकार संप्रसारण न हुआ अभ्यासनिमित्त 'उरत्' का द्वित्व निमित्त प्रत्यय निमित्तकत्व है अतः परनिमित्त हो जायगा 'वव्रश्च' में दोष नहीं है। इस अरुचि से लिखा—**ततोऽप्यधिकस्य** 'देवदत्त ओदनम् अपाक्षीत्' यहां विशिष्ट की अङ्गसंज्ञा से देवदत्त के पूर्व में अडागम रूप आपत्ति होगी। इसके निरास के लिए 'प्रत्यये' आवश्यक है।

२०० अङ्गस्य ६।४।१।

इत्यधिकृत्य।

यह अधिकार सूत्र है। छठे अध्याय के चौथे पाद से सातवें अध्याय के अन्त तक इसका अधिकार है। इस अधिकार के सूत्रों को अङ्गाधिकारीय कहे जाते हैं। यहां अभ्यास बिकार के पूर्व अङ्गाधिकार यह पक्ष अनुचित है।

२०१ टाङसिङसामिनात्स्याः ७।१।१२।

अकारान्तादङ्गाट्टादीनां क्रमादिनादय आदेशाः स्युः। णत्वम्। रामेण।

अकारान्त अङ्ग से पर टा, ङसि, ङस्, इनके स्थान में क्रम से इन, आत्, स्य, आदेश होते हैं। 'राम टा' टकार की इत्संज्ञा, लोप, प्रत्ययनिमित्तक अङ्गसंज्ञा आ को इनादेश, 'अट्कुप्वाङ्' से णत्व, रामेण। णत्वम् = णत्वाश्रय णकार अर्थ है। धर्मी को ब्रह्मस्वरूप मानकर यहां णत्व लिखा है।

२०२ सुपि च ७।३।१०२।

यञादौ सुपि परे अतोऽङ्गस्य दीर्घः स्यात्।

अतो दीर्घो यञि की अनुवृत्ति है। अकारान्त अङ्ग के अन्त्य अल् का दीर्घ होता है यञादि सुप् पर में रहें। राम भ्याम्—दीर्घ। रामाभ्याम्।

विमर्श—'रामाय' आदि की सिद्धि के लिए 'ङेर्यः' वहां 'ङेरयः' न्यास कर दीर्घ सन्धि से रूपसिद्धि, 'अतो दीर्घो यञि' में 'सार्वधातुके' पद की अननुवृत्ति से 'रामाभ्याम्' आदि में दीर्घ सिद्धि, पुनः दीर्घार्थ 'सुपि च' सूत्र क्यों किया ?, 'बहुवचने झल्येत्' में सुप् की अनुवृत्ति बिना भी 'अध्वम्' प्रत्यय विधान से 'पचध्वम्' की सिद्धि होगी, यदि 'लिड्ध्वम्' धुग्ध्वम्' आदि की सिद्धि के लिए 'अध्वम्' न कर ध्वम् में एकारापत्ति 'पचध्वम्' में होगी तद्वारणार्थ 'बहुवचने स्भ्येत्' न्यास कर सकारादि एवं भकारादि झलादि बहुवचन में अकार को एकार विधान करेंगे, एवं भकारादि साहचर्य से सकारादि प्रत्यय सुप् का ग्रहण करने पर क्रियासमभिव्याहार में लकारार्थ प्रकरणोक्त 'आस्वादयस्व' आदि में दोषाभाव है ।

'घे ङिति' में सुप् की अनुवृत्त्यर्थ 'सुपि च' अनावश्यक है, सुपि किम्—'पट्वी' यहां गुण—वाचक पटु से स्त्रीलिङ्ग में टीष् प्रत्यय ही विधान है ऐसा कहने पर दोषाभाव है ।

पट्वी से आचक्षाण णिच् से कर्ता में क्विप् करने पर ङीष् में आत्मनेपद, टीष् में परस्मैपद रूप 'पटयति' रूप होगा यह तो कह नहीं सकते हैं, 'केदाराद्यञ्च' सूत्र से यञ् की अनुवृत्ति 'ब्राह्मण-माणववाडवाद्यन्' में आती पुनः यन् ग्रहण सूत्रानुक्त शब्दो से विधानार्थ है, इस भाष्य कथन से ज्ञापन कर है कि "प्रातिपदिक विहित प्रत्ययगत अनुबन्ध के समाश्रयण करके आत्मनेपद नहीं होता है", अन्यथा आचक्षाण णिच् से क्विप् में यञ् में आत्मनेपद, यन् में परस्मैपद फलभेद है पूर्वोक्त भाष्यकारोक्ति अन्यतो विधानार्थ असङ्गत होती ।

'केशवः' में अतो दीर्घो यञि से दीर्घापत्ति वारणार्थ यदि 'अव' प्रत्यय विधान करने पर तो 'मणिवः' की असिद्धि होगी, यह भी कथन उचित नहीं है ।

"श्रृङ्गवृन्दारकाभ्यामारकन्" वा० में 'श्रृङ्गारकः' वहां 'रकन्' मात्र विधान कर दीर्घ से रूप सिद्धि होगी पुनः आकार का उच्चारण व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि—'प्रातिपदिक से विहित तद्धित प्रत्यय पर में रहते दीर्घ नहीं होता है, 'केशवः' में अनापत्ति है, 'सुपि च' क्यों किया ?' आचक्षाणण्यन्त से क्विप् 'श्रृङ्ग' से आरकन् नहीं होता है, अनभिधान है, अथवा अकारान्त से विहित तद्धित प्रत्यय हलन्त से नहीं होता है प्रमाण यह है—'गोधारः' वहां 'आरगुदीचाम्' से आरक् प्रत्यय न कर रक् से प्रयोगसिद्धि होती आकारोच्चारण का फल भाष्यकार ने अन्यतो विधानार्थ मान कर 'जाडारः' कहा है, यदि हलन्त 'गोध्' आचक्षाण ण्यन्त से क्विप् कर होता वहां श्रवणार्थ आकार चरितार्थ है वह व्यर्थ नहीं पूर्वोक्त अन्य शब्द से विधानार्थ कथन व्यर्थ होगा ।

सूत्रसार्थक्य—'राजभ्याम्' 'राजभिः' 'राजभ्यः' आदि में 'सुपि च' सूत्र सत्तादशा में दीर्घ; ऐस्, एकारादेश सुप् सम्बन्ध कार्य है, उन कार्य कर्तव्य में नियमार्थ सूत्र 'न लोपः सुप् स्वर संज्ञा' सूत्र से सुप्त्व या सुप्त्व व्याप्य धर्मावच्छिन्न विधि में नलोप असिद्ध होने से दीर्घादि कार्य नहीं होते हैं, 'सुपि च' के अभाव में होने लगेंगे एतदर्थ 'सुपि च' सूत्र अत्यावश्यक है । यह शास्त्रार्थ गुरुपरम्परया अद्यावधि इस प्रकार अमुद्रित चला आता है, उसी का संक्षिप्त सारांश का यह संकलन है ।

२०३ अतो भिस ऐस् ७।१।९।

अकारान्तादङ्गाद् भिस ऐस् स्यात् । अनेकाल्त्वात् सर्वादेशः । रामैः ।

अकारान्त अङ्ग से पर अङ्गसंज्ञा निमित्त भिस् प्रत्यय को ऐस् आदेश होता है । ऐस् अनेकाल् है, अतः सम्पूर्ण प्रत्यय के स्थान में हुआ । राम भिस्—राम ऐस् वृद्धि, रुत्व विसर्ग रामैः ।

२०४ ङेर्यः ७।१।१३।

अतोऽङ्गात्परस्य ङे इत्यस्य यादेशः स्यात्। रामाय। इह स्थानिवद्भावेन यादेशस्य सुप्त्वात् सुपि चेति दीर्घः। "सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्येति परिभाषा" तु नेह प्रवर्तते। 'कष्टाय क्रमणे' इत्यादिनिर्देशेन तस्या अनित्यत्वज्ञापनात्। रामाभ्याम्।

ह्रस्व अकारान्त अङ्ग से पर चतुर्थी एकवचन के ङे को यकार आदेश होता है। राम ङे यादेश कर 'राम य' यहां स्थानिवद्भाव से ङे में स्थित सुप्त्व धर्म का यकार आदेश में आरोप कर यञादि सुप् निमित्तक दीर्घ आदेश से 'रामाय', सिद्ध हुआ। यहां यादेश का स्थानी ङे अल् समुदाय है, एक वर्णमात्र वृत्ति स्थानिता नहीं है। क्योंकि षष्ठी विभक्ति की प्रकृति 'ङे' है, एकार नहीं, स्थानिता में रहने वाला धर्म ङेत्व है, एत्व नहीं है, स्थानिता वृत्ति धर्म ही स्थानितावच्छेदक होता है, वह ङेत्व है, एत्व नहीं, अतः अल्मात्रवृत्तिस्थानितावच्छेदक के अभाव से स्थानिवद्भाव हुआ 'अल्विधि' न होने से स्थानिवद्भाव का निषेध न हुआ।

ह्रस्व अकार एवं ङे विभक्ति, इन दोनों का सन्निपात = सम्बन्ध = अव्यवहित परत्व—अव्यवहित पूर्वत्व है, उसको मानकर विधीयमान कार्य यकारादेश, वह आदेश अपनी प्रवृत्ति में उपजीव्य = उपकारक ह्रस्व अकार के नाशक कार्य दीर्घ में निमित्त = यञादि होकर नहीं रहेगा, उपजीव्य विरोध सर्वथा अनुचित है। अतः सन्निपात परिभाषा से दीर्घ न होकर 'रामय' ऐसा रूप प्राप्त हुआ, किन्तु 'कष्टाय' सूत्र निर्देश से "दीर्घ विधान में सन्निपात परिभाषा अनित्य होने से प्रवृत्त नहीं होती है" यह सामान्य ज्ञापन से यहां दीर्घ कर 'रामाय' सिद्ध हुआ। प्रकृति, प्रत्यय पर अव्यवहितोत्तरत्व सम्बन्ध से है। प्रत्यय प्रकृति पर अव्यवहित पूर्वत्व सम्बन्ध से है। यही प्रकृति प्रत्यय के दो सम्बन्ध है। रामभ्याम् यहां दीर्घ से 'रामाभ्याम्'। अनित्य होने से यहां भी सन्निपात परिभाषा की प्रवृत्ति न हुई।

२०५ बहुवचने झल्येत् ७।३।१०२।

झलादौ बहुवचने सुपि अतोऽङ्गस्यैकारः स्यात्। रामेभ्यः। बहुवचने किम्; रामः। रामस्य। झलि किम्। रामाणाम्। सुपि किम्। पचध्वम्। जश्त्वम्।

झलादि बहुवचन सुप् से अव्यवहित पूर्व ह्रस्व अकारान्त अङ्ग के अन्त्य अल् को एकार आदेश होता है। 'राम भ्यस्' अकार को एकार, सकार का रुत्वविसर्ग—रामेभ्यः।

विमर्श—'बहुवचने' इस सूत्र में न करने पर 'रामः' यहां विसर्ग एवं रुत्व दोनों असिद्ध है, स् में व्यपदेशिवद्भाव से झलादि प्रत्ययत्व ज्ञान से अकार को एकार प्राप्त है, यदि सन्निपात परिभाषा से या 'प्रत्ययः' 'परश्च' निर्देश से, यहां एकार नहीं होगा, बहुवचन का क्या फल है ?, तब रामस्य यहां एकार प्रवृत्तिरूप दोष है। यदि स्यादेश को अस्यादेश से एत्ववारण करेंगे तो इदम् शब्द का षष्ठी में 'अस्य' रूप की सिद्धि न होगी, हल्परत्वाभाव से इद्भाग का 'हलि लोप' से लोप न होगा, 'हलि सर्वेषाम्' निर्देश से यहां सन्निपात परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं है। 'आपि लोपः, अन् टौसोरकः' इस न्यास से इदम् का षष्ठ्यन्त में अस्य की सिद्धि होगी ङस् के अस्य आदेश कर अतो गुणे पररूप से 'रामस्य' में दोष नहीं है, अतः राम भ्याम् यहां दीर्घ को बाधकर एकार से 'रामेभ्याम्' बहुवचन के अभाव में होगा।

'रामाय' यहां दीर्घ कर 'सुपि च' चरितार्थ है। "रामो रामस्य रामाभ्याम्" इत्येतद् दूषणत्रयम्। रामाणाम् में झल्परत्वाभाव से एत्व न हुआ। 'पचध्वम्' यहां ध्वम् सुप् नहीं है अतः एत्व न हुआ। सुपि च से सुप् की अनुवृत्ति आती है।

रामाय आदि में 'अतो दीर्घो यञि' में सार्वधातुक की अनुवृत्ति न कर दीर्घ हो जायगा 'सुपि च' की क्या आवश्यकता है, 'पचध्वम्' में ध्वम् न कहकर अध्वम् प्रत्यय का विधान करेंगे, 'लिङ्ध्वम्' आदि के लिए अध्वम् नहीं कर सकते तो 'बहुवचने स्म्येत्' सकारादि भकारादि बहुवचन पर में रहें वह अकार को एकार से पचध्वम् में दोष नहीं है, 'केशवः' अङ्गना आदि में व प्रत्यय न कर अव करेंगे, सुपि च क्यों किया—राजन् भ्याम् पदसंज्ञा प्रकृति की करके 'नलोपः' सूत्र से नकार के लोप के बाद 'नलोपः सुप्स्वरविधौ' से सुप् निमित्तक विधान में नलोप असिद्ध होता है दीर्घ न होकर राजभ्याम् बनता है, सुपि च के अभाव में 'अतो दीर्घो यञि' से दीर्घ होकर 'राजाभ्याम्' यह अनिष्ट प्रयोग की सिद्धि होगी एतदर्थ 'सुपि च' आवश्यक है, 'अव' से केशव बनेगा, किन्तु 'मणिवः' की सिद्धि अब से न होगी आदि विस्तृत शास्त्रार्थ लेख 'सुपि च' वहां लिखा है। राम ङसि में अनुबन्ध लोप आत् आदेश दीर्घ रामात् यहां, 'वाक्' 'वाग्' इस भाष्य प्रयोग से जश्त्व कर ही—आगे के सूत्र की प्रवृत्ति करना, जश्त्व को बाधकर चर्त्व की प्रवृत्ति न करना। अन्यथा 'वाक्' 'वाच्' रूप बनेगें।

२०६ वाऽवसाने ८।४।५६।

अवसाने झलां चरो वा स्युः। रामात्। रामाद्। द्वित्वे रूपचतुष्टयम्। रामाभ्याम्। रामेभ्यः। रामस्य। सस्य द्वित्वपक्षे खरि चेति चर्त्वेऽप्यान्तरतम्यात्स एव, न तु तकारः. अल्पप्राणतया प्रयत्नभेदात्। अत एव सः सीति तादेश आरभ्यते।

अवसान में झल् का विकल्प से चर् होता है। दकार का तादेश में रामात् पक्ष में रामाद्। 'अनचि च' से विकल्प अन्त्य तकार दकार के द्वित्व से दो तकार युक्त एक तकारयुक्त, दो दकार युक्त एक दकार घटित चार रूप हुए। रामस्य में 'अनचि च' से द्वित्व कर द्वित्व पक्ष में सकार का सकार ही 'खरि च' से होता है न तकारादेश, तकार का अल्पप्राण है, सकार का वह नहीं है। यदि प्रयत्न भेद न होता तो वत्स्यति में सकार को तकारादेश न कर 'सः स्यार्धधातुके' में चर् की अनुवृत्ति ही करते तकार विधान व्यर्थ होता, इस ज्ञान का फल यह हुआ कि प्रयत्नभेद में सकार को तकार नहीं होता है, किन्तु स् का चर्त्व स् ही होता है।

०७ ओसि च ७।३।१०४।

ओसि परे अतोऽङ्गस्य एकारः स्यात्। रामयोः।

ओस् विभक्ति से अव्यवहित पूर्व ह्रस्व अकारान्त अङ्ग को एकार आदेश होता है। राम ओस्—रामे ओस् एकार को अय् आदेश रामयोः। दो राम का।

२०८ ह्रस्वनद्यापो नुट् ७।१।५४।

ह्रस्वान्तान्नद्यन्तादाबन्ताच्चाङ्गात् परस्यामो नुडागमः स्यात्।

ह्रस्व वर्ण अन्त में रहे ऐसे अङ्ग से पर, नदी संज्ञक वर्ण अन्त में रहे ऐसे अङ्ग से पर, एवं आबन्त अङ्ग से पर आम् को नुट् आगम होता है। राम आम् नुट् आगम आम् के आद्यवयव हुआ। आगम मित्रवत् होता है। राम नाम्—

२०९ नामि ६।४।३।

नामि परेऽजन्ताङ्गस्य दीर्घः स्यात्। रामाणाम्। सुपि चेति दीर्घो यद्यपीह परस्तथापीह न प्रवर्तते, सन्निपातपरिभाषाविरोधात्। नामीत्यनेन त्वारम्भसामर्थ्यात्परिभाषा बाध्यते। रामे, रामयोः। सुपि एत्वे कृते।

नाम् पर में रहते अच् है अन्त में जिसके ऐसे अङ्ग का दीर्घ होता है। नकार को णकार रामाणाम्। यहां राम नाम् इस स्थिति में 'नामि' को परत्वात् बाधकर 'सुपि च' से दीर्घ प्राप्त था किन्तु सन्निपात परिभाषा से नुट् प्रवृत्ति में उपजीव्य = उपकारक ह्रस्व का नाशक दीर्घ में नुट् यञादित्व का सम्पादक नहीं होता, अतः यहां दीर्घ उससे न हुआ, 'नामि' के विषय में सन्निपात परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है, सूत्रारम्भ सामर्थ्य से।

विमर्श—(शङ्का) 'कष्टाय' निर्देश से "दीर्घ विधान में सन्निपात परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है" अतः हरीणाम् आदि में चरितार्थ 'नामि' को बाध कर पर 'सुपि च' की प्रवृत्ति होनी चाहिए, लाघवमूलक न्याय से विशेष बाधक जहां न रहे वहां ज्ञाप्य वचन सामान्य ही है, विशेष में सामान्य एवं विशेष दो पदार्थ ज्ञान प्रयुक्त गौरव होता है। अतः चतुर्थ्येकवचन में दीर्घ कर्तव्य रहे वहां परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं यह विशेष ज्ञापन नहीं होगा, यहां परत्वात् 'सुपि च' से दीर्घ होना चाहिए ?, प्रतिपदोक्त कार्य सबसे बलवान् होता है, 'नाम्' शब्द के उच्चारण पूर्वक दीर्घविधायक 'नामि' प्रतिपदोक्त है, अतः परशास्त्र को बाध कर इससे ही दीर्घ हुआ।

'नान्नलोपः' सूत्र के भाष्य से भी विशेष ज्ञापन नहीं होता है—किमर्थं शित्वम् ? नान्नलोपः, इत्येवोच्येत एवं तर्हि रत्न नाम्, यत्न नाम् यहां परत्वेन नलोपापत्तिः दोष दिया, १ नामि, २ नान्नलोपः, ३ सुपि च इनमें परे सुपि च है। अतः नलोपको बाधकर दीर्घ ही होना चाहिए। भाष्यकार की परत्वोक्ति से चतुर्थी एकवचन में सन्निपात परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती यह विशेष ज्ञापन है यह भी तर्क असङ्गत है, नलोपापेक्षया 'सुपि च' पर है किन्तु बाधकत्व प्रयुक्त परत्व = उत्कर्षत्व नलोप में ही है। परत्वात् = उत्कृष्टत्वात् = बाधकत्वात् यही अर्थ है। बाधक में उत्कर्ष है। इस भाष्याशय को न जानने वाले अज्ञजन यथाश्रुत भाष्य से विशेष ज्ञापन करते हैं वे उपहास्यास्पद ही हैं। राम ङि राम इ—गुण रामे। राम ओस् एत्व, अय् रामयोः। राम सुप् (सु) 'बहुवचने' से अकार को एकार रामे सु यहां—

२१० अपदान्तस्य मूर्द्धन्यः ८।३।५५।

आपादपरिसमाप्तेरधिकारोऽयम्।

अपदान्त एवं मूर्धन्य इन दो पदों का पाद समाप्ति ८।३।११९ तक अधिकार है।

२११ इण्कोः ८।३।५७।

इत्यधिकृत्य।

इण् कवर्ग इन दो पदों के अधिकार करके आचार्य कहते हैं आग का सूत्र—

२१२ आदेशप्रत्यययोः ८।३।५९।

सहेः साडः स इति सूत्रात्स इति षष्ठ्यन्तं पदमनुवर्तते। इण्कवर्गाभ्यां परस्यापदान्तस्यादेशः प्रत्ययावयवश्च यः सकारस्तस्य मूर्धन्यादेशः स्यात्।

विवृताघोषस्य सस्य तादृश एव षः। रामेषु। इण्कोः किम्। रामस्य। आदेश-प्रत्यययोः किम्। सुपीः सुपिसौ सुपिसः। अपदान्तस्य किम्। हरिस्तत्र। एवं कृष्णमुकुन्दादयः।

यहां 'सहेः' सूत्र से सस्यार्थबोधक 'सः' की अनुवृत्ति है। इण् का अधिकार है। आदेश पदार्थ का सकार में अभेद सम्बन्ध से अन्वय करना। अभेद को तादात्म्य कहते हैं, या विशेष्य-विशेषण-भाव सम्बन्ध से अन्वय। प्रत्यय पदार्थ का सकार में अवयव—अवयवीभाव सम्बन्ध से अन्वय है, (अवयव—अवयवी का समवाय सम्बन्ध है) आदेश एवं प्रत्यय में सहविवक्षा में द्वन्द्व है। आदेश एवं प्रत्यय पदार्थ का वैशिष्ट्य रूप एक सम्बन्ध से अन्वय है वैशिष्ट्य के नियामक पूर्वोक्त दो सम्बन्धों में अन्यतर है। अथवा प्रत्ययावयव में भी प्रत्ययत्व व्यवहार है।

सूत्रार्थ—इण् या कवर्ग से पर अपदान्त आदेशस्वरूप सकार को या प्रत्यय का अवयव सकार को मूर्धन्य = षकारादेश ही होता है। राम सुप् (सु) अकार को एकार, षकार रामेषु। रामस्य में इण् नहीं अतः षकार न हुआ।

विमर्श—यहां शङ्का होती है कि 'इण्कोः' अधिकार क्यों किया? रामस्य में सकार को षकार होता तो प्रक्रिया लाघव से ष्यादेश विधान करते दन्त्य सकारोच्चारण से ष् नहीं होगा। अमुष्य यहां नडादिगण में 'आमुष्यायण' निर्देश से ही षत्व हो जायगा। हे राम स्य, 'षोऽन्त-कर्मणि' लोट् मध्यमपुरुष एक वचन तिङन्त) यहां अधिकार के अभाव में षकारादेश होगा। 'सात्पदाद्योः' से निषेध से षकार रूप आपत्ति नहीं है। क्यच् में सुगागमयुक्त राम की इच्छा करने वाला = रामस्यति में षत्व वारणार्थ इण् को अधिकार है। यहां भी प्रातिपदिकावयव स् का ष् का 'सात्' से निषेध होगा। चौरस्यात् शब्द से णिच् क्विप् टिलोपादि से निन्दायुक्त कर्मकर्ता तस्कर सम्बन्धी गमन कर्ता अर्थ में 'चौराः' होता है, स्य को ष्य आदेश करने पर चौराड्। चौराड् प्रयोग बनेगा, अतः स्य यथाश्रुत ही रखना। यहां निन्दा में 'षष्ठ्याः आक्रोशे' से अलुक् है। रामस्य में षत्वनिवारणार्थ अधिकार है।

'आदेशप्रत्यययोः' के स्थान में 'च' सूत्र कर 'इण् या कवर्ग से पर सकार को षकारादेश करते, 'आदेशप्रत्यययोः' का ग्रहण क्यों किया?, अच्छा चलने वाला इस अर्थ में सुपूर्वक पिस् धातु से क्विप् सुपिस् यहां षकारादेश होता एतदर्थ उनका ग्रहण है। "धातु के अवयव सकार को षकारादेश हो तो शास् वस् घस् का ही" अन्य का नहीं एतदर्थक 'शासिवसिघसीनाम्' सूत्र नियमार्थ होने से यहां दोष नहीं है।

नियम सजातीय की अपेक्षा करता है अतः आदेश भिन्न धातु का अवयव सकार में ही प्रवृत्त होगा अन्यत्र = आदेश रूप सकार में प्रवृत्त नहीं होने से 'सिसाधयिषति' में सकार आदेश रूप है अतः दोष नहीं है। 'आदेशप्रत्यययोः' न करते तो 'तिसृणाम्' यहां अनिष्ट षकारा-देश होता। रामेषु के लिए प्रत्यय ग्रहण है। यहां भी दन्त्य सकारोच्चारण सामर्थ्य से षकारादेश नहीं तब 'आदेशप्रत्यययोः' का प्रयोजन चिन्तनीय है। हरिस्तत्र में सकार पदान्त होने से षकार न हुआ। इसी प्रकार कृष्ण—मुकुन्द—कमलेश—रमेश आदि के रूप राम शब्द के समान सिद्ध करना। राम शब्द के सूत्रों को अच्छी तरह कण्ठस्थ करने से आगे के रूप निर्माण में काठिन्य की अनुभूति न होगी, विशेष कार्यमात्र का ही भविष्य में प्रदर्शन होगा। रूप कण्ठ करें। एक साथ रूपों का निर्देश—१ रामः, २ रामौ, ३ रामाः प्रथमा। रामम् रामौ रामान् द्वितीया। रामेण रामाभ्याम् रामैः तृतीया। रामाय रामाभ्याम् रामेभ्यः चतुर्थी। रामात् रामाद्, रामाभ्याम्

रामेभ्यः पञ्चमी। रामस्य रामयोः रामाणाम् षष्ठी। रामे रामयोः रामेषु सप्तमी। हे राम हे रामौ हे रामाः सम्बोधनम्।

२१३ सर्वादीनि सर्वनामानि १।१।२७।

सर्वादीनि शब्दस्वरूपाणि सर्वनामसंज्ञानि स्युः। तदन्तस्यापीयं संज्ञा, द्वन्द्वे चेति ज्ञापनात्। तेन परमसर्वत्रेति त्रल्, परमभवकानित्यत्राकच्च सिध्यति।

सर्वादि गण के शब्द २१७ सू० के बाद में प्रदर्शित है। प्राधान्य (विशेष्यतया) से सर्वार्थादि के वाचक सर्वादिगण पठित शब्दों की आकृति समान शब्दों की सर्वनाम संज्ञा होती है। यहां प्रधानतया कहने से विशेषणीभूतार्थ वाचक की सर्वनाम संज्ञा नहीं है, सर्वार्थादि अर्थ वाचक कहने से संज्ञा वाचक की सर्वनाम संज्ञा नहीं है। यह अर्थ सर्वनाम यह महासंज्ञा से ही लब्ध है।

वर्णाश्रमेतर आदि की सर्वनाम संज्ञा गणपाठ में अपठित होने से प्राप्त ही नहीं है, 'द्वन्द्वे च' सूत्र सर्वनाम संज्ञा निषेधार्थ किया है वह व्यर्थ होकर ज्ञापन = बोधन करता है कि 'सर्वादि शब्द अन्त में रहें उनकी भी सर्वनाम संज्ञा होती है। परमसर्व की सर्वनाम संज्ञा से त्रल् प्रत्यय हुआ। सर्वादि प्रकृतिक सप्तम्यन्त से त्रल् प्रत्यय सप्तम्यास्त्रल् से होता है। एवं परभवकान् यहां 'अव्यय-सर्वनाम्नाम्' से सर्वनाम संज्ञा प्रयुक्त टि के पूर्व अकच् प्रत्यय हुआ है।

२१४ जशः शी ७।१।१७।

अदन्तात्सर्वनाम्नः परस्य जशः शी स्यात्। अनेकाल्त्वात्सर्वादेशः। न चार्वणस्तृ इत्यादाविव नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वमिति वाच्यम्, सर्वादेशात् प्रागित्संज्ञाया एवाभावात्। सर्वे।

अकारान्त सर्वनाम संज्ञक शब्द से पर जश् के स्थान में शी आदेश होता है।

श् ई = शी अनेकवर्णयुक्त होने से सर्वादेश है।

यहाँ शङ्का करते है कि अर्वन् शब्द को विधीयमान तृ में ऋकार इत्संज्ञक है, केवल अनुबन्ध-रहित त् अनेकाल् नहीं अतः वह अन्त्यनकारको ही होता है, उसी प्रकार शी में शकारेत्संज्ञक है केवल ईकार यहां पूर्ववत् अन्त्यको ही होना चाहिए इकार अनेकाल् नहीं है अनुबन्धसहित में अनेकाल् व्यवहार नहीं होता है परिभाषा—'नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्' अनुबन्धप्रयुक्त अनेकाल्त्व नहीं है-अर्थात् अनेकाल् प्रयुक्त कार्य कर्तव्य रहने पर अनुबन्ध अविद्यमान सदृश हो जाता है, अतः शी आदेश सर्वादेश कैसे हुआ ? यह शङ्का यहां न करनी शी आदेश की प्रसक्ति के समय शकार की इत्संज्ञा लोप प्राप्त ही नहीं है अतः अस् को शी कर असवृत्तिप्रत्ययत्व शी में आरोप कर प्रत्यय का अवयव आदि शकार की इत्संज्ञा ततः शकार का लोप हुआ, 'नानुबन्धकृतम्' परिभाषा की यहां प्रवृत्ति ही नहीं है आदेश काल में शकार में इत्संज्ञकत्व रूप अनुबन्धत्व ही नहीं है।

विमर्श—इत्संज्ञायोग्यत्व रूप अनुबन्धत्व प्रयुक्त परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती सन्निपात परिभाषा के विरोध से, तथा हि—इत्संज्ञायोग्यत्व परिभाषा की प्रवृत्त में उपजीव्य = उपकारक है, तन्निमित्तपरिभाषा की प्रवृत्ति होगी प्रत्ययावयव आदि न होने से इत्संज्ञा का योग्यता आकाश-कुसुमसदृशी होगी। स्पष्ट उपजीव्य विरोध है। सर्व शी 'लशकु' से शकार की इत्संज्ञा लोप गुण सर्वे। शेष तृतीया तक रामवत्‌रूप है।

२१५ सर्वनाम्नः स्मै ७।१।१४।

अतः सर्वनाम्नो ङे इत्यस्य स्मै स्यात्। सर्वस्मै।

ह्रस्व अकारान्त अङ्ग से उत्तर ङे को स्मै आदेश होता है। सम्प्रदान में चतुर्थी। सर्व ङे स्मै-सर्वस्मै। सब के लिए। देहि = दो। सम्प्रदान में चतुर्थी है।

२१६ ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ ७।१।१५।

अतः सर्वनाम्नो ङिसिङ्योरेतौ स्तः। सर्वस्मात्।

ह्रस्वाकारान्त अङ्ग से पर ङसि को स्मात् एवं ङि को स्मिन् आदेश होता है। सर्व ङसि (अस्) को स्मात् सर्वस्मात् = सर्व आम् यहां नुट् को बाधनार्थसूत्र—

२१७ आमि सर्वनाम्नः सुट् ७।१।५२।

अवर्णान्तात्सर्वनाम्नो विहितस्यामः सुडागमः स्यात्। एत्वषत्वे, सर्वेषाम्। सर्वस्मिन्। शेषं रामवत्। एवं विश्वादयोऽप्यदन्ता। सर्वादयश्च पञ्चत्रिंशत्। सर्व, विश्व, उभ, उभय, डतर, डतम, अन्य, अन्यतर, इतर, त्वत्, त्व, नेम, सम, सिम। पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम्। स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्। अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः। त्यद्, तद्, यद्, एतद्, इदम्, अदस्, एक, द्वि, युष्मद्, अस्मद्, भवतु, किम्, इति।

उभशब्दो द्वित्वविशिष्टस्य वाचकः। अत एव नित्यं द्विवचनान्तः। तस्येह पाठस्तु उभकाविधयकजर्थः। न च कप्रत्ययेनेष्टसिद्धिः, द्विवचनपरत्वाभावेनोभयत उभयत्रेत्यादावविवायच्प्रसङ्गात्। तदुक्तम्—उभयोऽन्यत्रेति। अन्यत्रेति = द्विवचनपरत्वाभावे। उभयशब्दस्य द्विवचनं नास्तीति कैयटः। अस्तीति हरदत्तः। तस्माज्जसि अयजादेशस्य स्थानिवद्भावेन तयप्प्रत्ययान्ततया प्रथमचरमेति विकल्पे प्राप्ते विभक्तिनिरपेक्षत्वेनान्तरङ्गत्वान्नित्यैव संज्ञा भवति। उभये।

डतरडतमौ प्रत्ययौ। यद्यपि संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति, सुप्तिङन्तमिति ज्ञापनात्, तथापीह तदन्तग्रहणम्, केवलयोः संज्ञायाः प्रयोजनाभावात्। अन्यतरान्यतमशब्दावव्युत्पन्नौ स्वभावाद् द्विबहुविषये निर्धारणे वर्तेते। तत्रान्यतमशब्दस्य गणे पाठाभावान्न संज्ञा। त्व त्व इति द्वावप्यदन्तावन्यपर्यायौ। एक उदात्तोऽपरोऽनुदात्त इत्येके। एकस्तान्त इत्यपरे। नेम इत्यर्धे। समः सर्वपर्यायः। तुल्यपर्य्यायस्तु नेह गृह्यते, 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' इति ज्ञापनात्। अन्तरं बहिर्योगेति गणसूत्रे*ऽपुरीति वक्तव्यम्*। अन्तरायां पुरि।

अवर्णान्त से पर एवं सर्वनामसंज्ञक शब्द से विहित आम् उसको सुट् आगम होता है। यह अवर्णान्त से विहित कहते तो 'केषाम्' 'येषाम्' 'तेषाम्' आदि में सुट् न होता। सर्वनाम से पर कहते तो 'वर्णाश्रमेतराणाम्' यहां आम् को सुट् होता, इतर सर्वनाम है। 'द्वन्द्वे च' निषेध समुदाय का ही है, अवयव का नहीं, अवयव को सर्वनामप्रयुक्त अकच् एवं स्वर होता ही है। उकार एवं टकार की इत्संज्ञा लोप—सर्व आम् यहां 'येन नाप्राप्ते' न्याय से नुडागम को बाधकर आम् को सुडागम 'सर्व साम्' 'बहुवचने' से एकारादेश, 'आदेशप्रत्यययोः' से षकार सर्वेषाम्। 'हलि

सर्वेषाम्' निर्देश से एत्व कर्तव्य रहे वहां सन्निपात प० की प्रवृत्ति नहीं है। सर्व इ, इकार को स्मिन्–सर्वस्मिन्। शेष शब्द यहां कर्म अर्थ में घञ् प्रत्ययान्तः। लिङ्गानुशासन में भाव प्रत्ययान्त को पुंलिङ्गबोधन करता है कर्म प्रत्ययान्त विशेष्याधीन लिङ्गक है। रूप विशेष्य है वह नपुंसक अतः विशेषणवाचक से नपुंसक है—शेषम्। सर्व समान ह्रस्व अकारान्त सर्वनाम संज्ञक शब्दों का रूप है। राम से विशेषता—१ सर्वे, २ सर्वस्मै, ३ सर्वस्मात् (द्), ४ सर्वेषाम्, ५ सर्वस्मिन् इन पाँच रूपों में है।

रामाः। रामाय। रामात्। रामाणाम्। रामे।

सर्वादिगणपठित सर्व आदि शब्द पेंतीस हैं, ३४ नहीं, क्यों लिखा इसका अभिप्राय यह है कि 'सर्वादीनि' में तद्‌गुणसंविज्ञानबहुव्रीहि से सर्व का भी ग्रहण होता है वह छूटता नहीं। १—'लम्बकर्णमानय' में अवयवी के आनयन में परम्परया कर्ण भी आनयन क्रियान्वित है। २—दृष्टसागरमानय में सागर परम्परया भी क्रिया में अनन्वित है केवल पुरुषानयन ही होता है। प्रथम में तद्‌गुण संविज्ञान बहुव्रीहि है, द्वि० में० अतद्‌गु० सं० वि० बहु० है। अतः ३५ ही सर्वादि शब्द है।

उभशब्द दो को बोधन करने से द्विवचनान्त है, सर्वनाम संज्ञा प्रयुक्त विशेष कार्य एकवचन, बहुवचन में ही होते हैं, उभशब्द का पाठ यहां क्यों किया ?, सर्वनाम संज्ञा प्रयुक्त अकच् होकर 'उभकौ' की सिद्धि के लिए पाठ यहां है। कप्रत्यय यदि करेंगे तो कप्रत्यय में द्विवचनत्व का अभाव है, अतः 'उभयतः' उभयत्र यहां जिस प्रकार द्विवचन परत्व के अभाव से अयच् हुआ उसी प्रकार अयच् होकर 'उभयकौ' यह अनिष्ट रूप होगा। अकच् उभ की टि अकार उसके पूर्व में होने से उभ से अकच्युक्त उभक उभ ही है "तन्मध्ये पतितस्तद् ग्रहणेन गृह्यते" परिभाषा से बाद में द्विवचनार्थक औ है, अयच् न हुआ। उभयोऽन्यत्र यहां द्विवचन परत्व के अभाव में अयच् का विधान है।

विमर्श—'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' सूत्रभाष्य में उभय शब्द की अव्यय संज्ञा वारणार्थ परिगणन किया है। इससे ज्ञात हुआ कि उभय शब्द का द्विवचन नहीं है, 'उभयो मणिः' 'उभये देवमनुष्याः' इन दो उदाहरण दिये द्विवचन होता तो उसका उलंघन कर बहुवचन भाष्यकार न कहते, इससे भी यही सिद्ध हुआ कि—द्विवचन इसका नहीं है। यह कैयटमत है।

हरदत्त कहते हैं कि वह परिगणन 'पचतिकल्पम्' 'पचतिरूपम्' में अव्ययसंज्ञा निवृत्त्यर्थ है, न उभय के लिए। "न चोदाहरणमादरणीयम्" इस भाष्योक्ति से भाष्यकार कथित प्रयोगोदाहरण से अतिरिक्त उदाहरण नहीं है ऐसी कल्पना न करना। यह दो मत आचार्यों के हैं, कैयटमत अधिक आचार्य सम्मत है।

संख्यावाचक उभशब्द सुबन्त से तयप् प्रत्यय होता है—"संख्याया अवयवे तयप्"। तयप् को 'उदादुदात्तो नित्यम्' से अयच् आदेश से उभय शब्द से जस् में नित्य सर्वनाम संज्ञा से 'उभये' यही होता है। यहां अयच् में स्थानिवद्भाव से तयप् प्रत्ययत्व का ज्ञान कर अयजन्त में तयप् प्रत्ययान्त ज्ञान से जस् में प्रथमचरमेति विकल्प सर्वनाम संज्ञा की शङ्का न करनी, जस् निमित्तक सर्वनाम संज्ञा विभक्तिसापेक्षत्व से बहिरङ्ग है, विभक्ति निरपेक्षत्वेन नित्य सर्वनाम संज्ञा अन्तरङ्ग है, बहिरङ्ग के असिद्ध होने से नित्य सर्वनाम संज्ञा से एकरूप—'उभये'। अयच् स्वतन्त्र है, तयप् के स्थान में नहीं, तब यह शंका ही नहीं है। उभयी में मात्रच् प्रत्याहार है 'प्रमाणे' द्वयसच् के मात्र् से लेकर अयच् के चकार तक, अतः 'टिड्ढाणञ्' से ङीप् होकर स्वतन्त्र अयच् में भी उभयी

रूप बना यह पक्ष सिद्धान्त है। कति का डति अकारान्त नहीं अतः स्त्री वाचक में ङीप् नहीं हुआ। यद्यपि संज्ञा विधान में सुप्तिङन्त के अन्त ग्रहण से "संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति" यह परिभाषा से डतर डतम की सर्वनाम संज्ञा यहां विधीयमान होने से तदन्तविधि न होकर 'डतरान्त तदादि' 'डतमान्ततदादि' अर्थ न होना चाहिए किन्तु 'संज्ञाविधौ' प० यहां प्रवृत्त नहीं है, केवल प्रत्ययमात्र का प्रयोग नहीं होता है, एवं केवल प्रत्यय की संज्ञा भी व्यर्थ है. अतः ज्ञापक सिद्ध संज्ञाविधौ प० सार्वत्रिक नहीं है। अर्थात् अनित्य है। कतर कतम का उनका ग्रहण हुआ। अन्यतर, अन्यतम शब्द शब्द शक्ति स्वभाव से क्रमशः द्विवचन, बहुवचने ही प्रयुक्त होते हैं। पदार्थ निर्णय में अनुभव साक्षिणी प्रतीति ही प्रबल प्रमाण है, दो में एक का निर्धारण कहना हो वह अन्यतर। अनेक में एक का निर्धारण में अन्यतम शब्द का प्रयोग होता है। वे दोनों अव्युत्पन्न प्रातिपदिक है डतर, डतम, प्रत्ययान्त नहीं है। अन्यतम शब्द का सर्वादिगण में पाठ नहीं सर्वनाम संज्ञा नहीं है। त्व त्व दोनों अन्यार्थ अकारान्त है, उनमें एक उदात्त है। दूसरा अनुदात्त है। एकतान्त है। एक अकारान्त यह अनेक आचार्यों का मतभेद इसके विषय में है।

अप्रसिद्ध होने से अर्थ कह रहे हैं—नेम का आधा अर्थ है। सर्व शब्द का पर्य्याय सर्वार्थक सम शब्द की ही सर्वनाम संज्ञा होती है। 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' यहां तुल्यार्थक सम शब्द है, इससे ज्ञापन होता है कि तुल्यार्थक सम की सर्वनाम संज्ञा नहीं है (अन्यथा आचार्य 'समेषाम्' बोलते)। पुरी अर्थ में अन्तर शब्द की सर्वनाम संज्ञा अभीष्ट नहीं है अतः 'अन्तरम्' इस गणसूत्र में 'अपुरी' कहना चाहिए। "अन्तरस्यां पुरि" यह न हुआ। किन्तु 'अन्तरायां पुरि' यही हुआ सर्वादि में अन्तर्गण के तीन वचन है उसी ही आनुपूर्वी के तीन पाणिनि सूत्र भी है, गणसूत्र से नित्य सर्वनाम संज्ञा को पाणिनि सूत्र विकल्प से जस् में कहते हैं, गणसूत्रों से प्राप्त नित्य सर्वनाम के वे बाधक हैं, प्रधान विधि सूत्रों के व्याख्यान में इन गणसूत्रों का अर्थ स्पष्ट इस प्रकार है—

२१८ पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसञ्ज्ञायाम् १।१।३४।

एतेषां व्यवस्थायाम् असंज्ञायां सर्वनामसंज्ञा गणसूत्रात् सर्वत्र या प्राप्ता सा जसि वा स्यात्। पूर्वे पूर्वाः। स्वाभिधेयापेक्षावधिनियमो व्यवस्था। व्यवस्थायां किम्। दक्षिणा गाथकाः। कुशला इत्यर्थः। असंज्ञायां किम्। उत्तराः कुरवः।

पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर अधर इन सात शब्दों की व्यवस्थाकाल में और संज्ञा न हो तो गणपाठ पठित वचन से सर्वत्र प्राप्त सर्वनाम संज्ञा वह जस् पर में विकल्प से होती है। सर्वनाम पक्ष में—पूर्व अस् शी-ई-गुण पूर्वे, अन्यत्र पूर्वसवर्णदीर्घ से पू१।. । इनके अर्थ में जिस अवधि की अर्थात् मर्य्यादा की अपेक्षा उत्पन्न होती है उस विषय के नियम को व्यवस्था कहते हैं। दक्षिणाः = कुशलाः गायकाः यहां व्यवस्था का अभाव से सर्वनाम संज्ञा न हुई। दक्षिण शब्द का कुशल अर्थ में कोई भी प्रमाण नहीं है, उदार या सरल अर्थ है, अस्तु, यहां भी किसकी अपेक्षा कुशल या उदार इस उत्थिताकाङ्क्षा से व्यवस्था है। "अधरे ताम्बुलरागः' यह प्रत्युदाहरण है। 'उत्तराः कुरवः' यहां मेरु उत्तर भाग में जो वर्ष = भूभाग है उसको उत्तर कुरु कहते हैं। २२२,२२३ पृ० लक्ष्मी व्याख्या वै० सि० कौ० का देखिए = पञ्चोलिमत। भारत वर्षावधि उत्तरत्व है व्यवस्था होते हुए संज्ञा होने से सर्वनाम संज्ञा न हुई। ऋषभ पुत्र भरतः उसके नाम से प्रसिद्ध

को भारत कहते हैं, दुष्यन्त पुत्र भरत कदापि यहां गृहीत नहीं है। श्रीमद्भागवत एवं विष्णु पुराणों के आधार पर यह विचार है। एक प्रतिष्ठित सभा द्वारा प्रकाशित पुस्तक लेखक को महान् भ्रम है, जिसने 'भारत' का गलत अर्थ लिख दिया है।

२१९. स्वमज्ञातिधनाख्यायाम् १।१।३५।

ज्ञातिधनान्यवाचिनः स्वशब्दस्य या प्राप्ता संज्ञा सा जसि वा स्यात्। स्वे स्वाः। आत्मीया इत्यर्थः। आत्मान इति वा। ज्ञातिधनवाचिनस्तु स्वाः = ज्ञातयोऽर्था वा।

स्वशब्द के चार अर्थ है—१ ज्ञाति, २ धन, ३ आत्मीय, ४ आत्मा इनमें केवल दो अर्थों में ही सर्वनाम संज्ञा अभिमत है। सूत्र में लिखा—ज्ञातिधनान्यवाचिनः। अन्य शब्द का भिन्न अर्थ है, भिन्नः = भेद का आश्रय। भेद पदार्थ प्रतियोगिसापेक्ष है—"किं प्रतियोगिको भेदः" अतः यहां ज्ञाति वाचक स्व, या धन वाचक स्वार्थ भेद का प्रतियोगी है।

ज्ञाति वाचक, या धन वाचक स्वशब्द से भिन्नार्थ वाचक अर्थात् आत्मा एवं आत्मीयार्थक स्वशब्द की गणसूत्र से प्राप्त सर्वनाम संज्ञा जस् पर रहें तो विकल्प से होती है। अर्थात् आत्मार्थक, एवं आत्मीयार्थक स्वशब्द की जस् में सर्वनाम संज्ञा विकल्प से। सर्वनामसंज्ञा पक्ष में 'स्वे' अन्यत्र स्वाः। ज्ञाति या धन वाचक अर्थ में केवल—'स्वाः'।

२२० अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः १।१।३६।

बाह्ये परिधानीये चार्थेऽन्तरशब्दस्य या प्राप्ता संज्ञा सा जसि वा स्यात्। अन्तरे अन्तरा वा गृहाः = बाह्या इत्यर्थः। अन्तरे अन्तरा वा शाटकाः = परिधानीया इत्यर्थः।

बहार या पहनने का वस्त्र इस अर्थ में अन्तरशब्द हो तो उसको जो सर्वनाम संज्ञा सर्वत्र प्राप्त है वह जस् पर रहते विकल्प से होती है। अन्तर जस् सर्वनाम संज्ञा शी, अनुबन्ध की इत्संज्ञा गुण 'अन्तरे' पक्ष में 'अन्तराः' = बहार के घर। 'अन्तरे' 'अन्तराः' = शाटक अर्थ में (पहरने की वस्त्र) यहां बाह्य अर्थ = नगर के अन्त में जिसके आगे मकान नहीं है, या नगर के बीच में जिसके चारो तरफ से कोई मकान सटा हुआ नहीं है वह भी बहार है। कपड़े की मञ्जषा (पेटी) में सब कपड़ों के उपर का कपड़ा (वस्त्र) वह भी बहार कहा जाता है। अनावृत्त प्रदेश से योग रहें उसको बहिर्योग कहते हैं। गृह शब्द पुल्लिङ्ग एवं नपुंसक लिङ्ग है अतः 'गृहाः' कहा है। धान्यादिक वस्तुओं को ग्रहण करें उसे गृह कहते हैं। अधिकांश घर में निवास करने से गृहा= स्त्री को भी कहता है। ग्रह से क प्रत्यय एवं संप्रसारण पूर्वरूप वह घर घर नहीं जहां गृहिणी नहीं। "न तद्गृहं गृहं प्रोक्तं गृहिणी गृहमुच्यते"। शीतकाल में "दोहर" ओढ़ी जाती है, उसका उपरि वस्त्र का भी बहियोंग है।

२२१ पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा ७।१।१६।

एभ्यो ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ वा स्तः। पूर्वस्मात्, पूर्वात्, पूर्वस्मिन्, पूर्वे। एवं परादीनाम् अपि। शेषं सर्ववत्। एकशब्दः संख्यायां नित्यैक—वचनान्तः।

पूर्वादि सात एवं स्व तथा अन्तर इन नव शब्दों के परवर्ती ङसि एवं ङि को व्यवस्थाकाल में और संज्ञा भिन्न अर्थ में क्रमशः स्मात् एवं स्मिन् विकल्प से होता है। पूर्वस्मात्, पूर्वात् पूर्वस्मिन् पक्ष में पूर्वे, दो दो रूप हैं। एक शब्द के आठ अर्थ हैं—१ अन्य २ प्रधान ३ प्रथम, ४ केवल ५ साधारण ६ समान ७ अल्प ८ संख्या।

एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा।
साधारणे समानाल्पे संख्यायाञ्च प्रयुज्यते॥

उनमें संख्या = एकत्व का प्रतिपादक एक शब्द नित्य एकवचनान्त ही है। संख्या वाचक को छोड़ कर अन्य सात अर्थों में एकशब्द के सभी विभक्तियों में रूप एकवचन द्विवचन बहुवचन में होते हैं। संख्या में—१ एकः। २ एकम् ३ एकेन ४ एकस्मै ५ एकस्मात् ६ एकस्य ७ एकस्मिन् वे रूप है। अवशिष्ट ११७ सूत्र में निर्दिष्ट शब्द जो हलन्त है उसका विवरण आगे प्रकरण में व्यक्त होगा, इकारान्त द्वित्व संख्या वाचक के रूप इकारान्त शब्दमें बताए जावेगें।

सर्वनाम संज्ञा के निषेध प्रकरण का प्रारम्भ होता है—

२२२ न बहुव्रीहौ ।१।१।२९।

बहुव्रीहौ चिकीर्षिते सर्वनामसंज्ञा न स्यात्। त्वकं पिता यस्य स त्वत्कपितृकः। अहकं पिता यस्य स मत्कपितृकः। इह समासात् प्रागेव सर्वनामसंज्ञा निषिध्यते। अन्यथा लौकिके विग्रहवाक्ये इव तत्राप्यकच् प्रवर्तेत। स च समासेऽपि श्रूयेत। अतिक्रान्तो भवकन्तमतिभवकानितिवत्।

भाष्यकारस्तु त्वकत्पितृको मकत्पितृक इति रूपे इष्टापत्तिं कृत्वैतत्सूत्रं प्रत्याचख्यौ, यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्। संज्ञोपसर्जनीभूताः न सर्वादयः, महासंज्ञाकरणेन तदनुगुणानामेव गणे सन्निवेशात्। अतः संज्ञाकार्य्यम् अन्तर्गणकार्य्यञ्च तेषां न भवति। सर्वो नाम कश्चित् तस्मै सर्वाय देहि। अतिक्रान्तः सर्वमतिसर्वस्तस्मै अतिसर्वाय। अतिकतरं कुलम्। अतितत्।

बहुव्रीहि समास के लिए अलौकिक विग्रह वाक्य के अवयव सर्वादि शब्द की सर्वनाम संज्ञा नहीं होती है। बहुब्रीहि समास कर देने पर सर्वादि शब्दों के अर्थ विशेषण होने से उपसर्जन होगें, प्राधान्य से सर्वार्थ वाचक नहीं है सर्वनाम संज्ञा प्राप्त ही नहीं यह निषेध व्यर्थ सिद्ध होगा अतः सूत्र में बहुव्रीहि शब्द तदर्थक अलौकिक विग्रहार्थ है। शास्त्रीय सभी कार्य अलौकिक विग्रह वाक्य में ही प्रवृत्त है। लोक में बोला जाय उसे लौकिक विग्रह वाक्य कहते हैं। १ 'राजन् अस् पुरुष स्' २ राज्ञः पुरुषः। प्रकृत में अलौकिक विग्रह वाक्य के अवयव सर्वादि शब्दों की सर्वनाम संज्ञा नहीं हुई। लौकिक विग्रह वाक्य में सर्वादि शब्दों की सर्वनाम संज्ञा एवं तत्प्रयुक्त अकजादि कार्य तो होता ही है। यथा 'त्वकं पिता यस्य' यह लौकिक विग्रह वाक्य है। तद्घटक युष्मत् शब्द की सर्वनामसंज्ञा हुई, अकच् प्रत्यय हुआ 'त्वकम् इति' इसी प्रकार 'अहकम्' इति। युष्मद् सु पितृ सु यहां अलौकिक में सर्वनाम, नहीं अतः अकच् न हुआ इस सूत्र से सर्वनाम संज्ञा का निषेध हुआ। यदि यहां निषेध न करते तो विग्रह वाक्य में केवल युष्मद् संबोध्य अर्थ प्रतिपादक अनुसर्जन है, सर्वनाम संज्ञा से अन्तरङ्गत्व प्रयुक्त अकच् होता उसका समास करने पर भी श्रवण होता यथा 'भवन्तम् अतिक्रान्तः' इस लौकिक विग्रह से भवच्छब्द केवल विशेष्यतया अर्थ प्रतिपादक होने से

सर्वनाम संज्ञक होने से अकच् प्रत्यय हुआ उसका समास होने पर भी श्रवण रहा—"अतिभवकान्" वैसा ही त्वकत्पितृकः, मकत्पितृकः, न हो किन्त कप्रत्यय मे त्वत्कपितृकः, मत्कपितृकः इष्ट प्रयोग सिद्धि हो एतदर्थ यह सूत्र है।

सूत्र प्रत्याख्यान वादी भाष्यकार का कथन है कि—'त्वकत्पितृकः' मकत्पितृकः इन रूपों में इष्टस्य = अभिप्रेतस्य आपत्तिः = कल्पना अर्थात् अभिमत मान कर इस सूत्र का प्रत्याख्यान किया। प्रत्याख्यान का अर्थ है—खण्डन। **यथोत्तरम्**—पूर्व पूर्व मुनियों की उत्तर उत्तर मुनियों द्वारा वर्णित अर्थों में सम्मति है, अतः यहां भाष्यकार का प्रत्याख्यान पाणिनि सम्मत है, उनका परस्पर विरोध प्रयुक्त अप्रामाण्य नहीं है।

विमर्श—महर्षि पाणिनि भाष्यकृत सूत्र का प्रत्याख्यान को जानते हैं, एवं कात्यायनोक्त सूत्रों की न्यूनता परिहारार्थ वार्तिकों को भी वे जानते हैं, किन्तु "आचार्याः कृत्वा न निवर्तन्ते" इस पवित्रतम सिद्धान्त को अङ्गीकार कर निर्मित सूत्र के अनन्तर ज्ञातार्थ के लिए सूत्रों में परिवर्तन नहीं करते हैं। न तो स्वोक्ति में अभिनिवेश ही करते हैं, गुणग्राही आचार्य पाणिनि है। यह विवरण यद्यपि व्याख्यान लब्ध है, तो भी प्रमाणोपन्यास कुतर्क निवृत्त्यर्थ आवश्यक है।

'धिन्विकृण्वोर च' सूत्र से 'धिनोति' प्रयोग सिद्ध होता है—गत्यर्थक धिवि धातु के वर्तमान में लट् तिप्, धातु में इकार की इत्संज्ञा से 'इदितोः' सूत्र से नुम् (न्) धिन्व् ति यहां वकार को पूर्व लिखित सूत्र से अकारादेश, शप् को बाध कर उविकरण 'धिन् अ उ ति' उकार की आर्धधातुक संज्ञा तन्निमित्तक 'अतो लोप' सू० से अकार लोप हुआ, यहां लघूपधगुण 'पुगन्त' से प्राप्त हुआ, उसका निषेधार्थ अकार लोप का स्थानी अकार का स्थानिवद् भाव हुआ, उपधा में न् है, इकार नहीं, गुण न हुआ 'धिनोति'। यह वस्तु स्थिति है—यहां विमर्श यह है कि—पाणिनि आचार्य गुणवारणार्थ इस यत्न को किये हैं इसमें उनका गूढ़ रहस्य प्रच्छन्न है। अन्यथा 'धिन्विकृण्वो र्लः' कहते। लुक् की 'ल' संज्ञा प्रसिद्ध है। आचार्य वकार का लोप कर स्वमत में 'न धातुलोपे' सूत्र धात्वंश लोप से गुण का निषेध होता पुनः गौरवग्रस्त पक्ष—अकार विधान, स्थानिवद्भाव आदि से अनुमान है कि आचार्य जानते हैं कि 'न धातुल्लोपे' का भाष्यकार प्रत्याख्यान करने वाले हैं अतः उस पक्ष में गुणनिषेधार्थ यह यत्न किया, इससे प्रत्याख्यान ज्ञाता पाणिनि है, यह सिद्ध हुआ।

२—सूत्र निर्माण समय कात्यायन नहीं, न उनकी कृति = वार्तिक। तथापि "कुलटाया वा" सूत्र में पररूप करने से वार्तिकार द्वारा भविष्यत् काल में वक्ष्यमाण 'शकन्धादिषु पररूपम्' का आचार्य्य पाणिनि को प्रथम से ही ज्ञान रहा है। अन्यथा "कुलटाया वा" सूत्र निर्माण करते। इन सबसे यह सिद्ध हुआ कि उत्तरोत्तर मुनि अभिप्रेत अर्थ में पूर्व पूर्व मुनियों की सम्मति है। विरोध नहीं है।

संज्ञा बोधक शब्द एवं उपसर्जनीभूत शब्दों की सर्वनाम संज्ञा निवारणार्थ सर्वनाम महासंज्ञा का तात्पर्य यह है कि वे सर्वादि ही नहीं है अतः सर्वनाम संज्ञा प्राप्त ही नहीं, सर्वादिगण अपठित वे हैं इस कल्पना में शास्त्र बाध नहीं है। तात्पर्य यह है कि लघु उपाय से अधिक अर्थों के ज्ञानार्थ संज्ञा है, इससे लघुस्वरूप न हो सके ऐसी स्वल्पतम अक्षर युक्त संज्ञा उचित थी पुनः अनेक वर्णों से अनेक पदों से युक्त संकेतितार्थ ज्ञान के लिए 'सर्वनाम' यह महासंज्ञा करण में आचार्य का गूढ़ पूर्व वर्णित अभिप्राय है—संज्ञा शब्द, एवं विशेषणी भूतार्थ वाचक शब्द सर्वादि नहीं है। अतः इन दोनों की सर्वनाम संज्ञा निवारणार्थ 'संज्ञोपसर्जनीयानां प्रतिषेधो वाच्यः" यह वार्तिक अनावश्यक है। संज्ञापदार्थ प्रसिद्ध है। उपसर्जनपदार्थ = इतर पदका अर्थ विशेष्य रहें, उसमें

विशेषणी भूत अर्थ का वाचक को उपसर्जन कहते है, अतिसर्व में अत्यर्थ = अतिक्रमणकर्ता वह अर्थ विशेष्य है, सर्वार्थ, उसमें विशेषण है, उसका वाचक सर्व है, वह सर्वादि नहीं अतः सर्वनाम संज्ञा की प्राप्ति ही नहीं है। अतिसर्वाय देहि.यही रूप है। एवं किसी मनुष्य का नाम सर्व रखा वह संज्ञावाचक का भी 'सर्वाय' रूप होता है, 'सर्वस्मै' नहीं। संज्ञा एवं विशेषणीभूतार्थ शब्दों को सर्वादित्व-प्रयुक्त कार्य एवं सर्वादि के अन्तर्गण त्यदादि प्रयुक्त कार्य नहीं होता है। द्वितीया-तत्पुरुष समासयुक्त अतिसर्व, एवं अतिकतर, एवं अतितद् यहां क्रमशः स्मै आदि कार्य, अद्डादेश रूप कार्य, त्यदादि प्रयुक्त अकारादेश-सकारादेशरूप कार्य न हुवे। अतिसर्वाय, अतिकतरम्, अतितत् 'सर्वनाम' इस महासंज्ञा मूलक पूर्वोक्त व्याख्या न करते तो अनिष्ट रूप इस प्रकार होते—अतिसर्वस्मै, अतिकतरद्, पुंलिङ्ग में अतिसः।

२२३ तृतीयासमासे १।१।३०।

अत्र सर्वनामता न स्यात्। मासपूर्वाय। तृतीयासमासार्थवाक्येऽपि न। मासेन पूर्वाय।

तृतीया तत्पुरुषसमास के लिए अलौकिक विग्रह का घटक = अवयव सर्वादि शब्द की सर्वनाम संज्ञा नहीं होती है। "विभाषा दिक् समासे" से समास की अनुवृत्ति से कार्यनिर्वाह सम्भव था, पुनः इस सूत्र में समास ग्रहण व्यर्थ होकर तृतीया समासार्थ जो अलौकिक विग्रह वाक्य तद् घटक सर्वादि की सर्वनाम संज्ञा नहीं होती है। 'अधिकमधिकार्थम्' न्याय से। मासेन पूर्वः = मासपूर्वः तस्मै मासपूर्वाय असमासस्थल में मासेन पूर्वाय = एक महीने से बड़ा।

२२४ द्वन्द्वे च १।१।३१।

द्वन्द्वे उक्ता संज्ञा न। वर्णाश्रमेतराणाम्। समुदायस्यायं निषेधो न त्ववयवानाम्। नचैवं तदन्तविधिना सुट् प्रसङ्गः, सर्वनाम्नो विहितस्यामः सुडिति व्याख्यातत्वात्।

'सर्वादीनि' सूत्र में तदन्त विधि से जो सर्वनामसंज्ञा वह द्वन्द्व समास की संज्ञक शब्द की नहीं होती। 'द्वन्द्वे' में सप्तमी प्रथमार्थ में है। अधिकरणार्थक नहीं है। द्वन्द्व संज्ञक सर्वनाम संज्ञा को प्राप्त नहीं करता है। इससे यह स्पष्ट है कि यह समुदाय का ही निषेधक है। द्वन्द्व घटक सर्वादि की सर्वनाम संज्ञा निष्कण्टक होती है, अतः अवयवीभूत शब्दों को अकच् एवं स्वर करना चाहिए। "वर्णाश्च आश्रमाश्च इतरे चेति" द्वन्द्व चार्थमें कर वर्णाश्रमेतर से आम् यहां समुदाय की सर्वनामसंज्ञा का निषेध से सर्वनाम संज्ञक से विहित आम् परमे नहीं सुडागम न होकर नुडागम एत्व णत्व से 'वर्णाश्रमेतराणाम्' सिद्ध हुआ। यहां द्वन्द्व के अवयव = इतर सर्वनाम संज्ञक है, तदन्त विधि से सर्वनामान्त है तो भी सुट् न हुआ, सर्वनाम से आम् विहित नहीं है, असर्वनाम = वर्णाश्रमेतर से विहित है। समुदाय निषेध में भाष्य भी प्रमाण है—"अकच्स्वरौ तु कर्तव्यौ प्रत्यङ्गं मुक्तसंशयम्" इति। 'येन विधिः' सूत्र पर भाष्यकार ने कहा है कि—"प्रयोजनं सर्वनामाव्ययसंज्ञायाम्" इससे सर्वनाम संज्ञा में तदन्त विधि है।

२२५ विभाषा जसि १।१।३२।

जसाधारं शीभावाख्यं यत्कार्यं तत्र कर्तव्ये द्वन्द्वे उक्ता संज्ञा वा स्यात्। वर्णाश्रमेतरे। वर्णाश्रमेतराः। शीभावं प्रत्येव विभाषेत्युक्तमतो नाकच्, किन्तु कप्रत्यय एव। वर्णाश्रमेतरकाः।

द्वन्द्व समास की सर्वनाम संज्ञा नहीं होती यह कहा है तो भी जस् के स्थान में 'जसः शी' से शी करने में सर्वनाम संज्ञा का पूर्व सूत्र से निषेध विकल्प से होता। निषेध विकल्प में विधि विकल्प यह फलितार्थ हो तो भी न 'बहुव्रीहौ' से न की ही इसमें अनुवृत्ति है, यह सूत्र विकल्प से सर्वनाम संज्ञा का निषेधक ही है। शीभाव करने में ही निषेध विकल्प। सर्वनाम संज्ञा प्रयुक्त समुदाय से अकच् करने में सर्वनाम संज्ञा का पूर्व सूत्र से नित्य निषेध है, अतः अकच् न हुआ, किन्तु कप्रत्यय ही होता है। वर्णाश्रमेतरे वर्णाश्रमेतराः।

विमर्श—१—ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र वे वर्ण है। २—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ-संन्यास वे आश्रम है। ३—वर्ण एवं आश्रम से भिन्न अनेक स्मृतियों में वर्णित अनुलोमसंकर प्रतिलोमसंकर एवं उपजातियां वे सब इतर से यहां ग्राह्य है। इतर शब्द का अन्य = भिन्न अर्थ है। एवं योगिक व्युत्पत्ति से नीच अर्थ भी है—"इतरस्त्वन्यनीचयोः" कोश। काम का बीज इकार है, तृ धातु से 'ऋदोरप्' सू० अप् प्रत्यय गुण इतरः = इः = कामः तेन तरति = काम प्रधान होने से आभूषणादि से अलङ्कृत नीच अर्थ है, ईश्वर भक्ति बहिर्मुख आभूषणादि प्रियः।

सूत्र में जसि अधिकरण में है वह किसका आधार है शीभाव का तो कह नहीं सकते, आधार आधेय दोनों की सत्ता एकदा रहती है—'भूतले घटः' यहां भूतल भी है जो घट का आधार है, एवं आधेय घट भी है। शीभाव सत्ता दशा में जस् नहीं है उसका नाश करके शी होता है। विद्यमान ही आधार होता है। नष्ट घड़ा सम्प्रति जलयुक्त है ऐसा व्यवहार लोक में नहीं होता है ?, कालगत आधारत्व जश् में आरोप कर कथञ्चित् निर्वाह करना, वस्तुतः यह क्रम अनुचित है। "सिद्धस्य गतिश्चिन्तनीया" से यथाकथञ्चित् समाधान किया गया।

२२६ प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाश्च १।१।३३।

एते जसः कार्य्यं प्रत्युक्तसंज्ञा वा स्युः। प्रथमे प्रथमाः। शेषं रामवत्। तयः प्रत्ययस्ततस्तदन्ता ग्राह्याः। द्वितये। द्वितयाः। शेषं रामवत्। नेमे। नेमाः। शेषं सर्ववत्। ॐ विभाषा प्रकरणे तीयस्य ङित्सूपसंख्यानम् ॐ। द्वितीयस्मै। द्वितीयायेत्यादि। एवं तृतीयः। अर्थवद्ग्रहणान्नेह—पटुजातीयाय। निर्जरः।

प्रथम-चरम-तयप्रत्ययान्त-अल्प-अर्ध-कतिपय-नेम वे शब्द जस् को कार्य समय विकल्प सर्वनाम संज्ञक है। यहां केवल अर्धार्थक नेम सर्वादि है, अन्य असर्वादि है। प्राप्ताप्राप्तविभाषा यह है। 'प्रथमे' यहां सर्वनाम संज्ञा। पक्ष में। 'प्रथमाः' रामवत् रूप। तयप् 'प्रत्ययग्रहणे' परिभाषा से तयान्ततदादि का ग्रहण है। द्वितये। पक्ष में द्वितयाः। रामवत्। नेमे, नेमाः, सर्व अन्यत्र सर्व सदृश रूप होते हैं।

इस विभाषा प्रकरण में तीय प्रत्ययान्त शब्दों की ङकारेत्संज्ञक विभक्ति पर रहते सर्वनाम संज्ञा करनी चाहिये। संज्ञा पक्ष में द्वितीयस्मै। पक्ष में द्वितीयाय। तृतीयस्मै। तृतीयाय। दूसरा इस अर्थ में द्विशब्द से पूरणार्थक तीय प्रत्यय है, सू० द्वेस्तीयः। त्रेः सम्प्रसारणम्, से तीसरा अर्थ में त्रिशब्द से तीय प्रत्यय, एवं र् का ऋकार सम्प्रसारण, पूर्वरूप से 'तृतीय' की सिद्धि हुई। वार्तिक में तीय पूरणार्थक अर्थवान् का ग्रहण करने से प्रकारवचने में प्रकारार्थक जातीयर् प्रत्यय का घटक जो तीय वह सर्वथा निरर्थक है, अतः 'पटुजातीयाय' यही है अर्थ—निपुण सदृश के लिए। 'प्रकारवचने जातीयर्' पा० सू० है। प्रकृति अर्थवती है। प्रत्यय अर्थवान् है इन दोनों के अवयव वर्ण अनर्थक है। जातीयर् का सदृश अर्थ है।

जिसको बुढ़ापा नहीं आता = देवतार्थक निर्जर शब्द है। 'निर्गता जरा यस्मात्' अर्थ में बहुव्रीहि समास जरा के आकार का 'गोःस्त्रियोरुपसर्जनस्य' से ह्रस्व अकार। समास संज्ञा की प्रातिपदिकसंज्ञा प्रथमैकवचन में सु उकार की इत्संज्ञा लोप, पदसंज्ञा, पदान्त सकार को रु (र्) विसर्ग में निर्जरः। 'अजरा अमरा देवाः' कोष है।

२२७ जराया जरसन्यतरस्याम् ७।२।१०१।

जराशब्दस्य जरस् वा स्यादजादौ विभक्तौ। पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च। अनेकाल्त्वात्सर्वादेशे प्राप्ते निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति। एकदेशविकृतस्यानन्यत्वाज्जरशब्दस्य जरस्। निर्जरसौ। निर्जरसः। इनादीन् बाधित्वा परत्वाज्जरस्। निर्जरसा। निर्जरसे। निर्जरसः। पक्षे हलादौ रामवत्। वृत्तिकृता तु पूर्वविप्रतिषेधेन इनातोः कृतयोः सन्निपातपरिभाषाया अनित्यत्वमाश्रित्य जरसि कृते निर्जरसिन निर्जरसादिति रूपे, न तु निर्जरसा निर्जरस इति केचिदित्युक्तम्। तथा भिसि निर्जरसैरिति रूपान्तरमुक्तम्। तदनुसारिभिश्च षष्ठ्येकवचने निर्जरस्येत्येव रूपमिति स्वीकृतमेतच्च भाष्यविरुद्धम्।

जरा शब्द को जरसादेश होता है अजादि विभक्ति पर रहें। (परि०) पदाधिकार में या अङ्गाधिकार में विहित कार्य उस शब्द को या उस शब्द अन्त में रहें उसको होता है। जरस् आदेश अनेकाल् है, वह सर्वादेश प्राप्त हुआ, किन्तु 'परिभाषा' से सूत्र में षष्ठी विभक्ति का प्रकृति भूत शब्द के समान शब्द को ही आदेश होता है। 'जरायाः' में षष्ठी विभक्ति की प्रकृति जरा है, उसके समान वर्ण मात्रा वाला शब्द लक्ष्य में 'जरा' वह अजादि विभक्ति के पूर्व है उसकी ही जरसादेश होता है परमजरा में भी जरा को ही जरसादेश हुआ है। समुदाय को नहीं। निर्जर औ यहां निर्दिश्यमान जर है, उसको ही जरसादेश होता है। षष्ठी विभक्ति अस् उसकी प्रकृति जरा है, जरा से 'स्वं रूपम्' से उपस्थित 'ज् आ, र्, आ' है, या एकदेश विकृतन्याय से 'जर,' उसकी उपस्थिति अन्य शास्त्र सहकार से नहीं है वही निर्दिश्यमान है। जराशब्दान्त यह अर्थ 'येन विधिः' परिभाषा रूप वचन सहकार से हुआ, अतः समुदाय परमजरा या निर्जर निर्दिश्यमान नहीं है। शब्दशास्त्रीय संज्ञाओं में स्वरूप को छोड़ कर ही लेना।

सिद्धान्त अर्थ इस प्रकार है—अजादि विभक्त्यव्यवहित पूर्व जराशब्दान्ताङ्गावयव निर्दिश्यमान उसको जरसादेश होता है। सप्तम्यन्त अजादि का निर्दिश्यमान में ही अन्वय होता है। निर्दिश्यमान अजादि विभक्त से अव्यवहित पूर्व होना चाहिए। जरा निर्दिश्यमान है 'जर' नहीं ?, एकदेश = एकावयव से विकारयुक्त अनन्यवत् = स्ववत् है, अवयवी का एक अवयव विकारयुक्त होने पर भी वह अन्य सदृश नहीं होता है। जब अन्य के सदृश नहीं तो अन्य होना असम्भव है। प्रकृत में जरा अवयवी का एक अवयव आकार ह्रस्वरूप विकारयुक्त अकार होकर जर जरा से अन्य सदृश नहीं अर्थात् वह ही है अतः जरा वृत्ति निर्दिश्यमानत्व जर में है उसको भी जरसादेश हुआ। निर्जरसौ। पक्ष में निर्जरौ। निर्जरसः। निर्जराः। निर्जरसम्, निर्जरम्। निर्जरसौ। निर्जरौ। निर्जरसः। निर्जरान्। द्वितीया तक के रूप।

निर्जर टा (आ) यहां इनादेश को बाध कर जर होने से जरसादेश हुआ। निर्जरसा, पक्ष में निर्जरेण। चतुर्थी के एकवचन में 'ङेर्यः' को बाध कर परत्वात् जरस् निर्जरसे, निर्जराय, पञ्चमी में आत् को बाध कर जरसादेश निर्जरसः, निर्जरात्, षष्ठी में स्य को बाध कर जरसादेश, स्मिन् को बाध कर जरसादेश। हलादि में जरसादेश न होने से रामवत् रूप एक एक ही।

माधवाचार्य जो धातु वृतिकार नाम से प्रसिद्ध है वे कहते हैं कि—जरसादेश को विभक्ति स्थानिक आदेश—इन=आत्-स्य-ऐस् स्मिन् वे पूर्वविप्रतिषेध से बाध करते हैं—* "जरसादेशाद् विभक्त्यादेशाः पूर्वविप्रतिषेधेन" * जरसादेश को बाध कर पू० वि० से वि० आदेश होते हैं। इसमें प्रमाण वृत्तिकार यह देते तो कि इनादेश में न मात्र आदेश करके "आङ्ओसोः' न्यास कर 'बहुवचने' से एकार की अनुवृत्ति कर आङ् या ओस् परक अदन्ताङ्ग को एकारादेश से रामेण रामयोः' आदि की सिद्धि हो जाती। 'चापः' सूत्र में आङ् ओस् की अनुवृत्ति से आवन्ताङ्ग को एकार होता है आङ् या ओस् परमें रहे तो। 'रमया' 'रमयोः' आदि की सिद्धि होती है। पुनः इनादेश में १—इकारोच्चारण, आत् आदेश में अत् करके दीर्घ से 'रामात' आदि बनते २—दीर्घ उच्चारण, एस् कर वृद्धि होती ऐस में ३—ऐकारोच्चारण व्यर्थ होकर ज्ञापन करते हैं की पूर्वविप्रतिषेध से विभक्त्या देश ही होते हैं। विभक्त्यादेश के बाद सन्निपात परिभाषा को अनित्य मान कर जरसा देश से निर्जरसिन निर्जरसात् निर्जरसैः आदि रूप होते हैं वहां श्रवणार्थ इकार आकार ऐकार चरित्रार्थ है। ज्ञापन का स्वांश में चारितार्थ्य भी है। अतः निर्जरसा निर्जर से आदि रूप नहीं होते हैं। सन्निपातपरिभाषा को अनित्यत्व में भी ज्ञापक इकार आकार ऐकार ही है—"यावता विना यद् अनुपपन्नं तत्सर्वं तेन ज्ञाप्यते।" जब तक स्वांश मे वे चरितार्थ नहीं होगें तब तक अवान्तर ज्ञापक से अपना मार्ग निष्कण्टक करेगें, यदि सन्निपातपरिभाषा से जरस् न हो तो पुनः उनका वैयर्थ्य ही होगा। १—पूर्व में विभक्त्यादेश। २—सन्निपात परिभाषा अनित्य दोनों में वे ज्ञापक है। इस प्रकार माधव एवं उनके अनुयायि वर्ग ने कहा।

विमर्श—यह सब व्यर्थ है जिसको माधव ने प्रमाणत्वेन उपन्यास किया है। उन सब का भाष्यकार ने प्रत्याख्यान किया है इनमें इकार न करना, आत् में अत् कहना, ऐस् एस् में मात्रासाम्य है एवं पूर्वरूप का शङ्का ही नहीं है। अतः प्रमाणाभावात् माधव मत असङ्गत है। * पुनः माधव कहते हैं कि मेरे मत में भाष्य वचन प्रमाण है—'अजरांसि' यहां अजर अस्। अस् को शी आदेश, अजर ई, इस अवस्था में नुम् की प्राप्ति है एवं जरसादेश की प्राप्ति है, इस प्रसङ्ग में पूर्व प्रवृत्ति किसकी हो। तब भाष्यकार कण्ठ रव से कहते हैं कि * "नुम्जरसौः प्राप्तयोः परत्वाज्जरस्" * इसमें पूर्व विभक्त्यादेश, जरसादेश बाद में झलन्तलक्षण 'नपुंसकस्य' से नुम् 'अत्वसन्तस्य' से दीर्व अनुस्वार—"अजरांसि ब्राह्मणकुलानि" बना। इस भाष्य से स्पष्ट है कि जरसादेश से पूर्व विभक्त्यादेश होते हैं * अजर जस् वहां प्रथम शी आदेश न होता तो नुम् की प्राप्ति ही नहीं है सर्वनामस्थान परत्व के अभाव से। तब नुम् के साथ जरसादेश की प्राप्ति को शंका एवं परत्वात् जरसादेश यह भाष्य असङ्गत होगा। अतः इस भाष्य से यह निर्विवाद है कि प्रथम विभक्त्यादेश ततः नुम् एवं जरसादेश की एक समय प्राप्ति है, परत्वात् नुम् को बाध कर जरस्। अतः माधवमत उचित ही है। (खण्डन) यह भी माधवोक्ति असङ्गत है—भाष्यकार का वास्तविक तात्पर्यभूत अर्थ न जान कर श्रीमाधव प्रवृत्त हैं। 'अजर अस्' उस अवस्था में जरसादेश प्राप्त है, एवं शी आदेश प्राप्त है, परत्वात् जरसादेश होता है। उस पर कहा गया कि शी आदेश नित्य है—जरसादेश करने पर या जरसादेश न करने पर भी प्राप्त है, उस पर कहा गया कि जरसादेश भी नित्य है, शी के पूर्व में प्राप्त है, शी करने पर भी प्राप्त है, नित्य एवं पर जरसादेश है, उस पर कहा गया कि शी आदेश करने पर जरसादेश को नुम् बाध करेगा, जरसादेश अनित्य है, उस पर भाष्यकार ने जरसादेश को नित्यत्व प्रतिपादनार्थ कहा कि—नुम् को परत्वाज्जरसादेश बाध करता है, अतः अजर जस् यहां परत्वात् नित्यत्वात् प्रथम जरस् ततः शी, ततः नुम्, यही भाष्याशय है, श्रीमाधवमत सर्वथा उपेक्षा करने योग्य है। एवं वह मत भाष्यविरुद्ध है, 'विप्रतिषेधे परम् कार्यम्' इस सूत्र से भी विरुद्ध है।

२२८ पद्दन्नोमास्हृन्निशसन्यूषन्दोषन्यकञ्छकन्नुदन्नासञ्छस्प्रभृतिषु ६।१।६३।

पाद, दन्त, नासिका, मास, हृदय, निशा, असृज्, यूष, दोष, यकृत्, शकृत्, उदक, आस्य, एषां पदादय आदेशाः स्युः शसादौ वा।

यत्तु 'आसनशब्दस्य आसन्नादेश' इति काशिकायामुक्तं तत्प्रामादिकम्। पादः। पादौ। पादाः। पादम्। पादौ। पदः। पादान्। पदा। पादेन। इत्यादि।

पाद दन्त नासिका मास हृदय निशा असृज् यूष दोष यकृत शकृत उदक आस्य इन शब्दों के स्थान में क्रम से पद्, दत, नस्, मास्, हृद्, निश्, असन्, यूषन्, दोषन्, शकन्, उदन्, आसन्, आदेश शस् आदि विभक्ति पर में रहते विकल्प से होते हैं।

आसन शब्द को 'आसन्' आदेश होता है यह मत जो काशिका वृत्ति में लिखा है, वह प्रमाद = भूल है, या अनवधानता है। जयादित्य अपर नामक वामनाचार्य ने जो पाणिनीय सूत्रों की वृत्ति लिखी है वह पुण्य क्षेत्र = काशी क्षेत्र में लिखी जाने के कारण काशिका नाम से प्रसिद्ध है। कौमुदी रचना के प्रथम अध्ययन—अध्यापन कार्य उसका होता था। "आस्नो वृकस्य वर्तिकाम्" इस मन्त्र में आस्नः = का अर्थ मुख से है। "हव्या जुहाव आसनि" इस वेद मन्त्र में आसनि = का अर्थ मुख में है। अतः मुखवाचक आस्य शब्द को ही आसन् आदेश होता है। स्थिति का अधिकरण, अधिकरणार्थक ल्युट् प्रत्ययान्त आसन को आसन् आदेश नहीं होता है। वेद भाष्यादि विवरण वामनमत में प्रतिकूल है। पदादि आदेश के स्थानी सूत्र में नहीं निर्दिष्ट है, किन्तु 'आदेश के अर्थ को बोधन करने में समर्थ होते हुए अधिक वर्णकृत साम्य रहें, उन स्थानियों के स्थान में सूत्र निर्दिष्ट आदेश होते हैं। "स्वघटकवर्णघटितत्वे सति स्वार्थबोधका ये तेषां पादादीनां स्थाने पदादय आदेशाः स्युः। स्व = आदेश। आदेश में विद्यमान जो वर्ण उनसे युक्त एवं आदेश के अर्थ बोधन में समर्थ रहे उन स्थानी के स्थान में आदेश होते हैं। चरण शब्द को पद् आदेश न हुआ, किन्तु 'पाद' एवं 'पद' का वर्णकृत साम्य है, पाद को पद् आदेश हुआ। सर्वथा साम्य यहां अपेक्षित नहीं है, सर्वथा साम्य में तो आदेश विधान ही व्यर्थ होगा।

विमर्श—यह सूत्र प्रयोगनियामक है—यथा शसादि में 'पाद' 'पद' आदि उभय का प्रयोग होता है। सर्वनामस्थान विभक्ति पर में रहें वहां पादादि शब्दों का ही प्रयोग है, उभय का नहीं। कोश में आदेश के स्थानी एवं आदेश समानार्थक है। अतः द्विविध प्रयोग सिद्ध थे, केवल प्रयोग नियामक यह है।

२२९ सुडनपुंसकस्य १।१।४३।

सुट् प्रत्याहारः। स्वादिपञ्चवचनानि सर्वनामस्थानसंज्ञानि स्युरक्लीबस्य।

यहां सुट् प्रत्याहार है, "ओट्" के टकार तक। टा तृतीया का एक वचन तक नहीं है। 'लक्षण-प्रतिपदोक्त' परिभाषा से अन्त्य शब्द का उच्चारण कर के जिस टकार की इत्संज्ञा है उसी का ग्रहण होता है। सु के समीप ओट् का ही टकार है। यदि उसका ग्रहण न होता तो ओट् में टकारोच्चारण व्यर्थ भी होता। 'सु ओ जस् अम् ओ' यदि नपुंसक शब्द से अविहित इनकी सर्वनाम-स्थान संज्ञा होती है। 'सुट्' की संज्ञा नहीं होती है फल विशेष का अभाव है। "शि सर्वनाम

स्थानम्" से सर्वनामस्थान की अनुवृत्ति है। 'अनपुंसकस्य' में नञ् प्रसज्य प्रतिषेधार्थक है, प्रसज्य-प्रतिषेध में न के अर्थ अभाव का क्रिया में अन्वय है, समस्यमान पदार्थ के साथ नहीं, अतः असामर्थ्य में समास, वाक्यभेद, शास्त्र बाध तीन गौरव है। अतः 'सुट् स्त्रीपुंसयोः' इस न्यास में पूर्वोक्त दूषण त्रय न होने से उचित था। किन्तु यहां सौत्रत्वात् 'असूर्यम्पश्या राजदाराः' में जिस प्रकार असामर्थ्य में समास हुआ, तथैव यहां समास रूप कार्य का निर्वाह करना सूत्रनिर्देश से।

२३० स्वादिष्वसर्वनामस्थाने १।४।१७।

कप्प्रत्ययावधिषु स्वादिष्वसर्वनामस्थानेषु परतः पूर्वं पदसंज्ञं स्यात्।

'सु' यहां प्रथमा का एकवचन है। सप्तमी बहुवचन का 'सुप्' का 'सु' न लेना, उसका ग्रहण में आदि पद व्यर्थ होगा, 'सु' है आदि में जिनके ऐसा प्रत्ययसमुदाय ही यहां अन्य पदार्थ है। वह समूह एक है, अतः यहां एकवचन उचित था किन्तु समुदायगत अवयवों में अनेकत्व है, उनका आरोप कर समुदाय बोधक से भी बहुवचन कर 'स्वादिषु' कहा है। चतुर्थाध्याय के आरम्भ से पञ्चमाध्याय पर्यन्त प्रत्यय विधान है, उनमें कप् प्रत्यय अन्तिम है, अतः "सु प्रथमा एकवचन से कप् प्रत्यय तक के प्रत्यय समुदाय घटक प्रत्ययों में" यह अर्थ 'स्वादिषु' से हुआ उनमें स्वादि पांच वचन भी आये अतः उनको छोड़ कर अर्थ के लिए सूत्र में नञ् घटित असर्वनाम स्थान कहा है।

(अर्थ) असर्वनाम स्थान = अर्थात् सर्वनाम स्थान संज्ञक प्रत्यय भिन्न कप् प्रत्यय पर्य्यन्त प्रत्यय पर में रहते पूर्व प्रकृति की पद संज्ञा होती है। पूर्व में पद संज्ञा विधायक सूत्र जो 'सुप्-तिङन्तं पदम्' है वह सुबन्त, तिङन्त समुदाय की पद संज्ञा करता है। यह केवल प्रकृति की पद संज्ञा विधायक है। अवधि एवं अवधिमान् सजातीय होता है, यहां सर्वनाम स्थान भिन्न अवधिमान् प्रत्यय है, अतः अवधि कप् प्रत्यय ही है। चतुर्थ अध्याय से पञ्चम अध्याय के सूत्र विहित प्रत्ययों का ग्रहण यहां हुआ। पद संज्ञा, सामान्य है उसका बाधक वचन—

२३१ यचि भम् १।४।१८।

यकारादिष्वजादिषु च कप्प्रत्ययावधिषु स्वादिष्वसर्वनामस्थानेषु परतः पूर्वं भसंज्ञं स्यात्।

सर्वनाम स्थान संज्ञक भिन्न यकारादि या अजादि कप् प्रत्ययावधि प्रत्यय परक पूर्व की भसंज्ञा होती है। तीन भ्याम्, भिस् भ्यस् भ्यस् सुप् इन प्रत्यय पर में रहते भसंज्ञा न होगी, हलादि वे हैं। सूत्र में य् लुप्त सप्तमी वाला पृथक् पद ही है। अचि सप्तम्यन्त है। समास-यश्च अश्च नहीं है, चान्त द्वन्द्व में 'द्वन्द्वात्' सूत्र से टच् होकर सप्तमी में 'यचे' बनेगा, समासान्त प्रत्यय को अनित्यत्वाश्रयण या सौत्रत्वाश्रयण यह सब अज्ञान मूलक है। "यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे" प० से आदि का लाभ है। पूर्व सूत्र विहित पद संज्ञा एवं इससे भसंज्ञा दोनों एक संज्ञी की युगपत् जहां प्राप्त है वहां दोनों संज्ञाए करना, या नहीं, एतदर्थ सूत्र—

२३२ आकडारादेका संज्ञा १।४।१।

इत ऊर्ध्वं कडाराः कर्मधारये इत्यतः प्रागेकस्यैकैव संज्ञा ज्ञेया। या पराऽनवकाशा च। तेन शसादावचि भसंज्ञैव, न पदत्वम्। अतो जश्त्वं न। दतः।

दता। जश्त्वं दद्भ्याम् इत्यादि। मासः। मासा। भ्यामि रुत्वे यत्वे च यलोपः—माभ्याम्। माभिरित्यादि।

यहां से (१-४-१-से) "कडाराः कर्मधारये" (२-२-३८) तक एक को एक ही संज्ञा होती है। यहां आङ् मर्यादा में ही है। अभि विधि में नहीं। मर्यादा में 'कडाराः' सूत्र छुट गया अभि विधि में आङ् मानते तो 'कडाराः' सूत्र भी आ जाता। "तेन विना मर्य्यादा", "तेन सह अभिविधिः।" यह मर्यादा पदार्थ एवं अभिविधि पदार्थ है। एक की एक संज्ञा कौन हो? जो पर हो, एवं अनवकाश = अचरितार्थ हो। दत् शस् (अस्) यहां पूर्व सूत्र से प्रकृति की पद संज्ञा पाई, एवं इससे भसंज्ञा प्राप्त है, सर्वनाम स्थान भिन्न हलादि प्रत्यय परक पूर्व प्रकृति की पदसंज्ञा कर पदसंज्ञा सावकाश है, वहां भसंज्ञा प्राप्त नहीं है। अजादि असर्वनाम स्थान प्रत्ययों में भसंज्ञा पदसंज्ञा की बाधिका है, अतः भसंज्ञा ही आ, ए, अस्, अस्, ओस्, ओस्, आम्, इ इन प्रत्यय पर रहते पूर्व की होती है। अन्यत्र पदसंज्ञा। जब भसंज्ञा पदसंज्ञा की बाधक है तो अपवाद सबसे बलवान् होता है, यहां 'परा' कहना उचित नहीं है, पूर्व एवं पर का जहां तुल्य बल विरोध है, पर एवं अपवाद का वह नहीं है। इसलिए पर का अर्थ उत्कृष्ट है। यहां पर शास्त्र परक पर शब्द 'विप्रतिषेधे' शास्त्र-प्रवृत्ति उपयोगी नहीं है। बाधक शास्त्र श्रेष्ठ माना जाता है उसके अपेक्षा बाध्य शास्त्र में अपकर्ष = न्यूनता प्रकट होती है। 'यतः उत्कृष्टा भसंज्ञा, अतः बाधिका' यह ग्रन्थ तात्पर्य है। यहां हेतु द्वय नहीं है।

दत् अस् में पूर्व की भसंज्ञा होने से पदान्त झल् नहीं है। अतः जश् न हुआ—दतः। दता, भ्याम् आदि हलादि विभक्ति में पूर्व की पदसंज्ञा से जश्त्व हुआ—दद्भ्याम् आदि। मास अकारान्त को हलन्त 'मास्' आदेश है। मास् अस् भसंज्ञा पदान्त सकार नहीं, रु न हुआ। मासः। मासा। मास् भ्याम् यहां प्रकृति की पदसंज्ञा सकार को रु, उसको भोभगो से यकार उसका हलि सर्वेषाम् से लोप 'माभ्याम्'। 'माभिः', इत्यादि रूप जानना। मास = महीना।

यूष = मूंग की दाल का काढ़ा, या मांण। आयुर्वेद में कहा है कि—मूंग एवं आँवला का यूष वायु आदि का नाशक, जठर अग्नि का दीपक, एवं पाचक है—"मुद्गामलकयूषस्तु भेदी दीपकः पाचकः।" इति। शसादि विभक्ति में यूष को यूषन् आदेश 'पद्दन्नो' से होता है। यूषति = हिनस्ति रोगान् अनेन यूषः करणे धञ्। यूषो मण्डः।

२३३ भस्य ६।४।१२९।

अधिकारोऽयम्।

यहां से भसंज्ञा का अधिकार जानना चाहिये। सूत्र यहां उद्देश्य है, अधिकार विधेय है, विधेयगत पुंस्त्व के समाश्रयण से 'अयम्' निर्देश है। 'इदम्' नहीं। यहां अधिकार है, वही सूत्र, एवं जो सूत्र, वही अधिकार इससे उद्देश्य विधेय के ऐक्य सम्पादक सर्वनाम शब्द कहीं उद्देश्यगत लिङ्गयुक्त होता है, कहीं विधेयगत लिङ्गयुक्त होता है। उक्तञ्च—"उद्देश्यविधेययोरैक्यमापादयत् सर्वनाम पर्य्यायेण तत्तल्लिङ्गभाग् भवति।

२३४ अल्लोपोऽनः ६।४।१३४।

अङ्गावयवोऽसर्वनामस्थानयजादिस्वादिपरो योऽन् तस्याकारस्य लोपः स्यात्।

अङ्ग का अवयव और असर्वनाम स्थान यकारादि प्रत्यय, और अजादि स्वादि प्रत्यय जिसके पर में हो ऐसे अन् के अकार का लोप होता है। 'अनरतक्षन्' में आदि अकार का लोप नहीं।

विमर्श—यहां भसंज्ञा का अधिकार है, भसंज्ञा से 'यचि' का आक्षेप हुआ है। संज्ञा एवं परिभाषा में दो पक्ष है १ यथोद्देश्य, एवं २ कार्यकाल। यहां कार्यकाल पक्ष का वृत्तिकार ने आश्रयण किया है। वस्तुतः आकडाराधिकीय भपद संज्ञा में यथोद्देश्य पक्ष ही उचित है, 'यचि' का आक्षेप, उसका अन् में अव्यवहित पूर्वत्व सम्बन्ध से अन्वय, अन् का अकार के साथ अन्वय यह सब अनस्तक्षन् के आदि अन् का लोप वारणार्थ प्रयास व्यर्थ ही है। अन् द्वय घटित शब्द में अन्तिम अन् के अकार का ही लोप यचि के आक्षेप न करने पर भी होगा--परिभाषा है— "अन्त्य वर्ण को कार्य बाधित रहें वहां अन्त्य सदेश को कार्य होता है। 'अन्त्यबाधेऽन्त्यसदेशस्य' यहां लोपरूप कार्य नकार को नहीं होता, अतः अन्त्यवर्ण एवं लोप का स्थानी अकार इन दोनों के बीच में लोप का स्थानी अन्य कोई न रहे वहां ही लोप होता है क्योंकि "कार्य्यिव्यवधानशून्यत्वम् अन्त्यसदेशत्वम्" है। अनस्तक्षन् के आदि अन् के अकार एवं अन्त्य जो अन्तिम नकार उसके मध्यमे लोपरूप आदेश के स्थानीभूत अकार मध्यग है अतः आदि अन् का अकार कार्य्यिव्यवधानयुक्त है अन्त्य सदेश नहीं है। अनस्तक्षन् अस् यहां भसंज्ञक नान्त है अतः अन्तिम न् से पूर्व अ दोनों के बीच में कोई वर्ण लोपयोग्य लोप का स्थानी नहीं अतः अन्तिम अन् का अकार का लोप हुआ। आदि अन् एवं अन्तिम अन्त्य नकार उसके बीच में लोप के स्थानी अकार है यहां लोप आदि अन् का न होगा। परिभाषेन्दु शेखर दृष्टव्य है। परिभाषा का मण्डन एवं खण्डन वहां विस्तृत है।

'यूषन् अस्' भसंज्ञा अकार लोप।

२३५ रषाभ्यां नो णः समानपदे ८।४।१।

एकपदस्थाभ्यां रेफषकाराभ्यां परस्य नस्य णः स्यात्। यूष्णः। यूष्णा। पूर्वस्मादपि विधौ स्थानिवद्भाव इति पक्षे तु अड्व्यवाय इत्येवात्र णत्वम्। पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवदिति तु इह नास्ति, * तस्य दोषः सयोगादिलोपलत्वणत्वेष्विति निषेधात्।

णकार की प्रवृत्ति में निमित्त = रेफ या षकार इससे अघटित (अयुक्त) एवं निमित्तिमत् = नकारयुक्त पद से अघटित = (अयुक्त को समान पद या एक पद या अखण्ड पद कहते हैं। 'रामनाम' समस्त पद एक पद = समान पद नहीं है, उसमें राम भी पद है, नाम भी पद है। रामनाम समुदाय से विभक्ति आने से वह भी पद है, अर्थात वहां तीन पद हैं। यहां णकार की प्रवृत्ति में निमित्त रेफ या षकार से अयुक्त पद = नाम है। एवं निमित्तिमत् पद भी नाम है, उससे घटित ही रामनाम है अघटित नहीं है। अतः वहां णकार नहीं होता है।

(सूत्रार्थ) एक पद में स्थित रेफ या षकार इनसे अव्यवहित पर नकार को णकारादेश होता है। यूषन् शस् (अस्) यहां भसंज्ञा से अकार लोप 'अल्लोपोनः' से कर षकार से अव्यवहित उत्तर नकार को णकार से यूष्णः। "अचः परस्मिन् पूर्वविधौ" यहां 'पूर्वस्मात् विधिः' पक्ष में (विवेचन फल आदि उसी सूत्र में विशद व्याख्या हो चुकी है) स्थानिवद्भाव से अकार व्यवहित बुद्धि करने पर 'अट्कुप्वाङ्' से णत्व करना। णत्वविधायक यह त्रिपादी है। अतः सपादसप्ताध्यायी 'अचः परस्मिन्' की दृष्टि में असिद्ध होने से स्थानिवद्भाव नहीं यह कहना अनुचित है, 'पूर्वत्रा-

सिद्धम्' में संयोगादि लोप लत्व णत्वविधायक सूत्रों से भिन्न त्रिपादी शास्त्रों का ग्रहण है। यहां णकार विधायक 'रषाभ्याम्' त्रिपादिस्थ होते हुए भी असिद्ध नहीं है अर्थात् 'अचः' सूत्र की दृष्टि में सिद्ध इसको स्थानिवद्भावविधायक देखता है। १—संयोगादि लोप का उदाहरण—चक्य्त्र। यहां यण् होने के बाद 'क् र् य्' की संयोग संज्ञा, 'क्र्य्' पदान्त संयोग है। स्कोः संयोगाद्योः' से संयोग के आदि क् का लोप प्राप्त है, परन्तु यणादेश का स्थानिवद् भाव से पदान्त संयोग नहीं है अतः 'क्' का लोप न हुआ—चक्र्यत्र। २—णत्व का उदाहरण निगाल्यते। यह निपूर्वक गॄ धातु का प्रयोजकण्यन्त कर्म में रूप है। यहां णिलोप के इकार का स्थानिवद् भाव से 'अचि विभाषा' सूत्र से लकारादेश रेफ को हुआ। ३—माषवपनी यहां 'यस्येति च' से अकार लोप का स्थानिवद् भाव से नान्तप्रातिपदिक नहीं है व्यञ्जन 'न्' अन्त में नहीं है अतः णकार न हुआ। ये तीन प्रयोजन 'तस्य दोषः' के हैं।

२३६ न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य ८।२।७

नेति प्रातिपदिकेति च लुप्तषष्ठीके पदे। प्रातिपदिकसंज्ञकं यत्पदं तदन्तस्य नकारस्य लोपः स्यात्। नलोपस्यासिद्धत्वाद् दीर्घत्वमेत्वमैस्त्वञ्च न। यूषभ्याम्। यूषभिः। यूषभ्य इत्यादि।

सूत्र में नस्य लोपः समास नहीं है। किन्तु 'सुपाम्' सूत्र से षष्ठी क लोप है। अन्तस्य नकार का विशेषण है, 'सविशेषणानां वृत्ति नं' इससे समास का असामर्थ्य प्रयुक्त निषेध हुआ अन्त से अभिन्न नकार यह अर्थ हुआ। अधिकार प्राप्त 'पदस्य' है विशेष्य पद का विशेषण प्रातिपदिक है, अन्त पदार्थ से अनन्वित है, सामर्थ्य नहीं समासाभाव से प्रातिपदिक भी लुप्तषष्ठीक पृथक् पद है।

प्रातिपदिक संज्ञक जो पद उसका अन्त्यावयव नकार का लोप होता है। यूषन् भ्याम् यहां यूषन् की प्रातिपदिक संज्ञा है, एवं 'स्वादिषु' सूत्र से भ्याम् विभक्ति की प्रकृति यूषन् की पदसंज्ञा भी है। यहां प्रातिपदिक संज्ञा एवं पदसंज्ञा का एक अधिकरण यूषन् है। प्रातिपदिक का, एवं पद का अभेद सम्बन्ध है—'प्रातिपदिकाभिन्नं यत्पदम्'। नकार का लोप 'यूष भ्याम्', यूष भिस्, यूष भ्यस्, यहां क्रमशः, सुपि च दीर्घ, ऐस्, एवं एकार प्राप्त है किन्तु वे त्रैपादिक नलोप के असिद्ध होने से नहीं होते हैं। यूषभ्याम्। यूषभिः। यूषभ्यः। इत्यादि। नलोप विधायक सूत्र में 'स्वादिषु' एवं सुप्तिङन्तम्' उभय सूत्र विहित पद संज्ञा का ग्रहण होता है, अतः 'राजन् अस् पुरुष स्' का षष्ठी तत्पुरुष समास में विभक्ति लोप हुआ उसका प्रत्ययलक्षण से राजन् की 'सुप्तिङन्तम्' से पदसंज्ञा कर नकार लोप इस सूत्र से हुआ। राजपुरुषः।

२३७ विभाषा ङिश्योः ६।४।१३६।

अङ्गावयवोऽसर्वनामस्थानयजादिस्वादिपरो योऽन् तस्याकारस्य लोपो वा स्यात् ङिश्योः परयोः। यूष्णि। यूषणि। पक्षे रामवत्। 'पद्दनो' इति सूत्रे प्रभृतिग्रहणं प्रकारार्थम्। तथा च औङः श्यामपि दोषन्नादेशो भाष्ये। अत एव 'ककुद्दोषणी' इत्युदाहृतः। तेन "पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्" "स्वान्तं हृन्मानसं मनः" इत्यादि च संगच्छते। "आसन्यं प्राणमूचुः" इति च। आस्ये भव आसन्यः। दोष् शब्दस्य नपुंसकत्वमपि, अत एव भाष्यात्। तेन "दक्षिणं दो

निशाचरः" इति संगच्छते। "भुजबाहू प्रवेष्टो दोः" इति साहचर्य्यात् पुंस्त्वमपि। "दोषं तस्य तथाविधस्य भजतः" इति। द्वयोरह्नोर्भवो द्व्यह्नः।

"अङ्ग का अवयव सर्वनामस्थानभिन्न यकारादि या अजादिस्वादिपरक भ शब्दावयव अन् उसके अकार का विकल्प से लोप होता है ङि या शी पर में रहते"। यूषन् इ विकल्प से लोप नकार को णकार, यूष्णि, पक्ष में यूषणि। यूषन् आदेश के अभाव में रामवत् रूप हैं।

'पद्दन्' सूत्र में सादृश्य दिखाने के निमित्त प्रभृति शब्द है, अतः शस् से पूर्वविभक्ति रहें वहां भी कभी कभी शिष्ट प्रयोग में पदादि आदेश होते हैं। औङ स्थानिक शी आदेशपरक दोष को दोषन् आदेश से "ककुदोषणी' शब्द की सिद्धि हुई। ककुद् = बैल की कन्धा। दोष = यहां दो हाथ। एवं प्रथमा के एकवचन में भी पाद को पद् आदेश, हृदय को हृद् आदेश होता है। मुखार्थक आस्य शब्द सप्तम्यन्त से शरीरावयव अर्थ में यत् प्रत्यय यहां सप्तमी विभक्ति का अनुसन्धान कर आस्य को आसन्नादेश से "आसन्यं प्राणमूचुः" यह सूत्र का प्रधान उदाहरण है।

मुख में उत्पन्न वायु को भी कुछ आचार्य प्राण कहते हैं। प्राणवायु हृदयस्थ है यह मत प्रधान है, दार्शनिक सम्मत है, वायु के पांच भेद है—प्राण, अपान, उदान, समान, व्यान एक ही वायु तत्तत् स्थान भिन्न से भिन्न भिन्न संज्ञावान् होता है।

ककुद्दोष शब्द से नपुंसक द्विवचन में ओङ के स्थान में 'नपुंसकाच्च' सूत्र से शी आदेश करने से दोष शब्द नपुंसक भी है भाष्य लेख के आधार पर। नपुंसक दोष को मानकर 'दक्षिणं दो र्निशाचर' (दोः = दोष्) में दोष् दिया गया। अर्थ = दाहिनी भुजा राक्षस पर डाली। पुंलिङ्ग 'प्रवेष्टः' के साथ दोः (दोष्) दिया गया है, इस कारण इसको पुंलिङ्ग भी कहते हैं। यह अमर कोष का वाक्य है। पुंलिङ्ग में प्रयोग—इस प्रकार का वह ईश्वर है उसका बाहु को भजते हैं = "दोषं तस्य तथाविधस्य भजतः"।

जो दो दिनों में हुआ—इस अर्थ में—द्वयोः अह्नोः भवः—द्व्यह्नः। प्रकाश को त्याग न करने वाले को अहन् कहते हैं। नञ् पूर्वक त्यागार्थक हा धातु से कनिन् प्रत्यय है। द्वि ओस् अहन् ओस् यहां भवार्थक तद्धित का विषय में 'तद्धितार्थ' (२।१।५१) सूत्र से समास कर 'कालात्' सूत्र से ठञ्, उसका 'द्विगोः' से लुक्, + 'राजाहः' सू० से टच्, 'अह्नोऽह्नः' से अह्नादेश द्वि के इकार को यण् अकारान्त पुंलिङ्ग द्व्यह्न शब्द की सिद्धि हुई।

२३८ संख्याविसायपूर्वस्याह्नस्याहनन्यतरस्यां ङौ ६।३।११०।

संख्यादिपूर्वस्याह्नस्याहन् आदेशो वा स्यात् ङौ। द्व्यह्नि, द्व्यहनि द्व्यह्ने। विगतमहः—व्यह्नः। व्यह्नि। व्यहनि। व्यह्ने। अह्नः सायः सायाह्नः। सायाह्नि। सायाहनि। सायाह्ने।

इत्यदन्ताः।

संख्यावाचक शब्द, वि, साय इन से पर अह्न को अहन् आदेश विकल्प से होता है, सप्तमी एकवचन विभक्ति पर रहते। विभाषा लोप अन् के अकार का। दो विकल्प से तीन रूप होते हैं—वही मूल में है। बीता हुआ दिन को व्यह्न कहते हैं। दिन का सायंकाल को सायाह्न कहते हैं। हलन्त अहन् को टच् कर पुंलिङ्ग अकारान्त भा है। द्व्यह्न एवं सायाह्न शब्द पुंलिङ्ग है।

ह्रस्व अकारान्तशब्दों का प्रकरण समाप्त।

विश्व का पालन करने वाला इस अर्थ में विश्वं पातीति विश्वपा। विश्वं कर्म उपपद में प्राप्त कप्रत्यय नहीं किन्तु विच् प्रत्यय, भाष्य प्रामाण्य से लोक में भी विच् प्रत्यय होता है। उपपद-समासे विश्वपा प्रथमैकवचन में उकारेत्संज्ञक स् को रुत्व विसर्ग में विश्वपाः। 'विश्वपा औ' यहां 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' से दीर्घ प्राप्त है, उसको बाधनार्थ सूत्र—

२३९ दीर्घाज्जसि च ६।१।१०५।

दीर्घाज्जसि इचि च परे प्रथमयोः पूर्वसवर्णदीर्घो न। वृद्धिः। विश्वपौ। सवर्णदीर्घः। विश्वपाः। यद्यपीह औङि 'नादिचि' इत्येव सिद्धं जसि तु सत्यपि पूर्वसवर्णदीर्घे क्षतिर्नास्ति. तथापि 'गौर्य्यौ' 'गौर्य्यः' इत्याद्यर्थं सूत्रमिहापि न्याय्यत्वादुपन्यस्तम।

दीर्घ से जस् या इच् पर रहते प्रथमयोः सूत्र से पूर्वसवर्ण दीर्घ नहीं होता है। विश्वपा औ यहां वृद्धि को बाधकर पूर्वसवर्ण दीर्घ प्राप्त है, उसका इसने निषेध किया, तब 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि 'विश्वपौ'। जस् में 'अकः' से दीर्घ विश्वपाः। इस सूत्र का यह प्रयोजन नहीं है विश्वपौ में नादिचि से पूर्वसवर्ण दीर्घ निषेध होता है, जस् में पूर्वसवर्ण दीर्घ होने पर भी कोई क्षति नहीं है, अतः इस सूत्र का प्रधान प्रयोजन 'गौरी औ', 'गौरी जस्' यहां पूर्वसवर्ण निषेधरूप है। यण् से गौर्य्यौ, द्वित्व। गौर्य्यः। दीर्घान्त शब्द में इस सूत्र का उपन्यास उचित था अतः यहां यह सूत्र लिखा है। जब यह सूत्र प्रसङ्गतः लिखा तब यही पूर्वसवर्ण का निषेध करता है। फल में अविशेष रहने पर भी. धर्मोत्पत्तिफलार्थ।

२४० आतो धातोः ६।४।१४०।

आकारान्तो यो धातुस्तदन्तस्य भस्याङ्गस्य लोपः स्यात्। अलोऽन्त्यस्य। विश्वपः। विश्वपा। विश्वपाभ्यामित्यादि। एवं शङ्खध्मादयः। धातोः किम् हाहान्। टा—सवर्णदीर्घः

हाहा। ङे—वृद्धिः। हाहै। ङसिङसो दीर्घः। हाहाः २। ओसि—वृद्धिः। हाहौः। ङौ आद्गुणः। हाहे। ओसि—वृद्धिः। हाहौः। ङौ—आद्गुणः। हाहे। शेषं विश्वपावत्। आत इति योगविभागादधातोरप्याकारलोपः क्वचित्। क्त्वः। श्नः। इत्यादन्ताः।

आकारान्त धातु है अन्त में जिसके ऐसे भसंज्ञक अङ्ग का अन्त्य अल् का लोप होता है। 'विश्व-पा शस्' (अस्) 'यचि भम्' से भसंज्ञा कर आकार लोप एवं रुत्व विसर्ग से विश्वपः। विश्वपा। उसी प्रकार शङ्खध्मा—धूम्रपा—सोमपा आदि के रूप जानने चाहिये। गधर्ववाचक अव्युत्पन्न आकारान्त हाहा शब्द में आकारान्त धातुत्व नहीं है, अतः आकार का लोप नहीं। शस् में हाहान्। दीर्घ हाहा। वृद्धिः हाहै। दीर्घ हाहाः २ वृद्धि—हाहौः। गुणः—हाहे। यदि हा = कष्टेन जहति इति हाहाः तान् 'हाहः' यही होता है यहां लोप धातुत्व प्रयुक्त इष्ट है। तब अकारो वासुदेवः, तेन सह वर्तन्ते तान् 'सान्' यह प्रत्युदाहरण 'धातोः किम्' का देना उचित है यहां 'सा' शब्द धातु नहीं है।

यहां १ धातोः २ आतः इस प्रकार योग विभाग है—योगविभाग से इष्टानुरोध से क्वचित (कहीं) धातुभिन्न आकार का भी लोप होता है। क्त्वा अस्, श्ना अस् आकार लोप—'क्त्वः' 'श्नः'। आकारान्त शब्द समाप्त है।

हरिः । प्रथमयोः पूर्वसवर्णः । हरी ।

हरणार्थक हृ धातु से इन् प्रत्यय कर्ता में गुण = अर् हरिः । हरति पापं विनाशयति इति हरिः । शब्दस्तोम महानिधि में अनेकार्थक हरि शब्द है—विष्णु-सूर्य-सिंह-सर्प-वानर-भेक-चन्द्र-वायु-अश्व-यम-हर-ब्रह्मा-किरण-नूतन वर्ष-वर्षभेद-मयूर-कोकिल-हंस-शुक-भर्तृहरि—पण्डित-वह्नि-इन्द्र पीनवर्ण-पिङ्गल वर्ण-हरिद्वर्ण । २६ अर्थ में इसका प्रयोग है । प्रथमा एकवचन में उकारेत्संज्ञक स् को रुत्व रेफ का विसर्ग हरिः । यहां विसर्ग अयोगवाह का अकारोपरि पाठ होने से अच् है, अतः 'हरिः' यहां इको यणचि से यण् क्यों नहीं हुआ ?, यण् शास्त्र दृष्टि में विसर्ग विधायक शास्त्र 'पूर्वत्र' से असिद्ध है । 'हरि औ' यण् को बाधकर पूर्वसवर्ण दीर्घ से हरी ।

२४१ जसि च ७।३।१०९।

ह्रस्वान्तस्याङ्गस्य गुणः स्याज्जसि परे । हरयः ।

ह्रस्व है अन्त में जिसके ऐसे अङ्ग के अन्त्य अल् का जस् पर रहते गुण होता है । हरि जस् (अस् गुण कर अयादेश से हरयः । 'जसि च' 'जुसि च' इन दो गुणविधायक सूत्रों को न कर एक "जिति च" सूत्र कर 'इगन्ताङ्गस्य गुणः स्यात् जिति प्रत्यये' हरयः, विष्णवः, भानवः, एवं अबिभयुः, अजागरुः, अजुहवुः, इनकी सिद्धि होगी । जित्करणसामर्थ्यात् जित्प्रत्यय में 'क्ङिति' की प्रवृत्ति नहीं है । ऐसा करने पर 'गौर्य्यः' 'पप्यः' यहां गुण होने लगेगा यह भी नहीं कह सकते, दीर्घाज्जसि में जस् ग्रहण सामर्थ्यात् । अन्यथा गुण से ही पूर्वसवर्ण दीर्घ की व्यावृत्ति होती, वहां जस् निरर्थक होता । वह ज्ञापन करेगा कि दीर्घान्तप्रातिपदिक से जस् पर रहते 'जिति च' से गुणाभाव है ।

२४२ ह्रस्वस्य गुणः ७।३।१०८।

ह्रस्वस्य गुणः स्यात् सम्बुद्धौ । एङ्ह्रस्वादिति सम्बुद्धिलोपः । हे हरे । हरिम् । हरी । हरीन् ।

ह्रस्व का सम्बुद्धि पर रहते गुण होता है । एङ् को मान कर सम्बुद्धि का अवयव हल् का लोप होता है । एकवचनं सम्बुद्धिः' से सम्बुद्धि संज्ञा कर, गुण के बाद सकार लोप है, 'हरे' । अम् में पूर्व रूप हुआ, औ में पूर्व सवर्ण दीर्घ । शस् में पूर्व सवर्ण दीर्घ कर सकार को नकारादेश । हरिन् । हरी । हरीन् ।

२४३ शेषो घ्यसखि १।४।७।

अनदीसंज्ञौ ह्रस्वौ याविवर्णोवर्णौ तदन्तं सखिवर्जं घिसंज्ञं स्यात् । शेषः किम् । मत्यै । एकसंज्ञाधिकारात् सिद्धे शेषग्रहणं स्पष्टार्थम् । ह्रस्वौ किम् । वातप्रम्ये । इदुतौ किम् । मात्रे ।

सखि भिन्न ह्रस्व इकारान्त शब्द या ह्रस्व उकारान्त शब्द की घिसंज्ञा होती है । सूत्र में शेष शब्द अनुक्तार्थ है । पूर्व में नदी संज्ञा कह चुके हैं । अतः शेष से अनदीसंज्ञक का लाभ होता है, सूत्र में शेष ग्रहण नहीं करने पर नदीसंज्ञा के विषय में भी घिसंज्ञा होकर मत्यै न होकर 'मतये' होने लगेगा, । शेष ग्रहण न करने पर भी अपने अपने विषय में नदी संज्ञा घिसंज्ञा को बाध करेगी, दो संज्ञाए एक की न होगी 'आकडाराः' से एक की एक ही संज्ञा होगी अर्थत नदी-

संज्ञाविषयरहित में ही घिसंज्ञा होगी, शेषग्रहण व्यर्थ होता हुआ अर्थ का स्पष्ट ज्ञानार्थ मात्र ही है प्रयोजन विशेष शून्य है। ह्रस्व इकारान्त वातप्रमी नहीं है, अतः घिसंज्ञा न हुई। मातृ ए यहां ऋकारान्त है, इकारान्त उकारान्त नहीं अतः घिसंज्ञा न होने से यण् 'मात्रे'।

२४४ आङो नाऽस्त्रियाम् ७।३।१२०।

घेः परस्याङो ना स्यादस्त्रियाम्। आङिति टासंज्ञा प्राचाम्। हरिणा। अस्त्रियां किम्। मत्या।

घिसंज्ञक शब्द से पर आङ् (टा) को नादेश होता है। स्त्रीलिङ्ग के शब्दों को छोड़ कर। टा विभक्ति को प्राचीन वैयाकरण आङ् कहते हैं। हरि टा, = आ घिसंज्ञा से नाभाव हुआ, णकार, हरिणा। मत्या यहां स्त्रीलिङ्ग मति होने से आ को नाभाव नहीं हुआ, यण्।

२४५ घेर्ङिति ७।३।१११।

घिसंज्ञकस्य ङिति सुपि गुणः स्यात। हरये। घेः किम्, सख्ये। ङिति किम्, हरिभ्याम्। सुपि किम्। पट्वी। घेर्ङितीति गुणे प्राप्ते।

ङित् सुप् (ङे ङसि ङस् ङि) विभक्ति से पूर्व घिसंज्ञा युक्त शब्द के अन्त्य का गुण होता है। हरि ए—हरे ए, अय् हरये। 'सखि ए' यहां असखि की घिसंज्ञा सखि की घिसंज्ञा नहीं है। यण् सख्ये। हरिभ्याम् में भ्याम् ङित् नहीं है अतः गुणाभाव। पटु शब्द गुण वाचक होते हुए गुण— विशिष्ट गुणी = द्रव्यवाचक भी है, स्त्रीलिङ्ग में 'वोतो गुणवचनात्' से ङीष् अनुबन्ध लोप 'पटु ई' यहां ङित् ईकार स्त्रीप्रत्यय वह सुप् नहीं है अतः गुण न हुआ, यण् 'पट्वी' सुपि च सूत्राभाव पक्षे में टीष् करेगें तब ङित् ही नहीं दोष नहीं है। हरि अस् यहां गुण से हरे अस् तब—

२४६ ङसिङसोश्च ६।१।११०।

एङो ङसिङसोरति परे पूर्वरूपमेकादेशः स्यात्। हरेः। हरेः। हर्योः। हरीणाम्।

एङन्त से ङसि या ङस् सम्बन्धी अकार पर में रहे तो पूर्व पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है। हरि अस् घिसंज्ञा से गुण कर के 'हरे अस्' पूर्वरूप हरेस् रुत्व विसर्ग हरेः। षष्टी के एकवचन में भी हरेः। हरि ओस् यण्, रुत्व विसर्ग। हर्योः। 'हरि आम्' 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' से नुट्, नामि से दीर्घ, 'अट्कुप्वाङ्' से णत्व हरीणाम्।

२४७ अच्च घेः ७।३।११९।

इदुद्भ्यामुत्तरस्य ङेरौत् स्यात्, घेरन्तादेशश्चाकारः।

हरि इ, घिसंज्ञा इकार को औ हरि के इकार को अकार वृद्धि हरौ। हर्योः। हरिषु, 'आदेश-प्रत्यययोः से स् को ष्। औत् का तकार सुखपूर्वक उच्चारणमात्र फलक है, स्वरितार्थ नहीं है। उच्चारणार्थक वर्णों की भी इत्संज्ञा लोप से ही निवृत्ति होती है। तकार की इत्संज्ञा, लोप हुआ। 'न विभक्तौ' सूत्र की यहां अप्रवृत्ति है। वह 'इदमस्थमु' में मकार रक्षार्थ कृत उकार करण से अनित्य है। यदि नित्य होता तो मकार रक्षार्थ क्रियमाण उकार व्यर्थ होता, इससे ही 'हलन्त्यम्' की निवृत्ति होती। 'सम्बुद्धौ' निर्देश से भी वह अनित्य है। तित्स्वरित में 'तिति प्रत्ययग्रहणम्' वार्तिक में प्रत्यय ग्रहण सामर्थ्य से अनतिदिष्ट प्रत्ययत्व = औपदेशिक प्रत्ययत्ववान् का ही ग्रहण होता है। यहां तो स्थानिवद्भाव से आरोपित प्रत्ययत्व है, अतः स्वरितार्थ तकार है यह कथन अनुचित है।

विमर्श—'अच घेः' के स्थान में न्यास करेगें—"ङेर्डौ" घिसंज्ञक शब्द से पर ङि को डौ आदेश होता है। डकार की इत् संज्ञा लोप, डित्त्वात् 'टेः' से हरि का टिसंज्ञक इकार का लोप 'हरौ' आदि प्रयोगसिद्धि होती वह न्यास क्यों नहीं किया ?, इस न्यास करने पर 'विंशतौ' नहीं बनेगा—विंशति इकार का डौ, डकार की इत्संज्ञा, यहां "ति विंशते डिंति" से सम्पूर्ण निर्दिश्यमान 'ति' अंश का लोप होकर वृद्धि से 'विंशौ' अनिष्ट प्रयोग होने लगेगा, अतः न्यासान्तर यहां न करना। यदि तिलोप विधायक शास्त्र में 'नस्तद्धिते' से तद्धित का अपकर्ष करेगें तो दोष नहीं, डित् तद्धित प्रत्यय पूर्वक विंशति शब्दावयव 'ति' का लोप होता है। तब न्यासान्तर सुवच है। हरि शब्द के रूपों को कण्ठस्थ करना अत्यावश्यक है।

हरि सदृश श्रीपति—रवि—कवि—अग्नि आदि ह्रस्व इकारान्त पुंलिङ्ग शब्द है।

२४८ अनङ् सौ ७।१।९३।

सख्युरङ्गस्यानङादेशः स्यादसम्बुद्धौ सौ परे। ङिच्चेत्यन्तादेशः।

सम्बुद्धि संज्ञक भिन्न सुप्रत्यय पर में रहे तो अङ्गसंज्ञक सखि शब्द के अन्त्यावयव को अनङ् आदेश होता हैं। अनङ् ङित् होने से अन्त्य को 'ङिच्च' से हुआ। सखि शब्द के अनेक अर्थ है—वयस्य-स्निग्ध-सवयाः मित्र। सखा-सुहृत्। समानं ख्यायते जनैः इति सखा। सखि शब्द से सुविभक्ति में सखि स्, इकार को अन् आदेश—सखन् स्।

२४९ अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा १।१।६५।

अन्त्यादलः पूर्वो वर्ण उपधासंज्ञः स्यात्।

अन्त्य वर्ण से पूर्व वर्ण की उपधा संज्ञा होती है। यहां अन्त्य अल् से पूर्व भी अल् रूप वर्ण ही लेना, समुदाय, या वर्णसमूह का ग्रहण नहीं है, अवधि एवं अवधिमान् का सजातीय नियम है। 'शिष्टः' में अन्त्य आस् के पूर्व श् की उपधा संज्ञा होकर श् को इकारादेश न हो एतदर्थ अल् कहा है, अन्त्य अल् वहां स् है, आस् नहीं आकार की उपधा संज्ञा आकर को इत्व से शिष्टः बना। "स्वघटकत्व—स्वघटकान्त्यालअव्यवहितपूर्वत्वोभयसम्बन्धेन समुदायविशिष्टत्वम् = उपधात्वम्" यही उपधा का स्वरूप है।

२५० सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ ६।४।८।

नान्तस्योपधाया दीर्घः स्यादसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने परे।

सम्बुद्धि संज्ञक प्रत्यय भिन्न सर्वनामस्थान संज्ञक प्रत्यय परक नान्त अङ्ग की उपधा का दीर्घ होता है। 'सखन् स्' यहां नकार के पूर्व अकार की उपधा संज्ञा, उसका दीर्घ 'सखान् स्'।

२५१ अपृक्त एकाल् प्रत्ययः १।२।४१।

एकाल् प्रत्ययो यः सोऽपृक्तसंज्ञः स्यात्।

एक वर्णात्मक प्रत्यय की अपृक्त संज्ञा होती है। सूत्र में एक शब्द असहायवाची है। संख्यावाची मानने में भी कोई दोष नहीं है। अपृक्त शब्द संपर्कार्थक पृच् से कर्म मे क्तप्रत्यय कुत्व से पृक्त नञ् तत्पुरुष से अपृक्त = वर्णान्तर सम्पर्क रहित = अर्थात् एकाकी वर्ण को अपृक्त कहते हैं। अपृक्त शब्द घटित विधिसूत्रों में हल् कहना ही उचित था, यह सूत्र शुद्ध अदृष्ट फलार्थ है। दृष्टफलपूर्वक अदृष्टार्थ उपादेय लोक में होता है। पाणिनि आचार्य ने जिस प्रकार अष्टाध्यायी पढ़ी है उस क्रम से पारायण जन्य फलमात्र प्रयोजन ही इसका हुआ।

२५२ हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल् ६।१।६८।

हलन्तात्परौ यौ दीर्घौ ङ्यापौ तदन्ताच्च परं सुतिसीत्येतदपृक्तं हल् लुप्यते। हल्ङ्याब्भ्यः किम्। ग्रामणीः। दीर्घात् किम्। निष्कौशाम्बिः। अतिखट्वः। सुतिसीति किम्। अभैत्सीत्। तिपा सहचरितस्य सिपो ग्रहणात् सिचो ग्रहणं नास्ति। अपृक्तमिति किम्। बिभर्ति। हल् किम् बिभेद। प्रथमहल्ग्रहणं किम्। राजा। नलोपो न स्यात्, संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वात्। सखा। सखे।

हलन्त, एवं दीर्घ ङी एवं दीर्घ आप् तदन्त तदादि तदन्त से पर सु, ति, सि, सम्बन्धी अपृक्त हल् का लोप होता है। ग्राम नयनकर्ता 'ग्रामणी' से पर स् है किन्तु ग्रामणी शब्द न हलन्त है, न आबन्त है, न ङ्यन्त है, अतः सकार का लोप न कर रुत्व विसर्ग से ग्रामणीः। कौशाम्बी नगरी से निर्गत यहां पञ्चमी तत्पुरुष समास है। ईकार का ह्रस्व 'गोस्त्रियोः' से है। निष्कौशाम्बि से स् यहां दीर्घ ङी नहीं है स् लोप न हुआ। सूत्र में दीर्घ ग्रहण न करते तो ह्रस्व इकार में स्थानिवद्भाव से ङीत्व बुद्धि से ङ्यन्तत्वनिमित्तक स् लोप होता, दीर्घ ग्रहण से श्रूयमाण दीर्घ जहां रहें वहां ही इसकी प्रवृत्ति होती है। खट्वाम् अतिक्रान्तः अर्थ में तत्पुरुष समास, आकार का ह्रस्व प्रथमैकवचन में अतिखट्व स् यहां दीर्घ आप् नहीं है, श्रूयमाण आरूप आ रहें वहां ही यह लोप होता है सकार को रुत्व विसर्ग से अतिखट्वः। अभैत्सीत् यहां तकार रूप हल् से पर सिच् का सकार है, किन्तु वह सुतिसि का अवयव नहीं है, अतः लोप सकार का न हुआ। सु एवं ति के साहचर्य से 'सि' का सकार सिप् प्रत्ययावयव ही लेना। सिच् का अवयव सकार का ग्रहण नहीं होता है। बिभर्ति यहां रेफोत्तर 'ति' है, वह अपृक्त संज्ञक नहीं है। 'बिभेद' में दकार के बाद णल् का अकार अपृक्त है, किन्तु हल् नहीं है, अतः लोप न हुआ।

विमर्श—प्रथमहल्ग्रहणं किम्। सूत्र में प्रथम हल् ग्रहण नहीं करेगें तो 'सखा' में विभक्ति सकार का लोप न होने से सखा की सिद्धि न होगी। 'सोर्डा' न्यास कर सुको डादेश, डित्त्व से टिलोप से 'सखा' में दोष नहीं है, 'राजा' में राजान् स् यहां नकार सकार की संयोगसंज्ञा कर 'संयोगान्तस्य लोपः' से सकार लोप, 'न लोपः' सूत्र से नलोप कर 'राजा' की सिद्धि प्रथमहल् न करने पर भी हो सकती है। सकार का संयोगान्तलोप असिद्ध होने से 'न लोपः' सूत्र से नलोप नहीं होगा यह कथन उचित नहीं है, "नलोप करने में संयोगान्त लोप असिद्ध नहीं होता है"। "न ङिसम्बुद्ध्योः" सूत्र में सम्बुद्धि ग्रहण ज्ञापक से यह ज्ञाप्य वचन सिद्ध होता है। अन्यथा संयोगान्तलोप असिद्ध होता तो नलोप 'हे राजन्' आदि में प्राप्त ही नहीं, पुनः नलोप निषेधार्थ कृत जो सम्बुद्धि ग्रहण वह निरर्थक होता।

गोमान् यहां भी संयोगान्त लोप असिद्ध न होने से नलोप होगा, यह तो कह नहीं सकते हैं। क्यों की ज्ञापक सजातीय की अपेक्षा करता है, अतः जहाँ नकार एवं विभक्ति इन दोनों के बीच में कोई वर्ण व्यवधान कर्ता न रहें वहां ही नलोप करने में संयोगान्त लोप असिद्ध नहीं होता है, यही सम्बुद्धि ग्रहण ज्ञापन करता है। राजान् स् यहां 'न्' 'स्' के मध्य में कोई वर्ण व्यवधायक नहीं है। गोमन् त स् यहां नुम् का नकार एवं विभक्ति का सकार इन दोनों के बीच में त् व्यवधानकर्ता है, यहां दो बार संयोगान्त लोप से सकार तकार की निवृत्ति तो होगी किन्तु नलोप जब प्राप्त होगा तब संयोगान्त लोप असिद्ध होकर नान्त पदत्व का प्रतिबन्धक हो जायगा। पुनः प्रथम हल् ग्रहण क्यों किया ?

भृ धातु का लङ् में प्रथमपुरुष एकवचन में 'अबिभर् त्' यहां तकार का 'संयोगान्तस्य' से लोप नहीं होगा, 'रात्सस्य' यह नियमार्थ है—"रेफ से पर संयोगान्त लोप हो तो सकार का ही" अन्य का नहीं, यहां रेफ के बाद तकार है, वहां लोप करने के लिए इस सूत्र में प्रथम हल् है—'अबिभः' का सिद्धि प्रथम हल् का प्रयोजन है। यह कथन भी ठीक नहीं है। रात्सस्य में तकार का प्रश्लेष से "रेफ से पर संयोगान्त लोप हो तो तकार एवं सकार का ही"। प्रकृत में तकार लोप से 'अबिभः' सिद्ध होगा ही।

यदि तकार का प्रश्लेष कर पूर्व वर्णित अर्थ करेगें तो 'अवर्वर्त्' यङ्लुगन्त में तकार लोपरूप आपत्ति होगी। सिद्धान्त पक्ष में संयोगान्त लोप 'रात्सस्य' नियम से नहीं होता था, तकार प्रश्लेष में यह दोष है। यह कथन भी उचित नहीं है—यङ् लुगन्त छान्दस है, छन्द में प्रयोगाधीन सूत्र है, लोकवत् सूत्राधीन प्रयोग नहीं, "छन्दसि दृष्टानुविधिः" ही है। एवं छन्द में सभी विधीयमान कार्य इष्टानुरोध से होते हैं, या नहीं होते हैं, अतः कोई दोष तकार प्रश्लेष में नहीं। प्रथम हल् ग्रहण का प्रयोजन खोजने योग्य है। या अनेक भाष्यवचनों में ज्ञान गौरव हैं, मात्रा लाघव का शब्द-शास्त्र में आदर करना, एवं ज्ञानगौरव का अनादर इस प्रकार की राजा की आज्ञा नहीं है, "न हि कण्ठताल्वाद्यभिघातगौरवमेवादरतव्यं न तु ज्ञानजनकमनोव्यापाररूपं गौरवम्" इति राजाज्ञाऽस्ति"। यह भाष्यकारोक्ति है। अतः प्रथम हल् किया है। 'सखान् स्' यहां सकार का लोप, नकार का लोप 'सखा'। सम्बोधन में ह्रस्वस्य गुणः से गुण कर एङ्ह्रस्वात् से सकार लोप से हे सखे।

२५३ सख्युरसम्बुद्धौ ७।१।९२।

सख्युरङ्गात् परं सम्बुद्धिवर्जं सर्वनामस्थानं णिद्वत् (णित्कार्यकृत्) स्यात्।

अङ्ग संज्ञक सखि शब्द से पर सम्बुद्धि भिन्न सर्वनाम स्थान संज्ञक प्रत्यय णित् प्रत्यय सदृश कार्य निमित्तक होता हैं। अर्थात् णित् प्रत्यय सदृश होता है। प्राचीन पुस्तक में णित्कार्यकृत् ऐसा पाठ मिलता है। णकार की इत्संज्ञा होने से णित् प्रत्यय पर में पूर्व को जो जो कार्य होते हैं, वे वे कार्य यहां भी करने। यह अतिदेश शास्त्र है—अणित में णित्वातिदेश बोधन करता है।

२५४ अचो ञ्णिति ७।२।११५।

ञिति णिति च परेऽजन्ताङ्गस्य वृद्धि स्यात्। सखायौ। सखायः। सखायम्। सखायौ। घिसंज्ञाभावान्न तत्कार्यम्। सख्या। सख्ये।

अजन्त अङ्ग का अवयव अन्त्य अल् की वृद्धि होती है, ञकार की इत्संज्ञक, या णकार की इत्संज्ञक प्रत्यय पर रहते। सखि औ पूर्व सूत्र से णित्वातिदेश औकार में इससे इकार की औकार वृद्धि कर आय् से सखायौ। सखि अस् वृद्धि आय् सखायः। इसी प्रकार अन्य रूप। सखि टा यहां घिसंज्ञा के अभाव से घिसंज्ञा के निमित्त यावत्कार्य का इस में अभाव है, यण् सख्या, यण् सख्ये।

२५५ ख्यत्यात् परस्य ६।१।११२।

खितिशब्दाभ्यां खीतीशब्दाभ्यां कृतयणादेशाभ्यां परस्य ङसिङसोरत उत् स्यात्। सख्युः।

सूत्र में ह्रस्व एवं दीर्घ खिति खीती कृतयणादेश का ख्यत्य अनुकरण है, अविशेषात् उभय का ग्रहण से वृत्तिकार ने यह विवरण लिखा है। जिस ह्रस्व खिति, या दीर्घ खीती के स्थान में यणा-

देश हुआ है उस ख्यत्य से पर ङसि के अकार या ङस् के अकार को उकारदेश होता है। सखि अस् यण् सख्य् अस्, अकार को उकारादेश सख्युस् सकार का रुत्व एवं विसर्ग से सख्युः।

२५६ औत् ७।३।११८।

इदुद्भ्यां परस्य ङेरौत् स्यात्। उकारानुवृत्तिरुत्तरार्था। सख्यौ। शेषं हरिवत्। शोभनः सखा सुसखा। सुसखायौ। सुसखायः। अनङ्णिद्वद्भावयोराङ्गत्वात् तदन्तेऽपि प्रवृत्तिः। समुदायस्य सखिरूपत्वाभावादसखि इति निषेधाप्रवृत्तेर्घिसंज्ञा। सुसखिना। सुसखये। ङसिङसोर्गुणे कृते कृतयणादेशाभावात् ख्यत्यादित्युत्वं न। सुसखेः। सुसखौ इत्यादि। एवमतिशयितः सखा अतिसखा। परमः सखा यस्येति विग्रहे परमसखा परमसखायावित्यादि। गौणत्वेऽप्यनङ्णित्वे प्रवर्तेते। सखीमतिक्रान्तोऽतिसखिः। लिङ्गविशिष्टपरिभाषाया अनित्यत्वान्न टच्। हरिवत्। इहानङ्णित्त्वे न भवतः। गोस्त्रियोरिति ह्रस्वत्वेन सखिशब्दस्य लाक्षणिकत्वात्। लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणात्।

ह्रस्व इकार एवं ह्रस्व उकार से पर ङिविभक्ति को औत् आदेश होता है। इदुद्भ्याम् से इत् उत् की अनुवृत्ति यहां आई है, इनमें उत् की अनुवृत्ति का यहां कोई प्रयोजन नहीं है किन्तु उत्तर सूत्र में धारावाहिक उत् की अनुवृत्ति हो एतदर्थ ही है। सखि ङि, विभक्ति को औत् आदेश, तकार की इत्संज्ञा उसका लोप, यण् सख्यौ। अन्यरूप हरिशब्द समान है।

अच्छा मित्र अर्थ में सुसखि यहां समुदाय सखि शब्दान्त है। पद या अङ्ग का अधिकार में विहित कार्य उस शब्द को या तदन्त को होता है, अतः यहां अनङादेश तथा विभक्ति को णिद्वद्भाव तदन्त को होता है, सुसखि के प्रथमा एकवचन में सुसखा। द्वि० व० में सुसखायौ। जस् में सुसखायः। सखिवत् रूप हुए। तृतीया में सुसखि यह समुदाय सखिभिन्न है, अतः घिसंज्ञा यहां होकर आङ् के स्थान में नादेश होता है। सुसखिना। चतुर्थी एकवचन में घिसंज्ञा, गुण से सुसखये। पञ्चमी षष्ठी विभक्ति के एकवचन में गुण करने पर कृतयणादेश युक्त ख्य नहीं है, अतः ङसि ङस् सम्बन्धी अकार को उकार न हुआ। सुसखेः। सुसखेः। सप्तमी एकवचन में सुसखि के इकार को अकारादेश विभक्ति के इकार को औत् कर वृद्धि सुसखौ। एवं परममित्र अर्थ में 'अतिशयितः सखा' अतिसखि को भी अनङ्, णिद्वद्भाव, घिसंज्ञा, नाभाव, गुण, औत्व, आदि कार्य होते हैं। श्रेष्ठमित्र अर्थ में कर्मधारय समासयुक्त परमसखि को भी पूर्वोक्त कार्य कर रूप सिद्धि होती है।

मित्रभूत कोई स्त्री उसको अतिक्रमण कर्ता पुरुष इस अर्थ में यहां ह्रस्व इकारन्त सखि शब्द से स्त्री रूप अर्थ में वर्तमान होने से "सख्यशिश्वीति भाषायाम्" ४।१।६२। से ङीष् प्रत्यय, इकार का लोप सखी दीर्घान्त है। 'सखीम् अतिक्रान्तः' इस अर्थ में द्वितीयातत्पुरुष से 'अतिसखी' के दीर्घ ईकार का 'गोस्त्रियोः' से ह्रस्व 'अतिसखि' यहां तत्पुरुष समास के अन्त में सखि शब्द है, अतः सखि शब्दान्त तत्पुरुष जहां रहें, वहां 'राजाहः सखिभ्यष्टच्' ७।४।५१ से टच् प्रत्यय प्राप्त है, किन्तु यहां 'सखी' ङीषन्त दीर्घ है, सूत्र में पुंल्लिङ्ग ह्रस्व इकारान्त का ग्रहण है अतः यहां टच् की प्राप्ति नहीं है।

यदि "प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्" परिभाषा से दीर्घेकारान्त सखी में प्रातिपदिकत्व का व्याप्यधर्म सखिशब्दत्व का आरोप करेगें तब टच् की अवश्य प्राप्ति है, किन्तु

लिङ्ग विशिष्ट का ग्रहण कराने वाली यह परिभाषा अनित्य है, अतः टच् प्रत्यय न हुआ। "इरतेरनुधमने डच्" ३।२।९। सूत्र पर पठित 'शक्तिलाङ्गल'......वार्तिक में 'घटघटी' दो न कह कर घट कहते, लिङ्गविशिष्ट परिभाषा से 'घटी' का ग्रहण होता, पुनः घटी ग्रहण से लिङ्गविशिष्ट परिभाषा अनित्य है, अतः यहां टच् न हुआ।

"प्रातिपदिकग्रहणे" इस परिभाषा में प्रमाण—'कुमारः श्रवणादिभिः' सूत्र ही हैं। तथाहि—श्रवणा का पुंलिङ्ग कुमार के साथ एकार्थबोधकत्वरूप सामानाधिकरण्य नहीं रहेगा अतः वहां समास प्राप्त नहीं है वह सूत्र व्यर्थ होकर 'लिङ्गविशिष्ट परिभाषा बोधन करता है। तब कुमार से कुमारी का ग्रहण कर 'कुमारी चासौ श्रवणा' यहां दोनों का एकार्थबोधकत्व है। अतः समास हुआ। एवं इस परिभाषा में 'युवा खलति' सूत्रस्थ जरती भी प्रमाण है।

यहां स्त्रीवाचक सखी के ईकार का ह्रस्व होने से अतिसखि घटक सखि लक्षणवशसम्पन्न है। अर्थात् लक्षण = सूत्र प्रवृत्त्यधीन रूप को लाक्षणिक कहते हैं, अतः प्रतिपदोक्त सखि को उद्देश्य कर विधीयमान कार्य अनङ् एवं णिद्वद्भाव यहां नहीं होता है। परिभाषार्थ—लाक्षणिक एवं प्रतिपदोक्त के मध्य में प्रतिपदोक्त का ही ग्रहण करना चाहिए।

"गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः" यह परिभाषा पदकार्य में ही प्रवृत्त होती है, अन्यत्र नहीं। पदकार्य उसको कहते हैं कि "जो कार्य विभक्ति निमित्त, या स्त्रीप्रत्यय निमित्तक न हो। विभक्त्यनिमित्तकत्वे सति स्त्रीत्वानिमित्तकत्वम् = पदकार्य्यत्वम्। एवं गौणमुख्य न्याय में अप्रसिद्ध-संज्ञारूपगौणत्व, एवं सादृश्य मूलक लक्षणा से बोध्यार्थ रूप गौणत्व यह द्विविधगौणत्व का ही ग्रहण है, इतरार्थ में विशेषणीभूतार्थ उपसर्जनत्व रूप गौणत्व का ग्रहण नहीं, अतः प्रातिपदिक कार्य में गौणमुख्य न्याय की प्रवृत्ति ही प्रकृत में नहीं है। इसको स्पष्ट ग्रन्थकार कहते हैं कि यहां प्रातिपदिक कार्य में अधिकांश कार्य विभक्ति निमित्तक ही हैं अतः उस न्याय की यहां प्रवृत्ति का अवसर ही नहीं है। इस बात को सूचनार्थ ग्रन्थकार लिखते हैं कि यहां विशेषणत्वरूप = उप-सर्जनत्वरूप = गौण रहें वहां भी अनङ्णिद्वद्भाव की प्रवृत्ति होती ही है।

२५७ पतिः समास एव १।४।८।

पतिशब्दः समास एव घिसंज्ञः। पत्या। पत्ये। पत्युः। पत्यौ। शेषं हरिवत्। समासे तु भूपतिना। भूपतये। कतिशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः।

पूर्व सूत्र से घिसंज्ञा पतिशब्द की प्राप्त ही थी, यह सूत्र नियमार्थ है। 'धात्वादेः षः सः' से विपरीत नियम ज्ञापकादि से न हुआ, एवकार व्यर्थ है, स्पष्ट अर्थ ज्ञानमात्र प्रयोजनार्थ है, अर्थात् 'एव' की आवश्यकता नहीं ही है। ह्रस्व इकारान्त पतिशब्द की घिसंज्ञा समास में ही होती है। अन्यत्र नहीं।

विमर्श—समास में घिसंज्ञा हो तो पति शब्द की ही, अन्य इकारान्त की नहीं। यह विपरीत नियम नहीं है, 'धात्वादेः' 'अनल्विधौ' इत्यादि निर्देश से। स्मृति एवं पुराणों में 'सखिना' 'पतिना' शब्द असाधु है। 'त्रिशङ्कु' यज्ञाधिकारी न होते हुए विश्वामित्र ने अयाज्ययाजन तपो-महिमा से कराया था, उसी प्रकार असाधु शब्दोच्चारण वे करते थे।

वस्तुतः पूर्वोक्त कथन उचित नहीं है। पाणिनि व्याकरण से पूर्व भी अनेक व्याकरण थे, उस समय 'सखिना' 'पतिना' प्रयोग सकललोक प्रसिद्ध थे, एवं व्याकरणान्तर सम्मत थे, भिन्न भिन्न समय में भिन्न भिन्न परिस्थिति में शब्दों का प्रयोग होता था। अतः एव स्मृति ग्रन्थों में 'पतिते पतौ' आदि आर्ष प्रयोग है। जो पाणिनि व्याकरण कहे वही ठीक, यह तो उचित नहीं है, इस लिए

उनका उस समय साधुत्व था। सम्प्रति नहीं, यही कल्पना उचित है। सीतायाः पतये नमः। सखिना वानरेन्द्रेण ये भी प्रा० व्या० से साधु है।

ईषदूनः पतिः बहुपतिः यहां समास नहीं है, बहुच् प्रत्यय है, घिसंज्ञा नहीं है। 'किम्' से संख्या परिमाण अर्थ में डति प्रत्यय टिरूप इम् का लोप 'कति' शब्द बहुवचनान्त है। का संख्या येषाम् इति कति।

२५८ बहुगणवतुडति संख्या १।१।२३।

एते संख्यासंज्ञाः स्युः।

बहु, गण, एवं वतुप् प्रत्ययान्त, डतिप्रत्ययान्त इन शब्दों की संख्या संज्ञा होती है। बहुत अर्थ वाचक बहु का यहां ग्रहण होता है। गण = समुदाय। वतु में उकारान्त उच्चारण से वतुप् का ग्रहण है, वति का नहीं। पातेर्डति का ग्रहण नहीं है। किन्तु डति तद्धित का वतुसाहचर्य से ग्रहण है। लोक में द्वित्रि आदि शब्द संख्या वाचक है, किन्तु शास्त्रकार ने लोक में संख्यात्वेन जो प्रसिद्ध नहीं है, उनकी भी कृत्रिम संख्या संज्ञा की है। "संख्याया अतिशदन्तायाः कन्" यहां कृत्रिम संख्या वाचक एवं लोक में प्रसिद्ध संख्या वाचक उभय से तद्धित कन् प्रत्यय होता है। "उभयगतिरिह भवति" यह परिभाषा है।

विमर्श—कृत्रिम अर्थवत् त्यन्त एवं शदन्त संख्या नहीं है, पुनः कन् प्रत्यय निषेधार्थ 'संख्याया अतिशदन्तायाः कन्' सूत्र में 'अतिशदन्त' ग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि शास्त्रमें क्वचित् कृत्रिम का, क्वचित् अकृत्रिम का, क्वचित् कृत्रिम एवं अकृत्रिम उभय का शिष्टोक्त व्याख्यान से ग्रहण होता है। एतन्मूलक यह परिभाषा ज्ञापित है कि "उभयगतिरिह भवति" इति।

वतुप्प्रत्ययान्त शब्द है—यावत् = जितना, तावत् = तीतना, एतावत् = इतना, कियत् = कितना, इयत् = इतना। यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप् ५।२।३९। किमिदंभ्यां वो घः। परिणाम का अर्थ है—निश्चय। सुबन्तयद् तद् एतद् से निश्चित रूप परिमाण अर्थ में वतुप् प्रत्यय होता है। किम्शब्द इदम्शब्द से पर वतुप् के वकार को घ आदेश होता है। एवं घकार को इयादेश होता है।

२५९ डति च १।१।२५।

डत्यन्ता संख्या षट्संख्या स्यात्।

डति प्रत्ययान्त संख्या की षट्संज्ञा होती है।

विमर्श—भाष्यकार ने कहा कि डति दो बार क्यों किया, संख्या सूत्र में जो डति है उसकी यहां अनुवृत्ति कर षट् संख्या विधायक सूत्र में डति ग्रहण न करना। यदि षट्संज्ञा विधायक में डति है, तो संख्या सूत्र में डति ग्रहण न करना, इसमें संख्या की अनुवृत्ति से उभय संज्ञाएं होगी।

२६० प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः १।१।६१।

लुक्श्लुलुप्शब्दैः कृतं प्रत्ययस्यादर्शनं क्रमात् तत्तत्संज्ञं स्यात्।

अदर्शन की लोप संज्ञा प्रथम कह चुके हैं। परन्तु वही अदर्शन लुक्, श्लु, अथवा लुप् इनमें से किसी भी शब्द से प्रत्यय का कहा गया हो तो उस अदर्शन को लुक्, श्लु, लुप् यह संज्ञा अनुक्रम से होती है। इसका प्रयोजन 'न लुमता' सूत्र में है।

विमर्श—१—लुक् शब्द से प्रत्यय का अदर्शन की लुक् संज्ञा, २—श्लु शब्द से प्रत्यय का अदर्शन की श्लुसंज्ञा, ३—लुप् शब्द से प्रत्यय का अदर्शन की लुप् संज्ञा (यह सारांश है । यहां अन्योन्याश्रय है—लुक् श्लु लुप् संज्ञाएँ जब हो जाय, तब प्रत्यय का अदर्शन हो, जब प्रत्यय का लक्ष्य में अदर्शन हो तो लुगादि संज्ञाएँ?, इस दोष का परिहार उपाय क्या है ?, भाविनी संज्ञा का आश्रयण से अन्योन्याश्रय दोष का परिहार करना । यथा—ऐसा प्रत्यय का अदर्शन होता है कि जिस अदर्शन के बाद भावि लुक् आदि संज्ञाएँ हो सके । यदि प्रत्यय भिन्न का अदर्शन करें तो भविष्यत् काल में वे संज्ञाएँ न होगी, यदि प्रत्यय का एकदेश = अवयव का अदर्शन करे तो भी भविष्य में वे संज्ञाएँ न होगी, सम्पूर्ण प्रत्यय का अदर्शन करें तब भाविनी वे संज्ञाएँ होगी । 'सूत्रशाटकवत्' यहां भाविनी संज्ञाओं का समाश्रयण हुआ ।

२६१ षड्भ्यो लुक् ७।१।२२.

षड्भ्यः परयोर्जश्शसोर्लुक् स्यात् ।

षट् संज्ञा यद्यपि एक है, अतः एकवचनान्त प्रयोग उचित था "षषः' किन्तु इसका विषय प्रदेश अधिक होने से बहुवचनान्त कहा है । अथवा षट् संज्ञक जो शब्द तदर्थ गत बहुत्व संख्या के वाचक जश् , शस् का लुक् यह अर्थ है । प्रियाः षट् येषान्ते तान् प्रियषषः यहां, अन्यपदार्थगत बहुत्वाभिधायी शस् है उसका लुक् न हुआ । एवं 'प्रियपञ्चानः' यहां भी प्रिय है पाँच जिनके यहां भी लुक् न हुआ । षट् संज्ञक शब्द से पर जस् शस् का लुक् होता है, किन्तु लुक् का स्थानी जस् या शस् षडर्थगतसंज्ञा का वाचक रहें । कति जस् , संख्या संज्ञा, षट्संज्ञा, जस् का लुक् । कति = कितने ।

२६२ प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् १।१।६२।

प्रत्यये लुप्तेऽपि तदाश्रितं कार्य्यं स्यात् । इति जसि चेति गुणे प्राप्ते ।

प्रत्यय का लोप करने पर भी प्रत्यय निमित्तक कार्य होता है ।

विमर्श—यह सूत्र विध्यर्थ है, यह प्राचीन का मत है, नव्य के मत में नियमार्थ है । विधि का फल 'अतृणेट्' है । 'अतृणह्त्' इस परिस्थिति में नित्य होने से 'हल्ङ्याब्भ्यः' से तकारलोप करने पर 'तृणह इम्' सूत्र की प्रवृत्ति यहां हलादिपित्सार्वधातुक पर में न होने से न होगी, अतः यहां प्रत्ययलक्षण से इमागम हुआ । हलादित्व लाने में 'स्थानिवद्' सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है, 'अनल्विधौ' से निषेध है । लोप का स्थानी तकार है उसमें रहने वाला धर्म = हल्त्व, तद्युक्त धर्म हलादित्व है, वह अल्मात्रवृत्ति अल्त्व व्याप्य धर्मघटित होने से अल्विधि है, अतः तन्निमित्तक विधि कर्तव्य में स्थानिवद्भाव न हुआ ।

सूत्र का प्रथम प्रत्ययपद प्रत्यय के अवयव में भी प्रत्ययत्व रहता है उस ज्ञापन द्वारा सम्पूर्ण प्रत्यय का लोप जहां हो, वहां ही प्रत्ययलक्षण होता है । अर्थात् पर्य्याप्तिसम्बन्ध से प्रत्ययत्व-धर्म की स्थिति स्थल में इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है, अन्यत्र नहीं । 'आश्नीय' यहां सीय का लुप्त सकार का प्रत्यय लक्षण से हल् परत्व से नलोप हुआ, क्योंकि सकारप्रत्ययावयव से प्रत्यय है किन्तु पर्य्याप्तिसम्बन्ध से प्रत्ययत्व समुदाय में ही रहे वहां ही प्रत्ययलक्षण होता है । 'कविभिः कृतम्' यहां केवल भिस् के सकार में प्रत्ययत्व से तत्सम्बन्धी विसर्ग प्रत्यय है प्रत्यय भिन्न नहीं है षकार न हुआ यह प्रत्ययावयव में प्रत्ययत्व का फल है । 'आदेशप्रत्यययोः' में प्रत्यय पद की प्रत्ययावयव में लक्षणा न करनी पड़ी, प्रत्यय का अवयव सकार स्वयं इस ज्ञापन से प्रत्यय है ।

'प्रत्ययलोपे तल्लक्षणम्' न्यास करके तत् शब्द पूर्व स्थित प्रत्यय का परामर्श करके तल्लक्षण का अर्थ=प्रत्ययलक्षण ही होगा, सूत्र में द्वितीय प्रत्यय लक्षण व्यर्थ है, वह 'वर्णाश्रये प्रत्ययलक्षणं नास्ति'

इस परिभाषा को ज्ञापन करता है। तात्पर्य्य यह है कि प्रत्यय में जहाँ विशेष्यतालक्षण-प्राधान्य रहें, वहां ही प्रत्यय लक्षण होता है प्रत्यय में यहां विशेषणत्वलक्षण अप्राधान्य है, वहां प्रत्ययलक्षण नहीं होता है। इस परिभाषा का फल—'चित्रायां जाता कन्या' = 'चित्रा' नक्षत्र में उत्पन्न कन्या यहां जातार्थक अण् का लोप है; उसका प्रत्ययलक्षण कर 'टिड्ढाणञ्' सूत्र से अणन्तत्वनिमित्तक ङीप् न हुआ, क्योंकि सूत्रार्थ में 'अणो योऽकारस्तदन्तात् ङीप्' यह अर्थ है, 'अण् प्रत्यय का अवयव अकार' इसमें प्रधान = विशेष्य अकार है, उसमें विशेषण=अप्रधान अण् है, यहां प्रत्यय में प्राधान्य नहीं है। प्रत्यय का वर्ण अकार में प्राधान्य है, वर्णाश्रय है, प्रत्ययलक्षण न हुआ, चित्र शब्द से स्त्रियां टाप् ही हुआ, ङीप् न होकर 'चित्रा' ही रूप सिद्ध है, चित्री नहीं है। एवं 'गोहितम्' 'सुदृषत्' प्रासादः यहां प्रत्ययलक्षण के अभाव से ओकार को 'अव्' आदेश न हुआ। सुदृषत् वहां लुप्त जस् निमित्तक 'अत्वसन्तस्य' से दीर्घ न हुआ।

'प्रत्ययलोपे' इतना ही सूत्र कर 'स्थानिवत्' की पूर्वसूत्र से अनुवृत्ति से प्रत्ययलोप स्थल में स्थानिवद्भाव होता पुनः प्रत्ययलक्षण क्यों किया ?, वह व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि प्रत्ययत्व व्याप्य = अर्थात् केवल प्रत्यय में ही रहने वाला धर्म, तद्युक्त धर्मिनिमित्तक कार्य में ही प्रत्यय लक्षण होता है, 'सुदृषत् प्रासादः' यहां शोभनाः दृषदः यस्मिन् प्रासादे यहां समास कर विभक्ति लुक् के बाद दृषद् शब्दोत्तर लुप्त अस् का प्रत्यय लक्षण से अस्त्व से असन्तत्व मान कर 'अत्वसन्तस्य' सूत्र से दीर्घ न हुआ, क्योंकि अस्त्व प्रत्ययमात्र ही वृत्ति नहीं है अस्त्व धर्म प्रत्ययेतर भवनार्थ अस् धातु वृत्ति भी है। प्रत्ययत्व का व्याप्य वही धर्म हो सकता है जो प्रत्ययत्व के अनधिकरण में न रहें एवं प्रत्यय निष्ठ रहें। यहां प्रत्ययत्व का अनधिकरण अस् धातु में अस्त्वधर्म रह गया, अतः अस्त्व प्रत्ययत्व का व्याप्य नहीं है।

"स्वाभाववद् अवृत्तित्वं व्याप्यत्वम्" स्वम् = प्रत्ययत्वम्। प्रत्ययत्वाभावः स्वरूपसम्बन्धेन अस् धातौ तत्र अस्त्वस्य वृत्तिता अस्ति अतः प्रत्ययत्वनिष्ठव्यापकतानिरूपिता व्याप्यता अस्त्वे नास्ति। इस प्रकार समन्वय करना चाहिये। सुदृषत् यहां प्रत्यय लक्षण का अभाव हुआ।

२६३ न लुमताऽङ्गस्य १।१।६३।

लुक् श्लुः लुप् एते लुमन्तः। लुमता शब्देन लुप्ते तन्निमित्तमङ्गकार्य्यं न स्यात। कति, कति, कतिभिः, कतिभ्यः, कतिभ्यः, कतीनाम्, कतिषु। अस्मद्-युष्मद्षट्संज्ञास्त्रिषु सरूपाः। त्रिशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः। त्रयः, त्रीन्, त्रिभिः, त्रिभ्यः, त्रिभ्यः।

लुक् में लु है, श्लु में लु है, लुप् में लु है, वर्तमान कालिक सत्ता विशिष्ट अर्थ में प्रथमान्त लु शब्द से 'अस्य' या अस्मिन् अर्थ में मतुप् प्रत्यय से 'लुमत्'=लुयुक्त शब्द को लुमान् कहते हैं। यहां लुमान् से तीन पूर्वोक्त=लुक्, श्लु, लुप् है, इन शब्दों से जहां प्रत्यय का लोप है, वहां लुप्तप्रत्यय से अव्यवहित पूर्व को अङ्गाधिकारीय कार्य करने में प्रत्ययलक्षण से वह कार्य नहीं होता है।

कति से जस् का षड्भ्यो लुक्" से लुक् है, प्रत्ययलक्षण से 'जसि च' से गुण प्राप्त था, उस प्रत्ययलक्षण का इसने निषेध किया, अतः जस् पर में नहीं, गुण न हुआ। 'कति'। शस् में भी 'कति' हुआ। 'कति आम्' यहां नुट्, दीर्घ, कतीनाम्।

'मैं' अर्थ का बोधक अस्मद् शब्द 'तूं' या 'तुम' अर्थ का बोधक युष्मद् शब्द, एवं षट् संज्ञायुक्त शब्द तीनों लिङ्ग में समान ही रूप वाले है, रूप परिवर्तन नहीं होता।

त्रित्वसंख्या बोधक त्रिशब्द एकत्व विशिष्ट संख्येय, या द्वित्व संख्या विशिष्ट संख्ये अर्थ का वाचक न होने से एकवचन या द्विवचन में प्रयुक्त नहीं है, केवल बहुवचनान्त है।

विमर्श—तरति = गच्छति मूलकारणेषु = सत्त्वरजस्तमस्सु या संख्या सा त्रिः = त्रित्वम्। तद्वन्तः त्रयः = त्रित्वविशिष्टाः पुरुषाः।

संसार के मूल कारण तीन गुण है, उस तीन मूल कारण में रहने वाली संख्या त्रित्व है, यह योगिक अर्थ है। उस संख्या जो गुणरूपा है, उससे युक्त द्रव्य को त्रिशब्द बोधन करता है दशघटित संख्यावाचक शब्द संख्याविशिष्ट संख्येय = द्रव्य का ही प्रतिपादक है, केवल संख्या का प्रतिपादक नहीं, कोषकार लिखते हैं—"आदशतः संख्या संख्येये" संख्येये का अर्थ है = संख्याश्रय=द्रव्य में। संख्या अर्थ में एकत्व द्वित्वादि शब्द ही है, अष्टादश तक संख्येय वाचक है, आगे शब्द संख्या वाचक केवल है।

त्रि अस्, 'जसि च' से गुण हुआ, अय् से त्रयः। त्रि अस् यहां पू० स० दीर्घ कर, सकार को नकार हुआ, त्रीन्।

२६४ त्रेस्त्रयः ७।१।५३।

त्रिशब्दस्य त्रयादेशः स्यादामि। त्रयाणाम्। परमत्रयाणाम्। गौणत्वे तु नेति केचित्। प्रियत्रीणाम्। वस्तुतस्तु प्रियत्रयाणाम्। त्रिषु। द्विशब्दो नित्यं द्विवचनान्तः।

आम् विभक्ति से अव्यवहित पूर्व त्रिशब्दान्त अङ्ग के निर्दिश्यमान = त्रिशब्द को त्रयादेश होता है। त्रि आम्, त्रयादेश, नुट् णत्व, 'त्रयाणाम्'।

कर्मधारय परमत्रि का षष्ठी बहुवचने 'परमत्रयाणाम्' = उत्तम में तीन पुरुषों का। प्रियाः त्रयः येषान्ते तेषाम् 'प्रियत्रि आम्' यहां अन्यपदार्थ में त्रिशब्दार्थ विशेषण रूप गौण है, अतः अन्य व्याकरणकार के मत में त्रयादेश न होकर 'प्रियत्रीणाम्' होता है, पाणिनि के मत में गौण में भी त्रयादेश से 'प्रियत्रयाणाम्' होता है।

'द्विशब्द' में कर्मधारय समास है, द्विश्चासौ शब्दश्च इति द्विशब्दः। यहां द्विशब्द स्ववृत्तिवर्णमाला का ही बोधक है, द्वित्वसंख्यायुक्त द्रव्यार्थक नहीं है। अतः शब्दार्थक से एकवचनविभक्ति होती है। इसी प्रकार 'त्रिशब्दः' 'कतिशब्दः' आदि में ज्ञान करना एवं एकवचनान्त निर्देश का तात्पर्य ज्ञान करना चाहिए। द्वित्वविशिष्ट संख्येयार्थ = द्रव्यार्थक द्विवचनान्त ही है।

२६५ त्यदादीनामः ७।२।१०२।

एषामकारोऽन्तदेशः स्याद् विभक्तौ। *द्विपर्यन्तानामेवेष्टिः*। द्वौ २ द्वाभ्याम् ३। द्वयोः २। द्विपर्यन्तानां किम्। भवान्। भवन्तौ। भवन्तः। संज्ञायामुपसर्जनत्वे च नात्वम्, सर्वाद्यन्तर्गणकार्यत्वात्। द्विर्नाम कश्चित्। द्विः। द्वौ। द्वावतिक्रान्तोऽतिद्विः। हरिवत्। प्राधान्ये तु परमद्वौ, इत्यादि। औडुलोमिः। औडुलोमी। उडुलोमाः। *लोम्नोऽपत्येषु बहुष्वकारो वक्तव्यः*। बाह्वादीञोऽपवादः। औडुलोमिम्। औडुलोमी। उडुलोमान्।

इति इदन्ताः।

त्यद्, तद्, यद्, एतद्, इदम्, अदस्, एक, द्वि, इन आठ शब्द है अन्त में जिसके ऐसा जो अङ्ग उसके अन्त्य अल् को अकारादेश विभक्ति पर रहते होता है। तद्धित के विभक्त्यर्थक प्रत्यय भी पर में रहें, या सुप्प्रत्यय पर हो, वहां इसकी प्रवृत्ति होती है।

सूत्र में त्यदादि से किम् तक न लेना, किन्तु वार्तिककार मत से द्वि तक ही त्यदादि शब्दा का ग्रहण करना चाहिये। यदि ऐसा न कहते तो भवतु का भवत् के अन्त्य तकार को अकारादेश विभक्ति = स औ जसादि में होकर 'भवान्', 'भवन्तौ' 'भवन्तः'; इन रूपों की असिद्धि होगी।

विमर्श—वार्तिक न करने पर भी यहां दोष नहीं है, 'भवतु' को त्यदादि शब्दों के पूर्व में पढ़ाकर दोष का उद्धार हो सकता है। 'स च भवान् च' यहां एकशेष में 'त्यदादीनां मिथः सहोक्तौ यत्परं तत् शिष्यते'' से यथाश्रुत गण पाठ में भवत् का शेष रहकर 'भवन्तौ' बनता है, उसकी अब असिद्धि होगी, यह कथन भी उचित नहीं है, 'कचित्पूर्वशेषोऽपि दृश्यते'' से त्यदादि पूर्वपठित 'भवत्' का भी एकशेष में शेष रहेगा 'भवन्तौ' में दोष नहीं है। युष्मद् अस्मद् इनको आत्व यत्व एवं लोप विधान से वहां 'त्यदादीनामः' की प्रवृत्ति नहीं, दोष नहीं है। किम् को कादेश होता है। वहां भी दोष नहीं है भवत् शब्द के दोष का उद्धार कर चुके हैं। वार्तिक व्यर्थ ही है। यह भाष्योष्टि है वह न करना।

द्वि औ, अकारादेश, वृद्धि, । द्वौ। द्वि भ्याम् अकार, दीर्घ-द्वाभ्याम्। द्वि ओस् अकार, एत्व अय् रुत्वविसर्ग—द्वयोः। संज्ञावाचक एवं विशेषणीभूतार्थ वाचक द्विशब्द को सर्वादि के अन्तर्गत त्यदादिनिमित्तक कार्य का अभाव होता है, प्राधान्य से प्रसिद्ध द्वित्वसंख्याविशिष्ट-संख्येयार्थप्रतिपादक द्विशब्द ही सर्वादिगण पठित है, महासंज्ञा करण से व्यक्तिविशेषार्थ प्रतिपादक संज्ञा वाचक का रूप एकवचन द्विवचन एवं बहुवचन में होता है—द्विः। द्वी। द्वयः। दो को अतिक्रमण करने वाले दो पुरुष इस अर्थ में द्वि का अर्थ अत्यर्थ में विशेषण है अप्रधान है = उपसर्जन है, अतः वहां सर्वादिप्रयुक्त, त्यदादिप्रयुक्त कार्याभाव है 'अतिद्वि' का रूप हरिवत् है। कर्मधारय में द्विशब्दार्थ द्वित्वविशिष्ट द्रव्य प्रधान है अतः परमद्वौ में त्यदादित्व प्रयुक्त अत्वकार्य हुआ। जिसके बाल तारों की तरह चमकते हो वह उडुलोमा = ऋषिविशेष उसका अपत्य अर्थ में "बाह्वादिभ्यश्च" ८।१।९६। से इञ्प्रत्यय, अलोप, आदि अच् की वृद्धि, "नस्तद्धिते" ६।४।१।४४ से टिलोप से 'औडुलोमि' इकारान्त शब्द हुआ। प्रथमैकवचन में औडुलोमिः। औडुलोमी। बहुवचन में—'उडुलोमि ऋषि के पुंस्त्व विशिष्ट अनेक अपत्य (पुत्रों में इञ् प्रत्यय को बाधकर 'अप्रत्यय होता है अप्रत्यय पर में रहते पूर्व की भसंज्ञा 'यस्येति सूत्र से अकार लोप बहुवचन में अस् पूर्वसवर्ण दीर्घ, रुत्व विसर्ग—उडुलोमाः। शस् में उडुलोमान्। उडुलोमैः। उडुलोमेभ्यः २ उडुलोमानाम्। उडुलोमेषु बहुवचन में, अन्यत्र औकारादि औडुलोम के रूप बनाना। ह्रस्व इकार हैं अन्त मे जिनके ऐसा कुछ शब्दों का प्रकरण समाप्त हुआ।

अब दीर्घ ईकारान्त शब्दों का निर्देशक के लिए प्रकरण आरम्भ होता है:—

वातप्रमीरित्युणादिसूत्रेण माङ ईप्रत्ययः स च कित्। वातं प्रमिमीते वातप्रमीः। दीर्घाज्जसि च। वातप्रम्यौ। वातप्रम्यः। हे वातप्रमीः। अमि पूर्वः। वातप्रमीम्। वातप्रम्यौ! वातप्रमीन्। वातप्रम्या। वातप्रमीभ्याम् ३। वातप्रम्ये। वातप्रम्यः २। वातप्रम्योः। वातप्रम्याम्—दीर्घत्वान्न नुट्। ङौ तु सवर्णदीर्घः वातप्रमी। वातप्रमीषु। एवं ययीपप्यादयः। यान्त्यनेनेति ययीर्मार्गः। पाति

लोकमिति पपीः = सूर्यः। यापोः किद् द्वे चेति ईप्रत्ययः। क्विबन्तवातप्रमी-शब्दस्य तु अमि शसि ङौ च विशेषः। वातप्रम्यम्। वातप्रम्यः। वातप्रम्यि। 'एरनेकाच' इति वक्ष्यमाणो यण्। प्रधीवत्। बह्व्यः श्रेयस्यो यस्य स बहुश्रेयसी। दीर्घङ्यन्तत्वाद् धलङ्याबिति सुलोपः।

वायु वेग से दौड़ता है उसको, या शृङ्गरहित हरिण को वातप्रमी कहते हैं। व्युत्पत्ति वातम् = वायु का शीघ्र गति से प्रमिमीते = नापने वाला इस अर्थ वातप्र उपपदयुक्त 'मा' धातु से ईप्रत्यय वह कित है, तन्निमित्त आकार लोप = वातप्रमी में उपपद तत्पुरुष समास है। वातप्रमी स् रुत्वविसर्ग वातप्रमीः। योगरुढ मृगविशेष अर्थ में प्रसिद्ध है। औ जस् में प्राप्त पूर्वसवर्ण का निषेध 'दीर्घाज्जसि' ने किया अतः यण् आदेश है। अम् में पूर्वरूप 'अमि पूर्वः' से हुआ। षष्ठी के बहुवचन में यह ह्रस्वान्त नहीं है, अतः आम् को नुट् न हुआ यणादेश। सप्तमी विभक्ति के एक वचन में 'अकः सवर्णे' से दीर्घ होकर 'वातप्रमी'।

'ईदूतौ च सप्तम्यर्थे' सूत्र के भाष्य से सप्तमी के एकवचन में इसका एवं 'ययी' आदि दीर्घ ईकारान्त के रूप ही नहीं होते हैं, अनभिधान है, या होते हैं तो दीर्घ न होकर यणादेश से वातप्रम्यि 'यय्यि' 'पप्यि' रूप वातप्रमी के सदृश है।

मार्गार्थक ययी की सिद्धि इस प्रकार है—प्रापणार्थक 'या' धातु से करण अर्थ में ईप्रत्यय है, वह कित् है एवं प्रकृति का ईप्रत्यय में द्वित्वादि कार्य 'ययी' एवं रक्षणार्थक 'पा' से ईप्रत्यय कर्ता में, द्वित्व कित्त्व आकार लोप सूर्य अर्थ में 'पपी' बना। यदि 'वातप्रमी' शब्द क्विप् प्रत्यय कर क्विबन्त मानेंगे तो 'सनाद्यन्ताः' से धातु संज्ञा होकर एरनेकाच् सूत्र से अमि पूर्वः शस् में पूर्व सवर्ण दीर्घ ङि में सवर्ण दीर्घ, इनको बाधकर यणादेश ही ईकार को होता है। प्रधी के समान क्विबन्त वातप्रमी के रूप हैं।

बहुत श्रेष्ठ स्त्रियें है, जिसके वह बहुश्रेयसी है। अतिशय प्रशस्य अर्थ में प्रशस्य सुबन्त से द्विवचन विभज्य (५।३।५७) से ईयसुन् प्रत्यय हुआ है। प्रशस्यस्य श्रः। (५।३।६०) से श्र आदेश, श्र इयस्, टिलोप 'टेः' से प्राप्त था, किन्तु प्रकृतिभाव से बाध हुआ। प्रकृतिभाव विधायक सूत्र "प्रकृत्यैकाच्" (६।४-१६३)। गुण श्रेयस् प्रत्यय उगित् होने से उगिदन्त को स्त्री अर्थ में उगितश्च से ङीप्—श्रेयसी उसके अर्थ में विशेषण बहुत है अतः उससे भी ङीप् बहुवचन में 'बह्व्यः श्रेयस्यो यस्य सः' वहां बहुव्रीहि समास "स्त्रियाः पुंवत्" से पुंवद् भाव, 'ईयसश्च' से कप् का निषेध, "गोस्त्रियोः" से ह्रस्व प्राप्त था उसका "ईयसो बहुव्रीहेर्न" इस वार्तिक से निषेध हुआ—'बहुश्रेयसी' शब्द पुंल्लिङ्ग है। प्रथमा ए० व० में सु के सकार का हल्ङ्याब् से लोप बहुश्रेयसी रूप है।

२६६ यू स्त्र्याख्यौ नदी १।४।३।

ईदूदन्तौ नित्यस्त्रीलिङ्गौ नदीसंज्ञौ स्तः। ॐ प्रथमलिङ्गग्रहणञ्च ॐ। पूर्वं स्त्र्याख्यस्योपसर्जनत्वेऽपि नदीत्वं वक्तव्यमित्यर्थः।

दीर्घ ईकारान्त, दीर्घ ऊकारान्त नित्यस्त्रीलिङ्ग, शब्द की नदी संज्ञा होती है। परन्तु बहुश्रेयसी शब्द ङीबन्त पुंल्लिङ्ग है, नित्यस्त्रीलिङ्ग नहीं है, सूत्र से नदी संज्ञा प्राप्त नही इसकी, इस लिये वार्तिककार कहते हैं कि प्रथम (समास के पूर्व स्त्रीवाचक रहें समास के बाद अन्य पदार्थ में विशेषणीभूत होने से उपसर्जन श्रेयसी का अर्थ हुआ तो भी नदी संज्ञा तदन्त की

होती है। श्रेयसी शब्द नित्यस्त्रीलिङ्ग की तो नदी संज्ञा है, वह नदी संज्ञा तदन्त की होती है। वृत्तेः पूर्वं विद्यमानं नित्यस्त्रीत्वमादाय तस्यार्थान्तरोपसंक्रमे = उपसर्जनत्वेऽपि नदीत्वं वक्तव्यमित्यर्थः। वार्तिक में च शब्द से अनुपर्जन का ग्रहण है, गौरी आदि अनुसर्जन की भी नदी संज्ञा होती है। अवयवस्य नित्यस्त्रीत्वात् नदीत्वमित्यर्थः।

२६७ अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः ७।३।१०७।

अम्बार्थानां नद्यन्तानाञ्च ह्रस्वः स्यात् सम्बुद्धौ। हे बहुश्रेयसि। शसि बहुश्रेयसीन्।

जननी रूप मातृ अर्थ वाचक शब्दों का एवं नदी संज्ञकान्त शब्दों का अवयव अन्त्याच् का ह्रस्व होता है सम्बुद्धिसंज्ञक प्रत्यय पर रहते। सम्बोधन में ईकार का ह्रस्व इकार हुआ, हे बहुश्रेयसि। इस सूत्र पर भाष्य वार्तिक से तल्प्रत्ययान्त का वेद में ङि या सम्बुद्धि में विकल्प ह्रस्व होता है। शस् में पूर्वसवर्णदीर्घ एवं नकारादेश से बहुश्रेयसीन्।

२६८ आण् नद्याः ७।३।११२।

नद्यन्तात्परेषां ङितामाडागमः स्यात्

नद्यन्त शब्द से अव्यवहित उत्तर ङकारेत्संज्ञक प्रत्ययों को आट् आगम होता है। बहुश्रेयसी आ ए, बहुश्रेयसी आ अस् बहुश्रेयसी आ ङस्।

२६९ आटश्च ६।१।९०।

आटोऽचि परे वृद्धिरेकादेशः स्यात्। बहुश्रेयस्यै। बहुश्रेयस्याः। बहुश्रेयस्याः। नद्यन्तात्परत्वान्नुट् बहुश्रेयसीनाम्।

आट् से पर अच् रहें तो दोनो के स्थान में वृद्धिरूप एकादेश होता है।

१—आ ए की वृद्धि ऐ हुई, यण्। २—अ आ की वृद्धि आ हुई यण् ३—आ की वृद्धि आ यण् बहुश्रेयस्यै। बहुश्रेयस्याः। षष्ठी बहुवचन में नद्यन्त से पर आम् को नुट् हुआ।

विमर्श—लाघवार्थ 'आण् नद्याः' वहां 'अण् नद्याः' सूत्र कर अट् आगम करेंगे। आटश्च वहां 'अटश्च' न्यास करेंगे, क्या दोष है १ 'अस्वप् अ स् हसति' सकार को रुत्व-उत्व अस्वप् अ उ यहां उकार पूर्णवर्ती अकार अट् का है यहां वृद्धि अटश्च न्यास में होगी उसको रोकने के लिए आटश्च है, तो अट् आगम में 'बहुश्रेयसी अ ए' यहां वृद्धि न होगी अतः, आट् करना उचित है तव अस्वपो हसति की सिद्धी हुई।

२७० ङेराम्नद्याम्नीभ्यः ७।३।११६।

नद्यन्तादाबन्तान्नीशब्दाच्च ङेराम् स्यात्। इह परत्वादाटा नुट् बाध्यते। बहुश्रेयस्याम्। शेषमीप्रत्ययान्तवातप्रमीवत्। अङ्यन्तत्वान्न सुलोपः। अतिलक्ष्मीः। शेषं बहुश्रेयसीवत्। कुमारीमिच्छन्, कुमारीवाचरन् ब्राह्मणः कुमारी। क्यजन्तादाचारक्विबन्ताद्वा कर्तरि क्विप्। हल्ङ्यादिति सुलोपः।

नद्यन्त, आबन्त, एवं नीशब्द से पर ङि के स्थान में आम् आदेश होता है। बहुश्रेयसी ङि (इ) यहां आट् प्राप्त है, एवं आम् आदेश प्राप्त है, 'येन नाप्राप्ते' न्यास से सर्वथा निरवकाश आम् ने आट् आगम का बाध किया, यदि यहां पूर्व में आट् करेंगे तो नद्यन्त बहुश्रेयसी से अव्यवहित

उत्तर निर्दिश्यमान ङिविभक्ति नहीं रहेगी, आट् का मध्य में व्यवधान होगा। आम् कर के बहुश्रेयसी आम्' यहां आट् प्राप्त है, एवं आम् को नुट् आगम प्राप्त है, 'विप्रतिषेधे' से परत्वात् आट् ने नुट् का बाध किया, आट् आगम कर 'बहुश्रेयसी आ आम्', यहां आटश्च से वृद्धि एवं यण्—'बहुश्रेयस्याम्'। यहां आम् के बाद आट् नुम् का बाध्यबाधकभाव का विचार है। आम् तो अपवादत्वात् सर्वप्रथम ही होता है।

अतिलक्ष्मी में ईकार उणादि ईप्रत्यय का है, ङी का नहीं है। इसके बहुश्रेयसी सदृशरूप होते हैं। अतिलक्ष्मीः = लक्ष्मी को छोड़ कर चला गया वह। स्त्रीलिङ्ग कुमारी शब्द से 'वयसि प्रथमे' सूत्र से ङीप् प्रत्यय कर बना है। कन्या कुमारी का अर्थ है। नित्य स्त्रीलिङ्ग से नदी संज्ञा इसकी है। कुमारी की इच्छा करने वाला इस अर्थ में द्वितीयान्त कुमारी से 'सुप् आत्मनः क्यच्' से क्यच्, विभक्ति लोप अकार को 'क्यचि च' सूत्र से इकार, दीर्घ 'कुमारीय' धातु से क्विप् अकार लोप यकार लोप क्विप् सभी वर्णों का लोप कुमारी शब्द पुंल्लिङ्ग है, इच्छा कर्ता ब्राह्मण है। अथवा प्रातिपदिक कुमारी शब्द से "सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब् वा वक्तव्यः" से क्विप् तदन्त धातु को नाम= प्रातिपदिक बनाने के लिए 'क्विप् च' से क्विप्। इसका अर्थ कुमारी की तरह आचरण करने वाला ब्राह्मण। क्यजन्त कुमारी या क्विबन्त कुमारी शब्द प्रातिपदिक पुंल्लिङ्ग हो तो भी वह जात धातुत्व का त्याग नहीं करता है। यहां 'प्रथमलिङ्ग' वार्तिक से नदीसंज्ञा, सकार का लोप कुमारी बना। "क्विबन्ता विजन्ता धातुत्वं न जहति"।

२७१ अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ ६।४।७७।

श्नुप्रत्ययान्तस्य इवर्णोवर्णान्तस्य धातो भ्रू इत्यस्य चाङ्गस्येयङुवङौ स्तोऽजादौ प्रत्यये परे। ङिच्चेत्यन्तादेशः। आन्तरतम्यादेरियङ् ओरुवङ्। इतीयङि प्राप्ते।

अजादि प्रत्यय से अव्यवहित पूर्व श्नुप्रत्ययान्त, इवर्णान्त धातु, उवर्णान्त धातु तथा प्रातिपदिक भ्रू शब्द को इयङ् उवङ् आदेश होता है। स्थानकृत आन्तरतम्य = सादृश्य से इकार को इयङ्, उकार को उवङ् होता है, यहां स्थानी एवं आदेश के आदि अक्षर का शिष्टव्याख्यान आन्तरतम्य है। कुमारी औ कुमारी में धातुत्व अक्षुण्ण है, क्विबन्त विजन्त धातुत्व का त्याग नहीं करते हैं। इससे इयङ् आदेश प्राप्त है उसको बाधनार्थ सूत्र करते हैं।

विमर्श—मूल ग्रन्थ में 'इति इयङि प्राप्ते' यह लिखने का अभिप्राय यह है कि धातु को उच्चारण करके विधीयमान कार्य धातु से विहित प्रत्यय पर में रहे तब ही होता है—"धातोरुच्चमानं कार्यं तत्प्रत्यये भवति" यह परिभाषा है, यहां तो प्रातिपदिक कुमारी से औ विभक्ति है, अतः इयङ् की प्राप्ति ही नहीं है, इसका कथन यहां उचित नहीं है वह परिभाषा अनित्य है, "भ्रौणहत्य" प्रयोग में हन् के नकार को तकार निपातन से होना है। उस पर भाष्यकार कहते हैं कि यहां 'हनस्त' सूत्र से तत्व सिद्ध ही है, यदि पूर्व लिखित परिभाषा रहती तो यहां धातु विहित प्रत्यय नहीं, तकारादेश सूत्र से प्राप्त नहीं। "सिद्धमत्र तत्वम्" यह भाष्य असङ्गत होता है, अतः यह परिभाषा नहीं है, अथवा है तो अनित्य है, इस गूढाशय को हृदय में रख कर लिखा है "इतीयङि प्राप्ते" इति। परिभाषा में तत्प्रत्यये का अर्थ है—धातु विहित प्रत्यये।

२७२ एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य ६।४।८२।

धात्ववयवसंयोगपूर्वो न भवति य इवर्णस्तदन्तो यो धातुस्तदन्तस्यानेकाचोऽङ्गस्य यण् स्यादजादौ प्रत्यये परे। इति यण् कुमार्यौ। कुमार्यः। हे कुमारि।

अमि शसि च। कुमार्यम्। कुमार्यः। कुमार्यै। कुमार्योः २। कुमारीणाम्। कुमार्याम्। प्रधीः। प्रध्यौ, प्रध्यः, प्रध्यम्। प्रध्यः। उन्नयतीत्युन्नीः। धातुना सह संयोगस्य विशेषणादिह स्यादेव यण्। उन्न्यः। हे उन्नीः। उन्न्यम्। ङेराम्। उन्न्याम्। एवं ग्रामण्यः। अनेकाचः किम्। नीः। नियौ। नियः। अमि शसि च परत्वादियङ्। नियम्। नियः। ङेराम्। नियाम्। असंयोगपूर्वस्य किम्। सुश्रियौ। यवक्रियौ। ❁ गतिकारकेतरपूर्वपदस्य यण् नेष्यते ❁ शुद्धधियौ। परमधियौ। कथं तर्हि दुर्धियो वृश्चिकभियेत्यादि ?, उच्यते—दुस्स्थिता धीर्येषामिति विग्रहे दुर् इत्यस्य धीशब्दं प्रति गतित्वमेव नास्ति। यत्क्रियायुक्ताः प्रादयस्तं प्रत्येव गत्युपसर्गसंज्ञाः। वृश्चिकशब्दस्य बुद्धिकृतमपादानत्वं नेह विवक्षितम्। वृश्चिकसम्बधिनी भीरित्युत्तरपदलोपो वा।

"धातु का अवयव संयोग पूर्व में न रहें ऐसा जो इवर्ण, तदन्त जो धातु, जिसके अन्त में हो ऐसे अनेक अच् युक्त अङ्ग के इवर्ण को यण् होता है, अजादि प्रत्यय पर रहते"। इससे विशेष बाधक को छोड़ कर अजादि में यण् होता है। सम्बोधन से नदी संज्ञक कुमारी का अम्बार्थ सूत्र से ह्रस्व कर 'एङ्ह्रस्वात्' से सकार लोप हुआ। अम् शस् में भी यण् पूर्वरूप पूर्वसवर्णदीर्घ को बाधता है।

प्रकृष्टं ध्यायति इति प्रधीः। चिन्तार्थक ध्यै धातु से क्विप्, 'आदेच' से आत्व, सम्प्रसारण, दीर्घ से निष्पन्न प्रधी शब्द तीनों लिङ्ग में प्रयुक्त है, नित्य स्त्रीलिङ्ग नहीं है। नदीसंज्ञा 'यूस्त्र्याख्यौ' से अप्राप्त है। परन्तु धीशब्द नित्यस्त्रीलिङ्ग ही है। कोष भी इसमें प्रमाण है—बुद्धिः—मनीषा-धिषणा धीः-प्रज्ञा-शेमुषी-मतिः से यह नित्यस्त्रीलिङ्ग है। प्रकृष्टा धीर्यस्य स इस अर्थ में प्रधी शब्द संपूर्ण पुंलिङ्ग है। वार्तिक से नदी संज्ञा। प्रधी को अजादि विभक्ति पर में रहते यणादेश होता है। इयङ् की स्थिति न होने से नदी संज्ञा का यहां 'नेयङुवङ्' निषेध का विषय ही नहीं है। यण् विषय में वह निषेध नहीं लगता है।

उत् पूर्वक नीधातु से क्विप्, यहां ङ्यन्त नहीं है अतः सकार लोप की प्राप्ति नहीं है। उन्नीः। उद् के दकार को अनुनासिक से नकार हुआ है। यहां ईकार के पूर्व व्यजन द्वय का संयोग है किन्तु वे दोनों धातु के अवयव नहीं हैं इकार में विशेषण 'धातु का अवयव संयोग पूर्व में न रहे' दिया है वह नहीं है, अतः उन्नी को अजादि विभक्ति पर में रहते निःशङ्क यणादेश करना चाहिए। उपरि भाग में ले जाने वाला, या उन्नति करने वाला को उन्नी कहते हैं। गाँव ले जाने वाला जमादार, या सिपाई, या भृत्य इस अर्थ में पुंलिङ्ग ग्रामणी शब्द का रूप भी प्रधीवत् है।

क्विप् प्रत्ययान्त ले जाने वाला इस अर्थ में 'नी' अनेकाच् नहीं है यण् की अप्राप्ति से इयङ् आदेश नियौ। नियः। सप्तमी एकवचन में आम् आदेश, इयङ् नियाम्। उत्तम प्रकार से सेवा करने वाला सुश्री शब्द क्विप् प्रत्ययान्त ही धातु के इकार का दीर्घ होता है, सुश्री से सकार का रुत्व विसर्ग सुश्रीः। सुश्री औ, यहां ईवर्ण के पूर्व में श् र् का संयोग है अतः यण् की अप्राप्ति से इयङादेश सुश्रियौ, सुश्रियः। यव मोल लेने वाला = यवक्रीः। यवक्रियौ। यवक्रियः।

गति संज्ञक शब्द एवं कारक से अन्य पूर्व पद में रहें वहां इवर्णान्त धातु को यण् नहीं होता है। इस द्राविड़ प्राणायाम का तात्पर्य यह कि केवल इकारान्त धातु रहें, या गतिपूर्वक या कारकपूर्वक इकारान्त धातु रहें, वहां यण् होता है। केवल का उदाहरण 'निन्यतुः' 'निन्युः'। शुद्ध

धीर्यस्य सः शुद्धधी में द्रव्यार्थक धी शब्द का विशेषण भी सत्त्वार्थक है, वह गति या कारक नहीं है। असत्त्वार्थक क्रिया सम्बन्धी की गति या कारक संज्ञा होती है। वह यहां नहीं है अतः इयङा-देश होकर शुद्धधियौ। शुद्धधियः।

'यदि शुद्धं = ब्रह्म ध्यायति' इस अर्थ में ध्यान क्रिया में अन्वययुक्त कर्मकारक शुद्ध है, तो यण् होता ही है। परमधियौ परत्वं मातीति परमः परोपपदक माधातु से कप्रत्यय, आकार लोपः परमः उत्कृष्टः। उत्कृष्ट बुद्धि वाला में परमा = उत्कृष्टा यहां भी सत्त्वार्थक है। अतः यहां यण् नहीं, परमधियौ परमधियः। दुर्ध्यायति अर्थ में दुर् असत्त्वार्थक ध्यान क्रियान्वयी होने से गतिसंज्ञक है। अथवा धी का अर्थ ध्यान रख कर दुष्टा धीः = ध्यानं यस्य सः। यहां भी गति संज्ञक दुर् है।

एवं वृश्चिकात् भयम् अर्थ में भयार्थक धात्वर्थ क्रिया निमित्तक वृश्चिक की अपादान संज्ञा प्रयुक्त अपादान कारकत्व है। उभयत्र गति एवं कारक पूर्व में है यण् होना ही चाहिये, इयङ् कैसे किया ?, दुःस्थिता धी यस्य सः। इस अर्थ में "प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः" इससे 'स्थिता' का लोप है। यहां धी शब्द बुद्धि रूप गुणवाचक है। अतः ध्यान क्रियार्थ वह नहीं है। ऐसी परिस्थिति में दुर् गतिसंज्ञक नहीं है। गति से भिन्न दुर् पूर्व में रहने से यण् न हुआ। यद्यपि लुप्त स्थिता तद्वाच्य क्रिया स्थिति रूप निमित्तक गतित्व यहां दुर् में सम्भव है, किन्तु 'उपसर्गाः क्रियायोगे' यहां योग ग्रहण से यदर्थ क्रिया के साथ जिसका योग रहे तदर्थ क्रिया निमित्तक गतित्व उपसर्गत्व उसमें रहता है। अन्य क्रिया के साथ योग रहे, अन्य के प्रति गति या उपसर्ग कहा जाय यह क्रम नहीं है प्रकृत में धी शब्दार्थ गुण निरूपित गति के अभाव से यण् न हुआ। वृश्चिकात् यहां अपादान कारण नहीं है किन्तु वृश्चिक सम्बन्ध युक्त भय अर्थ में वृश्चिकस्य सम्ब-न्धिनी वृश्चिकसम्बन्धिनी सा चासौ धीः यहां सम्बन्धिनी का मध्यम पद लोप है, वृश्चिक षष्ठ्यन्त है, यह कारक नहीं है, धी = बुद्धि गुणस्वरूप है, कारक पूर्वक न होने से यण् न हुआ, किन्तु इयङादेश हुआ।

२७३ न भूसुधियोः ६।४।८५।

एतयोर्यण् न स्यादचि सुपि। सुधियौ। सुधिय इत्यादि। सखायमिच्छति सखीयति ततः क्विप्, अल्लोपयलोपौ, अल्लोपस्य स्थानिवद्भावाद् यणि प्राप्ते क्वौ लुप्तं न स्थानिवत्। एकदेशविकृतस्यानन्यतयाऽनङ्णित्वे। सखा, सखायौ, सखायः। हे सखीः। अमि पूर्वरूपात् परत्वाद्यणि प्राप्ते ततोऽपि परत्वात् सख्युरसम्बुद्धाविति प्रवर्तते। सखायम्। सखायौ। शसि यण्—सख्यः।

सह खेन वर्तत इति सखः। तमिच्छति सखीः। सुखमिच्छति सुखीः। सुतमिच्छति सुतीः। सख्यौ। सुख्यौ। सुत्यौ। ख्यत्यादिति दीर्घस्यापि ग्रहणादु-कारः। सख्युः। सुत्युः। लूनमिच्छतीति लूनीः। क्षाममिच्छतीति क्षामीः। प्रस्तीममिच्छतीति प्रस्तीमीः। एषां ङसिङसोर्यण्। नत्वमत्वयोरसिद्धत्वात्। ख्यत्यादित्युत्वम्। लून्युः। क्षाम्युः। प्रस्तीम्युः। शुष्कीयते शुष्कीः। इयङ् शुष्कियौ। शुष्कियः। ङसिङसोः शुष्किय इत्यादि।

इतीदन्ताः।

भू एवं सुधी को यण् नहीं होता है, अजादि सुप् पर रहते। भूः = पृथ्वी। सुधीः=उत्तम रीति से ध्यान करने वाला 'सुधी औ' यण् का निषेध से इयङादेश। भू को 'ओः सुपि' से प्राप्त यण् का निषेध किया। मित्र की इच्छा करने वाला अर्थ में द्वितीयान्त सखि शब्द से इच्छार्थक क्यच् (य) अकृत् सू० से दीर्घ सखीय से क्विप् अलोप, यलोप, यहां अकार का 'अतो लोपः' से लोप हुआ है उसका स्थानिवद्भाव से अच् परत्व ज्ञान से यणादेश ईकार को प्राप्त हुआ, किन्तु "क्विलुगुपधात्व-चङ्परनिर्ह्रासकुत्वेषूपसंख्यानम्" वार्तिक से क्विप् परक अकार लोप का स्थानिवद्भाव का निषेध हुआ, अतः यण् न हुआ।

ह्रस्व इकारान्त सखि को अनङ् एवं ह्रस्वेकारान्त से पर सर्वनामस्थान को णिद्वद्भाव का विधान है यहां तो कृतदीर्घान्त सखी है वे कार्य न होने चाहिये किन्तु 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' न्याय से दीर्घ विकार हुआ है, अधिकतर वर्ण अविकृत है अतः सखी को भी वे दोनों कार्य होते हैं। सम्बोधन भी हे सखीः। अम् विभक्ति में पूर्वरूप को बाध कर 'एरनेकाच्' से यण् प्राप्त है पर होने से, किन्तु पर यण् से भी पर णिद्वद्भाव है, तत्प्रयुक्त ईकार की ऐ वृद्धि, आय् आदेश से 'सखायम्' रूप सिद्ध हुआ। शस् में यणादेश से सख्यः।

ख = इन्द्रिय। इन्द्रियों के साथ रहने वाले को सख कहते हैं। सह को सादेश है। उसकी इच्छा करने वाला उस अर्थ सखीय बना। उससे क्विप् अकार लोप, यकार लोप सखीः। सुख की इच्छा करने वाला—सुखीय से क्विप् अकार लोप यकार का लोप से सुखीः। पुत्र की इच्छा करने वाला में सुतीय से क्विप् पूर्ववत् कार्य्य से सुतीः। औ विभक्ति में इनको यणादेश होता है। ख्यत्यात् में दीर्घ खी का ख्य में अनुकरण है, अतः पूर्वोक्त में ङसि ङस् में उकारादेश से सख्युः। सुख्युः। सुत्युः। छेदनार्थक लू धातु से कर्म में निष्ठा संज्ञक प्रत्यय क्त (त) लून यहां 'ल्वादिभ्यश्च' से नादेश लून बना। द्वितीयान्त से क्यच् = य इकार का दीर्घ से लूनीय-क्विप् अलोप यलोप से लूनीः=कटे हुए की इच्छा करने वाला। 'क्षै त तकारको मकारादेश का सूत्र है—'क्षायो मः' ऐ को आकार 'आदेच' सूत्र से हुआ। क्षाम क्यच् आदि कार्य से क्षामीय क्विप् अलोप यलोप से क्षामीः=क्षीणवस्तु की इच्छा करने वाला। प्रस्तीमम् इच्छति अर्थ में प्रस्तीमीय से क्विप् अकार यकार लोप प्रस्तीमीः = ध्वनित शब्द की इच्छा करने वाला। 'ल्वादिभ्यः' से तकार को नकारादेश असिद्ध होने से ङसि ङस् में यण् लून्युः २। 'क्षायो मः' से विधीयमान मादेश असिद्ध होने से क्षाम्युः २। 'प्रस्तो' ८।२।५४ से विधीयमान म असिद्ध होने से उत्व से प्रस्तीम्युः। शोषणार्थक शुष् से क्त प्रत्यय, 'शुषः कः' से, तकार को कादेश करके शुष्कमिच्छति क्यजादि शुष्कीय क्विप् आकार यकार लोप से शुष्कीः। औ एवं जस् में इयङ्। ङसि एवं ङस् में इयङादेश हुआ।

दीर्घ ईकारान्त शब्द समाप्त

कल्याण कर्ता शिव जी इस अर्थ में शम्भु का हरिवत् रूप होता है। इस प्रकार विष्णु वायु भानु आदि के रूप पूर्वसूत्रों के आधार पर याद करना चाहिये।

२७४ तृज्वत्क्रोष्टुः ७।१।९५।

क्रोष्टुस्तृजन्तेन तुल्यं वर्तते असम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने परे। क्रोष्टुशब्दस्य स्थाने क्रोष्टृशब्दः प्रयोक्तव्य इत्यर्थः।

क्रोष्टु शब्द तृजन्तशब्द के रूप को प्राप्त होता है, सम्बुद्धि भिन्न सर्वनामस्थान पर में रहते। क्रोष्टु शब्द के स्थान में क्रोष्टृ शब्द का प्रयोग करना चाहिये।

विमर्श—रोधनार्थक या आह्वानार्थक, क्रुश से तुन् प्रत्यय शकार को षकार ष्टुत्व गुण से क्रोष्टु शब्द है। क्रोशति = आह्वयति, रोदिति वा क्रोष्टुः = सियार का वाचक है। तुन्प्रत्ययान्त एवं तृच् प्रत्ययान्त एकार्थ सिद्ध ही है, यह केवल प्रयोग नियामक है—सर्वनाम स्थान में केवल तृजन्त का ही प्रयोग करना। एवं 'स्त्रियाञ्च' सूत्र से स्त्रीलिङ्ग में तृजन्त क्रोष्टृ शब्द का ही प्रयोग करना। वक्ष्यमाण सूत्र से अजादि तृतीयादि विभक्ति में तृजन्त तुन्नन्त उभय क्रोष्टु एवं क्रोष्टृ का ही प्रयोग करना, इस प्रकार तृज्वद्भाव विधायक तीनो प्रयोग नियमार्थ ही हैं।

अतिदेश सूत्र सात प्रकार के होते है—१ निमित्तातिदेश-पूर्ववत्सनः। २ व्यपदेशातिदेश-आद्यन्तवदेकस्मिन्। ३—तादात्म्यातिदेश-सुवामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे। ४—रूपातिदेश-तृज्वत् क्रोष्टुः। ५—शास्त्रातिदेश,—कालेभ्यो भववत्। ६—कार्य्यातिदेश-स्थानिवदादेशः। ७ अर्थातिदेश-स्त्री पुंवत्। प्रकृत में रूपातिदेश ही है। तृज्वत् में तृतीयान्त से सदृशार्थ में 'तेन तुल्यम्' से वति प्रत्यय है।

२७५ ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः ७।३।११०।

ङौ सर्वनामस्थाने च परे ऋदन्तस्याङ्गस्य गुणः स्यात्। इति प्राप्ते

ऋकारान्त अङ्ग के अन्त्य अल् को गुण होता है, ङि या सर्वनामस्थान संज्ञक प्रत्यय=सु औ जस् अम् औट् पर में रहते। क्रोष्टृ सु यहां गुण प्राप्त इससे हुआ, किन्तु—

२७६ ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च ७।१।९४।

ऋदन्तानामुशनसादीनां चानङ् स्यादसम्बुद्धौ सौ परे।

ऋकारान्त शब्द, उशनस्, पुरुदंसस्, अनेहस्, इन शब्दों के अन्त्य अल् को अनङादेश होता है, सम्बुद्धि संज्ञक सु भिन्न सु विभक्ति पर रहते। ऋकार को अनङादेश हुआ—क्रोष्टन् स्। अनङ में अकार ङकार की इत्संज्ञा लोप होता है। यहां ऋकार के स्थान में केवल अण्मात्र का विधान न होने से 'उरण् रपरः' की प्राप्ति नहीं है।

२७७ अप्तृन्तृच्स्वसृनप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षत्तृहोतृपोतृप्रशास्तॄणाम् ६।४।११।

अबादीनामुपधाया दीर्घः स्याद् असम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने परे। नप्त्रादिग्रहणं व्युत्पत्तिपक्षे नियमार्थम्। तेन पितृभ्रातृप्रभृतीनां न। उद्गातृ शब्दस्य तु भवत्येव, समर्थसूत्रे 'उद्गातारः' इति भाष्यप्रयोगात्। क्रोष्टा क्रोष्टारौ। क्रोष्टारः। क्रोष्टारम् क्रोष्टारौ। क्रोष्टून्।

अपशब्द, तृन् प्रत्ययान्त, तृच् प्रत्ययान्त, स्वसृ, नप्तृ, नेष्टृ, त्वष्टृ, क्षत्तृ, होतृ, पोतृ, प्रशास्तृ इन शब्दों की उपधा का दीर्घ होता है, सम्बुद्धि भिन्न सर्वनामस्थान संज्ञक प्रत्यय पर रहते। दीर्घ सकारलोप नकारलोप से क्रोष्टा। औ विभक्ति में तृज्वद्भाव, गुण, उपधादीर्घ-क्रोष्टारौ। गुण ऋकार स्थान में रपर अर् हुआ है। तृज्वद्भाव जस्, अम्, औट् में गुण एवं उपधादीर्घ शस् में तृजवद्भाव अप्राप्त है, प्रथमयोः, से पूर्व सवर्ण दीर्घ ऊकार दीर्घ से स को न् क्रोष्टून्। पूर्व में वर्णन कर चुके है—

उणादि में दो पक्ष है—उनमें व्युत्पत्ति पक्ष में "अप्तृन्तृच्स्वस्तॄणाम्" इतना सूत्रमात्र से इष्टसिद्धि हो सकती है। पुनः सूत्र में क्रियमाण नप्तृ आदि शब्द ग्रहण नियमार्थ है—

"उणादिनिष्पन्न तृन् या तृच् प्रत्ययान्त शब्दों की उपधा का दीर्घ हो तो सूत्र में पठित शब्दों के (नप्तृ आदि) समानानुपूर्वी से युक्त शब्दों की ही असम्बुद्धिसंज्ञक सर्वनामसंज्ञक प्रत्यय पर रहे तो उपधा दीर्घ होता है। इस नियम से पितृ मातृ भ्रातृ इनका तृजन्त होते हुए भी दीर्घ न हुआ। ऋत्विग् विशेषवाचक = उद्गातृ शब्द इस सूत्र में पढ़ा नहीं है तो भी भाष्य प्रयोग से इसका दीर्घ होता ही है—उद्गातारौ आदि।

२७८ विभाषा तृतीयादिष्वचि ७।१।९७।

अजादिषु तृतीयादिषु क्रोष्टुर्वा तृज्वत्।

अच् है आदि अवयव जिनका ऐसी तृतीयादि विभक्ति पर में रहते क्रोष्टु शब्द को तृज्वद्भाव विकल्प से होता है। यह भी प्रयोगों का नियमनमात्र करता है। क्रोष्टृ आ यण् क्रोष्ट्रा क्रोष्टृ ए यण् क्रोष्ट्रे। ङसि एवं ङस् में रूप—

२७९ ऋत उत् ६।१।१११।

ऋदन्तात् ङसिङसोरति परे उकार एकादेशः स्यात्। रपरत्वम्।

ऋकारान्त शब्द से पर ङसि सम्बन्धी या ङस् सम्बन्धी अकार पर रहते ऋकार एवं अकार को उकार एकादेश होता है। ऋकार स्थानिक अण् रपर होता है। तृज्वद्भाव पक्ष में क्रोष्टृ अस्, ऋकार अकार उभय स्थान में रपर उकार उर् हुआ।

२८० रात्सस्य ८।२।२४।

रेफात्संयोगान्तस्य सस्यैव लोपो नान्यस्य। रेफस्य विसर्गः। क्रोष्टुः २। आमि परत्वात् तृज्वद्भावे प्राप्ते। ❀ नुमचि रतृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन ❀। क्रोष्टूनाम्। क्रोष्टरि। क्रोष्ट्रोः। पक्षे हलादौ च शम्भुवत्। इत्युदन्ताः

संयोगान्तस्य सूत्र से लोप सिद्ध ही था, यह सूत्र नियमार्थ है, नियमस्वरूप इस प्रकार है—रेफ से पर वर्ण का 'संयोगान्तस्य' से यदि लोप होता तो वह केवल सकार का ही, अन्य का नहीं। यहां विपरीत नियम—"संयोगान्तस्य' से सकार का लोप हो तो रेफ से पर ही का" अन्य का नहीं। यह नियम नहीं होता है, 'पुमान् स्त्रिया:' (१-२-६७) निर्देश से। यहां नकार से पर सकार का लोप संयोगान्तस्य से हुआ है। क्रोष्टु र् स् यहां ऋकार अकार को उर् हुआ, र् स् की संयोगसंज्ञा। सलोप, विसर्ग—क्रोष्टुः।

षष्ठी के एकवचन में भी क्रोष्टुः। क्रोष्टु आम् यहां नुट् एवं तृज्वद्भाव की एक समय में प्राप्ति है परत्वात् तृज्वद्भाव प्राप्त है उसको बाधनार्थ यह वार्तिक है—नुम्, अजादि विभक्ति परक ऋकार को रेफादेश, एवं तृज्वद्भाव इनको नुट् पूर्व विप्रतिषेध से बाध करता है। यह वार्तिक 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' का बाधक है, पूर्व शास्त्र को बलवत्ता प्रतिपादन करता है। नुट् दीर्घ से क्रोष्टूनाम्। ङि में तृज्वद्भाव गुण से क्रोष्टरि। ओस् में तृज्वद्भाव यण् क्रोष्ट्रोः। तृज्वद्भाव के अभाव पक्ष में हलादिविभक्ति पर रहते शम्भु शब्द के तुल्य रूप इसके होते हैं।

१—प्रथमा—क्रोष्टा क्रोष्टारौ क्रोष्टारः। सम्बोधन—हे क्रोष्टो, हे क्रोष्टारौ, हे क्रोष्टारः।
२—द्वितीया—क्रोष्टारम् क्रोष्टारौ क्रोष्टून्।
३—तृतीया—क्रोष्ट्रा क्रोष्टुना, क्रोष्टुभ्याम्, क्रोष्टुभिः।
४—चतुर्थी—क्रोष्ट्रे क्रोष्टवे क्रोष्टुभ्याम्, क्रोष्टुभ्यः।

५—पञ्चमी—क्रोष्टुः क्रोष्टोः क्रोष्टुभ्याम् क्रोष्टुभ्यः ।
६—षष्ठी—क्रोष्टुः क्रोष्टोः, क्रोष्ट्रोः क्रोष्ट्वोः, क्रोष्टूनाम् ।
७—क्रोष्टरि क्रोष्टौ , " " क्रोष्टुषु ।

ह्रस्व उकारान्त शब्द समाप्त हुए ।

हूहूः । हूह्वौ । हूह्वः । हूहूम् । हूह्वौ । हूहून् । इत्यादि । अतिचमूशब्दे तु नदीकार्यं विशेषः । हे अतिचमु । अतिचम्वौ । अतिचम्वाः । अतिचम्वाः । अतिचमूनाम् । अतिचम्वाम् । खलपूः ।

ऊकारान्त यह शब्द गन्धर्व वाचक है । हूहूः । औ में पूर्व सवर्ण दीर्घ का 'दीर्घाज्जसि' ने बाध किया, यण् । चमू सेना का नाम है । नित्य स्त्रीलिङ्ग है । नदीसंज्ञा होती है । सेना को छोड़ कर गया हुआ जो उसको अतिचमू कहते हैं चमूम् अतिक्रान्तः । द्वितीया तत्पुरुष समास हुआ । चमू शब्द नित्य स्त्रीलिङ्ग है, उसमें स्थित नदीत्वं का उपसर्जन होने पर भी आश्रयण होता है । 'प्रथमलिङ्गग्रहणञ्च' से । इस प्रकार अतिचमू पुंलिङ्ग होते हुए भी नदी संज्ञक है, अतः नदी संज्ञा प्रयुक्त कार्य्य इसमें होते है । सम्बोधन में 'अम्बार्थनद्योः' से ह्रस्वः हुआ । सु् लोप से हे अतिचमु । 'आण् नद्याः' से आट् , वृद्धि यण् अतिचम्वै । नदी संज्ञा निमित्तक नुट् अतिचमूनाम् । नदी प्रयुक्त ङि को आम् आट् वृद्धि से अतिचम्वाम् ।

'खलं पुनाति' खलपूः = दुष्ट को पवित्र करता है वह । यह क्विप्प्रत्ययान्त है । खलपू औ ।

२८५ ओः सुपि ६।४।८६।

धात्ववयवसयोगपूर्वो न भवति य उवर्णस्तदन्तो यो धातुस्तदन्तस्यानेकाचोऽङ्गस्य यण् स्यादजादौ सुपि ।

❀ गतिकारकेतरपूर्वपदस्य यण् नेष्यते ❀ । खलप्वौ । खलप्व इत्यादि । एवं सुल्वादयः । अनेकाचः किम् । लूः । लुवौ । लुवः ।

धात्ववयवेति किम् । उल्लूः । उल्लुवौ । उल्लुवः । असंयोगपूर्वस्य किम् । कटप्रुवौ । कटप्रुवः । गतीत्यादि किम् । परमलुवौ । सुपि किम् । लुलुवतुः । स्वभूः । न भूसुधियोः । स्वभुवौ । स्वभुवः ।

"धातु का अवयव संयोग पूर्व में न रहे ऐसा उकार वह है अन्त में जिसके ऐसा जो धातु वह है अन्त में जिसके ऐसे अनेक अच्घटित अङ्ग को यण् होता है, अजादि सुप् विभक्ति पर में रहते" । * गति एवं कारक से अन्य पूर्वपद रहे वहां यण् नहीं होता है । औ विभक्ति परक खलपू के ऊ को यण् खलप्वौ ।

अच्छी तरह जो काटता है उसको सुलू कहते हैं—सुष्टु लुनाति = छिनत्ति इति सुलूः । इसके रूप खलपू समान है । एकाच् केवल रहे वहां उवङ् लुवौ ।

उल्लू में ऊकार पूर्व धातु के वर्ण द्वय का संयोग नहीं है अतः यण् । बिछौने की ओर चलने वाले को = कटप्रू कहते हैं । यहां ऊकार के पूर्व प् एवं रेफ दोनों धातु के अवयव संयुक्त पूर्व में है अतः यण् न हुआ । उवङादेश से कटप्रुवौ । उत्कृष्ट काटने वाला इस अर्थ में परमलूः कर्मधारय समास में परम शब्द गति संज्ञक नहीं है । यहां परम शब्द प्रातिपदिकार्थ मात्र ही का वाचक

है। 'लुलुवतुः' में तस् स्थानिक अतुस् सुप् नहीं है। आप ही उत्पन्न होने वाला अर्थ में स्वं भवतीति स्वभूः। द्विवचनादि में प्राप्त यण् का 'न भूसुधियोः' से निषेध यहां ओः सुपि' से यण् प्राप्त था वह न हुआ। उवङादेश स्वभुवौ आदि।

२८२ वर्षाभ्वश्च ६।४।८४।

अस्योवर्णस्य यण् स्यादचि सुपि। वर्षाभ्वौ। वर्षाभ्वः। दृम्भवतीति दृम्भूः। "अनूदूदृम्भूजम्बूकफेल्लूकर्कन्धूदिधिषू"। (उ० सू० ९३) इत्युणादिसूत्रेण निपातितः। दृम्भ्वौ। दृम्भवः। दृम्भूम्। दृम्भ्वौ। दृम्भून्। शेषं हूहूवत्। दृन्निति नान्ते हिंसार्थेऽव्यये भुवः क्विप्। दृन्भूः। ॐ दृन्करपुनःपूर्वस्य भुवो यण् वक्तव्यः ॐ। दृन्भ्वम्। दृन्भ्व इत्यादि। खलपूवत्। करभ्वौ। करभ्वः। दीर्घपाठे तु कर एव कारः, स्वार्थिकः प्रज्ञाद्यण्। कारभ्वौ। कारभ्वः। "पुनर्भूर्यौगिकः पुंसि"। पुनर्भ्वौ इत्यादि। दृम्भूकाराभूशब्दौ स्वयंभूवत्। इत्यूदन्ताः।

अजादि सुप से अव्यवहित पूर्व वर्षाभू शब्द के अन्त्य अल् को यण् होता है। प्रथमा एकवचन में वर्षाभूः = बरसात में उत्पन्न होने वाला मेढक। द्विवचन में 'वर्षाभू औ' यहां यण् प्राप्त था इको यणचि से उसको बाध कर, 'प्रथमयोः' से पूर्व सवर्ण दीर्घ प्राप्त है, उसको 'दीर्घाज्जसि' ने बाध किया, ओः सुपि से प्राप्त यण् को 'न भूसुधियोः' ने अवरुद्ध किया, 'अचि श्नु' से प्राप्त उवङादेश को इस सूत्र (वर्षाभ्वश्च) ने बाध कर यणादेश किया—वर्षाभ्वौ आदि। गूंथता है वह दृम्भूः 'दृभी ग्रन्थे' धातु से उणादि कृत् प्रत्यय हुआ है दृ भू निपातन से पूर्व को मान्तत्व है। दृम्भूः = ग्रन्थकार = गूंथने वाला अर्थ है, पुस्तक का रचयिता अर्थ नहीं है। पत्रों के गूंथा हुआ को ग्रन्थ कहते हैं। पत्ती को बोधन करने वाला पत्र शब्द लाक्षणिक होकर चिट्ठी को भी कहता है तथैव यहां भी व्यवस्था करनी चाहिए।

हिंसा अर्थ में 'दृन्' नान्त अव्यय है वह यदि पूर्व में रहे तो भू धातु से क्विप् प्रत्यय कर दृन्भूः = हिंसा से जन्मा हुआ अर्थ है। दृन्भूः। दृन् कर पुनर् इनमें से कोई शब्द पूर्व में रहे तब परवर्ती भू के उकार को यणादेश होता है अजादि सुप् पर रहते। रूप मूल में उक्त ही है।

यदि कार पूर्वक भू है तो करोति इति 'करः' पचादि अच्। कर एव 'कारः' यहां 'प्रज्ञादिभ्यश्च' से स्वार्थिक अण् आदि वृद्धि अकार लोप कार पूर्वक भू धातु में भी यण्। कर, कार दोनों वार्तिक में पठित है उस मत में कर या कार एक ही पठित है आदि ऋषियों का मतभेद से यह लिखा है।

विमर्श—'स्वार्थिकः' में सौवार्थिक होना चाहिए एच् क्यों नहीं हुआ? यथा वैयाकरणः, सौवश्वः, में ऐच् हुआ तथैव यहां भी प्राप्त है ?, द्वारादि गण में स्व शब्द का पाठ है। वहां तदादि विधि से स्व है आदि में जिसके इस अर्थ से केवल स्व में व्यपदेशिवद्भाव से स्वयं स्व के आदि में मान कर ऐच् करना। अन्यत्र स्वादि शब्दों का ग्रहण से स्वाध्याय, स्वग्राम इनको ऐच् आगम होता ही पुनः एच् के लिए द्वारादि गण में इन दोनों का पाठ व्यर्थ होकर वे ज्ञापन करते हैं कि— "स्वशब्दादि को एजागम हो तो स्वाध्याय एवं संग्राम शब्द सम्बन्धी ऐच् को ही" अतः यहां ऐच् न हुआ।

कार शब्द अनेकार्थक है—वध्य-निश्चय-यत्न-क्रिया में। करभूः = हाथ से उत्पन्न। पुनर्भूः = फिर से उत्पन्न होने वाला। पुनर्भू रूढि भी है। नित्यस्त्रीलिङ्ग में उसका प्रयोग होता है पुनर्भूः =

फिर व्याही हुई स्त्री। यहां यौगिक माना है—पुनः भवति, क्विप् प्रत्ययान्त है। दृन्भूः = दृष्टि से होने वाला। काराभूः = कारागृह में होने वाला। इन शब्दों में 'न भूसुधियोः' निषेध नहीं लगता है।

दीर्घ ऊकारान्त शब्द समाप्त।

धाता। हे धातः। धातारौ। धातार,। ॐ ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम् ॐ। धातॄणाम् इत्यादि। एवं नप्त्रादयः। उद्गातारौ। पिता। व्युत्पत्तिपक्षे नप्त्रादिग्रहणस्य नियमार्थत्वान्न दीर्घः। पितरौ। पितरः। पितरम्। पितरौ। शेषं धातृवत्। एवं जामातृभ्रात्रादयः। ना। नरौ। नरः। हे नः।

ब्रह्मा वाचक ऋकारान्त धातृ शब्द से प्रथमा एकवचन में सु (स्) गुण को वाध कर 'ऋदुशन' स् से अनङ् 'अप्तृन्तृच्' से दीर्घ सकार लोप नलोप धाता। धातृ औ 'ऋतो ङि' से गुण उपधादीर्घ धातारौ। धातारः। धातृ आम् नुट् 'नामि' दीर्घ यहां नकार को णत्व अप्राप्त है, णत्व में निमित्त 'रेफ या षकार' इनमें यहां कोई नहीं है, इस लिए वार्तिककार ने वार्तिक किया कि—ऋवर्ण से पर नकार को णकार होता है। धातॄणाम्।

यह वार्तिक सभी णत्वविधायक सूत्रों के साथ सम्बद्ध है। 'नृनाम' यहां तो इस से णत्व नहीं होता है समानपदस्थ = एकपदस्थ में ही इस वार्तिक की प्रवृत्ति है। यहां नृ एकपद नाम एकपद है। समास करने पर भी अन्तर्वतिनी विभक्ति से प्रत्येक को भी पदत्व है, समान पद का विवरण प्रथम कह चुके है। ऋकार में वर्णावयवत्वेन भासमान रेफ को स्वतन्त्र रेफ समान लेने पर यह वार्तिक प्रयोजन रहित है। परिभाषा "वर्णैकदेशा वर्णग्रहणेन गृह्यन्ते"। इस परिभाषा स्वीकार में अनेक मतभेद है। अतः वार्तिक का प्रारम्भ किया है। यदि तु 'तृप्नोति' में णत्व-निषेधार्थ क्षुभ्नादिगण में पाठ करने से ज्ञापन करेंगे की "ऋवर्ण से पर एक पद में स्थित नकार को णकारादेश होता है" तब वार्तिक अनावश्यक ही है।

'न पतन्ति पितरः नरकं यस्योत्पत्तौ' इति नप्तृ—जिनकी उत्पत्ति होनेपर दिवङ्गत पितृगण-पिता पितामह—प्रपितामहादि + नरक को नहीं जाते हैं, उसको नप्ता कहते हैं—पौत्र या दौहित्र। 'जन्यजन्यः पुमान् नप्ता' कोष है, पुत्र का पुत्र, या कन्या का पुत्र। भाषा मे 'नाती' कहते है। समर्थ सूत्र पर 'उद्गातारौ' भाष्य प्रयोग से नप्त्रादि नियम यहां नहीं लगता है, अतः दीर्घ होता है, ऋत्विग् विशेष इसका अर्थ है। पाति—रक्षति पिता—रक्षक अर्थ है। योगरूढ से बाप वाचक पितृ शब्द प्रसिद्ध है। या पितृ शब्द जनक में रूढ भी है। यौगिकार्थ की विलम्ब से उपस्थिति होती है रुढ्यर्थ की शीघ्रोपस्थिति होती है "रूढ़िर्योगापहारिणी', यह वचन अन्तरङ्ग परिभाषा मूलक है अपूर्व नहीं, प्रकृत्यर्थ प्रत्ययार्थ अनुसन्धान में विलम्ब होता है एतावता उसमें बहिरङ्गत्व है। स्मृतिकार ने अनेक पितृ पदार्थो का वर्णन किया है। रक्षक, जनक, ऋणदाता, श्वसुर, ऋण का दाता "पञ्चैते पितरः स्मृताः। यहां नप्त्रादि नियम से यौगिक तृजन्त है, अतः दीर्घ न हुआ, इष्टानुरोध से यहां व्युत्पत्ति पक्ष ही मानना उचित है पितरौ। जाया —पत्नी, इसमें पति पुत्र रूप से पुनः उत्पन्न होता है। शास्त्रकार लिखते हो "सा वै जाया यदस्यां जायते पुनः" अपुत्रवती को जाया नहीं कहते। किन्तु पत्नी आदि अन्य शब्द से वह व्यवहृत होती है। जायम् माति, मिनोति, मिमीते अर्थ मे जाया मा से टच् प्रत्यय कर के 'या' का लोप करना जामातृ = जामाता = कन्या का पति। भाई अर्थ में भ्राज् से तृच् जकार का लोप भ्राता। सोदरभाई एक ही माता से उत्पन्न। मातृ एवं दुहितृ शब्द स्त्रीलिङ्ग है, वहीं ही व्याख्या

होगी। माता एवं कन्या अर्थ में वे दोनों प्रयुक्त है। पुरुष वाचक नृशब्द का प्रथमा में नृ स् अनङ् उपधादीर्घ स् लोप नलोप ना, औ में गुण नरौ आदि। सम्बोधन में गुण रपर स् लोप विसर्ग हे नः। नृ आम् यहां नुट् नृ नाम् दीर्घ वैकल्पिक सूत्र—

२८३ नृ च ६।४।६।

'नृ' इत्येतस्य नामि वा दीर्घः स्यात्। नॄणाम्। नृणाम्।

नाम् पर में रहते नृ के ऋकार का विकल्प से दीर्घ होता है।

इसी प्रकार ऋकारान्त अन्य शब्दों के रूप का ज्ञान करना चाहिए, शब्द भण्डार के चय के लिए। देवर वाचक देवृ, सेव्येष्टृ = सारथी, यातृ = बड़े देवर की स्त्री देवरानी = जिठानी। ननान्दृ = ननद, देवृ सेव्यष्टृ का रूप पुंलिङ्ग, पितृ समान है, अन्य शब्द स्त्रीलिङ्ग प्रकरण में इनके रूप दिखाये जायेंगे। ह्रस्व ऋकारान्त शब्दो का प्रकरण समाप्त हुआ।

कॄ तॄ अनयोरनुकरणे 'प्रकृतिवदनुकरणम्' इति वैकल्पिकातिदेशादित्वे रपरत्वम्। कीः। किरौ। किरः। तीः। तिरौ। तिर इत्यादि गीर्वत्। इत्वाभाव-पक्षे तु 'ऋदुशन' इति, 'ऋतो ङि' इति च तपरकरणाद् अनङ्गुणौ न। कॄः। क्रौ। क्रः। कॄम्। क्रौ। कॄन्। क्रा। क्रे इत्यादि। इति ॠदन्ताः।

दीर्घ ऋकारान्त शब्द नहीं है। इस लिए धातु पाठ पठित दीर्घ ऋकारान्त कॄ धातु का उच्चारण रूप अनुकरण किया है। एवं तॄ धातु का अनुकरण किया है। अनुकरण के विषय में दो पक्ष हैं—१ प्रकृतिवदनुकरणं भवति = जो मूलभूत शब्द है। उसको प्रकृति कहते हैं = अर्थात् अनुकरण योग्य = अनुकार्य जिसका उच्चारण किया जाय वह अनुकरण है। अनुकरण में अनु-कार्य वृत्ति धर्म रहता है प्रकृत में अनुकरण किये हुये कॄ तॄ में धातुत्व का अतिदेश हुआ, अतः 'ऋत इद् धातोः' से इकार, रपर होकर किर् तिर् हुआ विभक्ति के स् का लोप, 'र्वोरुपधायाः' सू० ८।२।७६ से दीर्घ रेफ का विसर्ग से कीः। किरौ। किरः। तीः। तिरौ। तिरः।

प्रकृतिवदनुकरणं न भवति' इस पक्ष में अनुकार्य ललभूत धातुवृत्ति धातुत्व का अनुकरण में अतिदेश न होने से अनुकरण कॄ एवं तॄ अधातु है अतः इकारादेश नहीं हुआ, कॄः। कॄ औ यण्। क्रौ आदि रूप हुए। तॄः त्रौ।

विमर्श—पूर्वोक्त दो वचनों का वर्णन किया उसमें क्या प्रमाण है? प्रमाण रहित वचन मान्य नहीं होता है। 'क्षियो दीर्घात्' ।८।२।३६। दीर्घ क्षी से पर निष्ठा तकार को नादेश करता है—क्षीणः। क्षीणवान्। यदि प्रातिपादिक अनुकरण में मूलधातु गत धातुत्व का आरोप न होता तो पञ्चमी विभक्ति की प्रकृति में धातुत्व नहीं, इवर्णान्त धातुत्व के अभाव से इयङादेश इकार को न होने से अनुकरण प्रातिपादिक में १ 'प्रकृतिवदनुकरणं भवति' को मानना। २ यदि धातुत्व है तो धातुभिन्न नहीं प्रातिपदिक संज्ञा न होगी, पञ्चमी विभक्ति न होती, निर्देश अनुपपन्न है, अतः विभक्ति दर्शन से 'प्रकृतिवदनुकरणं न भवति' इसे धातु भिन्न होने से प्रातिपदिकसंज्ञा प्रयुक्त विभक्ति आई। दीर्घ ऋकारान्त शब्द समाप्त।

'गमॢ' शकॢ' अनयोरनुकरणेऽनङ्। गमा। शका। गुणविषये तु लपर-त्वम्। गमलौ, गमलः। गमलम्। गमलौ। गमॄन्। गम्ला। गम्ले। ङसिङसो-स्तु 'ऋत उत्' इत्युत्वे लपरत्वे संयोगान्तलोपः। गमुल्। शकुल् इत्यादि। इति ऌदन्ताः।

ऌकारान्त शब्द न होने से धातुद्वय का अनुकरण कर, अनङ् कर दीर्घ, सकार लोप नलोप गमा। ऋकार ऌकार की परस्पर सवर्ण संज्ञा है अतः ऋकार का कार्य ऌकार में होता है। एवं शका। जहां गुण होगा अल् लपर गमलौ आदि। पञ्चमी एवं षष्ठी एकवचन में गमॢ अस् 'ऋत उत्' से उत्व लपर से गमुल् स् सकार का संयोगान्तलोप गमुल्। एवं शकॢ अर् शकुल्। ऌवर्ण दीर्घ नहीं है अतः दीर्घान्त के रूप नहीं।

से। सयौ। सयः। स्मृतेः। स्मृतयौ। स्मृतयः

काम को इः कहते है, इना सह वर्तते अर्थ से सह को सादेश स = इ गुण सेः = काम सहित रहने वाला अर्थात् कामी। से औ अय् आदेश सयौ। स्मृत इः येन = काम का स्मरण करने वाला अर्थ में स्मृ इ गुण स्मृते स् रुत्व, विसर्ग, स्मृतेः। स्मृतयौ। एकारान्त पूर्ण।

२८४ गोतो णित् ७।१।९०।

गोशब्दात्परं सर्वनामस्थानं णिद्वत् स्यात्। गौः। गावौ। गावः।

गोशब्द से पर सर्वनामस्थान संज्ञक प्रत्यय णित् की तरह होते है। बैल वाचक (गम् से डो प्रत्यय अम् का लोप) ओकारान्त गो शब्द से प्र० ए० मे स्। णित् तुल्य स् होने 'अचो ञ्णिति' से ओकी वृद्धि औ हुई रुत्व विसर्ग। गौः। आवादेश गावौ।

२८५ औतोऽम्शसोः ६।१।९३।

आ ओत इति च्छेदः। ओकारादम्शसोरचि परे आकार एकादेशः स्यात्। शसा साहचर्यात्सुबेवाम् गृह्यते। नेह अचिनवम्। गाम्। गावौ। गाः। गवे। गोः। इत्यादि। ❀ओतो णिदिति वाच्यम्❀। ❀ विहित विशेषणञ्च ❀। तेन सुद्यौः। सुद्यावौ सुद्यावः। ओकाराद् विहितं सर्वनामस्थानमिति व्याख्यानान्नेह—हे भानो। भानवः। उः = शम्भुः स्मृतोः। येन स स्मृतावौ। स्मृतावः। स्मृताम्। स्मृतावौ। स्मृताः। इत्यादि। इत्योदन्ताः।

इस सूत्र में आ ओत ऐसा पदविभाग करना। ओकारान्त शब्द के अन्त्य अल् को आकारादेश होता है, अम् शस् सम्बन्धी अच् पर रहते। अम् अनेक है किन्तु शस् के साहचर्य से सुप् अम् का ग्रहण है अतः अचिनो-अम् असुनो अम् यहां आकारादेश ओकार को न हुआ। वहां ओ को अवादेश होकर 'अचिनवम्' असुनवम् रूपसिद्ध हुये। 'गो अम्' 'गो अस्' यहां अम् शस् परक ओकार को आकारादेश, अमि पूर्वः से गाम्। शस् में गाः। वार्तिककार कहते है कि गोतः वहां ओतः करना गकार अविवक्षित है अतः ओकारान्त सभी शब्दों का ग्रहण करना, एवं पञ्चमी विहितार्थ प्रतिपादक है, ओकारान्त से विहित सर्वनामस्थान प्रत्यय णिद्वत् होता है। सुन्दरस्वर्ग अर्थ में सुद्यो ओकारान्त है, उससे विभक्ति विहित है, णिद्वद्भाव से वृद्धि होकर सकार का रुत्व विसर्ग से 'सुद्यौः' आदि रूप हुए। भानो स् यहां ओकारान्त से पर सम्बुद्धि है, किन्तु वह सम्बुद्धि भानो से विहित नही है किन्तु भानु से विहित है अतः णिद्वद्भाव न हुआ। हे भानो। हे भानवः। 'ओतः' में ओकार प्रतिपदोक्त का ही ग्रहण करने पर यह ओकार लाक्षणिक है दोष नही पुनः 'तस्मात्' परिभाषा को बाधकर विहित विशेषण का आश्रय करना तदर्थ वार्तिक का आरम्भ यह प्रयास अनुचित है। "ओकारान्तात परम्" यही अर्थ उचित है, वर्णग्रहण में प्रतिपदोक्त परिभाषा नही

लगती है उसमें कोई प्रबल प्रमाण नहीं है यदि कोई ज्ञापक होता है तो केवल वह अनित्य है, इष्ट-स्थल में अनित्य मानकर परिभाषा की अप्रवृति करना अनुचित है, एवं गौरव भी है। वर्णग्रहण में भाष्यकार के मत में परिभाषा की प्रवृत्ति है।

उः = शम्भु का स्मरण किया है जिसने इस अर्थ स्मृतो शब्द है सर्वनामस्थान में णिद्वत्व कार्य से वृद्धि, सकार को रुत्व विसर्ग से स्मृतौः आदि रूप। ओकारान्त शब्द समाप्त हुए।

सम्पत्ति वाचक ऐकारान्त शब्द रै है। 'रा दाने' से डै प्रत्यय है। टिलोप 'रै'। राति = ददाति सम्मानादिकमिति राः = धनम्।

२८६ रायो हलि ७।२।८५।

रैशब्दस्याकारान्तादेशः स्याद्धलि विभक्तौ। अचि आयादेशः। राः। रायौ। रायः। रायम्। रायौ। रायः। राया। राभ्याम्। इत्यादि। इत्यैदन्ताः।

रै शब्द को आकार अन्तादेश होता है हलादि विभक्ति पर रहते। रै स् आत्व रुत्व विसर्ग राः रै ओ आय् आदेश रायौ आदि रूप होते हैं। कोशादि प्रामाण्य से यह पुंलिङ्ग भी है। केवल रै शब्द का लोक में भी प्रयोग होता। केवल क्यच् परक रै छान्दस है। सर्वत्र छान्दस होता तो 'रा छान्दसः' यही भाष्यकार कहते ऐसा न कहकर "रा यि छान्दसः" कहा इस से स्पष्ट है कि क्यच् परक छान्दस है "अचः परस्मिन् सूत्र पर "रायि आशा" राय्याशा यह भाष्य प्रयोग भी रै शब्द लौकिक है उसमें प्रबल प्रमाण है।

ग्लौः। ग्लावौ। ग्लावः। ग्लावम्। ग्लावौ। ग्लावः। इत्यादि। 'औतोऽम्-शसो' रितीह न प्रवर्तते, 'ऐ औच्' इति सूत्रेण ओदौतोः सावर्ण्याभावज्ञापनात्।

इत्यजन्ताः पुंल्लिङ्गाः।

हर्षक्षयार्थक ग्लै धातु से डौप्रत्यय टिलोप ग्लैः = चन्द्रमाः, ग्लायति = चौरादीनां हर्षक्षयं करोतीति ग्लौ।

'औतोऽम्शसोः' सूत्र ओकारान्त मे ही प्रवृत्त होता, वह औकारान्त मे नही लगेगा 'ओ' एवं 'औ की सवर्ण संज्ञा निषेध प्रथम कह चुके हैं विस्तार से। यदि सवर्ण संज्ञा होती तो वर्णसाधुत्व ज्ञानमात्र के लिए 'ए ओ ऐ औङ्' करते या 'ए ओ ऐ ओच् करते अनुबन्ध द्वय प्रयुक्तयोग-विभाग सामर्थ्य से, 'ए ऐ' 'ओ औ' की सवर्ण संज्ञा नही है।

पं० श्री बा० कृ० पञ्चोलिकृत रत्नप्रभा में अजन्त पुंलिङ्ग प्रकरण की यहां समाप्ति है।

अथाजन्ताः स्त्रीलिङ्गाः ८

रमा।

यह नियम है कि अकारान्त स्त्रीरूप अर्थ वाचक शब्दों से अव्यवहित विभक्तियाँ उत्पन्न नहीं होती है। किन्तु अकारन्त स्त्रीवाचक से टाप्-ङीप् ङीन् आदि प्रत्यय होते हैं। उसके अनन्तर विभक्ति संज्ञक प्रत्यय आते हैं। क्रीडार्थक रमु धातु से प्रयोजक व्यापार में णिच् प्रत्यय हुआ—रम् इ "अतः उपधायाः" से वृद्धि, मान्त शब्द मित् है, 'मितां ह्रस्वः' से ह्रस्व राम् इ = रम् इ, पचादि अच् इकार लोप रम से टाप् अनुबन्ध लोप सवर्ण दीर्घ से रमा = लक्ष्मी। रमयति विष्णुं जगद् वा या सा रमा = विष्णुप्रिया, कमला, श्रीः। कर्तृरूपार्थक अच् प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग भी है। भावार्थक अच् प्रत्ययान्त नित्य पुंल्लिङ्ग है। टाप् पूर्ववर्ती रम कृदन्त प्रातिपदिक है, दीर्घ होने पर भी 'अन्तादिवच्च' से पूर्वान्तवद्भाव से प्रातिपदिकत्व लाकर स्वादि प्रत्ययों की उत्पत्ति यहां होती है। रमा स् 'हल्ङ्याब्भ्यः' से स् लोप से रमा।

२८७ ओङ आपः ७।१।१८।

आबन्तादङ्गात् परस्यौङः शी स्यात्। औङ् इत्यौकारविभक्तेः संज्ञा। रमे। रमाः।

यहां आप् से 'टाप्' 'चाप्' उभय का ग्रहण होता है। आबन्त अङ्ग से पर औङ को शी आदेश होता है। प्राचीन आचार्यों के मत से औ की औङ् संज्ञा है। रमा औ यहां औ को अनेकाल् शी सर्वादेश हुआ। औ में रहने वाला प्रत्ययत्व स्थानिवद्भाव से शी में लाकर प्रत्यय का आदि शकार की इत्संज्ञा, लोप, गुण रमे। रमा अस् पूर्व सवर्ण दीर्घ का 'दीर्घाज्जसि च' से निषेध हुआ, सवर्ण दीर्घ से रमाः।

२८८ सम्बुद्धौ च ७।३।१०६।

आप एकारः स्यात्सम्बुद्धौ। एङ्ह्रस्वादिति सम्बुद्धिलोपः। हे रमे। हे रमाः। रमाम्। रमे। रमाः। स्त्रीत्वान्नत्वाभावः।

आप् को एकारादेश होता है, सम्बुद्धि पर रहते। रमे स्, सकार लोप हे रमे। द्वितीया बहुवचन में सवर्ण दीर्घ हुआ, पुंल्लिङ्ग न होने से सकार को नकार न हुआ। रमाः।

२८९ आङि चापः ७।३।१०५।

आङि ओसि च परे आबन्ताङ्गस्य एकारः स्यात्। रमया। रमाभ्याम्। रमाभिः।

टा की आङ् संज्ञा प्राचीन मत में है। आङ् एवं ओस् पर रहे तो आबन्त अङ्ग को एकार होता है। रमा आ, रमे आ, अय् रमया।

२९० याडापः ७।३।११३।

आपः परस्य ङिद्वचनस्य याडागमः स्यात्। वृद्धिरेचि। रमायै। सवर्णदीर्घः। रमायाः। रमयोः। रमाणाम्। रमायाम्। रमयोः। रमासु। एवं दुर्गादयः।

आबन्त अङ्ग से पर ङित् विभक्ति को याट् आगम होता है। रमा ए याट् आगम 'आद्यन्तौ' सूत्र से एकार का आदि अवयव हुआ वृद्धिरेचि से 'आ ए' की ऐकार वृद्धि रमायै। रमा अस् याट् दीर्घ रमायाः। रमा ओस् 'ओसि च' से आकार को एकार अयादेश रमयोः। रमा आम्, आबन्त से पर आम् को 'ह्रस्वनद्याप' से नुट्, णत्व रमाणाम् 'रमा ङि' आम् आदेश याडागम दीर्घ रमायाम्। रमा सु में इण् से पर नहीं अतः षकारादेश न हुआ। इसी प्रकार दुर्गा अम्बिका के रूप समझने चाहिए। सर्वनामसंज्ञक टाबन्त सर्वा शब्द के रूप प्रथमा से तृतीया तक सर्वा सर्वे सर्वाः। सर्वाम्। सर्वे सर्वाः। सर्वया। सर्वाभ्याम्। सर्वाभिः।

२९१ सर्वनाम्नः स्याड्ह्रस्वश्च ७।३।११४।

आबन्तात्सर्वनाम्नः परस्य ङितः स्याट् स्यादापश्च ह्रस्वः। याटोऽपवादः। सर्वस्यै। सर्वस्याः २। एकादेशस्य पूर्वान्तत्वेन ग्रहणादामि सर्वनाम्नः सुट्। सर्वासाम्। सर्वस्याम्। सर्वयोः। सर्वासु। एवं विश्वादय आबन्ताः।

आबन्त सर्वनाम से पर ङकारेत्संज्ञक प्रत्ययों को स्याट् आगम होता है। आप् के आकार का ह्रस्व होता है। याट् का यह सूत्र अपवाद है। सर्वा ए स्याट् आगम आकार का ह्रस्व सर्व ए वृद्धि से सर्वस्यै। सर्वा अस स्याट् ह्रस्व, दीर्घ रुत्व विसर्ग से सर्वस्याः। सर्वस्याः। सर्वयोः। सर्वा आम् यहां 'अन्तादिवच्च' से पूर्वान्तवद्भाव से सर्ववृत्ति सर्वनामत्व सर्वा मे आरोप कर 'आमि सर्वनाम्नः' से आम् को सुट् आगम सर्वासाम्। सर्वा ङि आमादेश स्याट् आगम अकार का ह्रस्व, दीर्घ सर्वस्याम्। सर्वा ओस् एत्व अय् सर्वयोः। सर्वासु। इसी प्रकार आबन्त विश्वा के रूप हैं।

२९२ विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ १।१।२८।

अत्र सर्वनामता वा स्यात्। उत्तरपूर्वस्यै। उत्तरपूर्वायै। 'दिङ्नामान्यन्तराले' इति प्रतिपदोक्तस्य दिक्समासस्य ग्रहणान्नेह। या उत्तरा सा पूर्वा यस्या उन्मुग्धायास्तस्यै उत्तरपूर्वायै। बहुव्रीहिग्रहणं स्पष्टार्थम्। अन्तरस्यै शालायै। बाह्यायै इत्यर्थः। अपुरीत्युक्तेर्नेह। अन्तरायै नगर्यै।

दिग्वाचक शब्द के समास में सर्वादि शब्दों को सर्वनामत्व विकल्प से रहता है। "उत्तरस्याश्च पूर्वस्याश्च दिशोऽन्तरालं या दिक् सा उत्तरपूर्वा" उत्तर दिशा एवं पूर्वदिशा इनके मध्य में जो दिशा उसको उत्तरपूर्वा कहते हैं ऐसी ऐशानी दिशा है। यहां दिक् वाचक शब्द को उच्चारण करके 'दिङ् नामान्यतराले' प्रतिपदोक्त का ही ग्रहण है। वहां सर्वनामता विकल्प से रहेगी। अन्यत्र नहीं। मूर्खा स्त्री को उत्तर पूर्व दिशा का भान नहीं है वहां अन्यपदार्थ में समास 'अनेकमन्यपदार्थे' से हुआ। वहां सर्वनामसंज्ञा नहीं है, या उत्तरा सा पूर्वा यस्याः मूर्खायाः यहां अन्यपदार्थ उन्मुग्धा है, "उत्तरपूर्वायै" यही होगा। प्रतिपदोक्त दिक्समास बहुव्रीहि के अधिकार में ही है, अतः सर्वनाम संज्ञक इसमें बहुव्रीहि करना व्यर्थ है। प्रतिपदोक्त समास में उत्तरपूर्वस्यै, उत्तरपूर्वायै, दो रूप हुए। अन्तरा शब्द बाह्य या परिधान में रहे। वहां अन्तर वृत्ति सर्वनामत्व पूर्वान्तवद्भाव से अन्तरा में है अतः सर्वनाम निमित्तक स्याट् आदि कार्य होते हैं। अन्तरस्यै शालायै। यहां बाह्य अर्थ है। 'अपुरी' वहां कहा गया है, पुरी में सर्वनाम संज्ञा नहीं अन्तरायै = नगर्यै।

२९३ विभाषा द्वितीयातृतीयाभ्याम् ७।३।११५।

आभ्यां ङितः वा स्याट् आपश्च ह्रस्वः । इदं सूत्रं त्यक्तुं शक्यम्, तीयस्य ङित्सूपसंख्यानात् । द्वितीयस्यै । द्वितीयायै । द्वितीयस्याः २ । द्वितीयायाः २ । द्वितीयस्याम् । द्वितीयायाम् । शेषं रमावत् । एवं तृतीया । अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः । हे अम्ब । हे अक्क । हे अल्ल । असंयुक्ता ये डलकास्तद्वतां ह्रस्वो न । हे अम्बाडे । हे अम्बाले । हे अम्बिके । जरा । जरसौ । शीभावात् परत्वाज्जरस् । आमि नुटः परत्वाज्जरस् । जरसामित्यादि । पक्षे हलादौ च रमावत् । इह पूर्वविप्रतिषेधेन शीभावं कृत्वा सन्निपातपरिभाषाया अनित्यताञ्चाश्रित्य 'जरसी' इति केचिदाहुस्तन्निर्मूलम् । यद्यपि जरसादेशस्याबन्ततामाश्रित्य 'औङ आपः' 'अङ्कि चापः' 'याडापः' 'ह्रस्वनद्यापः' 'ङेराम्' इति पञ्चापि विधयः प्राप्ताः । एवं नस्निशादेशेत्सु तथाप्यनल्विधावित्युक्तेर्न भवन्ति । आ आविति प्रश्लिष्य आकाररूपस्यैवापः सर्वत्र ग्रहणात् । एवं हल्ङ्यादिसूत्रेऽपि आ आप् ङी ई इति प्रश्लेषाद् 'अतिखट्वः' निष्कौशाम्बिरित्यादिसिद्धे दीर्घग्रहणं प्रत्याख्येयम् ।

न चैवमतिखट्वायेत्यत्र स्वाश्रयमाकारत्वं स्थानिवद्भावेनापत्वं चाश्रित्य याट् स्यादिति वाच्यम्, आबन्तं यदङ्गं ततः परस्य याड्विधानात् । उपसर्जनस्त्रीप्रत्यये तदादिनियमात् । पद्दन्न इति नासिकाया नस् । नसः । नसा । नोभ्यामित्यादि । पक्षे सुटि च रमावत् । निशाया निश् । निशः निशा ।

द्वितीया तृतीया से पर ङित् विभक्तियों को विकल्प से स्याट् एवं आप् का ह्रस्व होता है । इस सूत्र की आवश्यकता नहीं है । तीय प्रत्ययान्त को ङित् विभक्तियों में सर्वनाम संज्ञा विकल्प से होती है यह प्रथम कह चुके हैं । द्वितीया ए स्याट् ह्रस्व अकार एकार वृद्धि द्वितीयस्यै । पक्ष में याडापः से याट् वृद्धि द्वितीयायै । सर्वनाम पक्ष में सर्वावत् रूप, अन्यत्र रमावत् । इसी प्रकार तृतीयस्यै तृतीयायै । तृतीयस्याः २ । तृतीयायाः २ । तृतीयस्याम् तृतीयायाम् । हे अम्ब, हे अक्क, हे अल्ल वे तीनों अम्बार्थक हैं अतः ह्रस्व होकर अम्ब, अक्क, अल्ल रूप सम्बोधन में हुए ।

मातृ वाचक 'अम्बाडा' 'अम्बाला' एवं 'अम्बिका' इन शब्दों के सम्बोधन में 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' से ह्रस्व नही होता है, यहां भाष्यवार्तिक ह्रस्व का निषेधक है—*"डलकवतां प्रतिषेधो वाच्यः" * । डकार, लकार ककार घटित अम्बार्थक शब्दों का सम्बुद्धि मे ह्रस्व का प्रतिषेध = निषेध समझना चाहिये । ऐसा कहने पर 'अक्का' 'अल्ला' यहां भी ह्रस्व नहीं होगा उस शङ्का निवारणार्थ दूसरा वार्तिक किया—"द्व्यक्षरं यदि" यहां अक्षर शब्द स्वर का ही बोधक है । दो अच्घटित डलकवान् यदि रहे तो ह्रस्व होता है, अर्थात् दो से अधिक अच्वान् अम्बार्थक का ह्रस्व नही होता है १ निषेधक वार्तिक है जो ह्रस्व का निषेध करता है । २ निषेध का निषेधक है अर्थात् ह्रस्व होने मे ही सहायक है इन वार्तिक द्वय लब्ध सारांश को ग्रन्थकार लिखते हैं—'असंयुक्ता ये डलकास्तद्वतां ह्रस्वो न' यह केवल महावाक्यमात्र फलितार्थ प्रतिपादक है सूत्र या वार्तिक नहीं है इसका अर्थ—संयोग सहित डलकवान् अम्बार्थक शब्दों का

ह्रस्व नहीं होता है। अक्का, अल्ला मे तो ककारद्वय, एवं लकारद्वय संयुक्त है, यहां ह्रस्व हो जायगा। अम्बाडा अम्बाला अम्बिका में ड, ल क असंयुक्त है तद्घटित का ह्रस्व नहीं।

जरा अस् यहां शीभाव जरस् दोनो एक समय प्राप्त हैं, पर होने से जरस् से 'जरसः रूप है। आम् मे नुट् को बाधकर परशास्त्र के कारण जरस् 'जरसाम्'। विकल्प से जरस् होता है। उसके अभाव में जरा का रमा सदृश रूप है।

धातुवृत्तिकार माधव ने कहा कि पूर्वविप्रतिषेध से जरस् को बाधकर शीभाव होता है, एवं सन्निपातपरिभाषा से जरस् अप्राप्त था अतः वह परिभाषा अनित्य है 'जरसी' रूप होता है, 'जरसौ" नहीं। यह मत माधव का असङ्गत है, विस्तार से निर्जर शब्द में विचार किया है उसको देखिये।

परत्वात् जरसादेश के बाद स्थानिवद्भाव से आबन्तत्व मानकर मूलोक्त पाँच विधियां प्राप्त हुई। इसी प्रकार निश् आदि आदेश भी पांच विधियां प्राप्त थी। किन्तु अल्विधि में स्थानिवद्भाव न हुआ। अथवा औङः आप आदि पांच सूत्रों में आ आप्=आप् आकार का प्रश्लेष कर श्रूयमाण आरूप रहे वहां ही शीभाव याट् आदि कार्य होते है। इसी प्रकार 'हल्ङ्याप्' सूत्र में आ आप्=आप् ङी ई ङी इस प्रकार ईकार एवं आकार का प्रश्लेष करने से श्रूयमाण आ स्वरूप ई स्वरूप रहे वहां ही प्रवृत्ति लोप की होती है अतिखट्वः यहां लोप विभक्ति के सकार का प्राप्त ही नहीं है एवं निष्कौशाम्बिः यहां ईकार रूप श्रूयमाण नहीं सकार लोप नहीं होगा वहां दीर्घग्रहण जो किया है वह व्यर्थ है। 'खटिया को उल्लङ्घनकर्ता पुरुष के लिए' इस अर्थ में द्वितीया तत्पुरुष समास से निष्पन्न = खट्वाम् अतिक्रान्तः, अतिखट्वः तस्मै 'अतिखट्वाय'। खट्व से टाप् दीर्घ, खट्वा से अम्=इसका अति के साथ समास 'अतिखट्वा यहां 'गोस्त्रियोः' से ह्रस्व 'अतिखट्व ङे' यहां ह्रस्व आकार में स्थानिवद्भाव से आप्त्व धर्म प्राप्त था किन्तु दीर्घ भिन्न ह्रस्वादेश स्थानिवत् नही होता है, वार्तिक—'ङयाब्ग्रहणेऽदीर्घः' यह स्थानिवद्भाव का निषेध वचन है, अतः ह्रस्व मे आप्त्व नहीं है अतिखट्व ए यादेश सुपि च से दीर्घ 'अतिखट्वाय' यहां आकार रूप श्रूयमाण है किन्तु वार्तिककार मत में आप्त्व नहीं है? तो भी वार्तिककार का मत स्वीकार भाष्यकार नहीं करते हैं 'आ आप्'=आप् 'ङी ई इति ङी' यह प्रश्लेपकरण वार्तिक के मतस्वीकार करने पर व्यर्थ होगा अतः ह्रस्वाकार में स्थानिवद्भाव से आप्त्व है, वह 'सुपि च' से विधीयमान दीर्घ में आता है आरूपश्रूयमाण है, अतः प्रश्लेष करने पर भी याट् आगम की प्राप्ति रूप दोष हैं। (समाधान) आप् प्रत्यय है, 'प्रत्ययग्रहणे' परिभाषा से तदादि की उपस्थिति होती है तदादि विशेष्य है आप् विशेषण है, तदन्तविधि से आबन्ततदादि से अभिन्न अङ्ग से पर ङिद् विभक्ति को याट् आगम होता है, यहां आबन्ततदादि खट्वा, या खट्व, वह अङ्ग नहीं है अतिखट्व अङ्ग है, वह आबन्ततदादि नहीं है अतः याट् की प्राप्ति नही है। उस पर शङ्का करते हैं की स्त्री प्रत्यय में तदादि नियम नही है, आबन्त अङ्ग यही अर्थ से यहां 'अतिखट्व' आबन्त अङ्ग है याट् होना चाहिये?

(समाधान) 'स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जने न' यह परिभाषा 'प्रत्ययग्रहणे' की बाधिका है। अनुपसर्जन स्त्रीप्रत्यय में तदादि नियम नहीं है, अर्थात् तदादि की उपस्थिति नहीं हैं एवं तदादि विशेष्य गृह्यमाण विशेषणक तदन्तविधि नहीं है। किन्तु यहां उसका विषय ही नहीं है यहां स्त्रीप्रत्यय टाप् उपसर्जन है अतः तदादिविधि होती है 'आबन्ततदादि' से दोष नही है। उपसर्जनपदार्थ क्या है? इसके पूर्व ध्यान से अतिखट्व का अर्थ समझिए। "स्त्रीत्वयुक्त खटिया को लांघने वाली" यह अर्थ है। यहां अत्यर्थ=१—उल्लंङ्घन अर्थ विशेष्य है। उसमें २—खटिया

विशेषण है, खटिया में ३—स्त्रीत्व ही विशेषण है। स्त्रीत्व के अर्थ का बोधक टाप् है। विशेष्य का विशेषण का विशेषण स्त्रीत्व हुआ वह उपसर्जन है। विशेष्य के विशेषण के विशेषण को उपसर्जन कहते है। विशेष्य को मुख्य या प्रधान कहते है। विशेषण को प्रकार या अप्रधान भी कहते है। विशेषण में विशेषण को (प्रकार में प्रकार को) उपसर्जन कहते है।

संस्कृत में उसका स्वरूप इस प्रकार का है—स्वान्तपर्य्याप्तशक्तिनिरूपकार्थनिष्ठविशेष्यता निरूपितप्रकारता तदवच्छेदकत्वम् = उपसर्जनत्वम्। जिसको उपसर्जन बनाना है वह स्वपद से लेना चाहिये। इसका विवरण पूर्व लिख चुके है तो भी स्पष्ट ज्ञान के लिए इसका समन्वय करते है अतिखट्व यहां ह्रस्व में स्थानिवद्भाव से आप्त्व वृद्धि भाष्यमत में हो चुकी है। अतः स्वम् = टाप् तदन्त में रहने वाली पर्याप्तिसम्बन्ध से शक्ति—स्त्रीत्व विशिष्ट खटिको का अतिक्रमण कर्त्री। यहां विशेष्यता = अतिक्रमणार्थ में प्रकारता खटिया में उसमें अवच्छेदक (प्रकारता वच्छेक स्त्रीत्व है उसका बोधक टाप् उपसर्जन है।

'नसा' 'पृता' आदि में आकार रूप आप् श्रूयमाण नहीं अतः आवन्तनिमित्तक कार्य न हुए।

२९४ व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः ८।२।३६।

व्रश्चादीनां सप्तानां छशान्तयोश्च षकारोऽन्तादेशः स्याज्झलि पदान्ते च। षस्य जश्त्वेन डकारः। निड्भ्याम्। निड्भिः। सुपि डः सीति पक्षे धुट्। चर्त्वम्। तस्यासिद्धत्वाच्चयो द्वितीया इति टतयोष्ठथौ न। न पदान्ताट्टोरिति ष्टुत्वं न, 'निट्त्सु' 'निट्सु'।

सूत्र में लिखित सात धातुओं को एवं छकारान्त शब्दों को एवं शकारान्त शब्दों को झल् पर रहते या पदान्त रहे तो षकारादेश होता है। रात्रिवाचक निशा निशे निशाः। निशाम्। निशे निशः निशाः। निशया रूप हुए। तृतीया द्विवचन में निशा को निश् आदेश हुआ 'निश् भ्याम्' यहां 'स्वादिषु' से निश् की पदसंज्ञा शकार को षकार उसको 'झलां जशोऽन्ते' से डकार 'निड्भ्याम्। निड्भि' सुप् में निशा सु, निश् सु निष् सु 'निड्सु' डः सि धुट् से धुट् आगम करके दो बार खरि च से चर्त्व ड् ट्, ध् को ट् निट्त्सु, पक्ष में निट्सु' चयो द्वितीया वार्तिक 'नादिन्याकोशे' सूत्र पर पठित है, वार्तिक की दृष्टि में चर्त्व असिद्धि है अत द्वितीय अक्षर तकार का थकार एवं टकार का थकार न हुआ। 'न पदान्तात्' से यहां ष्टुत्व का निषेध है।

२९५ षढोः कः सि ८।२।४१।

षस्य ढस्य च कः स्यात्सकारे परे। इति तु न भवति, जश्त्वं प्रत्यसिद्धत्वात्। केचित्तु व्रश्चादिसूत्रे दादेर्धातोरिति सूत्राद् धातोरित्यनुवर्तयन्ति, तन्मते जश्त्वेन जकारे निज्भ्याम्। निज्भिः। जश्त्वम्। श्चुत्वम्। चर्त्वम् निच् शु। चोः कुरिति कुत्वं तु न भवति, जश्त्वस्यासिद्धत्वात्। ॐ मांसपृतनासानूनां मांस् पृत्स्नवो वाच्यः, शसादौ वा ॐ। पृतः। पृता। पृद्भ्याम्। पक्षे सुटि च रमावत्। गोपा विश्वपावत्। मतिः प्रायेण हरिवत्। स्त्रीत्वान्नत्वाभावः। मतीः। नात्वं न, मत्या।

सकार पर रहते षकार एवं ढकार को ककार होता है। निश् सु यहां षकार के बाद जश्त्व एवं इससे ककार प्राप्त है, परत्वात् कादेश प्राप्त है, किन्तु इसके असिद्ध होने से जश्त्व से डकार,

ततः धुट्, दो बार चर्त्व से पूर्वोक्त निट्त्सु, निट्सु वही रूप ठीक है। कोई आचार्य 'दादेर्धातोः' से षकार विधायक इस सूत्र में धातु की अनुवृत्ति करते हैं, शकारान्त छकारान्त शब्द भी धातु ही चाहिये, इस परिस्थिति में निश्भ्याम् आदि में षकार नहीं होता है, उस मत में जश् होकर निज्भ्याम् आदि रूप ही होते हैं। सुप् में भी निज् सु यहां सकार का श्चुत्व से शकार, चर्त्व से चकार निच् शु रूप है। यहां 'चोः कुः' से कुत्व नहीं होता है, उसकी दृष्टि में जश्त्व असिद्ध है।

मांस पृतना सानु इन तीन को क्रमशः मांस् पृत् एवं स्नु आदेश होता है, शसादि पर में विकल्प से। पृतः पृतनाः। पृता पृतनया, पृद्भ्याम् पृतनाभ्याम् आदि। विश्वपा के समान गोपा का रूप है। मति के शस् में नकार नहीं अतः मतीः। अन्यत्र प्रायः हरिवत् रूप है। स्त्रीलिङ्ग होने से नत्व नात्व का अभाव है। वे कार्य पुंल्लिङ्ग में ही होते हैं। मतिः बुद्धि। पृतना = सेना।

२९६ ङिति ह्रस्वश्च १।४।६।

इयङुवङ्स्थानौ स्त्रीशब्दभिन्नौ नित्यस्त्रीलिङ्गावीदूतौ, ह्रस्वौ चेवर्णोवर्णौ स्त्रियां वा नदीसंज्ञौ स्तो ङिति परे। आण् नद्याः। मत्यै। मतये। मत्याः। मतेः। नदीत्वपक्षे औदिति ङेरौत्वे प्राप्ते।

जिनके स्थान में विभक्ति के समय इयङ् या उवङ् होता है, ऐसे नित्य स्त्रीलिङ्ग ईकारान्त ऊकारान्त शब्द है वे और जो ह्रस्व इकारान्त या ह्रस्व उकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द है वे शब्द, पर में ङित् प्रत्यय हो तो विकल्प करके नदीसंज्ञक होते हैं। मति टा (आ) यण् मत्या। मति ए, विकल्प नदीसंज्ञा, आट् आगम 'आण् नद्याः' से आट् मति आ ए, आटश्च से वृद्धि, यण् मत्यै, पक्ष में हरिवत् मतये। पञ्चमी में नदी आट् यण् मत्याः। पक्ष में घिसंज्ञा से गुण, पूर्वरूप रुत्वविसर्ग मतेः। मति ङि (इ) यहां नदी संज्ञा पक्ष में 'औत्' सूत्र से औत् प्राप्त है किन्तु उसका निषेधक सूत्र—

२९७ इदुद्भ्याम् ७।३।११७।

नदीसंज्ञकाभ्यामिदुद्भ्यां परस्य ङेराम् स्यात्। पक्षे अच्च घेः। मत्याम्। मतौ एवं श्रुतिस्मृत्यादयः।

नदीसंज्ञा वाले ह्रस्व इकारान्त या ह्रस्व उकारान्त के उत्तर ङि को आम् आदेश होता है। मति आम् आट् वृद्धि यण् मत्याम्। पक्ष में हरौ की तरह मतौ। इसी प्रकार श्रुति-स्मृति-बुद्धि आदि शब्द के रूप समझने चाहिये।

२९८ त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ ७।२।९९।

स्त्रीलिङ्गयोरेतयोरेतावादेशौ स्तो विभक्तौ परतः।

स्त्री रूप अर्थवाचक त्रि और चतुर शब्द के स्थान में विभक्ति संज्ञक प्रत्यय पर रहे तो क्रमशः तिसृ और चतसृ आदेश होते हैं। बहुवचनान्त त्रित्वसंख्या युक्त स्त्री रूप संख्येयार्थक त्रि शब्द से जस्, जकार की इत्संज्ञा लोप तिसृ आदेश तिसृ अस् यहां जसि च से गुण अर् प्राप्त है किन्तु नहीं होता है निषेधक सूत्र—

२९९ अचि र ऋतः ७।२।१००।

तिसृ चतसृ एतयोर्ऋकारस्य रेफादेशः स्यादचि। गुणदीर्घोत्वानामपवादः। तिस्रः। तिस्रः। आमि नुम् अचि रेति नुट्।

अजादि विभक्ति से अव्यवहित पूर्व तिसृ और चतसृ के ऋकार के स्थान में रेफादेश होता है। १—अपवादस्थल में दो पक्ष है। एक बाध्य विशेष चिन्ता पक्ष। २—बाध्य सामान्य चिन्ता पक्ष। १—विशेष चिन्ता पक्ष में अष्टाध्यायो में पूर्वपठित अपवाद अपने समीपवर्ती शास्त्र को बाध कर कृतार्थ है तो वे दूरस्थ शास्त्र को बाध नहीं करते हैं। २—बाध्य सामान्य चिन्ता में अपवाद शास्त्र—मेरे विषय में जो जो प्राप्त सूत्र रहेगें उन उन सबको में निषेध बोधन करूंगा। इष्टानुरोध से इन पक्षों में एक पक्ष का अपवाद स्थल में आश्रयण होता है। यहां बाध्य सामान्य चिन्ता पक्ष से यह सूत्र 'जसि च' ऋत उत्, प्रथमयोः इन तीनों शास्त्र का अपवाद है। प्रियत्रि में पञ्चमी षष्ठी एकवचन में ऋत उत् को बाध कर प्रियतिस्रः। रेफादेश हुआ। गुण या पूर्वसवर्ण दीर्घ न हुए तिस्रः। तिसृभिः। तिसृभ्यः २। आम् में पूर्वविप्रतिषेध से रेफादेश को बाध कर नुट् तिसृ नाम् यहां 'नामि' से दीर्घ प्राप्त था, वह न हुआ णत्व हुआ दीर्घ निषेधक सूत्र कहते हैं—

३०० न तिसृचतसृ ६।४।४।

एतयोर्नामि दीर्घो न स्यात्। तिसृणाम्। तिसृषु। स्त्रियामिति त्रिचतुरोर्विशेषणान्नेह। प्रियास्त्रयस्त्रीणि वा यस्याः सा प्रियत्रिः। मतिवत्। आमि तु प्रियत्रयाणाम् इति विशेषः। प्रियास्तिस्रो यस्य स इति विग्रहे तु प्रियतिसा। प्रियतिस्रौ। प्रियतिस्रः। प्रियतिस्रम् इत्यादि। प्रियास्तिस्रो यस्य तत्कुलं प्रियत्रि, स्वमोर्लुका लुप्तत्वेन प्रत्ययलक्षणाभावान्न तिस्रादेशः। न लुमतेति निषेधस्यानित्यत्वात्पक्षे प्रियतिसृ। रादेशात् पूर्वविप्रतिषेधेन नुम्। प्रियतिसृणी। प्रियतिसृणी। तृतीयादिषु वक्ष्यमाणपुंवद्भावविकल्पात्पर्य्यायेण नुमूरभावौ। प्रियतिस्रा। प्रियतिसृणा। इत्यादि।

द्वेरत्वे सत्याप्। द्वे २। द्वाभ्याम् ३। द्वयोः २। गौरी। गौर्य्यौ। गौर्य्यः। नदीकार्यम्—हे गौरि। गौर्यै इत्यादि। एवं वाणीनद्यादयः। प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणादनङि णिद्वद्भावे च प्राप्ते विभक्तौ लिङ्गविशिष्टाग्रहणम्। सखी। सख्यौ। सख्यः। इत्यादि। गौरीवत्। अङ्यन्तत्वान्न सुलोपः। लक्ष्मीः। शेषं गौरीवत्। एवं तरीतन्त्र्यादयः। स्त्री। हे स्त्रि।

नाम् पर रहे तो तिसृ एवं चतसृ का अन्त्य अच् का दीर्घ नही होता है। तिसृणाम्। तिसृषु। 'त्रिचतुरोः' सूत्र में श्रूयमाण त्रि एवं चतुर् है। अधिकार प्राप्त अङ्गस्य अनुमित है। यहां "स्त्रियाम्' यह त्रि चतुर् (शब्दार्थ) का विशेषण है। अङ्ग वाच्यार्थ का नहीं। परिभाषा है—श्रुतानुमितयोः श्रुतसम्बन्धो बलीयान्। स्त्रीलिङ्ग में विद्यमान त्रि एवं चतुर् यह अर्थ कर तदन्त अङ्ग को क्रमशः तिसृ चतसृ आदेश होते है। अङ्ग को स्त्री वाचक की कोई आवश्यकता नहीं है। अङ्ग स्त्री वाचक रहे एवं त्रि, चतुर पुंलिङ्ग या नपुंसक रहे वहां तिसृ एवं चतसृ आदेश नही होते है। इसका परिचायक समास के लिए विग्रह वाक्य है। इस अर्थ में प्रमाण 'प्रियतिसृणि ब्राह्मणकुलानि' यह भाष्य प्रयोग भी है।

विग्रह वाक्य में 'त्रयः' त्रीणि रहे तो पुंलिङ्ग एवं नपुंसक जानना। तिस्रः रहे तो स्त्रीलिङ्ग जानना चाहिए। अन्यपदार्थ पुंलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग, या नपुंसक रहे उसकी अपेक्षा यहां नही है यह भावार्थः है।

तीन स्त्रियां प्रिय है जिस पुरुष को, एवं चार कन्याए प्रिय है जिस पुरुष को यहां त्रि, एवं चतुर् स्त्रीवाचक है, तिसृ चतसृ आदेश होते है। प्रियतिसा। प्रियतिस्रौ। प्रियतिस्रः। प्रिय है तीन कन्याए जिस को यहां यद्यपि स्त्रीवाचक त्रि शब्द है, किन्तु नपुंसक में विभक्ति का लुक् है, प्रत्ययलक्षण नही होता है उसका निषेधक 'न लुमता' है विभक्ति पर में न रहने से यहां तिसृ आदेश न हुआ क्यों कि यावत् सामग्री की सत्ता में कार्य होता है यहां विभक्ति परत्व का अभाव है।

प्रियत्रि इकोऽचि विभक्तौ में अच् ग्रहण से 'न लुमता' अनित्य है तो प्रियतिसृ नपुंसक में होता ही है। अनित्यत्वप्रकार--हलादि विभक्ति में नपुंसक में नुम् होने पर भी उसका 'न लोपः' से लोप होकर रूप में अन्तर नहीं, सम्बोधन में तो विभक्ति ही नहीं हैं लुक् प्रथम हो जायगा। प्रत्ययलक्षण निषेधक 'न लुमता' अनित्य है यह ज्ञापन करता है। ज्ञापन करने पर हे वारि यहां प्रत्ययलक्षण से विभक्ति परत्व ज्ञान से नुम् अच् के अभाव में होगा, उसका लोप नहीं होगा 'न ङिसम्बुद्धयोः' निषेध करेगा, हे वारिन् रूप को रोकने के लिए अच् ग्रहण स्वांश में चरितार्थ हुआ। अत एव हेत्रपु हेत्रयौ दो रूप हुए।

प्रियतिसृ औ यहां रादेश एवं 'इकोऽचि' सूत्र से नुम् प्राप्त है, परत्वात् रादेश प्राप्त है किन्तु वार्तिक से पूर्व वि० से नुम् होता है, बाद में णत्व प्रियतिसृणी। बहुवचन में जस् को शि, सर्वनामसंज्ञा नुम् उपधादीर्घ, णत्व प्रियतिसॄणि। तृतीयादि विभक्तियों में 'तृतीयादिषु भाषितपुंस्कम्' (७-१-७४) से पुंवद्भाव विकल्प होने से जहां पुंवद्भाव होता है वहां नुम् की अप्राप्ति है वहां रेफादेश से प्रियतिस्रा। पक्ष में प्रियतिसृणा यहां नुम् हुआ। 'स्त्रियाम्' वह त्रि एवं चतुर् वाच्य अर्थ में ही विशेषण है वह कह चुके है, किन्तु "प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्य सम्प्रत्ययः" न्याय भी जागरूक है यहां प्रधान = विशेष्य अङ्ग है, उसमें अप्रधान = विशेषण त्रिचतुर् विशेषण वाचक है।

दोनों न्याय समानकोटिक है, न्यायों में परस्पर बाध्यबाधक भाव नहीं अतः श्रुत का या अङ्ग का स्त्रियां विशेषण है वह अद्यावधि अनिर्णीत ही है ? (समाधान) "प्रियतिसॄणि ब्राह्मणकुलानि" भाष्यप्रयोग से श्रुत त्रिचतुर् का ही स्त्रियाम् विशेषण है। अन्यथा इस भाष्य प्रयोग में अङ्ग नपुंसक है तिसृ आदेश न होता। श्रूयमाण का विशेषण करने पर त्रिशब्द स्त्रीवाचक है तिसृआदेश हुआ भाष्यप्रयोग सुसङ्गत हुआ।

द्विशब्द द्वित्व संख्या युक्त द्रव्यवाचक स्त्रीलिङ्ग है उससे औ विभक्ति में 'त्यदादीनामः' से इकार को अकारादेश टाप् दीर्घ द्वा औ शी आदेश, गुण से 'द्वे'। 'न यासयोः' सूत्रनिर्देश से सन्निपातपरिभाषा टाप् करने में अनित्य है अतः टाप् हुआ। द्वे, आदि रूप हुए। इकारान्त शब्द समाप्त।

सर्वजनों से जिसकी स्तुति होती है उसे गौरी कहते हैं, पार्वती उमा। कात्यायनी गौरी वे समानार्थक हैं, गॄ से औरन् ङीष् गौरी। गौरी एवं वाणी की सिद्धि प्रकार बाल मनोरमा में असङ्गत हैं, गौरादि गण में 'गौरी' का ही नहीं गौर का पाठ है। धातु के निर्देश में इक् होता है अन्यत्र नहीं। गौरी स् लोप गौरी, गौरी औ यण् वैकल्पिक द्वित्व, पदान्त इक् नहीं अतः ह्रस्वसमुच्चित प्रकृतिभाव न हुआ। गौर्य्यौ, गौर्यौ। सम्बोधन में ह्रस्व नदी संज्ञा होने से हे गौरि। गौरी ए, आट् वृद्धि यण्। गौर्यै। इसी प्रकार वाणी नदी के रूप होते हैं। ह्रस्व इकारान्त सखि शब्द जब सहेली' वाचक रहे तब ङीप् होकर इकार लोप से सखी दीर्घ ईकारान्त है, वहां

सखिशब्दत्व लिङ्गविशिष्ट परिभाषा से प्राप्त था किन्तु विभक्ति निमित्तक कार्य कर्तव्य रहे वहां लिङ्ग विशिष्ट परिभाषा अनित्य होने से प्रवृत्त नहीं होती, अतः यहां अनङ् एवं णिद्वद्भाव नहीं होता है। गौरी के समान सखी के रूप है।

लक्ष से ईप्रत्यय एवं मुट् आगम से सम्पन्न लक्ष्मी शब्द का ईकार कृत्प्रत्यय हैं। ङीप् ङीष् ङीन् का नहीं अतः हल् सकार लोप नहीं है लक्ष्मीः। गौरी समान रूप इसके।

कोष में लक्ष्मीः दो प्रकार के रूप मिलते हैं। अतः लक्ष से ई प्रत्यय मुट् आगम कर लक्ष्मी से कृदिकारादक्तिनः से ईकार पूर्व ईकार का लोप, सकार लोप से विसर्ग रहित लक्ष्मी भी रूप है। यह भी एक पक्ष विचारणीय है। प्रसिद्ध रूप लक्ष्मीः है। तरी = नौका। स्तरी = धूम। तन्त्री = वीणा आदि का सूत्र = डोरा। अवी = रजस्वला। पूर्वोक्त तरी आदि कृत् ईप्रत्ययान्त है यहां सुलोप नहीं होता है। शुक्र = वीर्य एवं शोणित = रक्त दोनों संघीभूत होकर जहां रहें उसको स्त्री कहते हैं यह शब्द योगरूढ है अवयवशक्ति एवं समुदायशक्ति दोनों का यहां आदर होता है। स्त्यै से ट्रट् (र) टिलोप लोपो व्योः से यकार लोप 'डिड्ढाणञ्' से ङीप् से 'स्त्री' शब्द बना हुआ है। प्रथमा के एकवचन में सकार लोप से 'स्त्री'। नदी संज्ञा से सम्बोधन में ह्रस्व सकार लोप से है स्त्रि।

३०१ स्त्रियाः ६।४।७९।

स्त्रीशब्दस्येयङ् स्यादजादौ प्रत्यये परे। स्त्रियौ। स्त्रियः।

अजादिप्रत्यय से अव्यवहित पूर्वत्वविशिष्ट स्त्री शब्दान्त अङ्ग के अन्त्यवर्ण को इयङादेश होता है। स्त्रियौ। ङिच्च से अन्त्य को इयङ् हुआ।

३०२ वाम्शसोः ६।४।८०।

अमि शसि च स्त्रिया इयङ् वा स्यात्। स्त्रियम्। स्त्रीम्! स्त्रियौ। स्त्रियः। स्त्रीः। स्त्रिया स्त्रियै। स्त्रियाः २। स्त्रियोः। परत्वान्नुट् स्त्रीणाम्। स्त्रियाम्, स्त्रियोः। स्त्रीषु।

स्त्रियमतिक्रान्ता अतिस्त्रिः। अतिस्त्रियौ।

गुणनाभावौत्वनुड्भिः परत्वात्पुंसि बाध्यते।
क्लीबे नुमा च स्त्रीशब्दस्येयङित्यवधार्यताम्॥ १॥

जसि च अतिस्त्रयः। हे अतिस्त्रे। हे अतिस्त्रयौ। हे अतिस्त्रयः। वाम्शसोः। अतिस्त्रियम्। अतिस्त्रिम्। अतिस्त्रियौ। अतिस्त्रियः। अतिस्त्रीन्। अतिस्त्रिणा। घेर्ङिति। अतिस्त्रये। अतिस्त्रेः। अतिस्त्रियोः २। अतिस्त्रीणाम्। 'अच्च घेः' अतिस्त्रौ।

ओस्यौकारे च नित्यं स्यादम्शसोस्तु विभाषया।
इयादेशोऽचि नान्यत्र स्त्रियाः पुंस्युपसर्जने॥

क्लीबे तु नुम्। अतिस्त्रि। अतिस्त्रिणी। अतिस्त्रीणि। अतिस्त्रिणा अतिस्त्रिणे। ङेप्रभृतावजादौ वक्ष्यमाणपुंवद्भावात्पक्षे प्रागवद् रूपम्। अतिस्त्रये। अतिस्त्रिणे। अतिस्त्रेः। अतिस्त्रिणः। अतिस्त्रेः अतिस्त्रिणः। अतिस्त्रियोः। अति-

स्त्रिणोः। इत्यादि। स्त्रियान्तु प्रायेण पुंवत्। शसि—अतिस्त्रीः। अतिस्त्रिया। 'ङिति ह्रस्वश्च' इति ह्रस्वान्तत्वप्रयुक्तो विकल्पः। 'अस्त्री' तु इति इयङुवङ्-स्थानावित्यस्यैव पर्य्युदासः, तत्सम्बद्धस्यैवानुवृत्तेः दीर्घस्यायं निषेधः, न तु ह्रस्वस्य। अतिस्त्रियै। अतिस्त्रिये। अतिस्त्रियाः २। अतिस्त्रेः २। अतिस्त्रीणाम्। अतिस्त्रियाम्। अतिस्त्रौ। श्रीः। श्रियौ। श्रियः।

अम् एवं शस् पर रहते स्त्रीशब्द को इयङ् विकल्प से होता है। इयङ् के अभाव पक्ष में अमि पूर्वः लगेगा। स्त्रीः यहां प्रथमयोः से पूर्वसवर्णदीर्घ है। स्त्री आम् यहां इयङ् को बाधकर परत्वात् नुट् हुआ। "स्त्री को अतिक्रमण करने वाला पुरुष" इस अर्थ में द्वितीया तत्पुरुष कर गोः 'स्त्रियोः' से ह्रस्व कर पुंल्लिङ्ग ह्रस्व इकारान्त अतिस्त्रिः। अतिस्त्रियौ। स्त्री शब्द यद्यपि स्त्रीलिङ्ग है किन्तु समास में विशेषणीभूत अर्थ का वाचक होने से पुंल्लिङ्ग है, अतः 'जसि च' घेर्ङिति से गुण इयङ् 'विधायक सूत्र स्त्रियाः' से पर है, अतः गुणबाध इयङ् को करता है। गुण के विषय में इयङ् नहीं होता है। 'आङो ना' 'अच्च घेः' 'ह्रस्वनद्यापोः,' वे सूत्र पर होने से 'स्त्रियाः' सूत्र को बाध करते हैं, अतः इनके विषय में इयङ् नहीं होता एवं कुलरूपार्थ में विशेषणीभूत स्त्रीशब्द नपुंसक होगा, वहां इयङ् को नुम् बाध करता है—इकोऽचि सूत्र 'स्त्रियाः' सूत्र से पर है। इनसे अन्यत्र इयङ् स्त्री शब्द को होता है ऐसा निश्चय कीजिये। इस कारिका के व्याख्यान के अनन्तर जो रूप जिस प्रकार के होते हैं वे स्पष्ट मूल में लिखे हैं।

इयङ् कहां हुआ इसकी व्याख्या करते हैं क्योंकि पूर्व कारिका में लिखा है की इनसे 'अन्यत्र' अतः अन्यत्र की व्याख्या इस कारिका से होती है—स्त्रीशब्द समास से उपसर्जन होकर पुंल्लिङ्ग हुआ तो ओस् ओस् औ औ प्रत्यय पर रहे तो स्त्री को इयङादेश नित्य होते हैं। विधायक सूत्र 'स्त्रियाः' है। 'वाम्शसोः' से अम् एवं शस् पर में रहे वहां विकल्प से इयङादेश होता है। पक्ष में पूर्वसवर्ण दीर्घः। अन्यत्र अजादिविभक्तियाँ पर में इयङ् नहीं होता है। गुणादिकार्य इयङ् को बाध करते हैं। नपुंसक में नुम् इयङ् को बाध करता है पर होने से।

ङेप्रभृति अजादिविभक्ति पर रहें वहां पुंवद्भाव 'तृतीयादिषु भाषितपुंस्कम्' से होता है, पुंवद्भाव में पूर्वोक्तरूप समान ही रूप होते हैं।

'नेयङुवङ् स्थानावस्त्री' इसमें स्त्रीशब्दभिन्नार्थ 'अस्त्री' है वह तो दीर्घ ईकारान्त, दीर्घ ऊकारान्त जिनको इयङ् एवं उवङ् होते हैं उनके साथ ही यह सम्बद्ध है, अतः दीर्घान्त में ही वह निषेध करेगा 'अतिस्त्रि' ह्रस्वान्त में उससे निषेध नहीं होता है। 'ङिति ह्रस्वश्च' से ङित् प्रत्यय में नदी संज्ञा विकल्प होती है। नदी संज्ञा पक्ष में 'आण् नद्याः' से आट्, नुट् एवं आम् तो होता है। पक्ष में हरिवत्।

सेवार्थक श्रि धातुसे क्विप् एवं 'क्विप्वचि' वार्तिक से दीर्घ कर श्री स स् रुत्व विसर्गः श्रीः = लक्ष्मीः। श्री औ 'अचि श्नु' से इयङ् श्रियौ। श्रियः।

३०३ नेयङुवङ्स्थानावस्त्री १।४।४।

इयङुवङोः स्थितिर्ययोस्तावीदूतौ नदीसंज्ञौ न स्तो न तु स्त्री। हे श्रीः। श्रियै। श्रिये। श्रियाः। श्रियः।

जिन ईकारान्त ऊकारान्त शब्दों के ईकार ऊकार को इयङ् उवङ् की स्थिति प्राप्त होती है वहां नदीसंज्ञा नहीं होती है किन्तु स्त्री शब्द को यह निषेध नहीं करता है। स्त्री से यहां दीर्घान्त

स्त्री का ही ग्रहण करना। सम्बोधन में हे श्रीः। ङित् प्रत्यय में नदीसंज्ञा विकल्प से होकर दो रूप है। नदीसंज्ञा में श्रियै, नदी संज्ञा अभाव में श्रिये इत्यादि।

३०४ वाऽऽमि १।४।५।

इयङुवङ्स्थानौ स्त्र्याख्यौ यू आमि वा नदीसंज्ञौ स्तः न तु स्त्री। श्रीणाम्। श्रियाम्। श्रियि। प्रधीशब्दस्य वृत्तिकारादीनां मते लक्ष्मीवद् रूपम्। "पदान्तरं विनाऽपि स्त्रियां वर्तमानत्वं नित्यस्त्रीत्वम्" इति स्वीकारात्।

"लिङ्गान्तरानभिधायकत्वं तत्" इति कैयटमते तु पुंवद्रूपम्। प्रकृष्टा धीरिति मते तु लक्ष्मीवद्रूपम्। अमि शसि च प्रध्यम्। प्रध्यः, इति विशेषः। सुष्ठु धीर्यस्याः, सुष्ठु ध्यायति वेति विग्रहे तु वृत्तिकारमते सुधीः श्रीवत्। मतान्तरे तु पुंवत्। ग्रामनयनस्योत्सर्गतः पुंधर्मतया पदान्तरं विनाऽपि स्त्रियामप्रवृत्तेः। एवं खलपवनादेरपि पुंधर्मत्वमौत्सर्गिकं बोध्यम्। इति ईदन्ताः। धेनुर्मतिवत्।

इयङ् एवं उवङ् के स्थानी दीर्घ ईकार दीर्घ ऊकार जिनके अन्त में रहे ऐसे ईकारान्त ऊकारन्त नित्यस्त्रीलिङ्ग शब्द की आम् पर रहे तो विकल्प से नदी संज्ञा का निषेध होता है (अर्थात विकल्प से नदी संज्ञा यह साराश है) नदी पक्ष में नुट्, नदी संज्ञा के अभाव पक्ष से 'अचि श्नु' से इयङ्। नदीत्वपक्ष में आम् आट् वृद्धि इयङ् श्रियाम्। पक्ष में श्रियि। प्रकृष्टा=उत्तमा धीः=बुद्धिः= उत्तमबुद्धि अर्थ में कर्मधारय समास में लक्ष्मीवत् रूप यहां नित्यस्त्रीलिङ्ग प्रधी शब्द है। यह वृत्ति कारका मत है, वे "अन्यपद की सहायता बिना ही जो शब्द स्त्री अर्थ में विद्यमान रहे वह नित्यस्त्रीलिङ्ग है।"

किन्तु कैयट मत में प्रधी शब्द का रूप पुंलिङ्गप्रधी समान नहीं होते है यह नित्यस्त्रीलिङ्ग नहीं है। कैयट मत में अन्य लिङ्ग का अवाचक जो शब्द वही नित्यस्त्रीलिङ्ग। ऐसा प्रधी नहीं है। प्रधी शब्द तीन प्रकार का है!

१—प्रकृष्टा चासौ धीः प्रधीः। २ प्रकृष्टा धीः यस्याः प्रधीः ३ प्रकृष्ट धी=ध्यानकर्ता या कर्त्री। यहां पुंलिङ्ग भी है 'कर्ता' अर्थ में। एवं सुधी भी इसी प्रकार तीन प्रकार का है। प्रकृष्टा धीर्यस्या= स्त्रियः। यहां भी नित्यस्त्रीलिङ्ग प्रधी है, नदी संज्ञा होती है। प्रधी, प्रध्यौ, प्रध्यः। प्रध्यम्। यहां पूर्वरूप को बाधकर यणादेश 'एरनेकाचः' से हुआ। शस् में पूर्वसवर्ण दीर्घ को बाधकर यण् प्रध्यः। सुष्ठु ध्यायति, या सुष्टु धीर्यस्याः इन दोनों स्थलो में समास कर के निष्पन्न सुधी शब्द की नदी संज्ञा से श्रीवत् रूप होते हैं वृत्तिकार के मत से। सुष्टु ध्यानकर्ता अर्थ भी हो सकता है। अतः कैयट मत में पुंवत्। जमादारी करना गांव पहांचवाना यह सब कार्य स्त्री में सम्भव नहीं, अतः ग्रामणी का पुंवत् रूप है। उत्सर्गतः = स्वभावतः। इसी प्रकार खलपू आदि भी पुंलिङ्ग है। स्त्रियां में यह कार्य सम्भव नहीं है। पुंवत् रूप है। धेनु शब्द के रूप मति शब्द समान है। तुरन्त व्याही हुई गाय को धेनु कहते है।

३०५ स्त्रियाञ्च ७।१।९६।

स्त्रीवाची क्रोष्टुशब्दस्तृजन्तवद् रूपं लभते।

सियारी वाचक तुन् प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग क्रोष्टु शब्द तृज्वत् रूप को प्राप्त करता है। यह भी प्रयोग नियामक है, स्त्रीलिङ्ग में तृजन्त का ही प्रयोग करना। अन्य का नहीं।

३०६ ऋन्नेभ्यो ङीप् ४।१।५।

ऋदन्तेभ्यो नान्तेभ्यश्च स्त्रियां ङीप् स्यात्। क्रोष्ट्री। क्रोष्ट्र्यौ। क्रोष्ट्र्यः। इत्युदन्ताः। वधूर्गौरीवत्। भ्रूः श्रीवत्। हे सुभ्रूः। कथं तर्हि "हापितः कासि हे सुभ्रु?" इति भट्टिः, प्रमाद एवायमिति बहवः। खलपूः पुंवत्। पुनर्भूः। दृन्करेति यणा उवङो बाधनान्नेयङुवङिति निषेधो न। हे पुनर्भु:। पुनर्भ्वम्। पुनर्भ्वौ पुनर्भ्वः।

ऋदन्त एवं नान्त शब्द से पर ङीप् प्रत्यय स्त्रीलिङ्ग मे होता है। पूर्व सूत्र से तृज्वद्भाव इससे ङीप् (इ) यण् विभक्ति लोप क्रोष्ट्री। स्त्रीवाचक वधूशब्द का गौरी समान रूप है। भौं वाचक भ्रू का श्री शब्दसम रूप है। 'सुन्दर भौं है जिस स्त्री की' इस अर्थ में सुभ्रू की नदी संज्ञा निषेध से हस्व नहीं होता है विभक्ति के स् का रुत्वविसर्ग से सम्बोधन में 'हे सुभ्रूः' रूप होता है। भट्टिकार का 'हे सुभ्रु' यह प्रयोग असावधानी रूप प्रसाद से है, अज्ञानलक्षण प्रमाद कहना अनुचित हैं, वे महावैयाकरण रहें। अथवा अत्यधिक विरह पीडित राम के उच्चरित 'हे सुभ्रु' का ही उन्होंने अनुकरण किया, उत्कृष्ट दुःख वर्णनार्थ। हापितः में श्लेष है त्याजितः यह अर्थ है 'हे पितः' यह भी भाव है। पिता ने मुझे छोड़ दिया, हे सीते तुमने भी मुझे छोड़ दिया मैं सम्प्रति अशरण हो जाया हूं। पुनर्भूः = व्याही हुई स्त्री, औ में यण् उवङ का बाध करने से 'नेयङुवङ्‌ौ का' का विषय नहीं नदी संज्ञा सम्बोधन में हस्व होता है। हे पुनर्भु।

३०७ एकाजुत्तरपदे णः ८।४।१२।

एकाजुत्तरपदं यस्य तस्मिन् समासे पूर्वपदस्थान्निमित्तात् परस्य प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिस्थस्य नस्य नित्यं णत्वं स्यात्। आरम्भसामर्थ्यान्नित्यत्वे सिद्धे पुनर्णग्रहणं स्पष्टार्थम्। यणं बाधित्वा परत्वान्नुट्। पुनर्भूणाम्। वर्षाभूः। भेकजातौ नित्यस्त्रीत्वाभावात् हे वर्षाभूः कैयटमते। मतान्तरे तु हे वर्षाभुः। पुनर्नवायान्तु हे वर्षाभु। "भेक्यां पुनर्नवायां स्त्री वर्षाभू दर्दुरे पुमान्" इति यादवः। वर्षाभ्वश्च, वर्षाभ्वौ। वर्षाभूवः। स्वयंभू पुंवत्। इत्यूदन्ताः।

यहां बहुव्रीहि से युक्त बहुव्रीहि समास है—एकाच् में बहुव्रीहि समास। उसका अन्यपदार्थ उत्तरपद है। उत्तरपद से समास का आक्षेप कर तादृश उत्तरपद है, जिस समास में यहां अन्यपदार्थ समास है। इसका सारभूत अंश से अर्थ यह हुआ—"एक अच् युक्त जो उत्तरपद उससे युक्त समास उस पूर्वपद में रेफ या षकार रहे तो प्रातिपदिक के अन्त नकार, या नुम् का नकार, या विभक्ति का नकार उसको णकार नित्य होता है। विकल्पाधिकार की निवृत्ति से नित्यत्व इसको स्वतः सिद्ध था, पुनः नित्यग्रहण से विकल्पाधिकार की निवृत्ति ही है। इस अर्थ को विस्पष्ट = विशेषरूप से स्पष्ट करता है। अर्थात् निष्फल ही है। पुनर्भू में यण् को बाधकर षष्ठी बहुवचन में नुट् ही होता है। भेक जातिवाचक वर्षाभू नित्य स्त्रीलिङ्ग नहीं है, अतः नदीसंज्ञक नहीं। सम्बोधन में हस्व विभक्ति लोप नहीं, है वर्षाभूः। यह रूप कैयट मत में। अन्य मत में हे वर्षाभुः वर्षाभूशब्द जब भेडकी को बोधन करें, या पुनर्नवा नामक ओषधि को बोधन करें तब स्त्रीलिङ्ग है। और भेडकी को बोधन करें तब पुंलिङ्ग है यहा कोशकार यादवमहोदय का मत है।

३०८ न षट्स्वस्रादिभ्यः ४।१।१०।

षट्संज्ञकेभ्यः स्वस्रादिभ्यश्च ङीप्टापौ न स्तः।

"स्वसा तिस्रश्चतस्रश्च ननान्दा दुहिता तथा।
याता मातेति सप्तैते स्वस्रादय उदाहृताः"॥

अप्तृन्निति दीर्घः। स्वसा। स्वसारौ। स्वसारः। माता पितृवत्। शसि मातॄः। इत्यृदन्ताः। द्यौर्गोवत्। इत्योदन्ताः। राः पुंवत्। इत्यैदन्ताः। नौ ग्लौवत्। इत्यौदन्ताः।

इत्यजन्ताः स्त्रीलिङ्गाः।

षट् संज्ञक शब्द से एवं स्वसृ आदि शब्दों से ङीप् एवं टाप् नहीं होता है।

स्वसृ तिसृ चतसृ ननान्दृ दुहितृ यातृ मातृ यह सात स्वस्रादि शब्द है। कैयटाचार्य कहते है तिसृ चतसृ का ङीप् निषेधार्थ यहां पाठ नहीं करना चाहिए, क्यों कि इन दोनो से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् होने पर 'न तिसृचतसृ' सूत्र ही व्यर्थ हो जायगा अतः ङीप् इन दोनो से नहीं होता है। स्वसृ स् अनङ् दीर्घः नलोप विभक्ति लोप से स्वसा। ऋकारान्त स्त्रीवाचक होने से स्वसृ के ऋकार को ऋन्नेभ्यो ङीप् से ङीप् प्राप्त था उसका निषेध हुआ। शस् में मातॄः। अन्य पितृसमान मातृ के रूप है। स्वर्गवाचक द्यो का गोवत् रूप है।

सम्पत्ति वाचक रै का रूप पुंलिङ्ग समान है। नौ के ग्लौ के सदृश है।

सु अस् ऋत = सुपूर्वक क्षेपणार्थक अस् धातु से ऋत यण् स्वसृ = भाई पर अच्छी तरह प्रेम रखने वाली बहन। ननान्दृ शब्द—पति की बहन = ननद भाई की स्त्री पर प्रसन्न न रहने वाली। दुहिता = कन्या यस्काचार्य ने निरुक्त में लिखा है कन्या को दूर रहने पर ही हित है यहां कन्या विवाहित कन्या का ग्रहण है—'दूरे हिता दुहिता' यह व्युतपत्ति उन्होंने की है। भाइओं की स्त्रियों का 'यातरः' कहते है। प्रयत्नार्थकयत धातु से ऋन् प्रत्यय एवं वृद्धि 'यातृ' बना है, पूजार्थक मान् से तृच् नलोप से मातृ सिद्ध हुआ।

श्री बा० कृ० पञ्चोलिविरचित रत्नप्रभा में अजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरण समाप्त

अथाजन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम् ९

३०९ अतोऽम् ७।१।२४।

अतोऽङ्गात् क्लीबात्स्वमोरम् स्यात्। अमि पूर्वः। ज्ञानम्। एङ्ह्रस्वादिति हल्मात्रलोपः।

नपुंसक लिङ्गार्थक ह्रस्व अकारान्त शब्द से पर सु एवं अम् को अम् आदेश होता है। अवबोधनार्थक ज्ञा धातु से भाव में ल्युट् (यु) प्रत्यय है, यु को अनादेश से ज्ञान की सिद्धि है। ज्ञान से अज्ञान का दूरीकरण होता है। कृदन्त नदादि होने से प्रातिपदिक संज्ञा ज्ञान की हुई, सु को अमादेश हुआ। 'स्वमो र्नपुंसकात्' का बाधक यह अम् है। अमि पूर्व से पूर्वरूप—ज्ञानम्। सम्बोधन में मकार का 'एङ्ह्रस्वात्' से लोप हुआ हे ज्ञान। लुक् न हो एतदर्थ अम् को अम् विधान किया है।

३१० नपुंसकाच्च ७।१।१९।

क्लीबात् परस्यौङः शी स्यात्। भसंज्ञायाम्।

नपुंसक लिङ्गार्थक शब्द से पर औङ् (औ) को शी आदेश होता है। नञ् उपपद 'स्त्रीपुंस' को पुंसक आदेश निपातन से होता है एवं नञ्तत्पुरुष में नकार का लोपाभाव होता है। स्त्री एवं पुरुष नहीं उसको नपुंसक कहते हैं। ज्ञान शी, शकार की इत्संज्ञा, ज्ञान ई यहां यचि भम् से भसंज्ञा प्रकृति की हुई है। वर्णसंज्ञा पक्ष भी भसंज्ञा में है।

३११ यस्येति च ६।४।१४८।

भस्येवर्णावर्णयो र्लोपः स्यादीकारे तद्धिते च परे। इत्यकारलोपे प्राप्ते। ॐ औङः श्यां प्रतिषेधो वाच्यः ॐ। ज्ञाने।

भसंज्ञक इकार एवं अकार का लोप होता है ईकार या तद्धित पर रहते। इससे लोपप्राप्त हुआ किन्तु ओकार के स्थान में शी आदेश रहे वहां इस सूत्र से लोप नहीं होता है। गुण से 'ज्ञाने' सिद्ध हुआ। यस्य में 'य' समाहारद्वन्द्व समास युक्त है—इश्च अश्च इति यम् तस्य यस्य। नस्तद्धिते से तद्धित का सम्बन्ध है यहां।

३१२ जश्शसोः शि ७।१।२०।

क्लीबादनयोः शिः स्यात्।

नपुंसक शब्द से पर जस् या शस् को शि आदेश होता है। यहां जस् साहचर्यसे शस् भी सुप् लेना। 'कुण्डशः' यह तद्धित शस् का ग्रहण नहीं है।

३१३ शि सर्वनामस्थानम् १।१।४२।

इस शि की सर्वनामस्थान संज्ञा होती है। सुट् प्रत्याहार की सर्वनामस्थानसंज्ञा विधायक सूत्र में 'अनपुंसकस्य' कहा है। अतः अप्राप्तसंज्ञा का विधानार्थ यह सूत्र किया।

३१४ नपुंसकस्य झलचः ७।१।७२।

झलन्तस्याजन्तस्य च क्लीबस्य नुमागमः स्यात् सर्वनामस्थाने परे। उपधादीर्घः। ज्ञानानि। पुनस्तद्वत्। शेषं रामवत्। एवं धनवनफलादयः

नपुंसक में विद्यमान झलन्ताङ्ग या अजन्तान्ताङ्ग उसको नुम् आगम होता है सर्वनामस्थान पर में रहते। ज्ञान जस् (अस्) शि आदेश, उसकी सर्वनामस्थान संज्ञा, नुम् आगम अन्त्य अच् के बाद अजन्त अङ्ग का अवयव है। सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ, से उपधादीर्घ कर ज्ञानानि प्रथमा के समान ही द्वितीया में रूप है—ज्ञानम् ज्ञाने ज्ञानानि। तृतीया से सप्तमी तक राम समान रूप है। इस प्रकार धन आदि शब्दों के रूप जानने चाहिए।

३१५ अद्ड्डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः ७।१।२५।

एभ्यः क्लीबेभ्यः स्वमोरद्डादेशः स्यात्।

डतरप्रत्ययान्त, डतमप्रत्ययान्त, एवं अन्य, अन्यतर, इतर नपुंसक में विद्यमान रहे तो उससे पर सु या अम् उसके स्थान में अद्ड् आदेश होता है। आदेश में हलन्त्यम् से डकार की इत्संज्ञा एवं लोप है। डित्त्व सम्पादनार्थ डकार किया है।

३१६ टेः ६।४।१४३।

डिति परे भस्य टेर्लोपः स्यात्। वाऽवसाने। कतरत्। कतरद्। कतरे। कतराणि। भस्येति किम्—पञ्चमः। टेर्लुप्तत्वात्प्रथमयोरिति पूर्वसवर्णदीर्घः, एङ्ह्रस्वादिति सम्बुद्धिलोपश्च न भवति। हे कतरत्। पुनस्तद्वत्। शेषं पुंवत्। कतमत्। अन्यतरत्। इतरत्। अन्यतमशब्दस्य तु अन्यतममित्येव। ॐ एकतरात्प्रतिषेधो वाच्यः ॐ। एकतरम्। सोरमादेशे कृते सन्निपातपरिभाषया न जरस्। अजरम्। अजरसी। अजरे। परत्वाज्जरसि कृते झलन्तत्वान्नुम्।

डकार है इत्संज्ञक जिसका ऐसा प्रत्यय पर रहते भसंज्ञक अङ्ग की टि का लोप होता है। किम् से डतरच्, टि लोप से कतर से सु (स्) उसको अद्ड् आदेश डित्त्वात् टिलोप कतरद् यहां वाऽवसाने से वैकल्पिक चर् से कतरत्। कतर औ शी आदेश गुण कतरे। कतर जस् शि आदेश, सर्वनामस्थानसंज्ञा नुम्, दीर्घ णकार से कतराणि। सूत्र में 'भस्य' का अधिकार है, अतः पञ्चम में भसंज्ञा नहीं लोप अकार का न हुआ।

पञ्चन् शब्द सुबन्त से पूरणार्थ डट् प्रत्यय (अ) उसको मुट् (म्) आगम 'म' परक पञ्चन् की स्वादिषु पदसंज्ञा न लोपः से नकार लोप पञ्चमः—पाँचवा पुरुष। 'अद्' आदेश डित् है अतः तन्निमित्त से नकारलोप कतर के रेफोत्तर अकार जो टि संज्ञक है, उसका लोप से रेफान्त है अतः अत् पर में रहते पूर्वसवर्ण दीर्घ अप्राप्त है। 'कतरत्' सम्बोधन में ह्रस्वान्त अङ्ग नहीं सम्बुद्धिलोप न हुआ है कतरत्। अव्युत्पन्न अन्यतम से पर सु को अमादेश पूर्वरूप। * एकतर शब्द से पर सु एवं अम् को अद्ड् आदेश नहीं होता है। एकतरम्। नास्ति जरा यस्य तत् = जिसको जरा नहीं है ऐसा देवकुल है। अजर से स् उसको अमादेश कर जरसादेश न हुआ सन्निपातपरिभाषा के विरोध से। यहां अजरम्। अजरसी, 'अजर अस्' यहां एक ही समय शि आदेश एवं जरस् आदेश प्राप्त है, पर जरस् कर पश्चात् शिभाव कर झलन्त मान कर नुम् अजर न् स् इ।

३१७ सान्तमहतः संयोगस्य ६।४।१०।

सान्तसंयोगस्य महतश्च यो नकारस्तस्योपधाया दीर्घः स्याद् असम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने परे। अजरांसि। अजराणि। अमि लुकोऽपवादमम्भावं बाधित्वा

परत्वाज्जरस् । ततः सन्निपातपरिभाषया न लुक् । अजरसम् । अजरम् । अजरसी अजरे । अजरांसि । अजराणि । शेषं पुंवत् । पद्दन्निति हृदयोदकास्यानां हृद् उदन् आसन् । हृन्दि । हृदा । हृद्भ्यामित्यादि । उदानि । उद्ना । उदभ्यामित्यादि । आसानि । आस्ना । आसभ्यामित्यादि । मांसि । मांसा । मान्भ्यामित्यादि । वस्तुतस्तु प्रभृतिग्रहणं प्रकारार्थमित्युक्तम् । अत एव भाष्ये—मांस्पचन्या उखाया इत्युदाहृतम् । अयस्मयादित्वेन भत्वात् संयोगान्तलोपो न । 'पद्दन्' इत्यत्र छन्दसीत्यनुवर्तितं वृत्तौ तथाऽप्यपो भिरित्यत्र मासश्छन्दसीति वार्तिके छन्दोग्रहणसामर्थ्याल्लोकेऽपि क्वचिदिति कैयटोक्तरीत्या प्रयोगमनुसृत्य पदादयः प्रयोक्तव्या इति बोध्यम् ।

सान्त संयोग एवं महत् शब्द का जो नकार उसकी उपधा का दीर्घ होता है सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान संज्ञक प्रत्यय पर रहते। "अजर न् स् इ" यहां न् स् की संयोगसंज्ञा है, उसके पूर्व अकार का दीर्घ हुआ, नकार का 'नश्चापदान्तस्य' से अनुस्वार अजरांसि । जरस् के अभाव में अजराणि । 'अजर अम्' लुक् को बाध कर अम् को अम् प्राप्त है उसको पर होने से जरस् ने अमादेश को बाध किया, अब सन्निपातपरिभाषा से लुक् न हुआ । अजरसम् । पक्ष में अजरम् । हृदय को हृद् आदेश होता है। जस् में हृन्दि। हृदा आदि पक्ष में ज्ञानवत्। उदक को उदन् आदेश से उदानि, उदकानि । आस्य को आसन् आदेश से आसानि, आस्यानि आदि। मांस को मांस् आदेश से मांसि, मांसानि मांस भ्याम् यहां मांस् आदेश, पदसंज्ञा संयोगान्तस्य से सकार का लोप लुप्त सकार की स्थिति समय सकार को मान कर न् का अनुस्वार था वह निमित्त के नाश से झल् सकार को मान कर जो अनुस्वार था वह मूल स्थिति में (नकार स्थिति) आया मान्भ्याम् । निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः" यह परिभाषा है ।

यहां उदाहरण जो 'पद्दन्' सूत्र के दिये गये हैं वे सब शस् से सुप् तक दिये गये हैं । किन्तु प्रथम कह चुके हैं कि वहां प्रभृति शब्द सादृश्यार्थक है, सादृश्य सुप्त्वेन लेकर कोई भी सु से सुप् तक विभक्ति पर रहे शिष्ट प्रयोगानुसारी व्याख्यान से सर्वत्र पदादि आदेश करना, अत एव पूर्व में शसादि रहित में भी पदादि आदेश के उदाहरण दे चुके हैं । सादृश्य पूर्व में सुप्त्वेन लिया, वैसा यहां शब्दत्वेन भी सादृश्य ले सकते हैं अर्थात् कोई शब्द पर रहे वहां भी पादादि को पदादि आदेश होते हैं । भाष्य में मांस को पकाने वाला बरतन (बटुली) अर्थ में षष्ठीतत्पुरुष कर विभक्ति पर में नहीं है तो भी पचनी शब्द पर रहते (शब्दत्वेन सादृश्य से) मांस को मांस् हलन्त आदेश हुआ । मांस्पचन्या उखायाः । इति यहां अनुस्वार को नकार मान कर 'न् स्' का संयोग है, तो भी संयोगान्त लोप क्यों न हुआ ?, अयस्मयादि मान कर भसंज्ञा से पदसंज्ञा का बाध है भान्त सकार है, पदान्त नहीं है अतः लोप का अभाव है । 'पद्दन्' सूत्र में माधवाचार्य ने पूर्व सूत्र से 'छन्दसि' की अनुवृत्ति की है, इससे पादादि को पदादि आदेश वेद में ही होगें, मांस को मांस् आदेश वेदमन्त्र में ही होगा। अन्यत्र नहीं तब 'अपो भिः' सूत्र पर मांस् के सकार को तकारादेश भादि प्रत्यय पर में करने के लिए 'मासश्छन्दसि' में छन्दसि ग्रहण न करने पर भी हलन्त मास् छन्द में ही मिलेगा लोक में नहीं पुनः वार्तिक में छन्दसि ग्रहण व्यर्थ होकर सामान्य ज्ञापन करता है कि लोक में भी पदादि आदेश होते हैं । तब उस वार्तिक में लौकिक प्रयोगनिवृत्त्यर्थ छन्दसि स्वांश में चरितार्थ हुआ । इससे इष्टानुरोध से पदादि आदेशघटित प्रयोग करने चाहिए यह कैयटमत आदरणीय है ।

३१८ ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य १।२।४७।

क्लीबे प्रातिपदिकस्याजन्तस्य ह्रस्वः स्यात्। श्रीपं ज्ञानवत्। श्रीपाय। अत्र सन्निपातपरिभाषया आतो धातोरित्याकारलोपो न।

नपुंसक में विद्यमान अजन्त प्रातिपदिक का ह्रस्व होता है। लक्ष्मी की रक्षा करने वाला कुल अर्थ में श्रीकर्म उपपद में रहते पा से कप्रत्यय उपपद समास श्रीपा सु, अमादेश आकार का अकार ह्रस्व, अमि पूर्वः से पूर्वरूप श्रीपम् = कुलम्। श्रीप ए, एकार को यादेश, सुपि च से दीर्घ श्रीपाय यहां आकार स्थानिवद्भाव से धातु का अवयव है अतः 'आतो धातोः' से आकार लोप प्राप्त है किन्तु सन्निपात परिभाषा से लोप न हुआ।

३१९ स्वमोर्नपुंसकात् ७।१।२३।

क्लीबादङ्गात् स्वमोर्लुक् स्यात्। वारि।

नपुंसक में विद्यमान अङ्ग से पर सु एवं अम् का लुक् होता है। उष्णता का निवारक द्रव्य वारि = जलम्। सु का लुक् = अदर्शन हुआ। वारि।

३२० इकोऽचि विभक्तौ ७।१।७२।

इगन्ताङ्गस्य क्लीबस्य नुमागमः स्यादचि विभक्तौ। वारिणी। वारीणि। न लुमतेति निषेधस्यानित्यत्वात्पक्षे सम्बुद्धिनिमित्तो गुणः। हे वारे। हे वारि। आङो ना—वारिणा। घेर्ङितीति गुणे प्राप्ते। ॐ वृद्ध्यौत्वतृज्वद्भावगुणेभ्यो नुम् पूर्वविप्रतिषेधेन ॐ। वारिणे। वारिणः। वारिणोः। नुमचि र इति नुट्। नामीति दीर्घः वारीणाम्। वारिणि। वारिणोः। हलादौ हरिवत्।

अजादि विभक्ति से पूर्व इगन्त नपुंसक अङ्ग को नुम् आगम होता है। वारि औ, शी आदेश, शकार की इत्संज्ञा लोप, नुम् वारिणी। बहुवचन में जस् को शी नुम् दीर्घ वारीणि। सम्बोधन में विभक्ति लुक् का प्रत्यय लक्षण से सम्बुद्धि परत्व रूप आहार्य्य ज्ञान करके 'ह्रस्वस्य गुणः' से गुण कर 'हे वारे' न लुमताऽङ्गस्य यह निषेध अनित्य है, उस पक्ष में पूर्वरूप। अनित्य नहीं है प्रत्यय लक्षण का प्रतिषेध होता है, इस पक्ष में हे वारि, इस प्रकार दो रूप हुए। अनित्य में प्रमाण विवेचन विस्तृत पूर्व में कह चुके हैं। स्मरणार्थ—"इकोऽचि विभक्तौ" में अच् ग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि 'न लुमता' सूत्र अनित्य है। वारि आ नाभाव णत्व से वारिणा। 'वारि ए' यहां घिसंज्ञा से गुण प्राप्त है, किन्तु वह नहीं होता है।

वृद्धि, औत्व, तृज्वद्भाव एवं गुण इनको बाध कर पूर्वविप्रतिषेध से नुम् होता है। यह वार्तिक 'तृज्वत्' सूत्र पर पठित है, इसमें प्रथम गुण पद है, गुण वृद्धि आदि। गुण का अवकाश—अग्नये है, नुम् का अवकाश—त्रपुणी है, त्रपुणे वहां दोनों प्राप्त है। वृद्धि का अवकाश—सखायौ, नुम् का अवकाश त्रपुणी है। यहां उभय प्राप्त है—अतिसखीनि। औत्व का अवकाश वायौ में है, नुम् का अवकाश वही है। त्रपुणि यहां उभय प्राप्त है। तृज्वद्भाव का अवकाश क्रोष्टा है, नुम् का पूर्वोक्त ही। यहां उभय प्राप्त है—क्रोष्टुने अरण्याय। इन सब स्थलों में पूर्वविप्रतिषेध से नुम् हुआ। चतुर्थी पञ्चमी षष्ठी के एकवचन में नुम् ही हुआ। षष्ठी के बहुवचष में नुम् को बाध कर नुट् दीर्घ णत्व वारीणाम्। ओस् में भी नुम्। हलादि में हरिसदृश रूप इसके हैं

३२१ तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद्गालवस्य ७।१।७४।

प्रवृत्तिनिमित्तैक्ये भाषितपुंस्कमिगन्तं क्लीबं पुंवद् वा स्याट्टादावचि। अनादृये। अनादिने इत्यादि। शेषं वारिवत्। पीलुर्वृक्षस्तत्फलं पीलु तस्मै पीलुने। अत्र न पुंवत्, प्रवृत्तिनिमित्तभेदात्।

यहां भाषितपुंस्कशब्द का अर्थ ज्ञान अत्यावश्यक है।

"भाषितः पुमान् यस्मिन् प्रवृत्तिनिमित्तरूपेऽर्थे" यहां बहुव्रीहि समास है, अन्य पदार्थ प्रधान बहुव्रीहि होता है यहां अन्य पदार्थ = प्रवृत्तिनिमित्तरूप है, शब्द नहीं है। भाषण क्रिया में करण शब्द है, शब्द से ही कथन होता है, क्रिया से शब्द का आक्षेप हुआ, आक्षिप्त शब्द रूप ही अर्थ है वह शब्द नपुंसक से समान वर्णमाला युक्त एवं समानार्थक का ग्रहण करना चाहिए, भाषितपुंस्क का तुल्य प्रवृत्तिनिमित्त अर्थ है। हमको तुल्य प्रवृत्तिनिमित्त वाला शब्द रूप अर्थ की अपेक्षा है, अतः भाषितपुंस्क शब्द से मत्वर्थीय 'अर्श आदिभ्यः' से अच् प्रत्यय हुआ, उससे पूर्व अर्थ का लाभ हुआ। प्रवृत्तिनिमित्त धर्म को कहते हैं। पुंवाचक शब्द आधेय है, उसका प्रवृत्तिनिमित्त आधार है। पुंवाचक शब्द किस सम्बन्ध से प्रवृत्तिनिमित्त पर रहता है यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है—अतः शब्द वाच्यत्व सम्बन्ध से प्रवृत्तिनिमित्त पर है। अच् प्रत्ययान्त प्रवृत्तिनिमित्त युक्त शब्द हुआ। प्रवृत्तिनिमित्त स्वरूप सम्बन्ध से या समवाय सम्बन्ध से अर्थ में ही रहेगा, शब्द में नहीं इस शङ्का की निवृत्ति अपेक्षित है। वाचकता सम्बन्ध से प्रवृत्तिनिमित्त का आश्रय शब्द रूप अर्थ है। सारांश यह सिद्ध हुआ कि जो प्रवृत्तिनिमित्त पुंस्त्व का अन्वयितावृत्ति धर्म है, वही जहां नपुंसक का अन्वयितावच्छेदक रहे वहां भाषितपुंस्क व्यवहार होता है।

वृक्षवाचक पीलु शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त धर्म = वृक्षत्व व्याप्य पीलुत्व है, वही पीलु शब्द फल को बोधन करने पर उसका प्रवृत्तिनिमित्त = फलत्वव्याप्यपीलुत्व है। पुंवाचक का प्रवृत्तिनिमित्त भिन्न, एवं नपुंसक फलवाचक का भिन्न है। समानानुपूर्वीक है, समानार्थक नहीं अतः यहां पुंवद्भाव नहीं होता है। सुलु, प्रधी में शोभनलवनकर्तृत्व, प्रकृष्टबुद्धियुक्तत्व रूप प्रवृत्तिनिमित्त पुंवाचक, नपुंसक वाचक का समान है, भिन्न नहीं है वहां पुंवद् शब्द है।

प्रवृत्तिनिमित्तशब्दार्थः—शब्द का स्वयं शक्ति रूप वृत्ति से वाच्य रहे, शब्द वाच्य अर्थ में रहे, एवं शब्द वाच्य अर्थ में विशेषणता से जिसकी उपस्थिति रहे, उसको प्रवृत्तिनिमित्त कहते हैं। यथा—घटत्व, पटत्व, शोभनलवनकर्तृत्व, अनादित्व ये सब धर्म प्रवृत्तिनिमित्त है। उसी प्रकार १—वृक्षत्वव्याप्यपीलुत्व। २—फलत्वव्याप्यपीलुत्व भी प्रवृत्तिनिमित्त है। धर्म = प्रवृत्तिनिमित्त दोनों पर्य्यायवाचक = समानार्थक शब्द है। घट शब्द का घटत्व वाच्य है, वाच्य अर्थ घड़ा उसमें घटत्व रहता है, एवं घट शब्द निष्ठ अभिधा = शक्ति से घटत्व की उपस्थिति प्रकारतया = विशेषणता से होने से उपस्थितीय प्रकारता का = विशेषणता का घटत्व आश्रय है। अतः घटत्व प्रवृत्तिनिमित्त हुआ, 'घटः' कहने से घटत्वाश्रय की ही उपस्थिति होती है, इसी प्रकार सर्वत्र ज्ञान करना चाहिए। वाच्यत्वे सति वाच्यार्थवृत्तित्वे सति वाच्योपस्थितीयप्रकारताश्रयत्वम् = प्रवृत्तिनिमित्तत्वम्।

(सूत्रार्थ) एक धर्म युक्त धर्मी शब्द पुंलिङ्ग में एवं नपुंसक में समान रहे उसको भाषितपुंस्क कहते हैं, शब्द का प्रयोग करने के निमित्त कहने से उसकी शक्ति समझनी चाहिए। वह यह है कि जो उसका एक ही अर्थ हो, भाषितपुंस्क इक् अन्त में रहे ऐसा शब्द पुंवाचक के समान विकल्प से होता है, तृतीयादि अजादि विभक्ति पर रहते।

(अथवा) एकार्थक एकानुपूर्वीक समान धर्मयुक्त पुंवाचक होते हुए नपुंसकार्थक भी रहे उस इगन्त प्रातिपदिक अङ्गयुक्त शब्द विकल्प से पुंवाचक होता है अजादि तृतीयादि विभक्ति पर रहते। न विद्यते आदिर्यस्य तत् अनादि शब्दार्थ = आदि रहित है, धर्म आदिराहित्य है। पुंवाचक, एवं नपुंसक वाचक में समान है पुंवद्भाव पक्ष में हरिवत् घिसंज्ञा एवं रूप है।=अनादये। पक्ष में नपुंसक है वहां नुम् अनादिने। शेष वारि तुल्य रूप। पीलु शब्द वृक्षार्थक एवं फलार्थक है यहां प्रवृत्तिनिमित्त धर्म भिन्न भिन्न है वृक्षार्थक का प्रवृत्तिनिमित्त धर्म १—वृक्षत्वव्याप्यपीलुत्व है, सकलवृक्ष में रहने वाला वृक्षत्व व्यापक धर्म है, उसका अवान्तरव्याप्य धर्म पीलत्व है मिलकर एक धर्म पूर्वोक्त हुआ। २—फलत्व सामान्य = व्यापक धर्म है, उसका व्याप्य पीलुत्व मिलकर फलत्वव्याप्यपीलुत्व नपुंसक पीलु का धर्म है यहां पुंवद्भाव न हुआ, एक रूप दोनों का रूप नहीं। वारिवत् रूप इसके हैं—'पीलुने' आदि।

३२२ अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः ७।१।७५।

एषामनङ् स्याट्टादावचि स चोदात्तः। अल्लोपोऽनः। दध्ना। दध्ने। दध्नः। दध्नोः। दध्नोः। दध्नि। दधनि। शेषं वारिवत्। एवम् अस्थिसक्थ्यक्षीणि। तदन्तस्याप्यनङ्। अतिदध्ना। सुधि। सुधिनी। सुधीनि। हे सुधे। हे सुधि। सुधिया। सुधिना। प्रध्या। प्रधिना। मधु। मधुनी। मधूनि। हे मधो। हे मधु। एवम् अम्ब्वादयः। सानुशब्दस्य स्नुर्वा। स्नूनि। सानूनि। प्रियक्रोष्टु। प्रियक्रोष्टुनी। तृजवद्भावात् पूर्वविप्रतिषेधेन नुम्। प्रियक्रोष्टूनि। टादौ पुंवत्पक्षे प्रियक्रोष्ट्रा। प्रियक्रोष्टुना। प्रियक्रोष्ट्रे प्रियक्रोष्टवे अन्यत्र तृज्वद्भावात् पूर्वविप्रतिषेधेन नुमेव प्रियक्रोष्टुना। प्रियक्रोष्टुने। नुम् अचि रेति नुट्, प्रियक्रोष्टूनाम्। सुलु। सुलुनी। सुलूनि। पुनस्तद्वत्। सुल्वा। सुलुना। धातृ। धातृणी धातृणि। हे धातः हे धातृ। धात्रा। धातृणा। एवं ज्ञातृ-कर्त्रादयः।

नपुंसकार्थ अस्थि-दधि-सक्थि-अक्षि वे है अन्त में जिसके वैसो जो अङ्ग, उसके अन्त्यवर्ण को अनङ् आदेश होता है तृतीयादि अजादि विभक्ति पर रहते। यहां नपुंसक श्रूयमाण अस्थि आदि का ही विशेषण है, अङ्ग का नहीं है, इसमें "प्रियदध्ना ब्राह्मणेन" यह भाष्य प्रयोग ही प्रमाण है। यहां अङ्ग पुंवाचक है तो भी दधिशब्द नपुंसकार्थ है अनङ् हुआ। दधि आ = दधन् आ, भसंज्ञा, 'अल्लोपोऽनः' से अकारलोप दध्ना, आदि रूप। इसी प्रकार अस्थि आदि में अनङा-देश से रूप समझना चाहिये। अतिदधि में अनङ् अतिदध्ना।

यहां तदन्त विधि है-अङ्ग विशेष्य है गृह्यमाण विशेषण है तदन्तविधिः। "ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति" 'पूर्वात्सपूर्वादिनिः' इस एक योग से पृथक् योगविभाग से ज्ञापित वह परिभाषा यहां आदेश विधान में नहीं लगती है, ज्ञापकसाजात्य से वह प्रत्ययविधीयमान रहे उसका उद्देश्य प्रातिपदिक शब्द रहे वहां लगती है = अर्थात् प्रत्ययविधिविषया वह है। सुधि में 'ह्रस्वो नपुंसके' से ह्रस्व हुआ है। तृतीयादि अजादि में पुंवद्भाव से सुधिया, इयङ पक्ष में, सुधिना, नुम्। इसी प्रकार प्रधी में ह्रस्व, नुम् पुंवद्भाव जानना। प्रध्या, प्रधिना 'न लुमता' अनित्य पक्ष में प्रत्ययलक्षण से 'ह्रस्वस्य गुणः' से गुण हे मधो, नित्यपक्ष में हे मधु। स्नु आदेश विकल्प से, स्नु पक्ष में स्नूनि। पक्ष में सानूनि 'मांसपृतनासानूनाम्' वार्तिक से। पर्वत की चोटी को सानु कहते हैं। बहुव्रीहि समास से प्रियक्रोष्टुः। जस् में तृज्वद् भाव को बाधकर नुम् पूर्वविप्रतिषेध से हुआ है। तृतीया

में अजादि में दो रूप—पुंवद्भाव, एवं उसका अभाव में यण् एवं नुम्। प्रियक्रोष्ट्रा, प्रियक्रोष्टुना आदि। षष्ठी के बहुवचन में नुट् दीर्घ ही, नुम् नहीं, 'नुम् अचि रेति से नुट्। सुलु के तृ० अ० में दो रूप हैं। धातृ, के सम्बोधन में दो रूप हैं, अनित्यप्रत्यय लक्षण एवं निषेध पक्ष में हे धातः। पक्ष में हे धातृ। इसी प्रकार ज्ञातृ कर्तृ आदि के रूप जानना चाहिए। विस्तीर्ण है आकाश जिसमें सो प्रद्यो शब्द है, नपुंसक में ह्रस्व से प्रद्यु रूप होता है।

२२३ एच इग्घ्रस्वादेशे १।१।४८।

आदिश्यमानेषु ह्रस्वेषु एच इगेव स्यात्। प्रद्यु। प्रद्युनी। प्रद्यूनि। प्रद्युनेत्यादि। इह न पुंवत्। यदिगन्तं प्रद्यु इति तस्य भाषितपुंस्कत्वाभावात्। एवमग्रेऽपि। प्ररि। प्ररिणी। प्ररीणि। प्ररिणा। एकदेशविकृतस्यानन्यत्वाद् रायो हलीति आत्वम्। प्रराभ्याम्। प्रराभिः। नुम् अचि रेति नुट्यात्वे 'प्रराणाम्' इति माधवः। वस्तुतस्तु सन्निपातपरिभाषया नुट्यात्वं न। नामीति दीर्घस्त्वारम्भसामर्थ्यात्परिभाषां बाधत इत्युक्तम्। प्ररीणाम्। सुनु। सुनुनी। सुनूनि। सुनुना सुनुने। इत्यादि।

इत्यजन्ता नपुंसकलिङ्गाः।

यह सूत्र ह्रस्व का विधायक नहीं है किन्तु 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' सूत्र से इक् एवं इक् भिन्न ह्रस्व प्राप्त था, उसका नियामक है कि एच् का इक् ही ह्रस्व करना चाहिये इक्भिन्न नहीं ह्रस्व करना। तात्पर्य यह है कि एच् प्रत्याहार में 'ए ओ ऐ औ' चार वर्ण है उनमें ए ऐ में पूर्व भाग अवर्ण सदृश है, उत्तर भाग इकार सदृश है। ओ औ में पूर्व भाग अकार सदृश है, उत्तर भाग उकार सदृश है। उभयांश सदृश कोई ह्रस्व प्राप्त नहीं है अतः भाग रूप अंशकृत आन्तरतम्य से प्राप्त अकार रूप ह्रस्व की निवृत्ति मात्र ही इसका प्रयोजन है, अर्थात् उत्तरांशकृत आन्तरतन्य = सादृश्य से इ, उ, इ उ ही क्रमशः ह्रस्व ए ओ ऐ ओ के होते हैं। प्रद्यो के ओकार का उकार ह्रस्व हुआ वि० सकार का लोप प्रद्यु, आदि रूप हुए। प्रद्यु टा आदि अजादि विभक्तियों में पुंवद्भाव नहीं होता है, कारण यह है कि पुंलिङ्ग में 'प्रद्यो' ओकारन्त ही है नपुंसक में उकारान्त प्रद्यु है, दोनों में समान ही आनुपूर्वी नहीं है, एवं उकारन्त प्रद्यु शब्द ने पुंस्त्व रूप अर्थ को कहा नहीं है। ओकारान्त शब्द समाप्त हुए।

प्रै में ह्रस्व से प्ररि बना प्ररिभ्याम् यहां 'रि' में रैबुद्धि 'एकदेशविकृतम्' न्याय से 'रायो हलि से आत्व कर 'प्रराभ्याम्'। प्ररि आम् में 'नुम् अचि रेति' नुट् कर हलादि नाम् निमित्तक आत्व से प्रराणाम् रूप माधवाचार्य कहते हैं। श्रीमाधव के मत में सन्निपात परिभाषा अनित्य से उसकी यहां प्रवृत्ति नहीं है। अन्य आचार्य मत से सन्निपात परिभाषा को यहां नित्य मानकर आत्व नहीं होता है। नामि से दीर्घ कर णत्व से प्ररीणाम् कहते हैं। नामि सूत्र विषय में सन्निपात परिभाषा सूत्र वैयर्थ्य से नहीं प्रवृत्त होती है यह प्रथम कह चुके हैं स्मरणार्थ यहां उसी को कहते हैं। ऐकारान्त शब्द समाप्त हुए। औकारान्त सुनौ है, ह्रस्व से सुनु बनता है। 'सुष्टु नौः यस्मिन् तत्'। अच्छी नौका है जिसमें। हे सुनो। हे सुनु। सुनुनी। सुनूनि। सुनुना। सुनुने। मधुवत् रूप।

श्री बा० कृ० पञ्चोलिविरचित सविमर्श रत्नप्रभा में अजन्त नपुंसकलिङ्ग प्रकरण समाप्त

अथ हलन्तपुँल्लिङ्गप्रकरणम् १०

३२४ हो ढः ८।२।३१।

हस्य ढः स्याज्झलि पदान्ते च। हल्ङ्याबिति सुलोपः। पदान्तत्वाद् घस्य ढः। जश्त्वचर्त्वे। लिट्। लिड्। लिहौ। लिहः। लिहम्। लिहौ। लिहः। लिहा। लिड्भ्याम्। लिट्त्सु। लिट्सु।

चाटने वाला इस अर्थ में लिह् क्विप्, सर्वापहारीलोप, प्रत्यय लक्षण से कृदन्त तदादि होने से प्रातिपदिकसंज्ञा लिह स् यहां—'सुप्तिङन्तं पदम्' से पदसंज्ञा, स् लोप के अनन्तर पदान्त हकार को ढकार होता है एवं झल् पर में रहते हकार को ढकार होता है। लिढ् 'झलां जशोऽन्ते' से डकार, 'वाऽवसाने' से विकल्प टकार हुआ—लिट्। लिड्। औ में लिहौ।

भ्याम् ३ भिस्, भ्यस् २ सुप् यहां प्रकृति की पदसंज्ञा 'स्वादिषु' सूत्र से होती है वहां ढकार को जश्त्व से डकार होता है, लिड्भ्याम् आदि, लिड् सु यहां 'डः सि धुट्' से धुट् आगम, खरि च से धकार को तकार पुनः खरि च से डकार को टकार लिट्त्सु। पक्ष में लिट् सु दो रूप धुट् विकल्प के कारण हुए। पदचरमावयव हकार को ढकार यही उचित अर्थ है, एवं झलि परक हकार को ढकार होता है।

३२५ दादेर्धातोर्घः ८।२।३२।

उपदेशे दादेर्धातोर्हस्य घः स्यात् झलि पदान्ते च। उपदेशे किम्। अधोगित्यत्र यथा स्यात्। दामलिहमात्मानमिच्छति दामलिह्यति, ततः क्विपि दामलिट्, अत्र मा भूत्।

धातु पाठ में उपदेश में दकार है आदि में जिनको ऐसे धातुओं के पदान्त हकार को एवं झल् परक हकार को घकारादेश होता है।

विमर्श—इस सूत्र में 'दादेः' का दादिपद "उपदेशावस्था में दकार है आदि में जिनको" इस अर्थ को लक्षणावृत्ति से बोधन करता है। इसमें प्रमाण इस सूत्र का भाष्य ही है। उपदेश न कहते तो 'अधोक्' में अडागम से आदि अकार है—अदुह् त यहां हकार को घकार न होता, सम्प्रति दादि नहीं है, उपदेशावस्था में दादि होने से घकारादेश, तकार का लोप जश्त्व चर्त्व लघूपधगुण से 'अधोक् अधोग्' की सिद्धि हुई। उपदेश न कहते तो यहां लक्ष्य में लक्षण की अप्रवृत्ति से 'अव्याप्ति' दोष की प्रसक्ति होती। एवं रस्सी चाटने वाला इस अर्थ में क्यच् प्रत्ययान्त से क्विबन्त दामलिह् यहां सम्प्रति दादि धातु है, अतः इष्ट ढकार को बाध कर घकारादेश की प्रसक्ति होती, अलक्ष्य में लक्षण प्रवृत्ति रूप अतिव्याप्ति दोष उसका निवारणार्थ उपदेश है। उपदेश अवस्था में दामादि धातु नहीं है। यहां न्यासान्तर है—१ 'हो ढोऽदादेः' २—धातोर्घः। अदादि का एक अंश 'दादि' मात्र की 'धातोः' में अनुवृत्ति है, वह अनुवृत्ति व्यर्थ होकर "औपदेशिक दादित्ववत्" परक है। इससे 'उपदेशे' लब्ध है। धातुपद की आवृत्ति से उपदेश का लाभ प्रकार सर्वथा अनुचित है।

३२६ एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः ८।२।३७।

धातोरवयवो य एकाच् झषन्तस्तदवयवस्य बशः स्थाने भष् स्यात् सकारे ध्वे पदान्ते च। एकाचो धातोरिति सामानाधिकरण्येनान्वये तु इह न स्यात्— गर्दभमाचष्टे गर्दभयति, ततः क्विप्, णिलोपो गर्द्धप्। झलीति निवृत्तम्, स्ध्वो र्ग्रहणसामर्थ्यात्। तेनेह न, दुग्धम्। दोग्धा। व्यपदेशिवद्भावेन धात्ववयवत्वाद् भष्भावः। जश्त्वचर्त्वे, धुक्। धुग्। दुहौ। दुहः। षत्वचर्त्वे, धुक्षु।

झषन्त होते हुए एकाच् भी हो ऐसा धातु का अवयव बश् उसके स्थान में भष् होता है, सकार या ध्वम् पर रहते या पदान्त में यहां एकाच् एवं धातु इन दो के अर्थद्वय का सामानाधिकरण्य (एकार्थबोधकत्वरूप) से अन्वय करना उचित था—'एकाच् से अभिन्न धातु' यह अर्थ क्यों नहीं किया ?, वैयधिकरण्य = (विभिन्न अर्थ बोधकत्व) से अन्वय अनुचित है गौरवदोष से, 'धातु का ज्ञान' एवं 'धातु के अवयव का ज्ञान' दो ज्ञान करने में ज्ञानकृत गौरव है। 'धातु का अवयव एकाच्' यह वैयधिकरण्य से अर्थ प्रतिपादन शैली असङ्गत है। गदहे की तरह आचरण करने वाला = या गदर्भ समान बोलने वाला इस अर्थ में णिच् क्विप् लोप से निष्पन्न 'गर्दभ्' यहां इष्ट भष् भाव एकाच् रूप धातु न होने से नहीं होगा, धातु गर्दभ् उसका झषन्त एकाच् अवयव दभ् के दकार को धकार भष् भाव करने के लिए फलमुख गौरव दोष के लिए नहीं है। इस लिए कहा है कि— "सम्भवति सामानाधिकरण्ये वैयधिकरण्यमन्याय्यम्" में 'सम्भवति' विशेषण दिया है 'गर्द्धव्' आदि प्रयोग सिद्ध्यर्थ सामानाधिकरण्य अन्वय संभव नहीं है अतः यहां वैयधिकरण्य से अन्वय है।

विमर्श—'झलो झलि' से झलि की अनुवृत्ति यहां भी आती ही है, आगे के सूत्रों में उसकी अनुवृत्ति ले जानी है। अग्रिम सूत्र में झल् की अनुवृत्ति कर भाष्यकार ने "दधस्तथोश्च (८-२-३८)" में तकार थकार का खण्डन किया है। अतः भष्भाव विधायक सूत्र में 'स्ध्वोः' ग्रहण से सकार-धकार से अतिरिक्त झल् प्रत्याहार बोध्य वर्णों में इति = यह=भष्भाव रूप कार्य की निवृत्ति जाननी चाहिये। यह ग्रन्थकार रहस्य है। 'झलि' की अनुवृत्ति तो आती ही है, यहां न आती, अग्रिम में न जाती पूर्वोक्तभाष्य असङ्गत होता।

'दुग्धम्' दोग्धा में सकार, या धकार रूप झल् नहीं है अतः भष्भाव न हुआ। दुध, दोहने वाला। दोनों का अर्थ है, दोहनार्थक दुह से क्विप् लोप् प्रा० सं० सु-स् दुह् स् यहां हकार को धकार कर के भष्भाव प्राप्त है। यहां धातु दुह् स्वयं एकाच् है, धातु का अवयव एकाच् नहीं है, एक में धातुत्व तदवयव एकाच्त्व "प्राग्दीव्यतोऽण्" विकृत निर्देश से ज्ञाप्य 'व्यपदेशिवदेकस्मिन्' परिभाषा से दोनों का अतिदेश व्यपदेशिवद्भाव से होता है। अतः भष्भाव जश्त्व चर्त्व से धुग् धुक् दो रूप हुए। असहाय में एक ही में अनेक धर्मों का आरोप होता है। धुक्षु = दुह् सु धकार भष्भाव जश्त्व चर्त्व से ककार, कत्व से षकार से सिद्धि हुई।

३२७ वा द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम् ८।२।३३।

एषां हस्य घो वा स्याज्झलि पदान्ते च। पक्षे ढः। ध्रुक्। ध्रुग्। ध्रुट् ध्रुड्। द्रुहौ। द्रुहः। ध्रुग्भ्याम्। ध्रुड्भ्याम्। ध्रुक्षु। ध्रुट्त्सु। ध्रुट् सु। एवं मुह-ष्णुह-ष्णिहाम्।

झल् पर रहे या पदान्त द्रुह् मुह् ष्णुह् ष्णिह् इनके हकार को घकार आदेश विकल्प से होता है। पूर्वोक्त धातुओं से क्विप् प्रत्यय है। अतः वे क्विबन्त है। विकल्प से 'द्रुह् स्' घकार, भष्भाव, जश्त्व, चर्त्व, पक्ष में ढकार जश्त्व चर्त्वादि। ध्रुक्। ध्रुग्। ध्रुट्। ध्रुड्। मुक्। मुग्। मुट्। मुड्। ष्णिह में आदि षकार को सकार षकार निमित्तक णकार की निवृत्ति से स्निह् के भी चार रूप है। ष्णुह् = स्नुह् इसके भी चार रूप। सप्तमी बहुवचन में घकार एवं धुट् विकल्प से तीन रूप—द्रुह सु, घकार, ढकार, भष्भाव, जश्त्व धुट् चर्त्व दो बार षकार ध्रुट्त्सु, पक्ष में ध्रुट्सु, घकार पक्ष में जश्त्व से ध्रुक्षु।

३२८ इग्यणः सम्प्रसारणम् १।१।४५।

यणः स्थाने प्रयुज्यमानो य इक् स सम्प्रसारणसंज्ञः स्यात्।

य् व् र् ल् के स्थान में जो इ उ ऋ ऌ होता है उसकी सम्प्रसारण संज्ञा है।

३२९ वाह ऊठ् ६।४।१३२।

भस्य वाहः सम्प्रसारणमूठ् स्यात्।

वाह् शब्दान्त भसंज्ञक अङ्ग का अवयव निर्दिश्यमान का अवयव यण् को संप्रसारण संज्ञक ऊठ् होता है। हकारान्त विश्ववाह् शब्द है। विश्वकर्म उपपद में रहते वह् धातु से ण्वि प्रत्यय, उपपद समास, उपधावृद्धि, प्रत्यय का लोप—विश्ववाह्—ईश्वर। प्रथमा एकवचन में 'हो ढः' से ढत्व, जश्त्व, चर्त्व विश्ववाट् विश्ववाड् विश्ववाहौ विश्ववाहः। विश्ववाहम्। विश्ववाहौ रूप है। विश्ववाह् शस् शकार की इत्संज्ञा लोप करके 'यचि भम्' से प्रकृति की भसंज्ञा, संप्रसारणसंज्ञा के संज्ञियों का ज्ञान कर, 'वाहः' सूत्र से ठकारेत्संज्ञक वकार के स्थान में ऊकार आदेश हुआ। 'विश्व ऊ आह् अस्' यहां सूत्र—

३३० सम्प्रसारणाच्च ६।१।१०८।

सम्प्रसारणादचि पूर्वरूपमेकादेशः स्यात्। एत्येधत्यूठ्सु। विश्वौहः। विश्वौहेत्यादि। छन्दस्येव ण्विरिति पक्षे णिजन्ताद् विच्।

सम्प्रसारण संज्ञक वर्ण के अनन्तर स्वर रहे तो वहां पूर्व पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है। विश्व ऊ आह् अस् यहां 'ऊ आ' का पूर्वरूप ऊकार हुआ। वृद्धि, रुत्वविसर्ग से विश्वौहः। इसी प्रकार टा ङे ङसि ङस् ओस् आम् ङि औस् इन विभक्तियों पर में रहते ऊठ् पूर्वरूप, वृद्धि आदि कार्य करने चाहिए। हलादि विभक्तियों में लिह् की तरह रूप है। 'वहश्च' ण्वि विधायक सूत्र में 'छन्दसि' की अनुवृत्ति है, लौकिक प्रयोग में ण्वि नहीं, तब प्रेरणार्थ प्रयोजककर्ता में णिच् करके विच् प्रत्यय णिलोप करना। किन्तु णि का इकार का स्थानिवद्भाव से सम्प्रसारण 'विश्वौहः' आदि में न होगा, 'क्वौ लुप्तं न स्थानिवत्' उस निषेध का तो यहां विषय ही नहीं है, वह क्विप् प्रत्यय निमित्तक कार्य करने में ही स्थानिवद्भाव का निषेध करता है यह मत भाष्यसिद्धन्त सिद्ध है। अतः "प्रष्ठौह आगतम्" "प्रष्ठवाह रूप्यम्" ऐसा भाष्य प्रयोग दिखलाने से यहां छान्दस ण्वि क्वचित् लोक में भी होता है। 'णिजन्तात् 'अन्येभ्यः' सूत्र से विच्' यह पक्ष उचित नहीं है।

विमर्श—यण् के स्थान में प्रयोग में इक् हो जाय तब सम्प्रसारण संज्ञा, सम्प्रसारणसंज्ञा हो जाय तब यण् के स्थान में इक् हो जाय यह अन्योऽन्याश्रय दोष है, ज्ञान एवं उत्पत्ति में अन्योऽन्याश्रयकार्य-सिद्ध नहीं होते हैं। (समा०) 'सम्प्रसारणमूठ्' का यह अभिप्राय है कि ऐसे वर्ण के स्थान में

ऊठ् हो जिसकी भविष्य में संप्रसारणसंज्ञा हो सके, इस प्रकार भाविनी संज्ञा का समाश्रयण से अन्योऽन्याश्रय दोष का उद्धार करना चाहिये—यथा इस सूत्र का शाटक बीनो = "अस्य सूत्रस्य शाटकं वय" यहां जो बीनने योग्य सूत्र है वह शाटक (पट) नहीं है। जो शाटक (पट) है, वह बीनने योग्य नहीं ऐसी परिस्थिति में यह पक्ष का अवलम्बन करना पड़ता है कि ऐसे तन्तुओं को बीना जाय जिससे निर्मित वस्तु की भविष्य में 'शाटक' इस प्रकार की संज्ञा हो—भाविसंज्ञा समाश्रयण से दोष निवृत्ति करनी चाहिए।

'वाह ऊठ्' यहां 'वाहः' इतना ही सूत्र उचित है वकार का सम्प्रसारण उकार, पूर्वरूप विश्व उह् अस्, ण्वि का प्रत्ययलक्षण से आर्धधातुक परत्व ज्ञान से लघूपधगुण करके वृद्धिरेचि से वृद्धि कर 'विश्वौहः' आदि रूप सिद्ध हो सकते हैं ऊठ् ग्रहण क्यों किया ?, वह व्यर्थ होकर अन्तरङ्ग परिभाषा ज्ञापन करता है, 'वृद्धिरेचि' अन्तरङ्ग है, गुण बहिरङ्ग है, वहिरङ्ग असिद्ध होने से एच् परत्व ज्ञानाभाव से वृद्धिरेचि न होगा। अतः 'एत्येधति' से वृद्ध्यर्थ ऊठ्ग्रहण स्वांशे कृतार्थ हुआ।

ऊठ् ग्रहण से ज्ञापित—'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' परिभाषा इस सूत्रस्थ होने से षष्ठाध्यायिनी है। इस परिभाषा की दृष्टि में त्रिपादी असिद्ध है, अतः वहां अन्तरङ्ग परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं है यथा—राज्ञः। अन्तरङ्गशास्त्रत्वमस्याः प्रवृत्तौ बीजम्।

३३१ चतुरनडुहोरामुदात्तः ७।१।९८।

अनयोराम् स्यात् सर्वनामस्थाने स चोदात्तः।

चतुर् एवं अनडुह् शब्दान्त अङ्ग को आम् होता है वह आम् उदात्त है सर्वनामस्थान संज्ञक प्रत्यय पर रहते। शकट अर्थ वाचक अनस् उपपद में रहते वह् धातु से क्विप् प्रत्यय, अनस् के स् को डादेश से अनड् वह् धातु यजादि है, अतः वकार का उकार सम्प्रसारण 'वचिस्वपियजादीनाम्' सूत्र से के बाद—सम्प्रसारणाच्च से पूर्वरूप अनडुह् शब्द की सिद्धि हुई। अनडुह् को आम् आकार रूप अचि परक उकार को यण् व् हुआ। (प्र० ए० व०) स् आम् (आ) आगम ह् के पूर्व में हुआ, अनड्वाह् स् ऐसी स्थिति के बाद—

३३२ सावनडुहः ७।१।८२।

अस्य नुम् स्यात् सौ परे। आदित्यधिकारादवर्णात्परोऽयं नुम्। अतो विशेषविहितेनापि नुमा आम् न बाध्यते। अमा च नुम् न बाध्यते। सोर्लोपः। नुम्विधिसामर्थ्याद् वसुस्रंस्विति दत्वं न। संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वान्नलोपो न। अनड्वान्।

सुप्रत्यय से अव्यवहित पूर्व अनडुह को नुम् आगम होता है। "आच्छीनद्योर्नुम्" से। इसमें आत् का अधिकार है, अतः इस शब्द के अन्त्य अवर्ण से पर नुम् आगम होता है वह तब संभव की नुम् के पूर्व में आम् आगम किया जाय क्यों की नुम् की प्रवृत्ति में आम् उपजीव्य = उपकारक है। नुम् उपजीवक = सहायता प्राप्त करने वाला है, अतः पूर्व में आम् पश्चात् नुम् यही क्रम हुआ अतः नुम् विधायक विशेष शास्त्र है, आम् विधायक सामान्य है, विशेष से सामान्य का बाध होता है यहां नुम् से आम् का बाध होना चाहिये यह सब निर्मूल सिद्ध हुआ। यहां सह प्रसङ्ग है ही नहीं। आत् के अधिकार से अम् से भी नुम् का सम्बोधन में बाध न हुआ, सह प्राप्ति ही नहीं है।

उपजीव्य उपजीवक का जिस प्रकार विरोध नहीं उसी प्रकार आम् नुम् । एवं अम् नुम् का विरोष नहीं है । 'अनड्वा न् ह् स्' यहां 'हल्ङ्याब्भ्यः' से सकार लोप कर ह्कार का संयोगान्त लोप से अनड्वान् = बैल । यहां संयोगान्तस्य से जात हकारलोप असिद्ध है, अतः नकार लोप न हुआ ।

३३३ अम् सम्बुद्धौ ७।१।९९।

चतुरनडुहोरम् स्यात् सम्बुद्धौ । आमोऽपवादः । हे अनड्वन् । अनड्वाहौ । अनड्वाहः । अनडुहा ।

सम्बुद्धिसंज्ञक प्रत्यय पर रहे तो चतुर् एवं अनडुह् को अम् आगम होता है । आम् का यह निषेधक है । हे अनडुह् से सम्बोधन में सु (स्) अम्, नुम् स् लोप, ह् लोप हे अनड्वन् । अनडुह् औ हकार के पूर्व में आम् (आ) यण् अनड्वाहौ । असर्वनामस्थान परक अनडुह् को विशेषकार्य का अभाव है । यथा अनडुहा ।

३३४ वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः ८।२।७२।

सान्तवस्वन्तस्य स्रंसादेश्च दः स्यात्पदान्ते । अनडुद्भ्यामित्यादि । सान्तेति किम् । विद्वान् । पदान्तेति किम् । स्रस्तम् । ध्वस्तम् ।

श्रूयमाण सकार है अन्त में जिसको ऐसा उकारेत्संज्ञक वस् वह है अन्त में जिसको ऐसे शब्द के अन्त्यवर्ण को एवं उकारेत्संज्ञक स्रंस् एवं ध्वंस् इसको अन्त्यवर्ण को दकारादेश होता है पदान्त में । वस् आदेश सान्त ही है पुनः सान्त विशेषण इस लिए दिया गया है कि विद्वस् का प्रथमा एकवचन में विद्वान् होता है, यहां नान्त है दकारादेश न हुआ । अनडुद्भ्याम् यहां स्वादिषु से पदत्व है हकार को दकारादेश हुआ । स्रस्तम् में क्तप्रत्यय कृत्प्रत्यय है, पूर्वभाग पद नहीं दकारादेश न हुआ अनुस्वार को नकार मानकर उसका लोप हुआ । धातुओं में झल् परक अनुस्वार को नकारज माना जाता है ।

३३५ सहेः साडः सः ८।३।५६।

साड्रूपस्य सहेः सस्य मूर्धन्यादेशः स्यात् । तुराषाट् । तुराषाड् । तुरासाहौ । तुरासाहः । तुराषाड्भ्यामित्यादि । तुरं सहते इत्यर्थे 'छन्दसि सह' इति ण्विः । लोके तु साहयतेः क्विप् । अन्येषामपीति पूर्वपदस्य दीर्घः ।

सह धातु का साड् ऐसा जब रूप होता है तब सकार को मूर्धन्य आदेश होता है तुरासाह् शब्द दो प्रकार से बनता है । यह वैदिक प्रयोग वेगार्थक तुरं कर्म उपपद रहते 'छन्दसि सह' इससे ण्वि प्रत्ययन्त है । उपधावृद्धि पूर्वपद का दीर्घ तुरासाह् । लोक में तुरं कर्म उपपद में रहते प्रयोजकव्यापार में सह णिच् से तुरसाह् से क्विप् णिलोप क्विप् के समस्त वर्णों का लोप, 'अन्येषाम्' से रेफोत्तर अकार का आकार दीर्घ से तुरासाह् लोक में सिद्ध हुआ । तुरासाह् का दो अर्थ है—१ इन्द्र २—वेग को सहन करने वाला या सहन करवाने वाला । तुरासाह् से सु पदसंज्ञा विभक्ति लोप ढत्व जश्त्व से तुरासाड् यहां साड् के सकार को षकारादेश, 'वाऽवसाने' से वि० चर्त्व तुराषाट्, तुराषाड् दो रूप सिद्ध हुए । यकारान्त कोई शब्द प्रचलित नहीं है । 'हयवर' अनुक्रम से यहां शब्द निर्देश है ।

३३६ दिव औत् ७।१।८४।

दिविति प्रातिपदिकस्य औत् स्यात् सौ परे। अल्विधित्वेन स्थानिवत्त्वाभावाद् धल्ङ्याबिति सुलोपो न। सुद्यौः। सुदिवौ। सुदिवः। सुदिवम्। सुदिवौ।

यहां दिव् से अव्युत्पन्न, या उणादि डिवि प्रत्ययान्त का ही ग्रहण है। 'दिवु क्रीडायाम्' का ग्रहण नहीं है वह सानुबन्धक है, निरनुबन्धक के ग्रहण में सानुबन्धक का ग्रहण नहीं होता है। केवल दिव् शब्द स्त्रीलिङ्ग है, अतः पदान्तर के साथ समास करना पुंलिङ्ग बनाने के लिए आवश्यक है। सु = शोभना द्यौः = आकाश वह है जिस दिवस में सुदिव् से प्रथमा एकवचन में सु (स्) दिव् प्रातिपदिक के अन्य को औत् आदेश होता है सुविभक्ति पर रहते वकार को औत् आदेश हुआ तकार उच्चारण में केवल मुखसुखार्थक ही है। यणादेश सुद्यौ स् यहां स्थानिवद्भाव से वकार वृत्ति हल्त्व धर्म का आरोप औकार में कर 'हल्ङ्याप्' से सलोप प्राप्त है, किन्तु अल्विधि यहां है, अतः स्थानिवद्भाव न हुआ। सकार को रुत्व विसर्ग से सुद्यौः सुदिवौ।

३३७ दिव उत् ६।१।१३१।

दिवोऽन्तादेश उकारः स्यात् पदान्ते। सुद्युभ्याम्। सुद्युभिः। चत्वारः। चतुरः। चतुर्भिः। चतुर्भ्यः।

प्रातिपदिक दिव् को उकार अन्तादेश होता है पदान्त में। सुदिव् भ्याम् पदसंज्ञा प्रकृति की वकार को उकारादेश इको यणचि से यणादेश सुद्युभ्याम्। याचनार्थक चते धातु से "चतेरुरन्" उणादि से उरन् प्रत्यय है चतुर् शब्द केवल रुढ शब्द है। लोक में संख्याविशिष्ट अनेकसंख्येक द्रव्य को बोधन करने से बहुवचनान्त है। चतुर जस् (अस्) 'चतुरनडुहो:' से आम् आगम, मित् है अन्त्य अच् से पर हुआ। यण् सकार का रुत्व विसर्ग से चत्वारः। शस् में चतुरः।

३३८ षट्चतुर्भ्यश्च ७।१।५५।

षट्संज्ञकेभ्यश्चतुरश्च परस्यामो नुडागमः स्यात्। णत्वम्। द्वित्वम्। चतुर्ण्णाम्।

षट् संज्ञक शब्द से एवं चतु शब्द से पर आम् को नुट् आगम होता है। 'चतुर् नाम्' 'रषाभ्याम्' से णकार नकार के स्थान में हुआ। 'अचो रहाभ्याम्' से णकार का वैकल्पिक द्वित्व से चतुर्ण्णाम्। द्वित्वाभावपक्षे चतुर्णाम्। अन्यान्य लक्ष्यों में कृतार्थ दोनों सूत्र—द्वित्वविधायक—णत्वविधायक की एक समय प्राप्ति है, अतः परत्वात् द्वित्व यहां होना चाहिये? 'पूर्वत्रासिद्धम्' से पूर्वत्रिपादी की दृष्टि में परत्रिपादी असिद्ध है, यहां पूर्वत्रिपादी णत्वविधायक शास्त्र है, परत्रिपादी द्वित्वविधायक शास्त्र है, परत्रिपादी के असिद्ध होने से णत्व की पूर्व प्रवृत्ति से 'णत्वं द्वित्वम्' णत्वे कृते द्वित्वम् उचित ही है। "पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे" से द्वित्व करने में 'पूर्वत्रासिद्धम्' की प्रवृत्ति नहीं है। अतः णत्व को बाध कर पर होने से द्वित्व होना चाहिए? 'पूर्वत्रासिद्धीये' का अर्थान्तर है—द्वित्व करना है, अन्यकार्य करना है वहां द्वित्व की दृष्टि में अन्यकार्य असिद्ध नहीं होता है अर्थात् द्वित्व तो अन्यकार्य दृष्टि में असिद्ध होता ही है, अतः यहां द्वित्व असिद्ध हुआ णत्व हुआ। किञ्च वर्ण द्वित्व में "पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे" नहीं लगता है, यदि लगता तो "द्वित्वे परसवर्णत्वं

सिद्धं वक्तव्यम्" वार्तिक व्यर्थ होता । वह ज्ञापन करता है की वर्णद्वित्व में वह नहीं लगता है। अतः 'संय्य्यन्ता' में यकार त्रय से युक्त प्रयोग के लिए वह स्वांश में कृतार्थ हुआ । अतः णत्व के बाद ही द्वित्व होता है, अन्तिम समाधान भावावेश से खण्डनार्थ प्रवृत्ति सूचक हैं, जब पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे का विषय ही नहीं है तो यह प्रयास सर्वथा निष्फल है।

३३९ रोः सुपि ८।३।१६।

सप्तमीबहुवचने रोरेव विसर्जनीयो नान्यरेफस्य। षत्वम्। षस्य द्वित्वे प्राप्ते।

खरादि सुप् से सप्तमी का ही सुप् का ग्रहण होता है प्रत्याहार का नहीं यहा खर की अनुवृत्ति है। 'खरवसानयोः' से विसर्ग सिद्ध था यह व्यर्थ होकर नियमार्थ है "सप्तमी बहुवचन में रेफ का विसर्ग हो तो रुसम्बन्धी रेफ का ही"। विपरीत नियम यह होगा कि "रुसम्बन्धी रेफ का विसर्ग हो तो सप्तमी बहुवचन में ही। यद्यपि यह भी नियम प्राप्त हैं किन्तु 'हलोऽनन्तराः संयोगः' प्रत्ययः परश्च' आदि निर्देश से विपरीत नियम नहीं चतुर् सु यहां रुसम्बन्धी रेफ नहीं है विसर्ग न हुआ। रेफ इण् होने से 'आदेशप्रत्यययोः' से षकार हुआ, यहां 'अचो रहाभ्याम्' से षकार का द्वित्व प्राप्त हुआ किन्तु—

३४० शरोऽचि ८।४।४९।

अचि परे शरो न द्वे स्तः। चतुर्षु। प्रियचत्वाः। हे प्रियचत्वः। प्रियचत्वारौ। प्रियचत्वारः। गौणत्वे तु नुट् नेष्यते। प्रियचतुराम्। प्राधान्ये तु स्यादेव। परमचतुर्णाम्। कमलं कमलां वा आचक्षाणः कमल्। कमलौ। कमलः। षत्वं कमल्षु। इति रेफान्ताः।

अच् पर में है जिसको वैसा शर् का द्वित्व नहीं होता है। चतुर्षु में षकार का द्वित्व निषेध हुआ। झरो झरि से लोप वैकल्पिक है, अतः शरोऽचि सूत्र के अभाव में लोपाभाव में दो षकार का श्रवण न हो एतदर्थ शरोऽचि की आवश्यकता है। बहुवचनान्त चतुर् को एकवचनान्त दिखाने के लिए बहुव्रीहि समास कर रूप दिखाया जाता है—प्रिय है चार पदार्थ जिसको इस अर्थ में 'प्रियचतुर् स्' आम् आगम यण् प्रियचत्वार् स् सकार का लोप रेफ का विसर्ग प्रियचत्वाः। सम्बोधन में अम् आगम यणादेश स् लोप विसर्ग-हे प्रियचत्वः। प्रियचतु आर् औ=यण् से प्रियचत्वारौ। षट्चतुर्भ्यश्च में 'षट्चतुरः' कहते बहुवचन से षडर्थगत संख्याभिधायी आम् रहे उसी को नुट् आगम होता है, अर्थात् प्राधान्य में, गौण में नहीं। प्रियचतुराम् में तो अन्यपदार्थ गत बहुत्व का वाचक आम् है अतः आम् को नुट् आगम न हुआ। 'परमाश्च ते चत्वारः' यहां कर्मधारय में चतुरर्थ ही प्रधान है अतः नुट् हुआ। कमल या लक्ष्मी को कहने वाला इस अर्थ में कमल या कमला से णिच् टिलोप होकर कमलि धातु हुआ उससे क्विप् णिलोप से कमल् से सु (स्) का लोप कमल्, कमलौ। कमलः लकार इण् है 'आदेशप्रत्यययोः' से षकार कमल्षु। रेफान्त शब्द समाप्त।

३४१ मो नो धातोः ८।२।६४।

धातोर्मस्य न स्यात् पदान्ते। नत्वस्यासिद्धत्वान्नलोपो न। प्रशाम्यतीति प्रशान्। प्रशामौ प्रशामः। प्रशान्भ्यामित्यादि।

मान्त धातु के मकार को नकारादेश होता है, पदान्तमें । विशेष शान्त अर्थ में प्रपूर्वक शम् धातु से क्विप् 'अनुनासिकस्य' से उपधादीर्घ, प्रशाम् स् पदसंज्ञा स् लोप धातु के मकार को नकारादेश प्रशान् । 'न लोपः' सूत्र की दृष्टि में नकारादेश असिद्ध है, अतः नलोप न हुआ । भ्याम् में प्रकृति की पदसंज्ञा नादेश प्रशान्भ्याम् ।

३४२ किमः कः ७।२।१०३।

किमः कः स्याद् विभक्तौ । अकच्सहितस्याप्ययमादेशः । कः । कौ । के । कम् । कौ । कान् । इत्यादि सर्ववत् ।

किम् को कादेश होता है विभक्ति पर में रहते । कः । कौ । के ।

यहां 'इम अः' न्यास कर त्यदादि की अनुवृत्ति कर, त्यदादि के इम् के अकारादेश से कः आदि प्रयोगसिद्धि होती पुनः गौरवग्रस्त 'किमः कः' न्यास क्यों किया ?,

किम् शब्द सर्वनाम संज्ञक है, 'अव्ययसर्वनाम्नाम्' से किम् शब्द की टि=इम् उसके पूर्व अकच् से 'ककिम्' रूप हुआ यहां 'इम अः' न्यास करने पर 'ककः' रूप अनिष्ट होता । 'किमः कः' किया तो "तन्मध्ये पतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते" इस परिभाषा से 'ककिम्' भी किम् शब्द है । कादेश से 'कः' रूप की सिद्धि होती है अतः 'किमः कः' की आवश्यकता है ।

कादेश के बाद सर्ववत् रूप है—कस्मै, कस्मात् कस्मिन् केषाम् आदि ।

३४३ इदमो मः ७।२।१०८।

इदमो मः स्यात् सौ परे । त्यदाद्यत्वापवादः ।

इदम् शब्द के मकार को मकार ही होता है सु पर रहते । मकार को मकार विधान व्यर्थ है, वह तो सिद्ध ही है । विधेय कार्य अपूर्व होता है अतः प्रयोजन इसका 'त्यदादीनामः' को बाध करना ही है ।

३४४ इदोऽय् पुंसि ७।२।१११।

इदम इदोऽय् स्यात् सौ पुंसि । सोर्लोपः । अयम् । त्यदाद्यत्वं पररूपञ्च ।

पुंल्लिङ्ग में सुप्रत्यय पर रहे तो इदम् शब्द के इद् भाग को अय् आदेश होता है । परम ऐश्वर्यकर्ता अर्थ में इदि धातु से कमिन् प्रत्यय नलोप से 'इदम्' बना है । इदम् सु वहां अकार प्राप्त था उसको वाध कर मकार की ही स्थिति बोधन की है इद् भाग को अय् आदेश सकार लोप से अयम् । इदम् औ, इदम् जस् यहां 'त्यदादीनामः' से अकारादेश अतो गुणे से पररूप इद औ' जश् को शी इद इ । यहां—

३४५ दश्च ७।२।१०९।

इदमो दस्य मः स्याद् विभक्तौ । इमौ । इमे । त्यदादेः सम्बोधनं नास्तीत्युत्सर्गः ।

इदम शब्दावयव दकार को मकारादेश होता है विभक्ति पर रहते । इम औ, वृद्धिरेचि से वृद्धि इमौ । इम शी गुण से इमे । शब्दशक्ति स्वभाव से त्यदादि शब्दों का सम्बोधन में प्रयोग

नहीं होता है, यदि कोई करेगा तो असाधु नहीं है अतः 'ह स' इसका 'तदोः' सूत्र पर अनन्त्य ग्रहण के समर्थन भाष्यकार ने कहा है। इमम् इमौ इमान्।

३४६ अनाप्यकः ७।२।११२।

अककारस्येदम इदोऽन् स्यादापि विभक्तौ। आबिति टा इत्यारभ्य सुपः पकारेण प्रत्याहारः। अनेन।

ककार रहित इदम् शब्द का अवयव इद् भाग को अन् आदेश होता है आप् विभक्ति पर रहते। टा से सप्तमी बहुवचन का सुप् के पकार तक आप् प्रत्याहार है। इदम् टा (आ) मकार को अकारादेश 'अतो गुणे' से पररूप टा को इनादेश 'इद इन' इद् को अन्। अन् अ इन गुण अनेन।

३४७ हलि लोपः ७।२।११३।

अककारस्येदम इदो लोपः स्याद् आपि विभक्तौ। ॐ नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यासविकारे ॐ।

हलादि आप् विभक्ति से पूर्व ककार रहित इदम् शब्द के इद् भाग का लोप होता है। अनर्थक में 'अलोऽन्यस्य' सूत्रकी प्रवृत्ति नहीं होती है यह अंश उत्सर्ग हो, उसी में द्वितीयांश पूर्वांश का बाधक है—अभ्यास को उद्देश्य करके जो कार्य विधेय है वहां अनर्थक में भी 'अलोऽन्त्यस्य' की प्रवृति होती है। प्रकृत में सन्निकृष्टार्थक इदम् अर्थवान् है, किन्तु उसका अवयव = इद् भाग सर्वथा निरर्थक = (अर्थबोधकाभाववाला) है अतः हलि लोपः से 'इद्' का लोप होता है। केवल दकार का नहीं। इदम् भ्याम् यहां अकारादेश, अतो गुणे से पररूप, इद् का लोप अभ्याम्—यहां—

३४८ आद्यन्तवदेकस्मिन् १।१।११।

एकस्मिन् क्रियमाणं कार्य्यमादाविवान्ते इव स्यात्। आभ्याम्।

आदि अन्तका द्वन्द्व समास करके वत् का प्रत्येक में अन्वय है, आदिवत्। अन्तवत्। यहां एक शब्द असहाय वाची है। तदादि में एवं तदन्त में विधीयमान कार्य तदादि में एवं तदन्त में जिस प्रकार होता है उसी प्रकार असहाय में (केवल में) भी होता है। अर्थात् शब्द में एक ही वर्ण रहे तो वह आदि है वही वर्ण अन्त भी है। आदि प्रयुक्त कार्य अन्तप्रयुक्त कार्य एक में भी होता है। प्रकृत में 'अभ्याम्' यहां यञादिसुप् अव्यवहित पूर्व अदन्ताङ्ग का दीर्घ होता है। अदन्त का अर्थ ह्रस्व अकार अन्त में जिसको रहे। यहां केवल 'अ' मात्र ही प्रकृति है, वह किसी के अन्त में नहीं है, तो भी अदन्त प्रयुक्त कार्य इसको दीर्घ करना। आभ्याम्।

३४९ नेदमदसोरकोः ७।१।११।

अककारयोरिदमदसोभिस ऐस् न स्यात्। एत्वम्। एभिः। अत्वम्, नित्यत्वात् ङेः स्मै, पश्चाद् हलि लोपः। अस्मै। आभ्याम्। एभ्यः। अस्मात्। आभ्याम्। एभ्यः। अस्य। अनयोः। एषाम्। अस्मिन्। अनयोः। एषु। ककारयोगे तु अयकम्। इमकौ। इमके। इमकम्। इमकौ। इमकान्। इमकेन। इमकाभ्याम्। इमकैः।

अकच् रहित इदम् एवं अदस् उससे पर भिस् को ऐस् आदेश नहीं होता है। इदम् भिस् अकारादेश, अतो गुणे से पररूप इद् का लोप अ भिस् यहां केवल अकार को ही अदन्त मानकर 'अतो भिस्' से ऐस् प्राप्त हुआ उसका निषेधकर 'बहुवचने' से एकारादेश से 'एभिः'। चतुर्थी एकवचन में अत्वादि कार्य कर 'इद ऐ' यहां स्मै आदेश को पर होने से 'अनाप्यकः' से अन् आदेश बाध कर 'सकृद् गतौ विप्रतिषेधेन यद्बाधितं तद् बाधितमेव" इस परिभाषा से अनादेश करने के बाद भी स्मै आदेश न होना चाहिए उस शङ्का की निवृत्ति के लिए मूलकार ने लिखा कि पर 'अनाप्यकः' से स्मै विधायक सर्वनाम्नः स्मै नित्य है, कृताकृत प्रसङ्गि शास्त्र नित्य होता है, अन् के पूर्व में भी स्मै प्राप्त, अन् के बाद भी स्मै प्राप्त है, पर के अपेक्षा नित्य बलवान् है, अतः प्रथम स्मै उसके पश्चात् हलादि आप् होने से हलि लोपः से इद् भाग का लोप अस्मै रूप सिद्ध हुआ। इदम् भ्याम्, अकारादेश, पररूप, इद् भाग का लोप, एक ही वर्ण में अदन्तत्व बुद्धि से दीर्घ आभ्याम्। 'अ भ्यस्' बहुवचने से एकार स् का रुत्वविसर्ग ऐभ्यः। इद स्मात् इद् का लोप अस्मात्। 'इद स्य' इद् का लोप अस्य। इद ओस् अन् आदेश अन ओस्, ओसि च से एत्व, ततः अयादेश सकार का रुत्वविसर्ग 'अनयोः'। इद आम् सुट् इद् का लोप, ऐत्व षत्व 'एषाम्'। इद स्मिन् इद् का लोप अस्मिन्। इदम् सु अत्व-पररूप इद् का लोप एत्व षत्व एषु। सर्वनाम संज्ञक इदम् की टि अम् उसके पूर्व "अव्ययसर्वनाम्नाम्" से अकच् (अक्) से इदकम् प्र० ए० व० मे सु (स्) 'इदोऽय् पुंसि' से इद् को अयादेश, त्यदादीनाम्' से प्राप्त अकारदेश को बाधकर 'इदमो मः' से मकार-स्थिति से 'अयकम्'। 'तन्मध्ये पतितः' न्याय से 'इदकम्' भी इदम् शब्द ही है, केवल ककार रहित इदम् को विधीयमान कार्य इस अकच् युक्त को नहीं होता है। तृतीया में इमकेन। भ्यस् मे इमकैः आदि। 'तन्मध्ये पतितस्तद् ग्रहणेन गृह्यते' इसमें प्रमाण 'तत्तत् सूत्रों में 'अकोः' ग्रहण ही है, यह परिभाषा न रहती तो ककार युक्त एवं अकच् युक्त शब्दान्तर हो जाता तब तत्कार्य अप्राप्त ही होता पुनः अकोः व्यर्थ होकर इस परिभाषा में वे ज्ञापक हैं। एवं पूर्व परिभाषा लोक सिद्ध भी है, गङ्गा में स्थित घड़ा गङ्गा ग्रहण से ग्रहण होता है। गर्भिणी स्त्री का गर्भ उस स्त्री ग्रहण से गृहीत होता है, तथैव 'इदकम्' भी इदम् ग्रहण से गृहीत यहां हुआ।

३५० इदमोऽन्वादेशेऽशनुदात्तस्तृतीयादौ २।४।३२।

अन्वादेशविषयस्येदमोऽनुदात्तोऽश् आदेशः स्यात् तृतीयादौ। अश्वचनं साकच्कार्थम्।

कथित का कथन में (अन्वादेश में) तृतीयादिविभक्ति पर रहते इदम् शब्द को अनुदात्त अश् (अ) आदेश होता है। शकार की इत्संज्ञा से यह आदेश सम्पूर्ण को होता है। अकच् युक्त में भी सर्व को ही आदेश है। केवल अन्त्य को होता तो 'त्यदादीनामः' से ही होता, आदेश विधान व्यर्थ होता। वस्तुतस्तु तद्धित प्रत्यय विचित्र है, किसी प्रकृति से होते हैं किसी से नहीं। अन्वादेश विषय में इदम् शब्द को अकच् होता ही नहीं है, उसके लिए शित्करण व्यर्थ ही है। यह सिद्धान्त भाष्यसम्मत है। अकार को अकार विधान 'इदमोः' की तरह आदेशान्तर निवृत्ति फलक है। दीर्घादि आदेश नहीं होते हैं।

३५१ द्वितीयाटौस्स्वेनः २।४।३४।

द्वितीयायां टौसोश्च परतः इदमेतदोरेनादेशः स्यादन्वादेशे। किञ्चित्कार्यं विधातुमुपात्तस्य कार्य्यान्तरं विधातुं पुनरुपादानमन्वादेशः। यथाऽनेन व्या-

करणमधीतमेनं छन्दोऽध्यापयेति। अनयोः पवित्रं कुलमेनयोः प्रभूतं स्वमिति। एनम्। एनौ। एनान्। एनेन। एनयोः।

गणयते र्विच्। सुगण्, सुगणो, सुगणः। सुगण्ठ्सु। सुगण्ट्सु। सुगण्सु। क्विप्, अनुनासिकस्य क्विझलोरिति दीर्घः। सुगाण्। सुगाणौ। सुगाणः। सुगाण्ठ्सु। सुगाण्ट्सु। सुगाण्सु।

परत्वादुपधादीर्घः। हल्ङ्यादिलोपः। ततो नलोपः। राजा।

अन्वादेश के विषय में द्वितीया, टा, ओस् प्रत्यय पर रहते इदम् और एतद् इन दो शब्दों को एन आदेश होता है। यह पूर्व सूत्र का निषेधक है। कोई एक कार्य बोधन करने के निमित्त एक बार शब्द की योजना करके फिर अन्य कार्यबोधन के निमित्त उसी का ग्रहण करना इसका नाम अन्वादेश है। जैसे (अनेन) इसने व्याकरण पढ़ा है अब इनको छन्द सिखाओ। यहां प्रथम कार्य बोधन में 'अनेन' है। परन्तु दूसरी बार कार्य बोधन में एनादेश से 'एनम्' हुआ। 'एनम्' रूप द्वितीया का है। वैसे ही इन दोनों का कुल पवित्र है, और उन्हीं दोनो के पास बहुत धन है। पूर्व कार्य बोधन में 'अनयोः' था, द्वितीय कार्य बोधन में एनादेश से 'एनयोः' हुआ। इसके द्वितीया में एनम्। एनौ। एनान्। एनेन। एनयोः २। बाद में आभ्याम् इत्यादि परन्तु स्वर में भेद है। अयम् इमौ इमे। इमम् एनम्, इमौ। एनौ। इमान् एनान्। अनेन एनेन, आभ्याम। एभिः। अस्मै आभ्याम्। एभ्यः। अस्मात्, आभ्याम्, एभ्यः। अस्य, अनयोः एनयोः एषाम्। अस्मिन्, अनयोः, एनयोः, एषु। अयकम् इमकौ इमके आदि रूप समझने चाहिये।

अच्छा गणित करने वाला इस अर्थ में अकारान्त गण से णिच् (इ) उससे विच् धातु अकार का 'अतो लोपः' से लोप, णिलोप, विच् लोप से णान्त सुगण् शब्द की सिद्धि हुई। सुगण् से सप्तमी बहुवचन में "ङ्णोः कुक् टुक् शरि से विकल्प से टुक् आगम हुआ, उट् की इत्संज्ञा 'चयो द्वितीया' वार्तिक से विकल्प ठकार, जहां टुक् न हुआ इस प्रकार तीन मूलोक्त रूप हुये। जहां विच् न कर क्विप् प्रत्यय होता है वहां उपधादीर्घ से सुगाण् बनता है, सप्तमी में पूर्वोक्त क्रम से तीन रूप होते हैं। णान्त शब्द समाप्त हुए। अब नान्त शब्दों की सिद्धि होती है।

भूपति या चन्द्रमा अर्थ में राजन् का प्रयोग होता है दीप्त्यर्थक राज् से कनिम् प्रत्यय से राजन् से सु (स्) यहां 'हल्ङ्याब्भ्यः' को बाधकर पर दीर्घ हुआ, उसके बाद सकार लोप, न लोप, से राजा।

३५२ न ङिसम्बुद्ध्योः ८।२।८।

नस्य लोपो न स्यात् ङौ सम्बुद्धौ च। हे राजन्। ङौ तु छन्दस्युदाहरणम्। 'सुपां सुलुक्' इति ङे र्लुक्। निषेधसामर्थ्यात् प्रत्ययलक्षणम्। परमे व्योमन्। ❀ङावुत्तरपदे प्रतिषेधो वक्तव्यः❀। चर्मणि तिला अस्य चर्मतिलः। ब्रह्मनिष्ठः। राजानौ। राजनः। राजानम्। राजानौ। अल्लोपोऽनः। श्चुत्वम्। नचाल्लोपः स्थानिवत्, पूर्वत्रासिद्धे तन्निषेधात्। नापि बहिरङ्गतयाऽसिद्धः, यथोद्देशपक्षे षाष्ठीं परिभाषां प्रति श्चुत्वस्यासिद्धतयाऽन्तरङ्गाभावेन परिभाषाया अप्रवृत्तेः। 'ज्ञ्ञोर्ज्ञः'। राज्ञः। राज्ञा।

ङि है अन्त में जिसको ऐसा अङ्ग ङ्यन्त अङ्ग एवं सम्बुद्धिसंज्ञक प्रत्यय है अन्त में जिसको (सम्बुद्ध्यन्त अङ्ग) ऐसा अङ्ग रहे वहां नलोप नहीं होता है यहां षष्ठ्यन्त व्याख्यान ही उचित है, अतः लुप्त प्रत्यय का प्रत्यय लक्षण होता है। सप्तम्यन्त व्याख्यान मे 'न लुमताऽङ्गस्य' से प्रत्यय लक्षण निषेध करेगा तो ङि एवं सम्बुद्धि संज्ञकप्रत्यय पर में नहीं रहेगा। न लुमता का अर्थ है कि 'लुप्त प्रत्यय से अव्यवाहित पूर्व अङ्ग को उद्देश्य करके कार्य कर्तव्य रहे वहां प्रत्ययाश्रित कार्य नहीं होता है। ङ्यन्तत्व, सम्बुद्ध्यन्तत्व में प्रत्यय लक्षण होता है। 'हे राजन्' में नलोप न हुआ। ङिप्रत्यय का लुक् छन्द में होता है वहां न लोप निषेधार्थ सूत्र में ङि ग्रहण किया है। प्रत्यय लक्षण से ङ्यन्त है ही, सामर्थ्य का उपयोग व्यर्थ ही है। व्योम्नि में व्योमन् = आकाश में उत्तरपद परक ङ्यन्त रहे वहां नलोप का निषेध वचन नहीं लगता है—नलोप के अभाव का अभाव हुआ, अर्थतः नलोप हुआ, अभावाभाव प्रतियोगी है। यहां नलोप प्रतियोगी स्वरूप है। जिसके चर्मन् के उत्तर तिल है, एवं ब्रह्मविषयक निष्ठायुक्त यहां नलोप चर्मन् का, एवं ब्रह्मन् का हुआ है। सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ से उपधादीर्घ—राजानौ, राजानः।

राजन् शस् (अस्) यहां 'यचि भम्' से भसंज्ञा राजन् की हुई है, 'अल्लोपोऽनः' से अन् के अकार का लोपकर 'स्तोः श्चुना' से चुत्व से नकार को ञकार कर 'ज् ञ्' मिलकर 'ज्ञ्' होता है। राज्ञः। यहां शङ्का होती है कि 'अचः परस्मिन्' सूत्र से लुप्त अकार का स्थानिवद्भाव से ज् एवं न् के बीच में अकार की सत्ता का आहार्यज्ञान से चुत्व न होना चाहिये ?,

किन्तु सपादसप्ताध्यायी अचः परस्मिन् है। वह त्रिपादी 'स्तोः श्चुना श्चुः' यहां प्राप्त है ऐसा ज्ञान उसको नहीं है, पूर्वत्रासिद्धम् से त्रिपादी 'स्तोः' असिद्ध है। न्यायतः सूत्र प्राप्त असिद्धित्व का केवल-अनुवादक यह है = 'पूर्वत्रासिद्धीये न स्थानिवत्'। बहिरङ्ग अकार का लोप विधायक अल्लोपोऽनः है, 'स्तोः' अन्तरङ्ग है, अतः अन्तरङ्ग कर्तव्य रहे, वहां बहिरङ्ग असिद्ध होता है—"असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे" परिभाषा है। ऐसी परिस्थिति में चुत्व कैसे यहां हुआ ?

संज्ञा एवं परिभाषा के विषय में दो पक्ष—१ यथोद्देश २ एवं कार्यकाल। १ यथोद्देशं संज्ञा-परिभाषम् २ कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्। १ आचार्य वाक्य पर विश्वासयुक्त छात्र ने जहां संज्ञा या परिभाषा का अर्थज्ञान कराया वहां ही तदर्थ ज्ञान करके विधि देश में संकेतित अर्थ का ज्ञान उन पदों को दिख कर वह स्वयं कर लेता है उस छात्र को पुनः विधि प्रदेश में आचार्य को संज्ञा सूत्रार्थ परिभाषा सूत्रार्थ का ज्ञान नहीं कराना उस छात्र को पड़ता है। वह यथोद्देश पक्ष में कारण है।

प्रकृत में 'वाह ऊठ्' के ऊठ् से ज्ञापित अन्तरङ्ग परिभाषा उस सूत्र रूप प्रदेश की होने से षष्ठाध्याय की है। परिभाषा की दृष्टि में 'स्तोः श्चुना' त्रिपादी होने से असिद्ध है, अतः परिभाषा को चुत्व विधायक शास्त्र का ज्ञान ही नहीं है, जब अन्तरङ्ग शास्त्र का ज्ञान ही नहीं तब अन्तरङ्ग शास्त्रत्वेन ज्ञान स्थल में लगने वाली परिभाषा का यहां विषय नहीं है अतः चुत्व हुआ। २—कार्यकाल पक्ष में कार्य ज्ञान जहां आवश्यक है उसी स्थल विशेष में ही संज्ञा सूत्रार्थ एवं परिभाषा का ज्ञान होगा, इस समय प्रयोजन नहीं अतः उपेक्षा छात्र ने की विधिदेश में आचार्य को पुनः संज्ञार्थ, परिभाषार्थ ज्ञान कराना पड़ा उसको कार्यकाल पक्ष कहते हैं। जब कार्य ज्ञान तब परिभाषार्थ ज्ञान एवं संज्ञासूत्रार्थज्ञान इस पक्ष में 'स्तोःश्चुनाश्चुः' देशस्थ अन्तरङ्ग परिभाषा चुत्वविधायक को देखती है अन्तरङ्ग चुत्व है परिभाषा यहां क्यों न लगी ?,

'पूर्वत्रासिद्धम्' यह प्रत्यक्ष सिद्ध वचन है। परिभाषा ज्ञाप्य वचन होने से आनुमानिक है। दोनो परस्पर विरुद्धार्थ प्रतिपादन करते हैं ऐसी परिस्थिति में 'पूर्वत्रासिद्धम् का कथन अधिक

आदरणीय है, अतः कार्यकाल पक्ष में भी अन्तरङ्ग परिभाषा की अप्रवृत्ति है। 'राज्ञः क च' आदि सूत्र निर्देश भी इस पक्ष में प्रमाण है। शस-टा-ङे-ङसि-ङस्-ओस् ओस् ङि इन विभक्तियों पर में रहे वहां भसंज्ञा कर अल्लोप होता है (सप्तमी एकवचन में केवल विकल्प लोप)। राज्ञा। राजन् भ्याम् यहां 'स्वादिषु' से पद संज्ञा प्रकृति की कर नलोप से 'राजभ्याम्' यहां 'सुपि च' से दीर्घ, राज भिस् यहां भिस् को ऐस् आदेश, राजभ्यस् यहां एकारादेश प्राप्त है किन्तु पूर्वत्रासिद्धम् से नलोप असिद्ध है, अतः पूर्वोक्त कार्यों का अभाव हुआ।

सामान्यतः नलोप को असिद्ध करने वाला 'पूर्वत्रासिद्धम्' का नियामक सूत्र को कहते हैं—

३५३ नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति ८।२।२।

सुब्विधौ, स्वरविधौ, संज्ञाविधौ, कृति तुग्विधौ च नलोपोऽसिद्धो नान्यत्र-राजाश्व इत्यादौ। इत्यसिद्धत्वादात्वमेत्वमैस्त्वञ्च न। राजभिः। राज्ञे। राज-भ्याम्। राजभ्यः। राज्ञः, राज्ञः, राज्ञोः राज्ञोः। राज्ञाम्। राज्ञि। राजनि। प्रति-दीव्यतीति प्रतिदिवा, प्रतिदिवानौ। प्रतिदिवानः। अस्य भविषयेऽल्लोपे कृते—

सुप्निमित्तक विधि या सुप्त्व का व्याप्य जो धर्म उससे युक्त धर्मी निमित्तक विधान में, ही नलोप असिद्ध होता है। अर्थात् अन्यत्र नहीं, १-राजभ्याम् यहां सुप्निमित्तकविधि दीर्घ है, राज भिस् यहा सुप्त्व का व्याप्यधर्म भिस्त्व है, उससे युक्त धर्मी भिस् उस निमित्तक ऐस् है, अतः नलोप असिद्ध हुआ ऐस् की अप्रवृत्ति है। दण्डिसु यहां सुप्त्व या सुप्त्व का व्याप्यधर्मयुक्त धर्मी-निमित्तक कार्य नहीं अतः नलोप असिद्ध न हुआ षकारादेश हुआ। २-पञ्चामर्मम् में अवर्णान्त पूर्वपद नहीं है नलोप के असिद्ध होने से, अतः आद्युदात्त न हुआ। यह स्वरविधौ का उदाहरण है। ३-संज्ञाविधौ—धिसंज्ञा विधान में नलोप असिद्ध इकारान्त नहीं धिसंज्ञा दण्डि की न होने से 'द्वन्द्वे धि' की अप्रवृत्ति से द्वन्द्व में यथेच्छ दो रूप—दत्तदण्डिनौ। दण्डिदत्तौ, हुए। ४-कृति-तुक्विधौ—वृत्रहभिः में नलोप असिद्ध से ह्रस्वान्त नहीं है अतः तुक् न हुआ।

'राज्ञि' 'राजनि' में विभाषा ङिश्योः' से विकल्प अन् के अकार का लोप राज्ञि राजनि। प्रति पूर्वक क्रीडाद्यर्थक दिव से कनिन् प्रतिदिवन् = प्रतिदिन प्रकाश करने वाला सूर्य। प्रतिदिवा, प्रतिदिवानौ, प्रतिदिवानः। भसंज्ञा के विषय में इसके अन् के अकार का लोप करके—

३५४ हलि च ८।२।७७।

रेफवान्तस्य धातोरुपधाया इको दीर्घः स्याद्धलि। न चाल्लोपस्य स्थानि-वत्त्वम्, दीर्घविधौ तन्निषेधात्। बहिरङ्गपरिभाषा तूक्तन्यायेन न प्रवर्तते। प्रतिदीव्नः। प्रतिदीव्नेत्यादि। यज्वा। यज्वानौ। यज्वानः।

रेफान्त एवं वान्त धातु की उपधास्थ इक् को दीर्घ होता है हल् (व्यञ्जन) पर रहते। प्रति-दिवन् शस् (अस्) भसंज्ञा, अकार लोप यहां नकार व्यञ्जन से पूर्व वान्त धातु है, इकार का ईकार दीर्घ हुआ। प्रतिदीव्नः। प्रतिदीव्ना आदि। यहां अकार लोप का स्थानिवद्भाव नहीं हुआ, 'न पदान्त' से उसका निषेध हुआ। त्रैपादिक अन्तरङ्ग शास्त्र का परिभाषा को ज्ञान नहीं है, अतः यहां अन्तरङ्ग परिभाषा की प्रवृत्ति पूर्वोक्त क्रम से न हुई।

यजनकर्ता इस अर्थ में देवपूजादि अर्थक यज् धातु से ङ्वनिप् प्रत्यय कर्ता में हुआ है। यज्वन् का यज्वा, यज्वानौ, यज्वानः। ब्रह्मा, ब्रह्माणौ। ब्रह्माणः।

३५५ न संयोगाद् वमन्तात् ६।४।१३७।

वकारमकारान्तसंयोगात्परस्यानोऽकारस्य लोपो न स्यात् । यज्वनः । यज्वना । यज्वभ्यामित्यादि । ब्रह्मणः । ब्रह्मणा । ब्रह्मभ्यामित्यादि ।

वकारान्त या मकारान्त संयोग से पर अन् के अकार का लोप नहीं होता है । यज्वन् शस् भसंज्ञा कर अकार लोप प्राप्त था वह न हुआ । ब्रह्मणः में भी लोप न हुआ ।

३५६ इन्हन्पूषार्यम्णां शौ ६।४।१२।

एषां शावेवोपधाया दीर्घो नान्यत्र । इति निषेधे प्राप्ते ।

सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ से दीर्घ प्राप्त है, उसका यह नियामक है ।

यहां इन् अर्थवान् या अनर्थक दोनों का ग्रहण है—यथा दण्डिन् में इन् अर्थवान् है, वाग्मिन् शब्द में इन् अनर्थक है । अनित्य होने से 'अर्थवद्ग्रहणे' परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं है । सूत्रार्थ—इन् हन् पूषन् एवं आर्यमन् इन की उपधा का पूर्वसूत्र से दीर्घ हो तो शि पर में रहे वहां ही, अन्यत्र नहीं । शिपर में रहते उपधा का दीर्घ हो तो इनादि का ही ऐसा विपरीत नियम नहीं है, 'सर्वनामानि' इस सौत्र प्रयोग से । भूतकाल में वृत्र नामक राक्षस का वध कर्ता इन्द्र अर्थ में, वृत्र कर्म उपपद में रहते भूतार्थ में हन् से क्विप् प्रत्यय उपपदसमास से निष्पन्न नान्त वृत्रहन् से सु यहां सर्वनामस्थाने से प्राप्त दीर्घ का इस नियम से निषेध प्राप्त है किन्तु—

३५७ सौ च ६।४।१३।

इन्नादीनामुपधाया दीर्घः स्याद् असम्बुद्धौ सौ परे । वृत्रहा । हे वृत्रहन् । 'एकाजुत्तरपदे' इति णत्वम् । वृत्रहणौ । वृत्रहणः । वृत्रहणम् । वृत्रहणौ ।

पूर्वोक्त नियम को बाध कर इन् हन् पूषन् अर्यमन् इनकी उपधा का दीर्घ होता है सु विभक्ति पर रहते । प्रथमैकवचन में दीर्घ सकार नकार लोप से वृत्रहा । सम्बोधन में नलोप निषेध से हे वृत्रहन् । औ जस् अम् औट् में नियम से दीर्घ का अभाव एवं 'एकाच्' सूत्र से नकार को णकारादेश हुआ है ।

३५८ हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु ७।३।५४।

ञिति णिति च प्रत्यये नकारे च परे हन्ते र्हकारस्य कुत्वं स्यात् ।

हन् धातु के हकार को कुत्व होता है ञकार की इत् संज्ञक प्रत्यय, या णकार की इत्संज्ञक प्रत्यय पर रहते या नकार पर में रहते । वृत्रहन् शस् (अस्) यहां भसंज्ञाकर अकार लोप के बाद नकार से अव्यवहित पूर्व हकार नाद एवं महाप्राण युक्त है उसके स्थान वैसा ही घकार आदेश कर 'वृत्रघ्न् अस्' यहां णत्व की शङ्का के लिए सूत्र—

(क) ३५९ हन्तेः ८।४।२२।

उपसर्गस्थान्निमित्तात्परस्य हन्तेर्नस्य णत्वं स्यात् । प्रहण्यात् ।

उपसर्ग में जो णत्व का निमित्त (र्) हो तो उस निमित्त से पर हन् धातु के अवयव नकार को णकार आदेश होता है । प्रहण्यात् यहां नकार को णकारादेश हुआ । प्रहण्यात् = विशेष कर मार सकेगा यह अर्थ है ।

(ख) ३५९ अत्पूर्वस्य ८।४।२२।

हन्तेरत्पूर्वस्यैव नस्य णत्वं नान्यस्य। प्रघ्नन्ति। योगविभागसामर्थ्याद्-नन्तस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वेति न्यायं बाधित्वा एकाजुत्तरपदे इति णत्व-मपि निवर्त्यते। नकारे परे कुत्वविधानसामर्थ्यादल्लोपो न स्थानिवत्। वृत्रघ्नः। वृत्रघ्ना इत्यादि। यत्तु 'वृत्रघ्नः' इत्यत्र वैकल्पिकं णत्वं माधवेनोक्तं तद्भाष्यवार्तिक-विरुद्धम्। एवं शार्ङ्गिन्यशस्विन्नर्यमन्पूषन्। यशस्विन्निति विन्प्रत्यये इनोऽनर्थक-त्वेऽपि इन्हन्नित्यत्र ग्रहणं भवत्येव, अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्तीति वचनात्। अर्यम्णि। अर्यमणि। पूष्णि। पूषणि।

इस्वाकार पूर्व में रहे ऐसे हन् धातु के नकार को ही णकार होता है, अन्यथा नहीं। प्रघ्नन्ति यहां श्रूयमाण अकार पूर्व में नहीं अतः 'हन्तेः' से णत्व न हुआ। "हन्तेरत्पूर्वस्य" एक ही सूत्र के योग-विभाग से अंश द्वय किया है, द्वितीयांश नियमार्थ है। हन् का नकार अकार पूर्व है, अतः अत्ग्रहणसामर्थ्य से श्रूयमाण अकार होना चाहिए। योग विभाग से यह सूत्र समीपस्थ एवं दूरस्थ सभी णकारविधायक शास्त्रों को बाध कर नियमन करेगा, अतः इसके विषय में बाध्यविशेष चिन्ता पक्ष का अवलम्बन नहीं है। अर्थात् पुरस्तात् न्याय की प्रवृत्ति नहीं है। 'एकाजुत्तरपदे' का भी नियमन करेगा। 'वृत्रघ्नः' यहां कुत्व करने में अकार का लोप स्थानिवद्भाव न हुआ, कुत्व विधायक सूत्र में नकार ग्रहण सामर्थ्य से। अन्यथा पर 'ने' सप्तम्यन्त है, नकाराव्यवहित पूर्वत्व-विशिष्ट हकार अकारलोपस्थानिवद्भाव से मिलेगा नहीं, नकार व्यर्थ होगा।

अत्र माधवः—माधवाचार्य कहते हैं कि अल्विधि में स्थानिवद्भाव नहीं अतः 'वृत्रघ्नः' यहां 'एकाजुत्तरपदे' की अप्राप्ति से प्रातिपदिकान्त (८।४।११) से वैकल्पिक णत्व से 'वृत्रघ्णः', 'वृत्रघ्नः' दो रूप होते है। वह माधवमत उचित नहीं है, 'प्रातिपदिकान्त' से णत्व नहीं हो सकता है हन्तेरत्पूर्वस्य उसका भी निषेधक है। "कुव्यवायहादेशेषु प्रतिषेधो वक्तव्यः" यह वार्तिक 'अट्कुप्वाङ्' सूत्र पर पढ़ा है। वा० उदाहरण में वृत्रघ्न आदि दिये हैं। अत्पूर्वस्य की आवश्यकता नहीं है, यहां णत्वप्रकरण में हकारस्थानिक कवर्ग के व्यवधान में णकार का प्रतिषेध होता है। अल् विधि में भी अचः परस्मिन् से स्थानिवद्भाव होता है वह अल् विध्यर्थ ही है। यदि स्थानि-वद्भाव न करना था तो पञ्चमी समास का अनित्यत्वेन समाश्रयण न करते। अल्विधि से स्थानि-वद्भाव नहीं हुआ यह तो कथन असङ्गत ही है।

इसी प्रकार यशस्विन् आदि शब्दों के रूप समझने चाहिए। यद्यपि विन् प्रत्ययान्त यशस्विन् में इन् अनर्थक है तो भी 'इणः षीध्वम्' सूत्र में 'अङ्गात्' के ग्रहण से अर्थवत्परिभाषा अनित्य है, अव्यवस्थित (अननुगत) अनित्यत्व के बोधन की अपेक्षा अनुगत (व्यवस्थित) इन स्थलों में "अर्थवद्ग्रहणे नानर्थस्य ग्रहणम्" परिभाषा नहीं लगती है—एतन्मूलक—अनिनस्मिन् वचन है। अतः 'इन् हन्' सूत्र में 'सौ च' में इस इन् का भी ग्रहण करना चाहिए। अनन्त-असन्त-इन्नन्त ऐसा अर्थ होता है। सप्तमी एकवचन में 'विभाषा ङिश्योः' से लोप विकल्प से दो रूप है।

अब नकारान्त इन्द्र वाचक मघवन् शब्द की सिद्धि होगी।

३६० मघवा बहुलम् ६।४।१२८।

मघवन् शब्दस्य तृ इत्यन्तादेशो वा स्यात्। ऋ इत्।

सूत्र में षष्ठी के अर्थ में प्रथमा है। मघवन् शब्द को तृ आदेश विकल्प से होता है। पूजार्थक मह धातु से कनि प्रत्यय है, कनि में अन् मात्र अवशिष्ट है। 'अवुक्' आगम हकार को घकार से इन्द्रार्थक मघवन् शब्द से सु (स्) तृ आदेश में उपदेशकाल में ही ऋकार की इत्संज्ञा से केवल तकार विधीयमान अन्त्य को विकल्प से हुआ—मघवत्, मघवन् इस प्रकार एक ही शब्द दो प्रकार का हुआ।

३६१ उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः ७।१।७०।

अधातोरुगितो नलोपिनोऽञ्चतेश्च नुमागमः स्यात् सर्वनामस्थाने परे। उपधादीर्घः। मघवान्। इह दीर्घे कर्तव्ये संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वं न भवति, बहुलग्रहणात्। तथा च श्वन्नुक्षन्निति निपातनान्मघशब्दान्मतुपा च भाषायामपि शब्दद्वयसिद्धिमाश्रित्यैतत्सूत्रं प्रत्याख्यातमाकरे। हविर्जक्षिति निश्शङ्को मखेषु मघवानसाविति भट्टिः। मघवन्तौ। मघवन्तः। हे मघवन्। मघवन्तम्। मघवन्तौ। मघवतः। मघवता। मघवद्भ्यामित्यादि। तृत्वाभावे मघवा। छन्दसीवनिपौ चेति वनिबन्तं मध्योदात्तं छन्दस्येव। अन्तोदात्तं तु लोकेऽपीति विशेषः। मघवानौ। मघवानः। सुटि राजवत्।

उ ऋ ऌ इनकी इत्संज्ञा वाले धातु को उगित् धातु कहते हैं। उगित् धातु से भिन्न जो उगित् शब्द हैं उसको या नकार लोप युक्त अञ्चु (अच्) धातु को नुम् आगम होता है सर्वनामस्थान संज्ञक प्रत्यय पर रहते। मघवत् स् यहां तृ आदेश में ऋकार की इत्संज्ञा से यद्यपि केवल तकार उगित् है, परन्तु अवयव में अचरितार्थ अनुबन्ध समुदाय का उपकारक होता है तकार को उगित् का कोई फल नहीं है अतः मघवत् शब्द ही उगित कहा गया, अवयव में अचरितार्थ अनुबन्ध समुदाय का ही उपकारक होता है। नुम् आगम मघवन् त् स् यहां सकार लोप, संयोगान्त लोप मघवन् की उपधा अकार का दीर्घ मघवान्। यहां दीर्घ करने में तकार लोप 'संयोगान्तस्य' से हुआ है, वह असिद्ध नहीं होता है, तृ विधायक में वा कहते। बहुलग्रहण से बहून् अर्थान् लाति = ददाति व्युत्पत्ति से अनेक इष्ट अर्थ प्रतिपादक को बहुल कहते हैं, अतः बहुलग्रहण बोधन करता है कि—"दीर्घ विधान करने में संयोगान्त लोप असिद्ध नहीं होता है" अर्थात् सिद्ध रहता है। न लोप करने में संयोगान्त लोप असिद्ध हुआ अतः नलोप न हुआ। यहां विपरीत कुतर्क न करना, इस सूत्र का आरम्भ एवं इसका प्रत्याख्यान पर भाष्य दोनों के फलैक्य के लिए। अन्यथा फलभेद दोनों का होगा यह अग्रिम लेख में स्पष्ट होगा। निपातन लब्ध मघ-शब्द से मतुप् से मकार को वकार मघवत् शब्द की सिद्धि, एवं मघ शब्द से विनिप्रत्यय करके मघवन् की सिद्धि हो जाती है पुनः इस सूत्र की आवश्यकता नहीं है यह भाष्यमत है। नान्त का राजन् शब्द समान रूप है। नान्त का मघवान् मघवन्तौ आदि रूप हैं। अनसौ=रावणे मृते सति= रावण के मरने पर मघवा = इन्द्र शङ्कारहित हविः अन्न को खाता है। यहां मघवा रूप नान्त मघवन् शब्द का है, अथवा असौ मघवान् से तान्त मघवत् का रूप है। वेदमन्त्र में वनिप् प्रत्ययान्त मध्योदात्त है धनवाची मघ शब्द 'फिषोऽन्तः' से अन्तोदात्त है, मघ से वनिप् प्रत्यय करने पर वन् पित् होने से अनुदात्तौ सुप्पित्तौ (३।१।४) से अनुदात्त वकाराकार है। इस प्रकार मघवन् में तीन अचों में मध्य अकार अन्तोऽदात्त है। भाषा में अव्युत्पन्न मान कर अन्तोदात्त है। यही वेद,

एवं भाषा शब्द में इसका भेद है। मघवा। मघवानौ मघवानः। मघवानम्। सुट् में राज-सदृश रूप है।

३६२ श्वयुवमघोनामतद्धिते ६।४।१३३।

अन्नन्तानां भसंज्ञकानामेषामतद्धिते परे सम्प्रसारणं स्यात्। सम्प्रसार-णाच्च। आद्गुणः। मघोनः। अन्नन्तानां किम्, मघवतः। मघवता। स्त्रियां मघवती। अतद्धिते किम्, माघवनम्। मघोना। मघवभ्यामित्यादि। शुनः। शुना। श्वभ्यामित्यादि। युवन्शब्दे वस्योत्वे कृते।

यहां 'अल्लोपोऽनः' से अन् की अनुवृत्ति है। 'अन्नन्त भसंज्ञक श्वन्, युवन्, मघवन् इनका तद्धितभिन्न प्रत्यय पर रहते सम्प्रसारण होता है। मघवन् शस् भसंज्ञा संप्रसारण 'मघ उ अन् अस्' यहां पूर्वरूप, गुण रुत्व विसर्ग से मघोनः। एवं मघोना। मघवभ्याम् नलोप असिद्ध है दीर्घ न हुआ। तान्त मघवत् अन्नन्त नहीं शस् में मघवतः रूप। मघवती यहां भी सम्प्रसारण अन्नन्त न होने से न हुआ। इदमार्थक अणन्त मघवन् अ यहां अण् प्रत्यय तद्धित है सम्प्रसारणाभाव है। श्वा श्वानौ श्वानः। शस् में सम्प्रसारण, पूर्वरूप से शुनः। शुना। युवा। युवानौ। युवानः। युवन् शस् यहां भसंज्ञा वकार का संप्रसारण उकार 'यु उ अन् अस्' सम्प्रसारणाच्च से पूर्वरूप करके यकार का सम्प्रसारण इकार प्राप्त हुआ किन्तु—

३६३ न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम् ६।१।३७।

सम्प्रसारणे परतः पूर्वस्य यणः सम्प्रसारणं न स्यात्। इति यकारस्य नेत्त्वम्। अत एव ज्ञापकादन्त्यस्य यणः पूर्वं सम्प्रसारणम्। यूनः। यूना। युवभ्यामित्यादि। अर्वा, हे अर्वन्।

सम्प्रसारण पर रहते पूर्व यण् का सम्प्रसारण नहीं होता है। यु उन् अस् यकार का इकार न हुआ दीर्घ से यूनः। यूना आदि की सिद्धि। 'न सम्प्रसारणे' सूत्र सामर्थ्य से प्रथम द्वितीय यण् का ही सम्प्रसारण करना पूर्व यण् का नहीं अन्यथा यह सूत्र ही व्यर्थ हो जावेगा। इस सूत्र से वर्ण भेद से लक्ष्य भेद है अतः "लक्ष्ये लक्षणं सकृदेव प्रवर्तते" न्याय का यहां विषय नहीं है। घोड़ा वाचक अर्वन् शब्द है। ऋ धातु से वनिप् गुण से अर्वन् की सिद्धि हुई। अर्वा, हे अर्वन्।

३६४ अर्वणस्त्रसावनञः ६।४।१२७।

नञा रहितस्यार्वन्नन्तस्याङ्गस्य तृ इत्यन्तादेशः स्यान्न तु सौ। उगित्त्वा-न्नुम्। अर्वन्तौ। अर्वन्तः। अर्वन्तम्। अर्वन्तौ। अर्वतः। अर्वता। अर्वद्भ्या-मित्यादि। अनञः किम्, अनर्वा, यज्वत्।

नञ्तत्पुरुषसमास रहित अर्वन् शब्दान्त अङ्ग के अन्त्य अल् को तृ आदेश होता है सुपर रहते वह नहीं होता है। तृ में ऋकार की इत्संज्ञा है। अतः उगित् होने से नुम् होता है। अर्वन् औ तकार देश अर्वत् औ नुम् अर्वन्त् औ मिलकर अर्वन्तौ। अनञ् कहने से अनर्वाणौ हुआ। सु में तो यह प्राप्त ही नहीं है। मार्गवाचक नान्त पथिन् शब्द है।

३६५ पथिमथ्यृभुक्षामात् ७।१।८५।

एषामाकारोऽन्तादेशः स्यात्सौ परे । आ आदिति प्रश्लेषेण शुद्धाया एव व्यक्तेर्विधानान्नानुनासिकः ।

पथिन् मथिम् ऋभुक्षिन् शब्दान्त अङ्ग के अन्त्य अल् को सुपर रहने आकार अन्तादेश होता है। सूत्र में 'आत्' में आ आत् = इति आत् आकारान्त आ का प्रश्लेष से स्थानी अनुनासिक होने पर भी उसके स्थान में निरनुनासिक ही आकार का विधान होता है। यत्न न करने पर गुण अभेदक = इतरव्यावर्तक नहीं होता है अतः सूत्र में उच्चरित निरनुनासिक आकार अनुनासिक की व्यावृत्ति नहीं कर सकता अत; प्रश्लेष रूप यत्न की आवश्यकता है। 'गुणा अभेदकाः' यहां 'असति यत्ने' जोड़ना चाहिए। विशेष यत्न करने पर तो अनुनासिकत्व आदि गुण भेदक व्यावर्तक होते ही हैं। 'अस्थिदधि' सूत्रस्थ 'उदात्त' ग्रहण से ज्ञापित परिभाषा है-"स्वरूपेणोच्चारिता गुणा अभेदका" इति। 'पथि आ स्' स्थिति हुई।

३६६ इतोऽत्सर्वनामस्थाने ७।१।८६।

पथ्यादेरिकारस्याकारः स्यात् सर्वनामस्थाने परे।

पथिन् मथिन् ऋभुक्षिन् के इकार को अकारादेश होता है सर्वनामस्थान संज्ञक प्रत्यय पर रहते। पथ् अ आ स् रूप हुआ। यद्यपि पूर्वसूत्र से आत् की यहां अनुवृत्ति करते आकारादेश के लिए अत् ग्रहण इसमें न करते वर्णलाघव प्रक्रिया लाघव है। किन्तु वेद में 'वा षपूर्वस्य' (६-४-९) से विकल्प दीर्घ होता है ऋभुक्षाणम्। ऋभुक्षणम् दो रूप होते हैं अकारादेश के अभाव में ऋभुक्षणम् नही बनेगा इस लिए, अकार विधानार्थक सूत्र में अत् ग्रहण की आवश्यकता है।

३६७ थो न्थः ७।१।८७।

पथिमथोस्थस्य न्थादेशः स्यात् सर्वनामस्थाने परे। पन्थाः। पन्थानौ। पन्थानः। पन्थानम्। पन्थानौ।

सर्वनामस्थान पर रहते पथिन्, मथिन् के थकार को न्थादेश होता है व्यञ्जन थ् के स्थान में व्यञ्जनान्त न्थ् आदेश है। पन्थ् अ आ दीर्घ सकार को रुत्वविसर्ग से-पन्थाः। पन्थानौ। पन्थानः। औ एवं जस् में उपधादीर्घ हुआ।

३६८ भस्य टेर्लोपः ७।१।८८।

भसंज्ञकस्य पथ्यादेष्टेर्लोपः स्यात्। पथः। पथा। पथिभ्यामित्यादि। एवं मन्थाः। ऋभुक्षाः। स्त्रियां नान्तलक्षणे ङीपि भत्वाट्टिलोपः। सुपथी, सुमथी नगरी। अनृभुक्षी सेना। आत्वं नपुंसके न भवति, न लुमतेति प्रत्ययलक्षणनिषेधात्। सुपथि वनम्। ❀ सम्बुद्धौ नपुंसकानां नलोपो वा वाच्यः ❀। हे सुपथिन्। हे सुपथि। नलोपः सुप्स्वरेति नलोपस्यासिद्धत्वाद् ध्रस्वस्य गुणो न। द्विवचने भत्वाट्टिलोपः। सुपथी। शौ सर्वनामस्थानत्वात् सुपन्थानि। पुनरपि। सुपथि। सुपथी। सुपन्थानि। सुपथा। सुपथे। सुपथिभ्यामित्यादि।

भसंज्ञक पथिन् मथिन् ऋभुक्षिन् की टिका लोप होता। पथिन् शस् (अस्) भसंज्ञाइन् का लोप रुत्वविसर्ग से पथः। पथा। मट्ठाविलौने की रई वाचक मथिन् शब्द के मन्थाः। मन्थानौ। मन्थानः। शस् में मथः। इन्द्रार्थक ऋभुक्षिन् के ऋभुक्षाः। अच्छा मार्ग है जिस नगरी मे इस अर्थ सुपथिन् से ङीप्, भसंज्ञा, टिलोप से सुपथी नगरी, इन्द्ररहित सेना अनृभुक्षी। अच्छा मार्ग है जिस वन का यहां सुपथिन् सु, विभक्ति का लुक् नकारलोप से 'सुपथि' यहां न लुमता से प्रत्यय लक्षण निषेध से आत्वादि कार्य विभक्ति पर न होने से न हुए। * नपुंसक में विद्यमान शब्दों के सम्बुद्धि पर रहते नलोप विकल्प से होता है। नलोप पक्ष में ह्रस्वस्य गुणः से गुण न हुआ, नलोप असिद्ध है। हे सुपथि। हे सुपथिन्। द्विवचन में औ को शी, भसंज्ञा टिलोप। सुपथी। बहुवचन में जस् को शि पथिन् के इकार को अकार न्यादेश सर्वनामस्थानसंज्ञा नुम् दीर्घ सुपन्थानि। शस् में सुपथः।

विस्तारार्थक पच् से कनिन् प्रत्यय तुट् आगम से पञ्चन् की सिद्धि कर बहुवचन में जस् (अस्) कर—

३६९ ष्णान्ता षट् १।१।२४।

षान्ता नान्ता च सङ्ख्या षट्संज्ञा स्यात्। षड्भ्यो लुक्। पञ्च। पञ्च। सङ्ख्येति किम्?, विप्रुषः- पामानः। शतानि सहस्राणि इत्यत्र सन्निपातपरिभाषया न लुक्, सर्वनामस्थानसन्निपातेन कृतस्य नुमस्तदविघातकत्वात्। पञ्चभिः। पञ्चभ्यः। पञ्चभ्यः। 'षट्चतुर्भ्यश्चेति नुट्।

उच्चाराणार्थक अकार युक्त षकार एवं णकार का द्वन्द्व कर ष्णौ यहां ष्टुत्व से न् को ण् हुआ हो वे है अन्त में जिनको इस अर्थ में बहुव्रीहि समास है।

संख्या वाचक षकारान्त नकारान्त संख्या की षट् संज्ञा होती है। संज्ञा का फल यहां लुक् है। पञ्चन् अस् षट् संज्ञा, विभक्ति का लुक् पञ्च। शस् में भी पञ्च। सूत्र में संख्या की अनुवृत्ति का फल बिन्दु वाचक विप्रुष् से जस् एवं शस् का लोप न होना है। एवं खुजली वाचक पामन् से भी जस् तथा शस् का लुक् न होना संख्या का फल है।

विप्रुषः। पामानः। शत शब्द से जस्, जकार की इत्संज्ञा लोप अस् को नपुंसक मे शि, सर्वनामस्थानसंज्ञा नुम् उपधादीर्घ शतान् इ यहां नान्तसंख्यावाचक शतान् से पर इकार में स्थानिवद्भाव से जश्त्वबुद्धि कर लुक् होना चाहिए। किन्तु सन्निपातपरिभाषा से लुक् न हुआ। सर्वनामस्थान संज्ञक इकार निमित्तक नुम् स्वोपजीव्य सर्वनामस्थान प्रत्यय के नाशक कार्य लुक् में निमित्त यहां न हुआ। उपकारक का नाश करना अनुचित है। 'पञ्चन् आम्' यहां षट् संज्ञा प्रयुक्त आम् को नुट् का आगम हुआ है। पञ्चन् नाम्।

३७० नोपधायाः ६।४।७।

नान्तस्योपधाया दीर्घः स्यान्नामि परे। नलोपः। पञ्चानाम्। पञ्चसु। परमपञ्च। परमपञ्चानाम्। गौणत्वे तु न लुग्नुटौ। प्रियपञ्चा। प्रियपञ्चानौ। प्रियपञ्चानः। प्रियपञ्चाम्। एवं सप्तन्। नवन्। दशन्।

नान्त की उपधा का दीर्घ होता है, नाम् पर रहते। पञ्चानाम्। श्रेष्ठ पांच अर्थ में कर्मधारय समासयुक्त परमपञ्चन् से पर जस् एवं शस् का लुक् नलोप। परमपञ्च। षडर्थगतसंख्या का वाचक आम्

को नुट् उपधादीर्घ परमपञ्चानाम्। गौण में लुक् एवं नुट् की प्रवृत्ति नहीं है, वहां अन्यपदार्थ गत बहुत्व की वाचिकाए विभक्तियों हे, अतः प्रियपञ्चन् का राजवत् रूप है, षष्ठीबहुवचन में अकार लोप से प्रियपञ्चाम् रूप। इसी प्रकार सात नौ दस के वाचक सप्तन्, नवन् दशन् के रूप हैं। अष्टत्व संख्या विशिष्ट द्रव्य = आठ वाचक अष्टन् शब्द बहुवचनान्त है—अष्टन् जस्—

३७१ अष्टन आ विभक्तौ ७।२।८४।

अष्टन आत्वं स्याद् धलादौ विभक्तौ।

अष्टन् शब्द के अन्त्य अल् को हलादि विभक्ति पर रहते आकार आदेश होता है। रायो हलि से यहां हल् की अनुवृत्ति है।

३७२ अष्टाभ्य औश् ७।१।२१।

कृताकारादष्टनः परयो र्जश्शसोरौश् स्यात्। अष्टभ्य इति वक्तव्ये कृतात्वनिर्देशो जश्शसो विषये आत्वं ज्ञापयति। वैकल्पिकं चेदमष्टन आत्वम्, 'अष्टनो दीर्घात्' इति सूत्रे दीर्घग्रहणाज्ज्ञापकात्। अष्टौ। अष्टौ। परमाष्टौ। अष्टाभिः। अष्टाभ्यः। अष्टाभ्यः। अष्टानाम्। अष्टासु। आत्वाभावे अष्ट, अष्ट, इत्यादि पञ्चवत्। गौणत्वे त्वात्वाभावे राजवत्। शसि प्रियाष्ट्नः। इह पूर्वस्मादपि विधावल्लोपस्य स्थानिवद्भावान्न ष्टुत्वम्, कार्यकालपक्षे बहिरङ्गस्याल्लोपस्यासिद्धत्वाद्वा। प्रियाष्ट्ना इत्यादि। जश्शसोरनुमीयमानमात्वं प्राधान्य एव, न तु गौणतायाम्। तेन प्रियाष्ट्नो हलादावेव वैकल्पिकमात्वम्। प्रियाष्टाभ्याम्। प्रियाष्टाभिः। प्रियाष्टाभ्यः। प्रियाष्टासु।

प्रियाष्ट्नो राजवत्सर्वं हाहावच्चापरं हलि।

इति नान्ताः। भष्भावः। जश्त्व-चर्त्वे। भुत्। भुद्। बुधौ। बुधः। बुधा। भुद्भ्याम्। भुत्सु। इति धान्ताः।

अष्टत्वसंख्या.युक्त संख्येय (द्रव्य) वाचक अष्टन् शब्द से जस् विभक्ति, जकार की इत्संज्ञा लोप अष्टन् अस् यहां हलादि विभक्ति पर नहीं है अतः आकारादेश अप्राप्त है, अष्टन आ विभक्तौ में 'रायो हलि' से हल् की अनुवृत्ति है। इस शङ्का समाधानार्थ यत्न अपेक्षित है अतः अष्टाभ्य औश् में आकारान्त अष्टा का अनुकरण करके उससे भ्यस् विभक्ति लाई गई है, आकारान्त अष्टा से पर जस् एवं शस् सम्भव कथमपि नहीं हैं, विभक्ति में हलादित्व का अभाव से। अतः औश् विधायक सूत्र म 'अष्ट' का ही अनुकरण करना उचित था, किन्तु आचार्यकृत आकारान्त का अनुकरण से हलादि विभक्ति का जस् शस् में अभाव है तो भी आत्व होता है। आत्व कर अष्ट आ अस् दीर्घ = 'अष्टा अस्' विभक्ति को औश् आदेश कर वृद्धि से अष्टौ। शस् में भी अष्टौ रूप की सिद्धि है।

'अष्टन आ विभक्तौ' सूत्र से विधीयमान आत्व विकल्प से होता है, इसमें स्वरविधायक अष्टनो दीर्घात् सूत्र का दीर्घग्रहण ज्ञापक है। वह सूत्र दीर्घान्त अष्टन् (अष्टा) शब्द से पर असर्वनामस्थान विभक्ति को उदात्त करता है। आत्वनित्य होता तो दीर्घ विशेषण व्यर्थ है आकारान्त का ही सम्भव है, व्यभिचार (अभाव) नहीं है। दीर्घ ग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापन

करता है कि आकारादेश विकल्प से होता है। अष्टभिः में उदात्त हुआ। अष्टाभि में विभक्ति उदात्त न हुई। प्रकृत में आत्व पक्ष में अष्टौ अष्टौ पक्ष में अष्ट, अष्ट प्र०वि०ए०द्वि०वि० में रूप हैं। कर्मधारय में परमाष्टन् का भी परमाष्टौ रूप है। अष्टाभिः अष्टभिः। अष्टाभ्यः। अष्टभ्यः। अष्टानाम्। अष्टासु, अष्टसु। बहुव्रीहि समास में गौणार्थक अष्टन् को आत्व नहीं होता है। राजसदृश रूप है। प्रियाष्टा। प्रियाष्टानौ। प्रियाष्टानः। प्रियाष्टानम्। प्रियाष्टानौ।

प्रियाष्टन् शस् भसंज्ञा 'अल्लोपोऽनः' से अकार लोप प्रियाष्ट्न्। यहां ष्टुत्व होना चाहिये। किन्तु पूर्वस्मात् विधिः = पूर्वविधि; तस्मिन् 'पूर्वविधौ' पञ्चमी समास से स्थानीभूत अच् से पूर्वत्वेन दृष्ट वर्ण से पर को (यहां नकार को) कार्य करने में स्थानिवद् भाव होता है, यहां स्थानिवद् भाव से ष्टुत्व न हुआ। अथवा अन्तरङ्ग ष्टुत्व की दृष्टि में बहिरङ्ग अकार लोप असिद्ध है अतः ष्टुत्व न हुआ। वस्तुतः 'प्रियाष्टानौ' आदि रूपों का अभिधान नहीं है। शिष्टों से अप्रयुक्त हैं, उनमें शास्त्र प्रवृत्ति नहीं होती है, प्रयुक्त का ही अन्वाख्यान है—'यथालक्षणमप्रयुक्ते' प्रथम व्याख्या यह है। द्वितीयव्याख्या में तो अप्रयुक्त में लक्षणमर्य्यादा से न्यायतः जो कार्य प्राप्त है वह करना ही चाहिये। यदि गौण में आत्वादि अप्राप्त है तो न करने चाहिए। सर्वथा अनभिधान मानना अनुचित है, अलक्षण शब्द की लक्षणप्रवृत्ति योग्यता में लक्षणा का आश्रयण में कोई प्रमाण नहीं है। अतः प्रियाष्टानौ प्रियाष्टानः—आदि प्रयोग होते ही हैं।

अष्टा कृताकारानुकरण से अनुमीयमान आत्व अष्टन् शब्दार्थ जहां प्रधानीभूत रहे वहां होता है। गौण में नहीं। जो आत्व स्वतः प्राप्त है वह हलादि विभक्ति में प्रियाष्टन् को विकल्प से होता है प्रियाष्टन् शब्द का हलादि विभक्ति रहित में प्रायः राजन् शब्द सदृश रूप है। हलादि में हाहा की तरह। ज्ञानार्थ बुध् से कर्ता में क्विप् बुध् स् पदसंज्ञा, स् लोप भष्भाव से भुध् जश्त्व से भुद् वै० चर्त्व से भुत्। बुधौ बुधः। भ्याम् भ्यस् में भष्भाव जश्त्व भुद् भ्याम्। भुद्भिः। धकारान्त शब्द समाप्त है।

३७३ ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च ३।२।५९।

एभ्यः क्विन् स्यात्। अलाक्षणिकमपि किञ्चित्कार्यं निपातनाल्लभ्यते। निरुपपदाद् युजेः क्विन्। कनावितौ।

उपपदपूर्वक युज् से क्विप् यजादित्वात् सम्प्रसारण, पूर्वरूप, यण् ऋत्विज् यहां क्विन् या क्विप् में ककार की इत्संज्ञा 'लशक्वतद्धिते' से प् की 'हलन्त्यम्' से, इकार की 'उपदेशे' से केवल वकार अवशिष्ट है उसकी इत्संज्ञार्थ सूत्र बाद में है—'वेरपृक्तस्य'

ऋतु मे या ऋतु को याग करने वाला को ऋत्विज् कहते हैं। अग्निष्टोमादियाग कर्ता मे इस का प्रयोग होता है यह शब्द स्तोमनिधि ने कहा है। प्रागल्भार्थक धृष् धातु से क्विन्, द्वित्व, अन्तोदात्त से ठिठाई करने वाला को दधृक् कहते हैं। विसर्गार्थक सृज् से कर्म में क्विन् अमागम से स्रज् = विश्व की सृष्टि एवं विसर्ग = प्रलय रूप कर्म। स्रजशब्द माला में भी है। अवकाश को देने वाली अर्थ में दिश से कर्म में क्विन् दिश्। प्रीत्यर्थक उत्पूर्वक ष्णिह् से क्विन्। उपसर्ग के अन्त्य का लोप। उष्णिक् = सात अक्षरयुक्त वैदिकछन्द। अन्चु-युजि क्रुञ्च् से क्विन् प्रत्यय करना। क्रुञ्च में नलोप का अभाव निपातन से होता है। सूत्रों द्वारा जिन कार्यों की अप्राप्ति है एवं वे कार्य शिष्टों के अनुरोध से करने हैं तो वे किया जाता है, उन कार्यों का बोधन निपातन से होता है।

३७४ कृदतिङ् ३।१।९३।

सन्निहिते धात्वधिकारे तिङ्भिन्नः प्रत्ययः कृत्संज्ञः स्यात्।

३।१।९१ से धातु का अधिकार 'धातोः' सूत्र से होता है, उस धातु के अधिकार में सूत्र द्वारा विहित = विधीयमान तिङ् भिन्न प्रत्यय की कृत्संज्ञा होती है। इससे युज् धातु से विहित क्विन् का, वि कृत्संज्ञक है, इकार की इत् संज्ञा से 'व्' मात्र अवशिष्ट है 'व्' भी कृत् है। इस 'व्' की अपृक्तसंज्ञा हुई है।

३७५ वेरपृक्तस्य ६।१।६७।

अपृक्तस्य वस्य लोपः स्यात्। कृत्तद्धितेति प्रातिपदिकत्वात्स्वादयः।

अपृक्तसंज्ञक वकार का लोप होता है। कृदन्तत्व का ज्ञान प्रत्ययलक्षण से है, अतः प्रातिपदिक-संज्ञा युज् की है।

३७६ युजेरसमासे ७।१।७१।

युजेः सर्वनामस्थाने नुम् स्यादसमासे। सुलोपः। संयोगान्तलोपः।

समाससंज्ञा का अनवयव क्विन्प्रत्ययान्त युज् को सर्वनामस्थानसंज्ञक प्रत्यय पर रहते, नुम् आगम होता है। नुम् विधायक इस सूत्र में 'प्रतिपदोक्त' परिभाषा से अलाक्षणिक युजिर् योगे का ही ग्रहण है। समाधि अर्थ का वाचक युज से इ प्रत्ययान्त का ग्रहण यहां नहीं है। वहां नुम् न होकर 'युक्' आदि रूप हैं। युज् स्, सर्वनामस्थानसंज्ञा, नुम्, स् लोप, संयोगान्त लोप से 'युन्' बना है।

३७७ क्विन्प्रत्ययस्य कुः ८।२।६२।

क्विन्प्रत्ययो यस्मात् तस्य कवर्गोऽन्तादेशः स्यात्पदान्ते। नस्य कुत्वेनानुनासिको ङकारः। युङ्। नश्चापदान्तस्येति नुमोऽनुस्वारः। परसवर्णः। तस्यासिद्धत्वाच्चोः कुरिति कुत्वं न। युञ्जौ। युञ्जः। युञ्जम्। युञ्जौ। युजः। युजा। युग्भ्यामित्यादि। असमासे किम्।

'क्विनः कुः' ऐसा सूत्र कर जिससे क्विन् प्रत्यय होता है उसका कुत्व होता, पुनः सूत्र में प्रत्यय ग्रहण से यहां अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समास है।

क्विन् प्रत्यय जिससे विधीयमान रहें या किसी भी अवस्था में क्विन् प्रत्यय दिखा हो (न होने पर भी) उस स्थल विशेष में भी कुत्व होता है। अतद् गु० सं० वि० ब० से क्विन् छुट जायगा उसकी प्रकृति मात्र का ही ग्रहण होगा। यथा 'दृष्टसागरमानय' यहां सागररहित केवल दृष्टा मात्र लिया गया उसी प्रकार यहां भी व्यवस्था है। युन् का नकार अनुनासिक है, उसके स्थान में अनुनासिक ङकार हुआ। युङ् = योजना करने वाला। युज औ, नुम्+युन् ज् औ, 'नश्च' से अनुस्वार नकार का, उसका परसवर्ण से ञकार है। ञकार के असिद्ध होने से 'चोः कुः' से कुत्व न हुआ। युञ्जौ, उसी प्रकार 'युञ्जः' आदि रूप हुए। सर्वनामस्थानसंज्ञक प्रत्यय सुट् है, अन्यत्र नुम् का अभाव से युजः, युजा आदि। समास में नुम् नहीं होता है—

३७८ चोः कुः ८।२।३०।

चवर्गस्य कवर्गः स्याज्झलि पदान्ते च। इति कुत्वम्, क्विन्प्रत्ययस्येति कुत्वस्यासिद्धत्वात्। सुयुक्। सुयुग्। सुयुजौ। सुयुजः। युजेरिति धातुपाठ-पठितेकारविशिष्टस्यानुकरणं न त्विका निर्देशः। तेनेह न, युज्यते = समाधत्ते इति युक्। युज समाधौ दैवादिक आत्मनेपदी।

संयोगान्तलोपः खन्। खञ्जौ। खञ्जः, इत्यादि। व्रश्चेति षत्वम्, जश्त्वचर्त्वे। राट्। राड्। राजौ। राजः। राट्त्सु। राट्सु। एवं विभ्राट्। देवेट्। देवेजौ। देवेजः। विश्वसृट्। विश्वसृड्। विश्वसृजौ। विश्वसृजः। इह सृजियुज्योः कुत्वन्नेति क्लीवे वक्ष्यते। परिमृट्। षत्वविधौ राजिसाहचर्यात् टुभ्राज् दीप्ताविति फणादिरेव गृह्यते। यस्तु एजृ भ्राजृ दीप्ताविति तस्य कुत्वमेव। विभ्राक्। विभ्राग्। विभ्राग्भ्याम् इत्यादि।

पदान्त चवर्ग को या झल् परक चवर्ग को कवर्ग होता है। प्रथम कह चुके हैं कि केवल युज को क्विन् प्रत्यय होता है, सुष्ठु युनक्ति = अच्छी तरह संयोजनकर्ता अर्थ में सुयुज् को क्विप् प्रत्यय युज् से यहां हुआ है 'सुयुज् स्' समास होने से नुम् अप्राप्त यहां है। यहां क्विन् प्रत्यय न होते हुए भी केवल युज् ने क्विन्प्रत्यय दिखा है एतावद् मात्र ज्ञान से ही क्विन्प्रत्ययस्य से कुत्व यहां प्राप्त है किन्तु 'चोः कुः' की दृष्टि में वह असिद्ध है अतः यहां जकार का गकार कर 'वाऽवसाने' से विकल्प चर्त्व से ककार से सुयुक् सुयुग् रूपद्वय सिद्ध है।

प्रथम कह चुके हैं कि प्रतिपदोक्त धातु पाठ पठित इकारान्त युजिर् का ग्रहण नुम् विधायक में है, समाध्यर्थक इक् प्रत्ययान्त लाक्षणिक का नहीं है। यतः समाधिकर्ता = में कुत्व, चर्त्व से युक् युग् रूप हैं। चित्तवृत्तिनिरोध पूर्वक ईश्वराराधनार्थकार्य विशेष को समाधि कहते हैं, संप्रज्ञात समाधि, असंप्रज्ञातसमाधि से योगी दो प्रकार के होते हैं योगशास्त्र में इसका विस्तृत बर्णन है, युज धातु समाधि में भी है।

'लूला' अर्थ में खञ्ज् धातु से क्विप् सर्वापहारी लोप प्रातिपदिकसंज्ञा कृदन्त होने से, सु = स्, सकार का लोप। जकार का संयोगान्त लोप। जकार के योग में नकार का अनुस्वार परसवर्ण से ञकार हुआ था उसका निमित्तनाश से निवृत्ति कर खन् रूप हुआ। सम्बोधन मे भी खन्। औ जस् में नकार का अनुस्वार परसवर्ण खञ्जौ आदि। भ्याम् आदि में जकार का संयोगान्तलोप खन्भ्याम् आदि। दीप्त्यर्थक राज् से क्विप् लोप प्रत्यय लक्षण से कृदन्तत्व मान कर प्रातिपदिक संज्ञा सु-स् पदसंज्ञा, स् लोप, व्रश्च से षकारादेश जश् से डकार चर् से टकार। राट् राड् चर्त्व विकल्प से होते हैं। सुप् में डः सि धुट् चर्त्व दो बार से राट्त्सु राट्सु।

सूर्यार्थक विभ्राज् के रूप राज् के तुल्य है। देवताओं को उद्देश कर यज्ञ करने वाला अर्थ में = देव उपपदक यज् धातु से क्विप् सर्वापहारी लोप, यजादित्व से सम्प्रसारण पूर्वरूप देव इज् गुण से देवेज् शब्द है, व्रश्च से षकार, जश्त्व चर्त्व से देवेट् देवड् आदि रूप है। विश्वकर्ता अर्थ में विश्वसृज् क्विप् प्रत्ययान्त है, यहां उपपद समास है, षत्व-जश्त्व वै० चर्त्व से विश्वसृट् विश्वसृड् रूप है सृज् एवं यज् को कुत्व नहीं होता है, वह सप्रमाण विशेष विवेचन नपुंसक लिङ्ग में होगा। शुद्ध करने वाला = परिमृज् क्विबन्त के रूप विश्वसृज के

समान है। 'भ्रश' सूत्र में भ्वादिगण के अन्तर्गण घटादि के अन्तर्गण फणादि है, उसमें पठित राजृ साहचर्य से टुभ्राजृ का ही ग्रहण है, सहचरित एवं असहचरित में सहचरित का ही ग्रहण होता है। 'रामलक्ष्मणौ गच्छतः' यहां लक्ष्मण साहचर्य से बलराम परशुराम आदि का न ग्रहण कर दाशरथि रामचन्द्रजी का ही ग्रहण है। अनेकार्थक शब्दों में शब्द समवेत सामर्थ्य रूप = वाच्य-वाचक भाव रूप शक्ति के निर्णायक संयोग-विप्रयोग-साहचर्य = विरोधिता आदि है, वै० मञ्जूषा में विस्तृत विचार है। "संयोगः" से विशेषस्मृतिहेतवः' इत्यन्त से। विपूर्वक भ्राजृ का विभ्राक् रूप कुत्वादि से हुआ है। विभ्राक्, विभ्राग्।

परौ व्रजेः षः पदान्ते उ० सू० २१७।

परावुपपदे व्रजेः क्विप् स्यात्, दीर्घश्च, पदान्तविषये षत्वञ्च। परित्यज्य सर्वं व्रजतीति परिव्राट्। परिव्राड्। परिव्राजौ। परिव्राजः।

परि उपपद रहते व्रज् धातु से क्विप् प्रत्यय एवं दीर्घ तथा पदान्त में षकार होता है। परिपूर्वक व्रज धातु से क्विप् प्रत्यय षकार, दीर्घ, परिव्राष् जश्त्व चर्त्व से परिव्राट् परिव्राड् दो रूप है, यहां सम्प्रसारण क्विप् निमित्तक प्राप्त रेफ का था किन्तु 'क्विब्वचि' * वार्तिक ने सम्प्रसारणाभाव बोधन किया है। संसारिक सकलपदार्थ का मोह छोड़कर ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त करने वाली संन्यास दीक्षा दीक्षित चतुर्थाश्रय में स्थित संन्यासी को परिव्राट् कहते हैं।

विमर्श—शङ्कराचार्य के पूर्व यह दीक्षा होती थी या नहीं, यह भी गवेषणा का विषय है, या बौद्धधर्म का प्रभाव शाङ्करमत पर अध्यस्त हुआ आदि विचारणीय विषय है। "दण्डग्रहण-मात्रेण नरो नारायणो भवेत्" प्राचीन शास्त्रीय मर्य्यादा से जन्मना ब्राह्मण ही इस चतुर्थाश्रम में नारायणस्वरूप होकर मोक्षार्थ तत्पर होने के लिए यह दीक्षा लेते थे। बाद में अनेक सम्प्रदायादि से अनेकवर्ण संन्यासी पद से विभूषित होने लगे, उनका कई भेद है, नैष्ठिक ब्रह्मचारी आजन्म अविवाहित ब्राह्मण कुलोद्भव शङ्कराचार्य प्रभृति आचार्य होते थे। यह मर्य्यादा शास्त्रीय रही है। साम्प्रतिक विवेचन इस विषय में असामयिक है। संन्यासी धातुपात्र का ग्रहण या स्पर्श न करें, नगर के भीतर निवास न करें। पौष्टिक घृतादि पदार्थों का सेवन न करे, उपदेश या दीक्षा किसी को न दे, केवल आत्मकल्याणार्थ प्रवृत्त रहें, धनादिक का असंग्रही रहें। लौकिक सर्व कर्म त्यागी यह वचन संन्यासी के लिए शास्त्रीय है। स्त्री की छाया भी यदि पड़ जाय तो उपवास से शरीर शुद्धि करें। स्पर्श का तो उनके लिए अत्यन्ताभाव है, यह प्राचीन भारतीय आर्षपद्धति से भारत की विशिष्ट विभूतियों उस समय त्याग से जगद्गुरु पद से विभूषित होती थी, अब अनुकरणमात्र ही हो रहा है, जिससे समाज में हलचल हो रही है। वास्तविक पदार्थ विवेचनार्थ यह विषय प्रस्तुत है, अन्य बुद्धि से नहीं है।

३७९ विश्वस्य वसुराटोः ६।३।१२८।

विश्वशब्दस्य दीर्घः स्याद् वसौ, राट् शब्दे च परे। विश्वं वसु यस्य स विश्वावसुः। राडिति पदान्तोपलक्षणम्। चर्त्वमविवक्षितम्। विश्वाराट्। विश्वाराड्। विश्वराजौ। विश्वराजः। विश्वाराड्भ्यामित्यादि।

वसु या राट् पर रहते विश्वशब्द के अन्त्य अच् का दीर्घ होता है। सब जगत् है धन जिसका = गन्धर्व वाचक यह शब्द है। दीर्घ से विश्वावसुः। वसु=जल, धन, मणि का वाचक

है। 'राट्' में चर्त्व अविवक्षित है पदान्त का उपलक्षण है पदान्त राज् के पर रहते एतावन्मात्र अर्थ है राट् राड् में तात्पर्य नहीं है। यथा 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' में काक पद दहि के नाशक यावत् पदार्थों का बोधक है उसी प्रकार यहाँ व्यवस्था समझनी चाहिये। विश्व में सुशोभित होने वाला = विश्वाराज् है षत्व जश्त्वचर्त्व से विश्वाराट्। विश्वाराड्। 'विश्वराजौ' में राज् पदान्त में नहीं अतः दीर्घ न हुआ।

३८० स्कोः संयोगाद्योरन्ते च ८।२।२९।

पदान्ते झलि च परे यः संयोगस्तदाद्योः सकारककारयो र्लोपः स्यात्। भृट्। भृड्। सस्य श्चुत्वेन शः। तस्य जश्त्वेन जः भृज्जौ। भृज्जः। ऋत्विगित्यादिना ऋतावुपपदे यजेः क्विन्। क्विन्नन्तत्वात् कुत्वम्। ऋत्विक्। ऋत्विग्। ऋत्विजौ। ऋत्विजः। रात्सस्येति नियमात् न संयोगान्तलोपः—ऊर्क्। ऊर्ग्। ऊर्जौ। ऊर्जः। त्यदाद्यत्वं पररूपत्वञ्च।

पदान्त में अथवा झल् के पूर्व रहने वाले संयोग के आदि के सकार और ककार का लोप होता है। पाकार्थक भ्रस्ज् धातु से क्विप् प्रत्यय है। ग्रहिज्या (६।१।१६) से रेफ का ऋकार सम्प्रसारण कर पूर्वरूप से भृस्ज् से सुप्रत्यय कर पद संज्ञा सुलोप, संयोग संज्ञा स्ज् की हुई है, इससे सकार का लोप भृषज् षकारादेश जश् चर् वि० से भृट भृट् = पाककर्ता। 'भृस्ज् औ' में 'स्तोः' सूत्र से सकार को शकार, कर 'झलां जश् झशि' से शकार को जकारादेश भृज्जौ। भृज्ज आदि रूप। ऋतु उपपद में रहते यज् धातु से क्विन् प्रत्यय यज् के य् का संप्रसारण, पूर्वरूप इज् ऋतु के उकार को यण् ऋत्विज् = यज्ञ सम्बन्धी पुरुष विशेष में योगरूढ़ यह है। बार-बार आगमन होता है जिसका उसको ऋतु कहते हैं—गत्यर्थक ऋधातु से कित् तु प्रत्यय है। अर्च्छति = आगच्छति पुनः पुनः ऋतुः। यहां ऋतु शब्द लक्षणा से दक्षिणा द्रव्यलाभार्थक है, उस निमित्त से जो याग कराता है वह भी ऋत्विक् है। यह अर्थ उचित नहीं है, वसन्त आदि ऋतुओं में अग्न्याधानपूर्वक द्विज यज्ञ करते है स्वात्मकल्याणार्थ उसमें ऋत्विक् शब्द का मुख्य प्रयोग है। प्रकृत में ऋत्विज् स् पद संज्ञा कुत्व, जश् चर् से ऋत्विक्, ऋत्विग् प्रयोग सिद्धि है। बलार्थक ऊर्ज् से क्विप्, सुलोप 'चोः कुः' से कुत्व, सयोगान्त लोप का रात्सस्य से नियम द्वारा अर्थत निषेध ऊर्क्, ऊर्ग् = बलवान्। जान्त शब्द समाप्त।

त्यदादिगण पठित हलन्तत्यदादि शब्दों के अन्त्यवर्ण दकारादि को 'त्यदादीनामः' से अकारकर अतो गुणे से पररूप करना चाहिये—यथा—त्यद् स् दकार को अकार पररूप से त्य स् यहाँ सूत्र—

३८१ तदोः सः सावनन्त्ययोः ७।२।१०६।

त्यदादीनां तकारदकारयोरनन्त्ययोः सः स्यात् सौ परे। स्यः। त्यौ। त्ये। त्यम्। त्यौ। त्यान्। सः। तौ। ते। परमसः। परमतौ। परमते। द्विपर्यन्तानामित्येव। नेह, त्वम्। न च तकारोच्चारणसामर्थ्यान्नेति वाच्यम्। अतित्वमिति गौणे चरितार्थत्वात्। संज्ञायां गौणत्वे चात्वसत्वे न। त्यद् त्यदौ त्यदः। अतित्यद्। अतित्यदौ। अतित्यदः यः। यौ। ये। एषः। एतौ। एते। अन्वादेशे तु एनम्। एनौ। एनान् एनेन। एनयोः २।

सुप्रत्यय से अव्यवहित पूर्व अन्त्यभिन्नत्यदादि शब्दावयव तकार एवं दकार को सकारादेश होता है। त्य के तकार को सकार रुत्वविसर्ग स्यः। तद स् अत्व, पररूप सकार को रुत्व विसर्ग इन कार्य से सः। तौ में अ, पररूप, वृद्धि। द्विशब्द तक ही त्यदादि का ग्रहण है, अतः त्यदादि का अवान्तर कार्य सकारादेश वह युष्मदादि में नहीं होता है यथा—'त्वम्'। त्व आदेश का तकारोच्चारण गौण में श्रवणार्थ है, गौण में अत्व सत्व नहीं होता है, अतः त्व आदेश का तकारोच्चारण व्यर्थ नहीं है। यथा अतित्वम्। संज्ञार्थक त्यदादिशब्दों में अकार नहीं होता है। एवं संज्ञा में भी अत्वादि नहीं होते हैं। यह प्रथम विस्तार से कह चुके हैं। यद् का यः रूप है। एतद् शब्द के प्रथमैकवचन सु में अकार, पररूप, सकार, षकार, रुत्वविसर्ग से एषः। एतौ एते। कथितकथनरूप अन्वादेश में एनम् आदि रूप है।

३८२ ङे प्रथमयोरम् ७।१।२८।

युष्मदस्मद्भ्यां परस्य ङे इत्येतस्य प्रथमाद्वितीययोश्चामादेशः स्यात्।

सेवनार्थक युष् धातु से एवं क्षेपणार्थ अस् धातु से मदिक् प्रत्यय है। इक् की इत्संज्ञा लोप युष् मद् अस् मद् का रूप युष्मद्, अस्मद् है। युष्मद् = तुम। अस्मद् = मैं। व्युत्पत्त्यनुसारी अर्थ = सेवनकर्ता। प्रक्षेपणकर्ता। किन्तु रुढ़िशक्ति से ही संसारप्रसिद्ध अर्थ का ग्रहण करना उचित है। यहाँ इन दोनों शब्दों की सिद्धि साथ-साथ चलती है यहाँ कुछ आदेश केवल प्रकृति को होते हैं। कुछ प्रकृति के अवयव को होते है। कुछ आदेश केवल विभक्तियों को होते हैं। एवं कुछ आदेश प्रकृति-प्रत्यय समुदाय को होते हैं। साधनिका के समय यह ज्ञात होगा। सूत्र में लुप्तषष्ठीक 'ङे—' असमस्त पृथक् पद है। प्रथमयोः में एकशेष है—प्रथमा च प्रथमा च प्रथमे तयोः प्रथमयोः। यहाँ एक प्रथमा=सु-औ-जस् अर्थ को बोधन करती है। बाकी बची हुई छः विभक्तियों में प्रथमा = द्वितीया है उस को द्वितीय प्रथमा शब्द बोधन कर—अम् औट् शस् इसका अर्थ है। यहाँ युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश् से युष्मद् अस्मद् की अनुवृत्ति है।

सूत्रार्थ—युष्मद् और अस्मद् शब्द से पर चतुर्थी के एक वचन ङे को एवं प्रथमा, द्वितीया को अम् आदेश होता है। (कयोः प्रथमयोः प्रथमाद्वितीययोः) यह भाष्य भी प्रमाण है।

३८३ मपर्यन्तस्य ७।२।९१।

इत्यधिकृत्य।

यह सूत्र अधिकार है। उत्तरोत्तर सूत्रों में जाकर तत् तत् सूत्रों से विधीयमान अङ्ग को कार्य मकार है अन्त में जिसको ऐसे अंश=युष्म्, या अस्म् को होते है। अन्य को नहीं। इसका अधिकार कर आचार्य आगे का सूत्र कहते है, अतः दो क्रियायें प्रतीयमान हुई। पूर्वकालिक क्रिया वाचक से त्वा समास ल्यप् तुक् से इत्यधिकृत्य सिद्ध हुआ है।

३८४ त्वाहौ सौ ७।२।९४।

युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य त्व अह इत्येतावादेशौ स्तः सौ परे।

युष्मद् एवं अस्मद् शब्द के मपर्यन्त भाग को क्रमश त्व एवं अह आदेश होता है सुविभक्ति पर रहते।

३८५ शेषे लोपः ७।२।९०।

आत्वयत्वनिमित्तेतरविभक्तौ परतो युष्मदस्मदोरन्त्यस्य लोपः स्यात्। अतो गुणे। अमि पूर्वः। त्वम्। अहम्।

इस सूत्र के पूर्व आकारादेश विधायक एवं यकारादेश विधायक सूत्र अष्टाध्यायी में कहे गये हैं उनके निमितभिन्न विभक्तियों को यहाँ शेष पद कहता है।

आकार एवं यकार में निमित्त विभक्तियों से भिन्न विभक्तियों पर रहते युष्मद् एवं अस्मद् शब्द के अन्त्य वर्ण का लोप होता है। आत्व यत्व अपने विषय में लोप को बाध कर लेंगे उनके विषय में लोप नहीं होगा पुनः यहाँ शेष ग्रहण व्यर्थ है, या अन्यफलक है। इस सूत्र में दो पक्ष १—टिलोपपक्ष एवं २—अन्य लोप पक्ष। विशेष विवेचन पश्चात् होगा।

रूपसिद्धि प्रकार—युष्मद् स् अस्मद् स् यहाँ 'ङेप्रथमयोः' से अम् आदेश। युष्म् एवं अस्म् को त्व एवं अह आदेश—'त्व अद् अम्', 'अह अद् अम्' यहाँ 'अतो गुणे' से पररूप कर अन्त्य द् का लोप एवं 'अमि पूर्व' से पूर्वरूप त्वम्। अहम्।

ननु त्वं स्त्री, अहं स्त्री, इत्यत्र त्व अम् अह अम् इति स्थिते अमि पूर्वरूपत्वं परमपि बाधित्वाऽन्तरङ्गत्वाट्टाप् प्राप्नोति, सत्यम, अलिङ्गे युष्मदस्मदी। तेन स्त्रीत्वाभावान्न टाप्। यद्वा 'शेषे' इति सप्तमी स्थानिनोऽधिकरणत्वविवक्षया, तेन मपर्य्यन्ताच्छेषस्य 'अद्' इत्यस्य लोपः स्यात्। स च परोऽपि अन्तरङ्गे अतो गुणे कृते प्रवर्तते। अदन्तात्वाभावान्न टाप्। परमत्वम्। परमाहम्। अतित्वम्। अत्यहम्।

स्त्रीलिङ्ग में भी 'त्वम्' अहम् रूपसिद्ध होता है यहाँ शङ्का करते हैं कि त्व अम् अह अम् यहाँ टाप् को बाधकर परत्व के कारण अमि पूर्व से पूर्वरूप यद्यपि प्राप्त है किन्तु पर से भी अन्तरङ्ग शास्त्र प्रबल है अतः यहाँ टाप् होना चाहिये सो क्यों नहीं हुआ ?, युष्मद् अस्मद् के अर्थ लिङ्गान्वयी नहीं है, अर्थात् इनसे लिङ्ग प्रतीति नहीं है, अतः स्त्रीलिङ्ग वाचक न होने से टाप् न हुआ। यह समाधान भाष्यवार्तिक विरुद्ध है—"शीशिलुकनुम्विधिभ्यो युष्मदस्मदादेशाः विप्रतिषेधेन" यह भाष्यवार्तिक है, यदि इन शब्दों से लिङ्ग की अप्रतीति होती तो नपुंसक लिङ्गक वे नहीं ऐसी परिस्थिति में शीशि आदि कार्य प्राप्त ही नहीं यह वार्तिक व्यर्थ होगा अतः स्त्रीत्वादि अर्थ प्रत्यायक होने से टाप् क्यों नहीं हुआ ? 'शेषस्य लोपः' इस अर्थ में स्थानी को अधिकरणत्व विवक्षा से सप्तमी कर लाघवार्थ 'शेषे' सूत्र में कहा गया है, अर्थ निर्दिश समय वह षष्ठ्यन्तार्थ प्रत्यायक है, वह लोप पररूप से पर है तो भी अन्तरङ्ग पररूप के पश्चात् ही होता है पररूप कर के लोप करना ही होता है अब अर्थ यह होता है कि "मपर्यन्तात् शेषस्य (अद्) लोपः। जब टिलोप हुआ तो त्व् अह् हलन्त हो गये अकारान्त नहीं है, टाप् की प्राप्ति नहीं है, त्वं स्त्री अहं स्त्री वे प्रयोग निर्बाध सिद्ध हुए। कर्मधारयसमासयुक्त परमयुष्मद् परमास्मद् का परमत्वम्। परमाहम् रूप होते हैं। गौण = उपसर्जन में भी त्व अह आदेश से अतियुष्मद् का अत्यस्मद् का अतित्वम्। अत्यहम् रूप होते हैं। गौणमुख्यन्याय विभक्ति निमित्तक कार्य या स्त्रीत्वनिमित्तक कार्य में नहीं लगता है। यहाँ अङ्गाधिकार से तदन्त विधि है 'तस्य तदन्तस्य' तस्य अंश व्यपदेशिवद्भाव लब्ध है तदन्त अंश वास्तविक है अङ्ग विशेष्यक गृह्यमाण विशेषणक तदन्तविधि होती है।

३८६ युवावौ द्विवचने ७।२।९२।

द्वयोरुक्तौ युष्मदस्मदो र्मपर्य्यन्तस्य युवावौ स्तो विभक्तौ ।

यहां 'द्विवचने' का अर्थ विभक्ति में विशेषण नहीं है । ऐसा होता तो 'द्वित्वे' यही लाघवार्थ कहते । अतः द्वित्व संख्या युक्त संख्येय (द्रव्य) अर्थ का वाचक युष्मद् एवं अस्मद् शब्द उसके मपर्य्यन्त अंश को विभक्ति पर रहते युव आव आदेश होता है । इससे यह स्पष्ट सिद्ध हुआ कि किसी भी विभक्ति पर रहते युवाव आदेश होते हैं ।

३८७ प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम् ७।२।८८।

इह युष्मदस्मदोराकारोन्तादेशः स्यात् । औङित्येव सुवचम् ! भाषायां किम्, युवं वस्त्राणि । युवाम् । आवाम् । मपर्यन्तस्य किम् ? साकच्कस्य मा भूत् । युवकाम् । आवकाम् । त्वया मयेत्यत्र 'त्व्या' 'म्या' इति मा भूत् । 'युवकाभ्याम्' 'आवकाभ्याम् इति च न सिद्ध्येत् ।

प्रथमा के द्विवचन में भाषा में युष्मद्, एवं अस्मद् शब्द को आकार अन्तादेश होता है । सूत्र में 'औङ्' इतना न्यास करते 'प्रथमायाश्च द्विवचने' यह व्यर्थ है । वैदिकमन्त्र में 'युवाम्' न हो एतदर्थ सूत्र में भाषा शब्द का उच्चारण है । "युवं वस्त्राणि" यह मन्त्रांश है । ऋ० वे० म० १ सू० १५२१, तै० २।८।६।६। "युवं वस्त्राणि पीवसावसाथे युवोराच्छिद्रा मन्तवो ह सर्गाः । अवातिरतमनृतानि विश्व ऋतेन मित्रावरुणा सचेथे" । यह ऋग्वेद मन्त्र समावर्तन काल में नूतन वस्त्र धारण में विनियुक्त है । हे मित्रावरुणौ (मित्र एवं वरुण !) छिद्ररहित, आच्छादन योग्य वस्त्रों को आप दोनों धारण कर रहे हैं । आप लोगों की सृष्टिएँ अविच्छिन्न मननशील है । ऐसे आप दोनों सर्वजनों के असत्य एवं अप्रिय पापों को नाश करें । एवं फलों से युक्त जनसाधारण को करें तथा फल प्राप्ति के साधन यज्ञों से हम लोगों को संयुक्त करें ।

सूत्र में 'मपर्यन्तस्य' का अधिकार न करते तो 'युवावौ' सूत्र से विधीयमान युव एवं आव सम्पूर्ण युस्मद् अस्मद् को होते तो भी 'युवाम्' 'आवाम्' में कोई दोष नहीं है किन्तु अकच् घटित युष्मकद् एवं अस्मकद् में सर्वादेश होने पर 'युवकाभ्याम्' 'आवकाभ्याम्' इष्ट प्रयोग न सिद्ध होते यहां भी युव आव सर्वादेश से 'युवाम्' 'आवाम्' अनिष्ट रूप की प्रसक्ति निवारणार्थ अधिकार सूत्र है । अधिकार सूत्र वादी का कथन है कि ओकार सकार भकारादि से भिन्न सुप् रहे वहां सुबन्त की टिके पूर्व ही अकच् होता है । अन्यत्र सर्वनाम की टिके पूर्व, में, अतः युवकाभ्याम् आदि में कोई दोष यद्यपि नहीं है तो भी युवकाभ्याम् आवकाभ्याम् यहां दोष है एवं त्वया मया अधिकार के अभाव में नहीं होगा त्व म आदेश सम्पूर्ण को होकर योऽचि से अन्त्य को यादेश से त्व्या म्या रूप अनिष्ट निवारणार्थ अधिकार है । 'अच्ये' अजादि विभक्ति पर रहते पूर्व को एकार होता है न्यासान्तर में त्वया मया में दोष नहीं है । किन्तु पूर्वोक्त दोष वारणार्थ सूत्र मपर्य्यन्तस्य आवश्यक है

प्रयोगसिद्धि---युष्मद् औ, अस्मद् औ, अमादेश, मपर्यन्त को युव आव आदेश से पूर्वरूप युवाम् । आवाम् ।

३८८ यूयवयौ जसि ७।२।९३।

स्पष्टम् । यूयम् । वयम् । परमयूयम् । परमवयम् । अतियूयम् । अतिवयम् । इह शेषे लोप इत्यन्तलोपपक्षे जशः शी प्राप्तः, अङ्गकार्ये कृते पुनर्नाङ्गकार्यमिति न भवति, ङेप्रथमयोरित्यत्र मकारान्तरं प्रश्लिष्य अम् मान्त एवावशिष्यते न तु विक्रीयत इति व्याख्यानाद् वा ।

जस् विभक्ति पूर्व युष्मद् अस्मद् के मपर्यन्त भाग को क्रमशः यूय वय आदेश होता है। युष्मद् जस्, अस्मद् जस्, यहां अमादेश, यूय वय आदेश, अतो गुणे पररूप, यूयद् अम्, वयद् अम् यहां स्थानिवद् भाव से अम् में जश्त्व बुद्धि कर 'शेषे' से अन्त्य का लोपकर शीभाव की प्राप्ति है तथापि वह नहीं होता है। अङ्गाधिकारीयकार्य के बाद पुनः अङ्गाधिकारीय कार्य नहीं होता है। यहां अङ्गस्य के अधिकार युक्त 'ङे प्रथमयोरम्' है। उससे अम्रूप अङ्गाधिकारीय कार्य हो गया है अतः पुन अङ्गाधिकारीय कार्य = 'जसः शी' नहीं होता है। इस परिभाषा में प्रमाण—'ज्ञाजनोर्जा' 'जानाति' यहां ज आदेश कर के अतो दीर्घो यञि से दीर्घकर जानाति बनता पुनः जादेश में आकारोच्चरण व्यर्थ होकर इस परिभाषा को ज्ञापन करता है, वहां ज के बाद दीर्घ न होगा एतदर्थ दीर्घ स्वांशे में कृतार्थ हुआ। किन्तु यह परिभाषा भाष्य सम्मत नहीं इस लिए दूसरा समाधान करते हैं कि अम्आदेश के अम् के बाद एक मकारान्तर का प्रश्लेष है, उस मकार का संयोगान्त लोप है अतः प्रश्लेष करण सामर्थ्य से 'अम् अमेव' अन् अम् ही रहता है उसके स्थान में अन्यकार्य (शी) नहीं होता।

प्रथमा—त्वम्, युवाम्, यूयम्। अहम् आवाम् वयम्। इति प्रथमा।

३८९ त्वमावेकवचने ७।२।९०।

एकस्योक्तौ युष्मदस्मदो र्मपर्यन्तस्य त्वमौ स्तो विभक्तौ ।

यहां एकत्वे कहते वचनग्रहण से एकवचन विभक्ति का विशेषण नहीं है। किन्तु युष्मद् अस्मद् अर्थान्वयी है—एकत्व संख्या विशिष्ट संख्येय द्रव्य अर्थ में विद्यमान जो युष्मद् अस्मद् उसके मपर्यन्त भाग को त्व, म आदेश कमशः होते हैं विभक्ति पर रहते। अर्थात् किसी भी विभक्ति पर रहते आदेश होते हैं)। युष्मद् अम् अस्मद् अम्, मेघवत् शास्त्र प्रवृत्ति से अम् को अमादेश, त्व म आदेश, पररूप त्वद् अम्, मद् अम्।

३९० द्वितीयायाञ्च ७।२।८७।

युष्मदस्मदोराकारादेशः स्यात् । त्वाम् । माम् । युवाम् । आवाम् ।

युष्मद्, अस्मद् को आकार अन्तादेश होता है द्वितीया विभक्ति पर रहते त्वद् अम्, मद् यहां आकार कर सवर्णदीर्घ के बाद पूर्वरूप से त्वाम्। माम्। युष्मद् औ अस्मद् औ, अमादेश, युव आव आदेश, पररूप, युवद् अम्, आवद् अम्, आकारादेश दीर्घ पूर्वरूप युवाम्। आवाम्।

३९१ शसो न ७।१।२९।

नेत्यविभक्तिकं पदम् । युष्मदस्मद्भ्यां परस्य अमो नकारः स्यात् । अमोऽपवादः । आदेः परस्य । संयोगान्तस्य लोपः । युस्मान् । अस्मान् ।

यहां न के बाद की प्रथमा का सुपां सुलुक् से लुक् है सम्प्रति न विभक्ति रहित है। नकार में अकार उच्चारणार्थक है, व्यञ्जन मात्र ही विधेय है। यह सूत्र 'ङे प्रथमयोः' का बाधक है, युष्मद् शस्, अस्मद् शस् शकार की इत् संज्ञा लोप अस् को न् प्राप्त है अलोऽन्त्यस्य से अन्त्य स् को प्राप्त न् था किन्तु आदेः परस्य से आदि अकार को न् आदेश हुआ। सकार का संयोगन्तरस्य से लोप द्वितीयायाञ्च से आकारादेश यकार को, दीर्घ से युष्मान्, अस्मान् द्वितीया—त्वाम्। युवाम्। युष्मान्। माम्, आवाम्, अस्मान् (इति द्वितीया।

३९२ योऽचि ७।२।८९।

अनयोर्यकारादेशः स्यादनादेशेऽजादौ परतः। त्वया। मया।

युष्मद् शब्द एवं अस्मद् शब्द के अन्त्य अल् को यकारादेश होता है, अजादि विभक्ति पर रहते। युष्मद् य (आ) अस्मद् आ, यहां त्वमावेकवचने से त्व, म आदेश पररूप त्यद् आ, मद् आ द् को य् आदेश त्वया मया। यकार में अकार उच्चारणार्थक है।

३९३ युष्मदस्मदोरनादेशे ७।२।८६।

अनयोराकारः स्यादनादेशे हलादौ विभक्तौ। युवाभ्याम्। आवाभ्याम्। युष्माभिः। अस्माभिः।

आदेश रहित हलादि विभक्ति पर रहते युष्मद् अस्मद् को आकार अन्तादेश होता है। युष्मद् भ्याम्, अस्मद् भ्याम्, यहां युव आव आदेश, पररूप, आकार से युवाभ्याम्। आवाभ्याम्। युष्मद् भिस्, अस्मद् भिस् आकार, दीर्घ युष्माभिः। अस्माभिः।

तृतीया—त्वया। युवाभ्याम्। युष्माभिः। मया। आवाम् अस्माभिः। इति तृतीया।

३९४ तुभ्यमह्यौ ङयि ७।२।९५।

अनयो र्मपर्यन्तस्य तुभ्यमह्यौ स्तो ङयि। अमादेशः। शेषे लोपः। तुभ्यम्। मह्यम्। परमतुभ्यम्। परममह्यम्। अतितुभ्यम्। अतिमह्यम्। युवाभ्याम्। आवाभ्याम्।

चतुर्थी एकवचन विभक्ति पर रहते युष्मद् एवं अस्मद् शब्द के मपर्यन्तभाग को क्रमशः तुभ्य एवं मह्य आदेश होता है। युष्मद् ए, अस्मद् ए, तुभ्य अद् ए, मह्य अद् ए, एकार को अमादेश, पररूप, 'शेषे' से दकार लोप पक्ष में अतो गुणे से पररूप टिलोप पक्ष में अद् का लोप सम्मेलन तुभ्यम्। मह्यम्। कर्मधारय समास में युष्मदर्थ अस्मदर्थ को विशेष्यत्व लक्षण प्रधानता है वहीं भी परमतुभ्यम्। परममह्यम् रूप है। अतियुष्मद्, अत्यस्मद् में अत्यर्थ विशेष्य है, युष्मदर्थ अस्मदर्थ में विशेषणत्व प्रयुक्त अप्राधान्य रूप गौणत्व है तो भी तुभ्य मह्य आदेशादि कार्य से अतितुभ्यम्। अतिमह्यम्। द्विवचन में पूर्ववत् यूवाभ्याम्, आवाभ्याम्।

३९५ भ्यसोऽभ्यम् ७।१।३०।

भ्यसो भ्यम्, अभ्यम् वा आदेशः स्यात्। आद्यः शेषे लोपस्यान्त्यलोपत्व एव। तत्राङ्गवृत्तपरिभाषया एत्वं न। अभ्यम् तु पक्षद्वयेऽपि साधुः युष्मभ्यम्। अस्मभ्यम्।

युष्मद् अस्मद् से पर भ्यस् को भ्यम् या अभ्यम् आदेश होता है। युस्मद् भ्यस्, अस्मद् भ्यस्, भ्यम् आदेश शेषे से अन्त्य द् का लोप युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम् यहां बहुवचने झल्येत् से एकारादेश प्राप्त है किन्तु वह 'अङ्गकार्ये पुनर्नाङ्गकार्यम्' परिभाषा से एक अङ्गधिकारीय कार्य भ्यम् किया, पुनः अङ्गाधिकारीय एकार रूप कार्य नहीं हुआ। अभ्यम् आदेश भ्यस् को करने पर एकारादेश की प्राप्ति ही नहीं है। अभ्यम् कर अन्त्य लोप पक्ष में अतो गुणे से पर-रूप, टिलोप पक्ष में केवल सम्मेलन। युष्मभ्यम्। अस्मभ्यम्।

चतुर्थी—तुभ्यम्। युवाभ्याम् युष्मभ्यम्। मह्यम्। आवाभ्याम्। अस्मभ्यम्। इति चतुर्थी।

३९६ एकवचनस्य च ७।१।३२।

आभ्याम् पञ्चम्येकवचनस्य अत् स्यात्। त्वत्। मत्। ङसेश्चेति सुवचम्। युवाभ्याम्। आवाभ्याम्।

युष्मद् एवं अस्मद् शब्द से पर पञ्चमी के एकवचन के स्थान में अत् आदेश होता है। यहां ङसेः यह न्यास उचित था इन दोनों से पर ङसि को अत् आदेश होता है। वस्तुतः एकवचन संज्ञा है, संज्ञा वाचक शब्द की अर्धमात्र है। यह वैयाकरणों का सिद्धान्त है। ङसेश्च में अनेक मात्रा प्रयुक्त गौरव है, वैयाकरणगण अर्धमात्र के लाघव मात्र से पुत्रजन्म के समान उत्सव को मनाते हैं। अतः यथाश्रुत न्यास ही ठीक है। युष्मद् ङसि (अस्) अस्मद् अस् यहां त्व एवं म आदेश, पररूप अस् को अत्, अन्त्य लोप में अतो गुण पररूप, टिलोप पक्ष में संयोजन मात्र से त्वत्। मत्। युवाभ्याम्। आवाभ्याम्। पूर्ववत्।

३९७ पञ्चम्या अत् ७।१।३१।

आभ्यां पञ्चम्या भ्यसोऽत् स्यात् युष्मत्। अस्मत्।

युष्मद् अस्मद् शब्द से पर पञ्चमी के भ्यस् को अत् आदेश होता है। युष्मद् भ्यस्, अस्मद् भ्यस् अत् आदेश, अन्त्य लोप पक्ष में अतो गुणे से पररूप। टिलोप पक्ष में संयोजन मात्र, युष्मत्। अस्मत्। पञ्चमी—त्वत्। युवाभ्याम्। युष्मत्। मत्। आवाभ्याम्। अस्मत् इति पञ्चमी।

३९८ तवममौ ङसि ७।२।९६।

अनयो र्मपर्य्यन्तस्य तवममौ स्तो ङसि।

युष्मद् एवं अस्मद् शब्द के मपर्यन्त भाग को क्रमशः तव मम आदेश होता है, ङस् पर रहते। युष्मद् ङस् (अस्) तव मम आदेश मपर्यन्त को, अतो गुणे पररूप से तवद् अस्, ममद् अस्।

३९९ युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश् ७।१।२७।

स्पष्टम्। तव। मम। युवयोः। आवयोः।

युष्मद् शब्द एवं अस्मद् शब्द से पर ङस् को अश् आदेश होता है। तवद् अ, ममद् अ। अन्त्य लोप में पररूप। टिलोप में संयोजन। तव। मम। युष्मद् ओस्, अस्मद् ओस् युव, आव आदेश, पररूप, योऽचि से दकार को यकार सकार को रुत्व विसर्ग से युवयोः। आवयोः।

४०० साम आकम् ७।१।३३।

आभ्यां परस्य साम आकम् स्यात्। भाविनः सुटो निवृत्त्यर्थं ससुट्कनिर्देशः। युष्माकम्। अस्माकम्। त्वयि। मयि। युवयोः। आवयोः। युष्मासु। अस्मासु।

युष्मद् एवं अस्मद् शब्द से पर साम् के स्थान में आकम् आदेश होता है। युष्मद् आम्, अस्मद् आम् यहां आम् को साम् समझकर आकम् आदेश, अन्त्यलोप पक्ष में दीर्घ टिलोप पक्ष में संयोजन, युष्माकम्। अस्माकम्।

विमर्श—यहां आकम् आदेश का स्थानी साम् है, वह यहां नहीं है किन्तु आम् है।

सुट् के बाद ही साम् यहां सम्भव है, अतः सुट् प्रवृत्ति के लिए अवर्णान्त अङ्ग की आवश्यकता है, अवर्णान्त अङ्ग शेषे लोप से अन्त्य लोप होने से हो सकता है। किन्तु शेष लोपः सूत्र की यहां कब प्रवृत्ति हो सकती है, जब आत्व यत्वादिक की अप्रवृत्ति होने पर। उनकी अप्रवृत्ति कब सम्भव है, आदेश विभक्ति होने पर, आदेश विभक्ति यहां कब सम्भव है, आकम् आदेश करने पर, आकम् आदेश कब सम्भव है स्थानी साम् रहे तब, साम् स्थानी सत्ता सुट् आगमाधीन है, सुट् की प्रवृत्ति अवर्णान्त अङ्ग से पर आम् मिलने पर, इस प्रकार यहां चक्रकापत्ति दोष है क्या किया जाय ?,

'आम आकम्' यह न्यास सम्भव है किन्तु आम् को आकम् करने पर स्थानिवद्भाव से आकम् में आम्त्व बुद्धि से अन्य लोप करने पर सुट् होकर अनिष्ट रूप सिद्धि होगी। (समाधान) आम् में ही आहार्य्यारोप से साम्त्व बुद्धि कर आकम् किया स्थानिवद्भाव से साम्त्व बुद्धि होगी, आम्त्व नहीं अतः सुट् न।

इस प्रकार के ज्ञान में सौत्र निर्देश ही प्रमाण है। इस निर्देश से शेषे लोप में अन्त्य लोप पक्ष भी प्रामाणिक है, केवल टिलोप पक्ष होता तो यह सब प्रयास व्यर्थ होता, सौत्र निर्देश अनुपपन्न होता। भावि सुट् निवृत्ति के लिए यह प्रयास एवं साम निर्देश है। युष्मद् आकम् अस्मद् आकम्, अन्त्य लोप दीर्घ युष्माकम्। अस्माकम्।

षष्ठी—तव। युवयोः। युष्माकम्। मम। आवयोः। अस्माकम्। इति षष्ठी।

युष्मद् ङि (इ) अस्मद् इ, त्व, म आदेश, पररूप, यकारादेश त्वयि, मयि, युवयोः आवयोः युष्मासु में आकारादेश दीर्घ एवं अस्मासु।

सप्तमी—त्वयि। युवयोः। युष्मासु। मयि। आवयोः। अस्मासु। इति सप्तमी।

"समस्यमाने द्व्येकत्ववाचिनी युष्मदस्मदी।
समासार्थोऽन्यसंख्यश्चेत्स्तो युवावौ त्वमावपि ॥ १ ॥
सुजस्ङेङस्सु परतः आदेशाः स्युः सदैव ते।
त्वाहौ यूयवयौ तुभ्यमह्यौ तवममावपि ॥ २ ॥
एते परत्वाद् बाधन्ते युवावौ विषये स्वके।
त्वमावपि प्रबाधन्ते पूर्वविप्रतिषेधतः ॥ ३ ॥
द्व्येकसंख्यः समासार्थे बह्वर्थे युष्मदस्मदी।
तयोरद्व्येकतार्थत्वान्न युवावौ त्वमावपि" ॥ ४ ॥

प्रथम कह चुके हैं कि 'द्विवचने' 'एकवचने' में वे विभक्ति के विशेषण नहीं है। किन्तु युष्मद् अस्मद् के अर्थ में अन्वयी है। द्वित्वविशिष्टार्थक, एवं एकत्वविशिष्टार्थक युष्मद् अस्मद् यह अर्थ है विभक्ति सामान्य, आदेश में निमित्त है, विशेष विभक्ति नहीं। इस व्यवस्था को स्पष्ट समझने पर ही कारिकाओं का अर्थ ज्ञान सम्भव है।

१—(का० अर्थ) समास में युष्मद् एवं अस्मद रहें और जो वह द्वित्वविशिष्टार्थक रहे अथवा एकत्वविशिष्टार्थक रहें और जब चाहे सब सामासिक शब्द अन्य वचन में भी हो जाय तो भी उसके अन्तर्गत स्थानी को युव, आव, त्व, म, ये आदेश होते हैं।

२—(का० अ०) परन्तु सु, जस्, ङे ङस् प्रत्यय आगे हो तो त्व, अह, यूय, वय, तुभ्य, मह्य, तव, मम, ये आदेश क्रमशः सदैव होता है।

३—(का० अ०) कारण की जहां इनका विषय आता है, वहां युव आव इनको वे परत्व के कारण बाधक होते हैं, और त्व, म, इनके भी ये पूर्व विप्रतिषेध करके बाधक होते हैं।

४—(का० अ०) समास का अर्थ जो द्विवचन का, अथवा एक वचन का हो और उसमें के युष्मद् अस्मद् बहुवचन के हो तो उस बीच के शब्दों में द्वित्व अथवा एकत्व न होने से उनके स्थान में युव, आव, और त्व, म, नहीं होते।

त्वां मां वा अतिक्रान्त इति विग्रहे अतित्वम्। अत्यहम्। अतित्वाम्। अतिमाम्। अतियूयम्। अतिवयम्। अतित्वाम् २। अतिमाम् २। अतित्वान्। अतिमान्। अतित्वया। अतिमया। अतित्वाभ्याम्। अतिमाभ्याम्। अतित्वाभिः। अतिमाभिः। अतितुभ्यम्। अतिमह्यम्। अतित्वाभ्याम्। अतिमाभ्याम्। अतित्वभ्यम् अतिमभ्यम्। ङसिभ्यसोः। अतित्वत् २। अतिमत्। भ्यामि प्राग्वत्। अतितव अतिमम। अतित्वयोः। अतिमयोः। अतित्वाकम्। अतिमाकम्। अतित्वयि। अतिमयि। अतित्वयोः। अतिमयोः। अतित्वासु। अतिमासु।

(अर्थ) तुमको या हमको छोड़ कर गया ऐसे अर्थ में अतियुष्मद् एवं अत्यस्मद् शब्द है। इनके रूप पूर्वोक्त हैं। अतिक्रान्तः। अतिक्रान्तौ अतिक्रान्ताः, आदि बदलते जायेगें किन्तु युष्मदर्थ एवं अस्मदर्थ एकत्वविशिष्ट संख्येय = द्रव्यार्थक ही है। अतः एकत्वाश्रय निमित्तक स्थानी के स्थान में त्व म वहां होते हैं जहां बाधक विषय नहीं हैं।

युवाम् आवां वा अतिक्रान्त इति विग्रहे सु जस् ङे ङसस्सु प्राग्वत्। औ-अम् औट्सु अतियुवाम् ३। अत्यावाम् ३। अतियुवान्। अत्यावान्। अतियुवया। अत्यावया। अतियुवाभ्याम् ३। अत्यावाभ्याम् ३। अतियुवाभिः। भ्यसि अतियुवभ्यम्। अत्यावभ्यम्। ङसिभ्यसोः—अतियुवत् २। अत्यावत् २। ओसि अतियुवयोः २। अत्यावयोः २। अतियुवाकम्। अत्यावाकम्। अतियुवयि। अत्यावयि। अतियुवासु। अत्यावासु।

तुम दोनों को या हम दोनों को छोड़ कर गया इस विग्रह में अतियुष्मद्, अत्यस्मद् शब्द लिया जाय तो दोनों शब्द द्वित्व संख्याविशिष्ट संख्येय द्रव्यवाचक हो अतः बाधक विषय को

छोड़ कर युव आव आदेश होते हैं समासार्थ अन्य संख्यक रहे तो भी। रूप पूर्व में लिखे गये हैं। कुछ प्रथम की तरह है, कुछ नये हैं।

युष्मान् अस्मान् वेति विग्रहे, सुजस् ङेङस्सु प्राग्वत्। औ अम्—औट्सु अतियुष्माम् ३। अत्यस्माम् ३। अतियुष्मान्। अत्यस्मान्। अतियुष्मया। अत्यस्मया। अतियुष्माभ्याम् ३। अत्यस्माभ्याम् ३। अतियुष्मामि। अत्यस्माभिः। भ्यसि अतियुष्मभ्यम्। अत्यस्मभ्यम्। ङसिभ्यसोः—अतियुष्मत्। अत्यस्मद्। ओसि अतियुष्मयोः २। अत्यस्मयोः २। अतियुष्माकम्। अत्यस्माकम्। अतियुष्मयि। अत्यस्मयि। अतियुष्मासु। अत्यस्मासु।

तुम लोगों को हम लोगों को छोड़ कर गया इस विग्रह में अतियुष्मत् अत्यस्मत् शब्दा के रूप एकवचन, बहुवचन, चतुर्थी और षष्ठी के एकवचन में पूर्ववत् रूप है। यहां युष्मदर्थ, अस्मदर्थ बहुत्व संख्यायुक्त द्रव्यार्थक है अतः युव, आव त्व म नहीं होते हैं।

४०१ पदस्य ८।१।१६।

पद का अधिकार अग्रिम सूत्रों में जाता हैं। यह अधिकार सूत्र है।

४०२ पदात् ८।१।१७।

इसका भी अधिकार है।

४०३ अनुदात्तं सर्वमपादादौ ८।१।१८।

इत्यधिकृत्य।

इन तीन पदों का भी उत्तर सूत्रों में सम्बन्ध है। तीन अधिकार सूत्र मिल कर यह अर्थ हुआ कि—पद से पर पाद के आदि में न रहे तब सम्पूर्ण पद को वक्ष्यमाण आदेश अनुदात्त होते हैं।

४०४ युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वांनावौ ८।१।२०।

पदात्परयोरपादादौ स्थितयोरनयोः षष्ठ्यादिविशिष्टयोर्वान्नावित्यादेशौ स्तः तौ चानुदात्तौ।

किसी पद के अनन्तर हो परन्तु पद्यरचना में पाद के आरम्भ में न हो ऐसे युष्मद् अस्मद् शब्द षष्ठी, चतुर्थी, द्वितीयाविशिष्ट हो तो उनके स्थान में वाम् नौ आदेश होते हैं, वे अनुदात्त हैं।

४०५ बहुवचनस्य वस्नसौ ८।१।२१।

उक्तविधयोरनयोः षष्ठ्यादिबहुवचनान्तयोर्वस्नसौ स्तः। वान्नावोरपवादः।

पद से पर अपाद के आदि में स्थित षष्ठी, चतुर्थी, द्वितीया के बहुवचनान्त युष्मद् अस्मद् शब्द के स्थान में वस् एवं नस् आदेश होते हैं। यह वस एवं नस् आदेश वाम् एवं नौ के अपवाद हैं।

४०६ ते मयावेकवचनस्य ८।१।२२।

उक्तविधयोरनयोः षष्ठीचतुर्थ्येकवचनान्तयोस्ते मे एतौ स्तः।

पद से पर पाद के आदि में अस्थित षष्ठी एवं चतुर्थी के एकवचनान्त युष्मद् अस्मद् को ते में आदेश अनुदात्त होते हैं।

४०७ त्वमौ द्वितीयायाः ८।१।२३।

द्वितीयैकवचनान्तयोस्त्वा मा एतौ स्तः।

पद से पर पाद के आदि में अस्थित द्वितीया के एकवचनान्त युष्मद् और अस्मद् के स्थान में अनुदात्त त्वा एवं मा आदेश होते हैं।

"श्रीशस्त्वाऽवतु मापीह दत्तात्ते मेऽपि शर्म सः।
स्वामी ते मेऽपि स हरिः पातु वामपि नौ विभुः॥
सुखं वां नौ ददात्वीशः पतिर्वामपि नौ हरिः।
सोऽव्याद्वो नः शिवं वो नो दद्यात् सेव्योऽत्र वः स नः॥

(का० अ०) लक्ष्मीपति तुम्हारी और मेरी भी रक्षा करें। यहां श्रीः पद के पश्चात् श्लोकपद के आदि में अस्थित 'त्वाम्' को 'त्वा' आदेश है। अवतु पद के बाद अपादादि 'मान्' को 'मा' आदेश है। वह तुमको और मुझको कल्याण दे। यहां 'तुभ्यम्' को 'ते' आदेश है। 'मह्यम्' को 'मे' आदेश है। वह हरि तेरा और मेरा स्वामी है। 'तव' को यहां 'ते' आदेश है, एवं 'मम' को 'मे' आदेश है। ईश्वर तुम दोनों की एवं हम दोनों की भी रक्षा करें। यहां 'युवाम्' को 'वाम्' आदेश है। 'आवाम्' को 'नौ' आदेश है। ईश्वर तुम दोनों को एवं हम दोनों को सुख दें। यहां 'युवाभ्याम्' को 'वाम्' आदेश 'आवाभ्याम्' को 'नौ' आदेश है। वह विष्णु तुम दोनों का स्वामी (पति) है, एवं हम दोनों का भी पति है। 'युवयोः' के स्थान में 'वाम्' आदेश है। 'आवयोः' के स्थान में नौ आदेश है। वह तुम लोगों की रक्षा करें एवं हम लोगों की भी रक्षा करें। यहां 'युष्मान्' को वस् आदेश है। 'अस्मान्' को नस् आदेश है। वह तुम सर्व की रक्षा करें एवं हम सर्व की रक्षा करें। यहां 'युष्मभ्यम्' को 'वस्' आदेश है, एवं 'अस्मभ्यम्' को 'नस्' आदेश है। इस संसार में वह ईश्वर तुम सबको और सबको सेव्य = भजनीय है। यहां 'युष्माकम्' को 'वस्' आदेश एवं 'अस्माकम्' को नस् आदेश होता है।

पदात्परयोः किम् ?, वाक्यादौ मा भूत्—'त्वाम् पातु' 'माम् पातु'। आपादादौ किम् ?—"वेदैरशेषैः संवेद्योऽस्मान् कृष्णः सर्वदाऽवतु"।

स्थग्रहणाच्छ्रूयमाणविभक्तिकयोरेव नेह—'इति युष्मत्पुत्रो ब्रवीति। इत्यस्मद्पुत्रो ब्रवीति ❀ समानवाक्ये निघातयुष्मदस्मदादेशा वक्तव्याः ❀। एक तिङ्वाक्यम्। तेनेह न—ओदनं पच तव भविष्यति। इह तु स्यादेव—शालीनां ते ओदनं दास्यामीति। एते वां नावादय आदेशा अनन्वादेशे वा वक्तव्याः। अन्वादेशे तु नित्यं स्युः। धाता ते भक्तोऽस्ति, धाता तव भक्तोऽस्ति वा। तस्मै ते नम इत्येव।

त्वाम् , माम् वाक्य के आदि में होने से यहाँ त्वा, एवं मा, आदेश न हुए। सम्पूर्ण वेदों से ज्ञातव्य वह श्रीकृष्ण हम लोगों की सदा रक्षा करे इस पद्य में 'अस्मान्' पद के आदि है, अतः नसादेश न हुआ। यहाँ स्मान् में परादिवद्भाव 'से अन्तादिवच्च' ने पदत्वधर्मारोप किया है, एवं एक अवयव से विकृत अवयवी अन्य सदृश नहीं, अर्थात् वही है, एतदर्थ बोधक 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' से 'स्मान्' में अस्मद् शब्द बहुवचनत्व का ज्ञान करना चाहिये।

प्रत्ययलक्षण से समास में लुप्तविभक्तिज्ञान स्थल में पूर्वोक्ति आदेश सूत्र में स्थग्रहण से नहीं होते हैं, श्रूयमाणविभक्ति स्थल में ही होते हैं इसमें स्थग्रहण प्रमाण है। 'युष्मत्पुत्रः' यहाँ समास षष्ठीतत्पुरुष है। युष्माकं पुत्रः युष्मत्पुत्रः। एकवचनान्त में तो 'त्वत्पुत्रः' प्रत्ययोत्तरपदयोः' सूत्र से होता है। इसी प्रकार अस्माकं पुत्रः अस्मत्पुत्रः। एकवचनान्तविग्रह से समास में 'मत्पुत्रः' होता है। यह तद्धितप्रकरण में स्पष्ट है। 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' सू० जिस पद में उदात्त या स्वरितका विधान हो उस उदात्तवर्ण एवं स्वरितवर्ण को छोड़ कर अन्य स्वर = अक्षर अनुदात्त होते हैं। अनुदात्त को निघात कहते हैं, निघ्नं सत् कम्पयति (कम्पति वा) स निघातः = मारने पर कम्पित होना स्वाभाविक है भय से या ताडन जन्य कष्ट से, तथैव स्वपद घटित अच् को विशेष वचनों ने विशेष कार्य किये अवशिष्ट अच् की उपेक्षा की, उपेक्षाजन्य दुःख से दुःखी को इस सूत्र ने निघात = अनुदात्त बोधन किया, निघातशब्द योगरूढ है, वह स्वरविशेष में प्रयुक्त है यह सब केवल बुद्धिवैभवमात्र का प्रदर्शन है।

निघात एवं युष्मद् अस्मद् षष्ठ्यन्त चतुर्थ्यन्त द्वितीयान्त को विधीयमान पूर्वोक्त ते मे आदि आदेश एकवाक्य में ही होते हैं। एकक्रियावाचक पद जिसमें रहे उसको वाक्य कहते हैं। निमित्त एवं निमित्ती दो एकवाक्य में ही स्थित रहे, उसको समान—वाक्य कहते हैं। विशेष्य एवं विशेषण भाव से युक्त होकर अर्थ बोध पद समुदाय में उस वाक्य घटकपद क्रियावाचक रहे उसको एक तिङन्त कहते हैं। उससे घटित को वाक्य कहते हैं। केवल 'पचति' को नहीं किन्तु 'चैत्रः पचति' वाक्य है। पचति तिङन्त है। व्यपदेशिवद् भाव से केवल पचति को वाक्य मान कर पचति ३ को प्लुत होता है। 'ओदनस्त्वया पक्तव्यो मम भविष्यति' यहाँ 'पक्तव्यः' के बाद 'अस्ति' का अध्याहार से अनेक तिङन्त घटित होने से एकवाक्यत्व नहीं है। यह व्याकरण शास्त्रोपयोगी लक्षण है। लौकिक वाक्य में 'पश्य मृगो धावति' में भी एक वाक्यत्व है। अथवा एकतिङन्तार्थ जहाँ प्रधान रहें वह एकवाक्य का लक्षण लौकिकवाक्य में है।

मीमांसक मत में—'अर्थैकत्वाद् एकं वाक्यम्, साकाङ्क्षं चेद् विभागे स्यात्'। विशेष्यविशेषणभावापन्न होकर एकार्थ प्रतिपादक एवं एक पद प्रयोग में अपर पदार्थ बोधविषयिणी जिज्ञासा रहे, = अर्थात् उत्थिता आकाङ्क्षा रहे उसको एकवाक्य कहते हैं। कोषकार ने सुप्तिङ्चय (समूह) को वाक्य जब कहे हैं जहाँ कारक से अन्वयिणी क्रिया का वाचक पद रहे। १ सुबन्तचय २ तिङन्तचय ३ सुबन्त एवं तिङन्तचय। १ त्वया गन्तव्यम्। २ पचति भवति। ३ मत्पुत्रः कमलेशः पठति।

भाष्यकार के मत में "आख्यातं सविशेषणं वाक्यम्" यह वाक्य लक्षण है। प्रकृत में 'ओदनं पच' यह भिन्न वाक्य है। भिन्न वाक्यस्थ 'तव' को 'ते' आदेश न हुआ। शाली धान का भात तुमको मैं दूँगा यहाँ 'तुभ्यम्' को 'ते' आदेश समान वाक्य होने से होता ही है।

वे वाम् नौ आदि आदेश कथित कथनरूप अन्वादेश न रहे वहाँ विकल्प से होते हैं। एवं अन्वादेश में नित्य होते हैं। ब्रह्मदेव आपके भक्त हैं, यहाँ 'तव' का 'ते' विकल्प से पक्ष में 'तव' होता है, उस आपको नमस्कार इसमें कथितकथन से नित्य से आदेश होता है—'तस्मै ते नमः'।

४०८ न चवाहाहैवयुक्ते ८।१।२४।

चादिपञ्चकयोगे नैते आदेशाः स्युः । 'हरिस्त्वां मां च रक्षतु' । कथं 'त्वां मां च न रक्षेत्' इत्यादि । युक्तग्रहणात्साक्षाद् योगेऽयं निषेधः । परम्परासम्बन्धे त्वादेशः स्यादेव । हरो हरिश्च मे स्वामी ।

च, वा, हा, अह, एव, इनका योग (सम्बन्ध) हो तो पूर्वोक्त त्वमादि आदेश नहीं होते हैं । हरि तेरी एवं मेरी रक्षा करें । यहाँ 'त्वाम्' को 'त्वा' एवं 'माम्' को 'मा' न हुआ, यहाँ समुच्चयार्थक चकार है । परस्पर निरपेक्ष पदार्थों का एक क्रिया में अन्वय को समुच्चय कहते हैं, उसका द्योतक या वाचक यहाँ चकार है । वा=विकल्प बोधक है, हा=अद्भूतार्थक है । अह=खेदार्थक है । एव = निर्धारणार्थक है ।

यहाँ पाक्षिक विकल्पार्थक वा के योग में 'त्वाम्' 'माम्' को त्वा मा क्यों न हुए ?, 'श्वना' तृतीयान्त से जिस प्रकार योग रूप अर्थ की प्रतीति होती है तथैव यहाँ तृतीया बहुवचनान्त का प्रयोग से योगार्थ=सम्बन्धार्थ का लाभ लब्ध है, पुनः सूत्र में योगग्रहण व्यर्थ है तन्मूलक यह कल्पना हुई कि युष्मद् एवं अस्मद् इनके अर्थनिष्ठ समुच्चयादि अर्थ के द्योतक चादि के साथ अर्थ द्वारा साक्षात् सम्बन्ध रहे वहाँ ही यह निषेध है । परम्परा सम्बन्ध में पूर्वोक्त त्वामादि आदेश होते ही हैं यथा—यहाँ च शब्द हरि एवं हर वृत्ति समुच्चय को कहता है, समुच्चित हरि हर का स्वामी के अर्थ के साथ सम्बन्ध है । स्वामी के अर्थ का सम्बन्ध अस्मदर्थ के साथ एवं युष्मदर्थ के साथ है । अतः हरो हरिश्च में स्वामी में मम को मे आदेश हुआ है ।

४०९ पश्यार्थैश्चानालोचने ८।१।२५।

अचाक्षुषज्ञानार्थैर्धातुभिर्योगे एते आदेशा न स्युः । चेतसा त्वां समीक्षते । परम्परासम्बन्धेऽप्ययं निषेधः । भक्तस्तव रूपं ध्यायति । आलोचने तु भक्तस्त्वा पश्यति चक्षुषा ।

सूत्र में दृश् धातु ज्ञान सामान्य में है । क्योंकि आलोचन = चक्षु से ज्ञात ज्ञान को कहते हैं । यहाँ तद् भिन्नार्थक लेना है, इस लिए 'अदर्शनम्' में जो अर्थ है, दृश का वही अर्थ यहाँ है । यहाँ दृश् धातु से भाव में शप्रत्यय है, निपातन से पश्यादेश है । नेत्र से उत्पन्न जो ज्ञान उसका अवाचक जो धातु उनके योग में वाम् आदि आदेश नहीं होते हैं । यह सूत्र साक्षात् या परम्परया सम्बन्ध में भी आदेश निषेधक है । तव पदार्थ का रूप के साथ साक्षात् सम्बन्ध है, ध्यान के साथ परम्परा सम्बन्ध है, तो भी निषेध से 'भक्तस्तव रूपं ध्यायति' यहाँ 'तव' को 'ते' आदेश न हुआ । चाक्षुषज्ञान में आदेश होते ही है । भक्त तुमको देखता है यहाँ दृश् धातु चक्षुरिन्द्रियजन्यज्ञान जनक व्यापारार्थक ही है, 'त्वाम्' को त्वा आदेश हुआ ।

४१० सपूर्वायाः प्रथमाया विभाषा ८।१।२६।

विद्यमानपूर्वात् प्रथमान्तात् परयोरनयोरन्वादेशेऽप्येते आदेशा वा स्युः । भक्तस्त्वमप्यहं तेन त्रायते स माम् । त्वा मेति वा ।

पूर्व में अन्य प्रथमान्त पद रहे उसके बाद युष्मद् या अस्मद् षष्ठी आदि विभक्त्यन्त रहे वहाँ अन्वादेश में भी वाम् आदि आदेश विकल्प से होते हैं । तुम भी हरि के भक्त हो, मैं भी हरि का

भक्त हूँ इस कारण वह तुम्हारी एवं मेरी रक्षा करें। यहाँ त्वम् को त्वा, माम् को मा आदेश हुए भज्धातु सकर्मक है उससे कर्म में क्तप्रत्यय है। भजनकर्ता = हरि है, सेवक नहीं, अतः कर्म की अविवक्षा से अकर्मकमान सेवकार्थ प्रतीति के लिए 'भजनं भक्तिः' भाव में क्तिन् प्रत्यय कर भक्ति से अर्श आदिभ्योऽच्' से कर्त्रर्थक अच् प्रत्यय से भजन कर्ता अर्थ की प्रतीति हुई। 'शक्तम् पदम्' यहाँ भी यही प्रकार है।

४११ सामन्त्रितम् २।३।४८।

सम्बोधने या प्रथमा तदन्तम् आमन्त्रितसंज्ञं स्यात्।

सम्बोधन में प्रथमा वह अन्त में रहें उस पद की आमन्त्रित संज्ञा होती है आमन्त्रित का अर्थ आमन्त्रण है, आमन्त्रण का साधन सम्बोधन विभक्तयन्तपद है, उसमें आमन्त्रितत्वं का आरोप बोधन यह करता है। अतः आमन्त्रित शब्द से युक्त विधि सूत्रों में सम्बोधन इसके संज्ञी की उपस्थिति हुई। हे है भो आदि शब्दों की भी आमन्त्रित संज्ञा होती है, वे भी लुप्त-विभक्तयन्त प्रथमान्त अव्यय है।

४१२ आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् ८।१।७२।

स्पष्टम्। अग्ने तव। देव! अस्मान् पाहि। अग्ने, इन्द्र वरुण। इह युष्मदस्मदोरादेशस्तिङन्तनिघात आमन्त्रितनिघातश्च न। सर्वदा रक्ष देव न इत्यत्र तु देवेत्यस्याविद्यमानवद्भावेऽपि ततः प्राचीनं रक्षेत्येतदाश्रित्यादेशः। एवम् इमं मे गङ्गे यमुने इति मन्त्रे इत्यादिभ्यः प्राचीनामन्त्रिताविद्यमानवद्भा-वेऽपि मे शब्दमाश्रित्य सर्वेषां निघातः।

पूर्वस्थित आमन्त्रित संज्ञक अविद्यमान के समान होता है। हे अग्ने तव। यहाँ अग्नि को नहीं के समान स्थिति होने से पद से पर नहीं अतः तव को ते आदेश न हुआ देव का अविद्य-मानवत् होने से अस्मान् को नस् आदेश न हुआ। इसी प्रकार सम्बोधन विभक्तयन्त से पर युष्मद् अस्मद् रहे तव तवादि नहीं होते है, एवं अतिङन्त (हे अग्ने!) को आश्रित कर तिङन्त को निघात नहीं होता है। निघात=अनुदात्त। एवं "आमन्त्रितस्य च" इससे आमन्त्रित संज्ञक को आदि उदात्त होता है। यह षठवें अध्याय का है। आठवें अध्याय का उसी समान "आमन्त्रितस्य च" है वह पद से पर आमन्त्रित संज्ञक शब्द को निघात = अनुदात्त करता है। वह आष्टमिक निघात पूर्व के अविद्यमानवत् होने से यहाँ न हुआ। सर्वदा आदि वाक्य में हे देव का अविद्यमानवद् भाव होने पर उससे पूर्व रक्षपद से पर अस्मान् को नस् आदेश होता ही है। इसी प्रकार इमं मे गङ्गे......यत्र में पूर्व आमन्त्रित नहीं के समान होने पर भी पद=मे उससे पर सर्व आमन्त्रितों को निघात होता ही है। "इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या। असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तया र्जीकीये शृणुया सुषोमया"॥ ऋ० वे० म० १० अनु ६। सू. ५ यहाँ पद विभाग काल में सर्व को निघात हुआ है।

४१३ नामन्त्रिते समानाधिकरणे सामान्यवचनम् ८।१।७३।

विशेष्यं समानाधिकरणे आमन्त्रिते परे नाविद्यमानवत् स्यात्। हरे दयालो नः पाहि। अग्ने तेजस्विन्।

विशेषण वाचक आमन्त्रित पर रहे तब पूर्व में स्थित विशेष्य वाचक आमन्त्रित का अविद्यमानवद् भाव नहीं होता है। दयालु हरि हम लोगों की रक्षा करें। दयालु विशेषण है, हरि विशेष्य है, उसका अविद्यमानवद् भाव न हुआ हरे के आदि अच् उदात्त है, दयालो में अनुदात्त हुआ अग्ने विशेष्य वाचक है। तेजस्विन् विशेषण वाचक है। यहां अग्ने का अविद्यमान वद्भाव न होने से पद से पर तेजस्विन् को निघात हुआ है। 'अग्ने' आद्युदात्त है। अस्मान् को नस् आदेश हुआ, पद से पर होने के कारण। दयालो का अविधमानवद्भाव होने पर भी हरे! पद से पर अस्मद् है।

४१४ विभाषितं विशेषवचने ८।१।७४।

अत्र भाष्यम्। 'बहुवचनमिति वक्ष्यामि' इति। बहुवचनान्तं विशेष्यं समानाधिकरणे आमन्त्रिते विशेषणे परे अविद्यमानवद् वा। यूयं प्रभवः, देवाः शरण्याः, युष्मान् भजे, वो भजे इति वा। इहान्वादेशेऽपि वैकल्पिका आदेशाः। सुपात्। सुपाद्। सुपादौ। सुपादः। सुपादम्। सुपादौ।

विशेषणवाचक शब्द उत्तर में रहे तब बहुवचनान्त विशेष्यवाचक विकल्प से अविद्यमानवद् भाव होता। 'यूयम्' बहुवचनान्त विशेष्य है वहां अविद्यमानवत् न हुआ तब 'प्रभवः' विशेषण वाचक को निघात हुआ। इस सूत्र की अप्रवृत्ति पक्ष में 'प्रभवः' आद्युदात्त है, यही क्रम 'देवाः शरण्याः' यहां है, शरण्य अनुदात्त, तथा सूत्र प्रवृत्ति में आद्युदात्त है। अन्वादेश में भी यहां विकल्प आदेश वः=युष्मान् नः=अस्मान्। सुपाद् में बहुव्रीहि समास है, 'संख्यासुपूर्वस्य' से अन्त्य का लोप है। सुपाद् = अच्छे पाद = चरणों से युक्त पुरुष। सुपादौ। सुपादः। सुपादम्। सुपादौ।

४१५ पादः पत् ६।४।१३०।

पाच्छब्दान्तं यदङ्गं भं तदवयवस्य पाच्छब्दस्य पदादेशः। सुपदा। सुपाद्भ्यामित्यादि। अग्निं मथ्नातीति अग्निमत्। अग्निमद्। अग्निमथौ। अग्निमथः। अग्निमद्भ्यामित्यादि। 'ऋत्विग्' इत्यादि सूत्रेणाञ्चेः सुप्युपपदे किन्।

भसञ्ज्ञक पाद् शब्दान्त अङ्ग, का निर्दिश्यमान पाद् शब्द को पदादेश होता है। सुपाद् आ=सुपदा। किप् प्रत्ययान्त उपपद समास युक्त अग्नि का मन्थन कर्ता अर्थ वाचक मथ्युक्त अग्नि-शब्द है, जश्त्व चर्त्व से अग्निमत्। अग्निमद्। प्रपूर्वक गत्यर्थक अञ्ज् धातु से किन् प्रत्ययकर दीर्घ से प्राञ्च् शब्द की सिद्धि कर—

४१६ अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति ६।४।२४।

हलन्तानामनिदितामङ्गानामुपधाया नस्य लोपः स्यात् किति ङिति च। उगिदचामिति नुम्। संयोगान्तस्य लोपः। नुमो नकारस्य क्विन्प्रत्ययस्य कुरिति कुत्वेन ङकारः। प्राङ्। अनुस्वारपरसवर्णौ। प्राञ्चौ। प्राञ्चः। प्राञ्चम्। प्राञ्चौ।

ह्रस्व इका अन्त्य में इत्संज्ञक न रहे ऐसा जो हलन्त अङ्ग उसकी जो उपधा उसका नकार का कित् या ङित् प्रत्यय पर रहते लोप होता है। अच् उगित् है। अतः नलोप के बाद नुम्, संयागान्त लोपकर नकार का कुत्व से ङकार। प्राङ्। औ जस् अम् ओट् में नलोप, नुम्, अनुस्वार नश्चापदान्तस्य एवं परसवर्ण से मूलोक्त रूप सिद्धि हुए।

४१७ अचः ६।४।१३८।

लुप्तनकारस्याञ्चते र्भस्याकारस्य लोपः स्यात्।

लोप हुआ है नकार जिसका ऐसे अञ्च् के अकार का लोप होता है प्र अञ्च् शस्, 'अनिदिताम्' से नलोप कर के इससे अलोप सर्वनामस्थान पर न होने से नुम् का अभाव प्रच् अस्। यहां—

४१८ चौ ६।३।१३८।

लुप्ताकारनकारेऽञ्चतौ परे पूर्वस्याणो दीर्घः स्यात्। प्राचः। प्राचा। प्राग्भ्याम् इत्यादि। प्रत्यङ्। प्रत्यञ्चौ। प्रत्यञ्चः। प्रत्यञ्चम्। प्रत्यञ्चौ। 'अच' इति लोपस्य विषयेऽन्तरङ्गोऽपि यण् न प्रवर्तते। अकृतव्यूहा इति परिभाषया। प्रतीचः। प्रतीचा।

अमुमञ्चतीति विग्रहे अदस् अञ्च् इति स्थिते।

लोप हुआ है अकार नकार जिसके ऐसे अञ्च् (च्) पर रहते पूर्व के अण् का दीर्घ होता है। दीर्घ से प्राचः। प्राचा। प्रति अञ् स्, न लोप, नुम् यण् कुत्व स् लोप से प्रत्यङ्। शस् में नलोप, अलोप दीर्घ से प्रतीचः। यहां अलोप से पूर्व अन्तरङ्ग यण् की प्राप्ति थी, किन्तु यणादेश का निमित्त अकार रूप अच का नाश होने वाला है अतः 'अकृतव्यूहाः' परिभाषा से यणादेश न हुआ।

उसकी ओर जाता है इस अर्थ में अञ्च् से क्विन् उपपदसमास अमुम् अञ्चति इति अदस् अञ्च् स् नलोप अदस् अच् स् यहां—

४१९ विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतावप्रत्यये ६।३।९२।

अनयोः सर्वनाम्नश्च टेरद्र्यादेशः स्याद् अप्रत्ययान्ते अञ्चतौ परे। 'अदद्रि अञ्च् इति स्थिते यण्।

प्रथम वे आकर निरन्तर अविद्यमान प्रत्यय क्विबादि अन्त में रहे ऐसे अञ्चु उत्तर पद में रहने पर विष्वक्, देव, या सर्वनाम, इनकी टि संज्ञक को अद्रि आदेश होता है। यहां अदस् की टि अस् को अद्रि आदेश से अदद्रि अञ्च्, नलोप, यण् अदद्र्य अच् ऐसी स्थित पर—

४२० अदसोऽसेर्दादु दो मः ८।२।८०।

अदसोऽसान्तस्य दात्परस्य उदूतौ स्तो दस्य मश्च। उ इति ह्रस्वदीर्घयोः समाहारद्वन्द्वः। आन्तरतम्याद् ह्रस्वव्यञ्जनयोर्ह्रस्वो दीर्घस्य दीर्घः। अमुमुयङ्। अमुमुयञ्चौ। अमुमुयञ्चः। अमुमुयञ्चम्। अमुमुयञ्चौ। अमुमुईचः। अमुमुईचा। अमुमुयग्भ्याम् इत्यादि। मुत्वस्यासिद्धत्वान्न यण्। "अन्त्यबाधेऽन्त्यसदेशस्य" इति परिभाषामाश्रित्य परस्यैव मुत्वं वदतां मते 'अदमुयङ्'।

'अः सेः = सकारस्य स्थाने यस्य सः—असिः, तस्य 'असेः' इति व्याख्यानात् त्यदाद्यत्वविषय एव मुत्वं नान्यत्र इति पक्षे 'अदद्र्यङ्' । उक्तञ्च—

अदसोऽद्रेः पृथङ् मुत्वं केचिदिच्छन्ति लत्ववत् ।
केचिदन्त्यसदेशस्य नेत्येकेऽसेर्हि दृश्यते ॥ इति ।

विश्वग्देवयोः किम्—अश्वाची । अञ्चतौ किम्—विष्वग्युक् । अप्रत्यये किम्-विष्वगञ्चनम् । अप्रत्ययग्रहणं ज्ञापयति—'अन्यत्र धातुग्रहणे तदादिविधिः' इति । तेनायस्कारः । 'अतः कृकमि' इति सः । उदङ् । उदञ्चौ । उदञ्चः । शसादावचि ।

जब अदस् शब्द सकारान्त न हो तब इसके दकार से अव्यवहित उत्तर वर्ण के स्थान में उ अथवा ऊ आदेश होता है, एवं दकार के स्थान में मकारादेश होता है । सूत्र में उ समाहार द्वन्द्व से 'उश्च ऊश्च' इति 'उ' है, सौत्रत्वात् पुंलिङ्ग निर्देश है । अतः उ से ह्रस्व उकार एवं दीर्घ ऊकार दोनों का ग्रहण यहां है । दकार से अव्यवहित ह्रस्व या व्यञ्जन रहने पर प्रमाण कृतसादृश्य से ह्रस्व उकार होता है । एवं दकार से पर दीर्घ वर्ण के साथ में दीर्घ ऊकार होता है ।

सूत्र में 'अदसः' अवयव षष्ठी है । अतः 'अलोऽन्त्यस्य' की प्रवृत्ति नहीं है । अवयव षष्ठी पक्ष में अदद्र्य् अच् यहां पूर्व दकार से पर अकार को ह्रस्व उ, एवं दकार को मकार, अमु इसके बाद का दकार को मकार एवं रेफ को उकार सब मिल कर अमुमु यच् नुम्, सलोप, संयोगान्त लोप, कुत्व से ङकार, 'अमुमुयङ्' रूप है ।

स्थानषष्ठ्यन्त 'अदसः' है, उस पक्ष में अदद्रि अञ्च् यहां अदस् शब्द का अन्त्यवर्ण = इकार वह दकार से अव्यवहित उत्तर नहीं है, दकार से जो रेफ अव्यवहित उत्तर है किन्तु वह अन्त्य नहीं है । अलोऽन्त्यस्य की यहां उपस्थिति से अन्त्य अल् को ही मुत्व प्राप्त है, इस पक्ष में अन्त्य को कार्य अप्राप्त रहें वहां अन्त्य सदेश को करना चाहिये यहां अन्त्य सदेश रेफ है उसको उकार एवं रेफ पूर्ववर्ती दकार को मकार कर अदमुयङ् रूप की सिद्धि यण्, नलोप, नुम् संयोगान्त लोप स् लोप कुत्व से होती है । अन्त्यबाधे परिभाषा के अनेक प्रयोजन एवं खण्डन प्रकार परिभाषेन्दुशे० में वर्णित हैं । भूति एवं 'जया' व्याख्या में । इस पक्ष में (स्थान षष्ठी) में पर को ही मुत्व न पूर्व दकाराकार को ।

'असेः' का अर्थ सकारान्त भिन्न कह चुके हैं किन्तु कोई आचार्य 'सेः' का अर्थ सकार के स्थान में अः का अर्थ अकारादेश हुआ हो वहां ही मुत्व होता है, अन्यत्र नहीं, यह व्याख्या कर यहां उपसर्जन होने से सर्वाद्यन्तर्गण त्यदादि कार्य अकार न होने से मुत्व नहीं होता है, अतः 'अदद्र्यङ्' ।

१—सूत्र में अदसः अवयवषष्ठ्यन्त होने से अलोऽन्त्यस्य की प्रवृत्ति नहीं है वह स्थानषष्ठ्यन्त में ही 'अन्त्य अल्' की उपस्थिति करता है । अतः दोनों दकारों को मकार एवं उत्तरवर्ण को उकार-द्वय हुवे यह पक्ष है तो अमुमुयङ् रूप है । जिस प्रकार 'चलीकॢप्यते' यहां आगम 'री' के रेफ एवं ऋकार का अवयव रेफ इन दोनों को 'कृपो रो लः' से दो लकार हुए । यही = तत्सदृश क्रम मुत्व के विषय में यहां अपनाया गया है ।

२—अदसः स्थानषष्ठ्यन्त है—"अदसो योऽन्त्यः स दात् परः" इस पक्ष में अन्त्यवर्ण अदस् का दकार से अव्यवहित उत्तर होना अपेक्षित है, ऐसी परिस्थिति में अदद्रि का इकार जो अन्त्य है वह दकार से अव्यवहित नहीं है बीच में रेफ का व्यवधान है, अतः अन्त्य को कार्य अप्राप्त है

वहां अन्त्यवर्ण एवं दकार उसके बीच के वर्ण को ही कार्य करना चाहिए। इस पक्ष में अदमुयङ् यहां पर को ही मुत्व हुआ, अद का दकार अकार पूर्ववत् श्रुत रहता है।

३—किसी के मत में 'त्यदादीनामः' सूत्र से अकारदेशयुक्त अदस् रहे वहां ही सूत्र की प्रवृत्ति होकर मुत्व होता है, क्योंकि सूत्र में 'असेः' योगिक पद है। हेतुगर्भित वचन प्रामाणिक होता है यहां 'असेः' मुत्व न होने में कारण स्पष्ट है, इस पक्ष में मुत्व नहीं यहां है 'अदद्र्यङ्' रूप हुआ।

अश्व पर बैठ कर जाने वाली इस अर्थ में अश्व शब्द को अद्रि आदेश न हुआ क्योंकि यह विष्वक् या देव या सर्वनाम की ही टि को अद्रि आदेश होता है। विष्वग्युग् यहां अञ्च् पर में नहीं है।

क्विन्प्रत्ययान्त उत्तर पद में नहीं है 'अञ्चनम्' ल्युडन्त परक पूर्व विष्वक् की टि को अद्रि आदेश न हुआ। यहां अञ्च् रूप उत्तर पद नहीं है प्राप्त ही आदेश नहीं पुनः सूत्र में अप्रत्यये या वप्रत्यये क्यों किया ?, वह व्यर्थ से ज्ञापन करता है कि 'धातु के ग्रहण में तदादि विधि होती है' अतः अञ्च् है आदि में जिसको ऐसा यह 'अञ्चनम्' है, प्राप्त विष्वक् की टिको आदेश निवारणार्थ अप्रत्यये है, ज्ञाप्यांश में अन्यत्र नहीं है अन्यत्र फल है। किन्तु ज्ञाप्यांश की यहां अप्रत्ययग्रहण से प्रवृत्ति न हुई अन्यत्र ही प्रवृत्ति है, एतावता फलितार्थ कथन परक ही है। ज्ञाप्य का फल—'अयस्कारः' यहां कृ है आदि में जिसको ऐसा कार उत्तर में रहते विसर्ग को सकारादेश हुआ।

क्विन्प्रत्ययान्त उदञ्च् का रूप उदङ् है। सु में नलोप, नुम् संयोगान्त लोप विभक्ति लोप कुत्व करने से। उद् अच् शस् में—

४२१ उद ईत् ६।४।१३९।

उच्छब्दात् परस्य लुप्तनकारस्याञ्चतेर्भस्याकारस्य ईत् स्यात्। उदीचः। उदीचा।

उद् शब्द से पर लोप हुआ है नकार जिसका ऐसे भसंज्ञ अच्, उसके अकार का ईकारादेश होता है। उदीचः। उदग्भ्यामित्यादि।

४२२ समः समि ६।३।९३।

अप्रत्ययान्ते अञ्चतौ परे (समः समिरादेशः स्यात्)।

क्विन्प्रत्ययान्त अञ्च् पर रहे तब श्रेष्ठार्थक सम् के स्थान में समि आदेश होता है। सम्यङ्। शस् में समीचः। यहां 'समो मिङ्' न्यास सुवच है।

४२३ सहस्य सध्रिः ६।३।९५।

अप्रत्ययान्ते अञ्चतौ परे।

सङ्ग आने वाला अर्थ में सह उपपद् क्विन्प्रत्ययान्त अञ्च् रहे वहां पूर्व सहको सध्रि आदेश होता है। यण्, नलोप, नुम्, संयोगान्त लोपादि कुत्व से सध्र्यङ्।

४२४ तिरसस्तिर्यलोपे ६।३।९४।

अलुप्ताकारेऽञ्चतौ अप्रत्ययान्ते परे तिरसस्तिर्यादेशः स्यात्। तिर्यङ्। तिर्यञ्चौ। तिर्यञ्चः। तिर्यञ्चम्। तिर्यञ्चौ। तिरश्चः। तिरश्चा। तिर्यग्भ्यामित्यादि।

किन् प्रत्ययान्त अलुप्त अकारयुक्त अञ्च् पर रहे तो तिरस् के स्थान में तिरि आदेश होता है। टेढ़ा चलने वाला इस अर्थ में तिरस् को तिरि आदेश यण् तिर्यच्, सु साधारण सर्वकार्य तिर्यङ्। शसादि में अकार लोप, एवं नलोप श्चुत्व से तिरश्चः आदि रूप हुए।

४२५ नाञ्चेः पूजायाम् ६।४।३०।

पूजार्थस्याञ्चतेरुपधाया नस्य लोपो न स्यात्। अलुप्तनकारत्वान्न नुम्। प्राङ्। प्राञ्चौ। प्राञ्चः। नलोपाभावादकारलोपो न। प्राञ्चः। प्राञ्चा। प्राङ्भ्याम्। प्राङ्क्षु। प्राङ्षु। एवं पूजार्थे प्रत्यङ्ङादयः। क्रुञ्च कौटिल्याल्पीभावयोः। अस्य ऋत्विगित्यादिना नलोपाभावोऽपि निपात्यते। क्रुङ्। क्रुञ्चौ। क्रुञ्चः। क्रुङ्भ्यामित्यादि।

'चोः कुः' पयोमुक्। पयोमुग्। पयोमुचौ। पयोमुचः। व्रश्चेति षत्वम्। स्कोरिति सलोपः। जश्त्वचर्त्वे। सुवृट्। सुवृड्। सुवृश्चौ। सुवृश्चः। सुवृट्त्सु। सुवृट्सु। ※वर्तमाने पृषन्महद्बृहज्जगच्छतृवच्च※। एते निपात्यन्ते, शतृवच्चैषां रूपम्। उगित्वान्नुम्। सान्तमहत इति दीर्घः। मह्यते=पूज्यत इति महान्। महान्तौ। महान्तः। हे महन्!। महतः। महता। महद्भ्यामित्यादि।

पूजा अर्थ में अञ्च् धातु के उपधा नकार का लोप नहीं होता है। नकार का लोप न होने से नुम् विधायकशास्त्र मे लुप्त नकारक अञ्च् का निर्देश है। अतः यहां न लोप न होने से नुम् न हुआ। अञ्च् का ही नकारश्रूयमाण है उसको कुत्व से ङकार होने से प्राङ् रूप है। शसादि में नलोप न होने से 'अचः' से अकार लोप न हुआ-प्राञ्चः। प्राञ्चा। इसी प्रकार पूजार्थक में प्रत्यङ्, उदङ् आदि के रूपों की सिद्धि होती है। 'क्रुङ्' में 'ऋत्विक्' सूत्र से नलोप का अभाव बोधन किया गया है। अतः नलोप न हुआ। क्रुङ्=टेढा होना या अल्प होना। मोचनार्थक मुच् से क्विप्, चोः कुः से कुत्व होकर मेघार्थक पयोमुक् पयोमुच् की सिद्धि हुई। पयस् के सकार को रुत्व उत्व गुण ओकार हुआ है। अच्छी तरह काटने वाला अर्थ में व्रश्च् से क्विप्, 'ग्रहिज्या' से सम्प्रसारण पूर्वरूप षत्व जश्त्व चर्त्व से सुवृट्, चर्त्वाभाव में सुवृड् रूपद्वय की सिद्धि हुई। सप्तमी ब० में धुट् वैकालिपक चर्त्व से सुवृट्त्सु, पक्ष में धुट् रहित से दो रूप है।

वर्तमान काल में पृषन्, महत्, वृहत्, जगत् ये निपातित होते हैं। शतृप्रत्यय की तरह इनको कार्य होता है। पूजार्थक मह् धातु से कर्म में लट् है, यहां निपातन से मह् से कर्म अर्थ में अति (अत्) प्रत्यय है। यहां शतृप्रत्यय की प्राप्ति नहीं है। कर्ता में धातुओं से शतृ विधीयमान है वह कर्म में नहीं होता है। शतृ समान बोधन करने से उगित्वात् नुम् आदि कार्य यहां भी होते हैं। पृष धातु से अतच् प्रत्यय से पृषत्=जलबिन्दु। बृह धातु से अतिप्रत्यय बृहत्=विपुल।

गम् से अतिप्रत्यय गम् को जग् आदेश जगत्=भुवन। जगत् के अनेक अर्थ है—विष्टप अर्थ में नुपंसक है, वायु अर्थ में पुंलिङ्ग है। जङ्गम अर्थ में तीनों लिङ्ग है। पृथ्वी वाचक, भुवन वाचक, वैदिक छन्दों विशेष वाचक भी यह है। महत् स् यहां उगित्त्वात् नुम्, 'सान्त' से दीर्घ संयोगान्त लोप्, महान्। सम्बोधन में 'न ङिसम्बुद्ध्योः' से नलोपाभावः। हे महन्। जनसाधारण से पूजनीय को महान् कहते हैं।

४२६ अत्वसन्तस्य चाधातोः ६।४।१४।

अत्वन्तस्योपधाया दीर्घः स्याद् धातुभिन्नासन्तस्य चासम्बुद्धौ सौ परे। परं नित्यञ्च नुमं बाधित्वा वचनसामर्थ्यादादौ दीर्घः। ततो नुम्। धीमान्। धीमन्तौ। धीमन्तः। हे धीमन्। शसादौ महद्वत्। धातोरप्यत्वन्तस्य दीर्घः।

गोमन्तमिच्छति, गोमानिवाचरतीति वा क्यजन्तादाचारकिबन्ताद्वा कर्तरि क्विप्। उगिदचामिति सूत्रेऽञ्ग्रहणं नियमार्थम्-"धातोश्चेदुगित्कार्यं तर्ह्यञ्चतेरेव इति। तेन 'स्रत्' 'ध्वत्' इत्यादौ न। अधातोरिति तु अधातुभूतपूर्वस्यापि नुमर्थम्। गोमान्। गोमन्तौ। गोमन्तः, इत्यादि। भातेर्डवतु, भवान्। भवन्तौ। भवन्तः। शत्रन्तस्य तु अत्वन्तत्वाभावान्न दीर्घः—भवतीति भवन्।

सम्बुद्धिभिन्न सुप्रत्यय पर रहते अतु (मतुप्-वतुप्) प्रत्ययान्त शब्द और धातुभिन्न अस्—प्रत्ययान्त शब्द की उपधाका दीर्घ होता है। बुद्ध्यर्थक धी शब्द से प्रशंसा अर्थ में मतुप् (मत्) धीमत् सु यहाँ पर एवं नित्य नुम् 'उगिदचाम्' से विहित है, उसको अतु ग्रहण सामर्थ्य से बाध कर प्रथम दीर्घ तदनन्तर नुम् विभक्ति लोप संयोगान्त लोप, लोप के असिद्ध होने से। नलोपाभाव से धीमान्, धीमन्तौ रूप।

गोस्वामी के इच्छा करने वाला या उसके समान आचरण करने वाला एतदर्थक क्यजन्त या आचार किबन्त गोमत्। यहाँ सम्प्रति धातु का अत् है, तो भी दीर्घ नुमादि से गोमान् रूप की सिद्धि है। अञ्चु धातु उगित् है, अतः उगित्मात्र कथन से अञ्च् को नुम्सिद्ध ही था, पुनः लुप्त नकार विशिष्ट नुम्विधायक शास्त्र में (अचाम्) का ग्रहण व्यर्थ है, वह ज्ञापन करता है धातुओं को उगित्प्रयुक्त कार्य हो तो वह कार्य केवल नलोपी अञ्च् को ही। इससे क्विप् प्रत्यायान्त ध्वंस् स्रंस् उगित् होने पर भी इस नियम से नुम् न हुआ, सकार को 'वसुस्रंस' सूत्र से दकार वै० चर्त्व से तकार नीचे गिरने वाला ध्वत्, एवं स्रत् है।

क्यजन्त, अचारकिबन्त गोमत् सम्प्रति धातु है किन्तु प्रतिपदिकावस्था में अधातु है उसको नुमर्थ सूत्र में भूतपूर्व अधातु अर्थ बोधनार्थ अधातुपद सार्थक है। गोमान् में दीर्घ नुमादि कार्य होते ही है। आप या श्रेष्ठजन अर्थ में भा धातु से डवतु (अवत्) प्रत्यय कर भवत् बना है। यहाँ अत् अन्त में होने से सुपर रहते भवान्। शतृप्रत्ययान्त में अतु अन्त में नहीं है। 'अतृ' अन्त में होने से दीर्घ न हुआ। भवतीति भवन्।

४२७ उभे अभ्यस्तम् ६।१।५।

षाष्ठद्वित्वप्रकरणे ये द्वे विहिते ते उभे समुदिते अभ्यस्तसंज्ञे स्तः।

छठवें अध्याय में जो द्वित्व प्रकरण है उस में से किसी भी सूत्र से विहित द्वित्व विशिष्ट समुदाय की अभ्यस्त संज्ञा होती है। यहाँ गर्गदण्डन न्याय से समुदाय की ही अभ्यस्त संज्ञा सिद्ध थी पुनः 'सहार्थ' बोधन के लिए 'उभे' ग्रहण व्यर्थ है। दानार्थक दा धातु से लट् इसके स्थान में शतृ, शप् श्लु (लोप) 'श्लौ' सू० से द्वित्वादि कार्य आकार लोप ददत् यहाँ उगिदचां सूत्र से नुमवारणार्थ अभ्यस्त संज्ञा दादा की थी, वह दद् में है उसके बाद शतृ है—नुम्निषेधक सूत्र—

४२८ नाभ्यस्ताच्छतुः ७।१।७८।

अभ्यस्तात् परस्य शतुर्नुम् न स्यात्। ददत्। ददद्। ददतौ। ददतः।

अभ्यस्त संज्ञक से पर शतृ (अत्) को नुमागम नहीं होता है। ददत्,

४२९ जक्षित्यादयः षट् ६।१।६।

षड् धातवोऽन्ये जक्षितिश्च सप्तम एतेऽभ्यस्तसंज्ञाः स्युः। जक्षत्। जक्षद्। जक्षतौ। जक्षतः। एवं जाग्रत्, दरिद्रत्, शासत्, चकासत्। दीधीवेव्योर्ङित्वेऽपि छान्दसत्वाद् व्यत्ययेन परस्मैपदम्। दीध्यत्। वेव्यत्। गुप्। गुब्। गुपौ। गुपः। गुब्भ्यामित्यादि।

जक्ष, एवं अन्य छ धातुओं की अभ्यस्त संज्ञा होती है। संज्ञा का फल यहाँ नुम् निषेध है जाग्रत् आदि में नुम् न हुआ छ में दो धातु आत्मनेपदी है एवं वेद में ही प्रयुक्त है किन्तु व्यत्यय से परस्मैपदी है। अतः अभ्यस्त संज्ञा से नुम् न कर दीध्यत् वेव्यत् प्रयोग है। रक्षणार्थक गुप् से क्विप् प्रत्यय कर प्रातिपदिक संज्ञा सु पदसंज्ञा विभक्ति लोप जश्त्वचर्त्व से गुप् गुब् रूप है।

४३० त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च ३।२।६०।

त्यदादिषूपपदेष्वज्ञानार्थकाद् दृशेर्धातोः कञ् स्यात्, चात् क्विन्।

त्यदादिगणपठित शब्द पूर्व में रहे एवं उनके बाद अज्ञानार्थक दृश् धातु से कर्तृ रूप अर्थ में कञ् प्रत्यय होता है। एवं पक्ष में क्विन् प्रत्यय भी होता है।

४३१ आ सर्वनाम्नः ६।३।६१।

सर्वनाम्न आकारोऽन्तादेशः स्याद् दृग्दृशवतुषु। कुत्वस्यासिद्धत्वाद् व्रश्चेति षः। तस्य जश्त्वेन डस्तस्य कुत्वेन गस्तस्य चर्त्वेन पक्षे कः। तादृक्। तादृग्। तादृशौ। तादृशः। षत्वापवादत्वात्कुत्वेन खकार इति कैयटः। हरदत्तादिमते तु चर्त्वाभावपक्षे ख एव श्रूयते न तु गः, जश्त्वं प्रति कुत्वस्यासिद्धत्वाद्, दिगादिभ्यो यदिति निर्देशान्नासिद्धत्वमिति वा बोध्यम्। व्रश्चेति षत्वम्। जश्त्वचर्त्वे। विट्। विड्। विशौ। विशः। विशम्।

दृग्, दृश् या वतुप्रत्यय, इनके पर रहते सर्वनाम संज्ञक शब्दों के अन्त को आकार आदेश होता है। स इव दृश्यते इति तत् दृश् यहाँ आकार दीर्घ से तादृश् क्विन् प्रत्ययान्त है। कुत्व असिद्ध होनेके कारण प्रथम षकारादेश, ष को जश्त्व से डकार, डकार को कुत्व से गकार, चर्त्व से गकार, को ककार तादृक्। तादृग् 'व्रश्च भ्रस्ज' का कुत्व अपवाद है, अत शकार का षकार नहीं इस पक्ष में कुत्व से खकार है। वैकल्पिक चर्त्व के अभाव में पक्ष खकार ही श्रूयमाण होता है इस मत में तादृक्। तादृख रूप हुए। यहाँ कुत्व कर जश्त्व नहीं होता है जश्त्व की दृष्टि में कुत्वविधायक असिद्ध है। यदि यह कहेंगे कि दिखादिभ्यो यत् न कह कर दिगादिभ्यो यत् निर्देश से असिद्ध नहीं होता है तब दोष नहीं है। प्रवेशनार्थक विश् से क्विप् षत्वजश्त्व चर्त्व से प्रवेशकर्ता अर्थ में विट्। विड्।

४३२ नशे र्वा ८।२।६३।

नशेः कवर्गोऽन्तादेशो वा स्यात् पदान्ते। नक्। नग्। नट्। नड्। नशौ। नशः। नग्भ्याम्। नड्भ्यामित्यादि।

नष्ट होने वाला अर्थ में क्विप् प्रत्ययान्त नश् को कवर्गादेश विकल्प से होता है नग्। नक्। पक्ष में षत्व जश्त्व चर्त्व से नट्। नड्। इस प्रकार चार रूप हुए।

४३३ स्पृशोऽनुदके क्विन् ३।२।५८।

अनुदके सुप्युपपदे स्पृशेः क्विन् स्यात्। घृतस्पृक्। घृतस्पृग्। घृतस्पृशौ। घृतस्पृशः। क्विन्प्रत्ययो यस्यादिति बहुव्रीह्याश्रयणात् क्विप्यपि कुत्वम्। स्रक्। षडगका प्राग्वत्। ञिधृषा प्रागल्भे। अस्माद् ऋत्विगादिना क्विन्, द्वित्वम्, अन्तोदात्तत्वञ्च निपात्यते। कुत्वात् पूर्वं जश्त्वेन डः, गः, कः। धृष्णोतीति दधृक्। दधृग्। दधृषौ। दधृषः। दधृग्भ्याम् इत्यादि। रत्नानि मुष्णातीति रत्नमुट्। रत्नमुड्। रत्नमुषौ। रत्नमुषः। षड्भ्यो लुक्। षट्। षड्। षड्भिः। षड्भ्यः। षट्चतुर्भ्यश्चेति नुट्। अनामिति पर्य्युदासान्न ष्टुत्वनिषेधः। 'यरोऽनुनासिके' इति विकल्पं बाधित्वा 'प्रत्यये भाषायां नित्य'मिति वचनान्नित्यमनुनासिकः। षण्णाम्। षट्त्सु। षट्सु। तदन्तविधिः। परमषट्। परमषण्णाम्। गौणत्वे तु प्रियषषः प्रियषषाम्। रुत्वम्प्रति षत्वस्यासिद्धत्वात्ससजुषोरिति सत्वम्।

उदकभिन्न सुबन्त उपपद में रहते स्पृश् धातु से कर्तृरूप अर्थ में क्विन् प्रत्यय होता है। षडगक पक्ष से ग्। घी का स्पर्श करनेवाला अर्थ में घृत उपपद में रहते स्पर्शार्थक स्पृश् धातु से क्विन्, सर्वापहारी लोप षत्वादि कार्य से घृतस्पृक् पक्ष में घृतस्पृग्। 'ऋत्विक्' से निपातित ढीठ मनुष्यार्थक दधृष् में भी कुत्व से पूर्व जश्त्व से ड, उसके बाद कुत्व से गकार, चर्त्व से ककार, दधृक् दधृग् आदि। रत्न चुरानेवाला अर्थ में उपपद तत्पुरुष समास युक्त क्विबन्त रत्नमुष् से प्रातिपदिक कार्य जश्त्व चर्त्व से रत्नमुट् पक्ष में रत्नमुड् दो रूप। बहुवचननान्त षट्संज्ञक षष् जस् जस् का लुक् जश्त्व चर्त्व से षट्। षड्। शस् में भी विभक्ति लुगादि से षट्। षड्। षष् आम् नुट्, ष्टुत्व निषेध का अभाव से ष्टुत्व षड् नाम्, नित्य अनुनासिक डकार, को णकार नकार को णकार षण्णाम्। गौण में भी नुट् नहीं होता है। अध्ययन करने की इच्छा करने वाला इस अर्थ में पठ् से सन् द्वित्व, अभ्यासादि कार्य सन् को इट् आगम पिपठि के बाद सन् के सकार को षत्व पिपठिष से क्विप् अकार लोप से पिपठिष् से मे. सु (स् पद संज्ञा सलोप कर यहाँ 'आदेशप्रत्ययोः' से विधीयमान षकार रुत्व विधायक शास्त्र की दृष्टि में 'पूर्वत्रासिद्धम्' से असिद्ध है रुत्व कर रेफ पिपठिर् यहाँ—

४३४ र्वोरुपधाया दीर्घ इकः ८।२।७६।

रेफवान्तस्य धातोरुपधाया इको दीर्घः स्यात्पदान्ते। पिपठीः। पिपठिषौ। पिपठिषः। पिपठीर्भ्याम्। 'वा शरि' इति वा विसर्जनीयः।

रेफान्त या वान्त धातु की उपधा के इक् का दीर्घ होता है पदान्त में। इकार का दीर्घ, विसर्ग से पिपठीः. पिपठीर्भ्याम्। पिपठीर् सु यहाँ रेफ का विसर्ग विकल्प से हुआ, पक्ष में रेफान्त रहेगा। यहाँ—

४३५ नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि ८।३।५८।

एतैः प्रत्येकं व्यवधानेऽपि इण्कुभ्यां परस्य सस्य मूर्धन्यादेशः स्यात्।

ष्टुत्वेन पूर्वस्य षत्वम् । पिपठीष्षु । पिपठीः षुः । प्रत्येकमिति व्याख्यानादनेक-व्यवधाने षत्वन्न । निंस्व, निंस्से । नुम्ग्रहणं नुम्स्थानिकानुस्वारोपलक्षणार्थं व्याख्यानात् । तेनेह न । सुहिन्सु । पुंसु ।

अत एव न शर्ग्रहणेन गतार्थता । रात्सस्येति सलोपे विसर्गः । चिकीः । चिकीर्षौ चिकीर्षः । रोः सुपीति नियमान्न विसर्गः । चिकीर्षु । दमेर्डोस् डित्वसामर्थ्याट्टिलोपः । षत्वस्यासिद्धत्वाद् रुत्वविसर्गौ । दोः । दोषौ । दोषः । पद्न्नेति वा दोषन् दोष्णः । दोष्णा । दोषः । दोषा । विश प्रवेशने । सन्नन्तात् क्विप् । षत्वस्यासिद्धत्वात् संयोगान्तलोपः । व्रश्चेति षः । जश्त्वचर्त्वे । विविट् । विविड् । विविक्षौ । विविक्षः । स्कोरिति कलोपः । तट् । तड् । तक्षौ । तक्षः गोरट् । गौरड् । गोरक्षौ । गौरक्षः । तक्षिरक्षिभ्यां ण्यन्ताभ्यां क्विपि तु स्कोरिति न प्रवर्तते, 'णिलोपस्य स्थानिवत्त्वात् । पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवदिति तु नास्ति, * तस्य दोषः संयोगादिलोपलत्वणत्वेष्विति निषेधात् । तस्मात् संयोगान्तलोप एव । तक् । तग् । गोरक् गोरग् । स्कोरिति कलोपं प्रति कुत्वस्यासिद्धत्वात् संयोगान्तलोपः । पिपक् । पिपग् । एवं विवक् । दिधक् । इति षान्ताः । पिस गतौ । सुष्ठु पेसतीति सुपीः । सुपिसौ । सुपिसः । सुपिसा । सुपीर्भ्याम् । सुपीः षु । सुपीष्षु । एवं सुतूः । तुस खण्डने । विद्वान् । विद्वांसौ । विद्वांसः । हे विद्वन् । विद्वांसम् । विद्वांसौ ।

इण् या कवर्ग के बाद नुम्, विसर्ग, या शर् इनमें से किसी एक का व्यवधान होने पर भी सकार को मूर्धन्य आदेश होता है। पिपठीस् सु यहाँ शर् व्यवधान है। पक्ष में विसर्ग व्यवधान है तो भी दोनों स्थलों में सु के सकार को मूर्धन्य = षकार होता है। पूर्वदन्त्य सकार को ष्टुत्व से षकार। प्रत्येक के व्यवधान से 'निंस्व' यहाँ अनुस्वार शर् (सकार) उभय वा व्यवधान से स्व के आदि सकार को मूर्धन्य 'षकार न हुआ। णिसि चुम्बने' अदादिगण पठित धातु है। इकार की इत्संज्ञा प्रयुक्त "इदितो नुम् धातोः" से नुम् आगम के नकार का नश्चापदान्तस्य से अनुस्वार हुआ है। से थास् के स्थान में से आदेश है यहाँ एकार को वकार आदेश से निंस्व लोट् म० पु० ए० व० में रूप है, तुम चुम्बन करो। निंस्से = चुम्बन करता है। यहाँ भी अनेक व्यवधान से षकारादेश न हुआ।

'नक्षत्रं दृष्ट्वा वाचं विसृजेत्" नक्षत्र को देखकर मौनव्रत छोड़ दें यहाँ नक्षत्र पद प्रसिद्ध नक्षत्रोदय कालपरक ही है, उत्पातसूचक दिन में आकाश में नक्षत्र दिख पड़े तो भी मौन व्रत भङ्ग नहीं किया जाता है। एवं मेघाच्छन्न आकाश में रात्रि में तारागण न दिख पड़ने पर उदयकाल उपस्थित न होने पर भी मौन व्रत का त्याग किया गया है। तथैव इस सूत्र में 'नुम्' अनुस्वार का उपलक्षण है, अतः नकार जहाँ श्रूयमाण रहें वहाँ इसकी प्रवृत्ति नहीं है। सुहिन्सु यहाँ नुम् का नकार अविकृत है अतः यहाँ उसके व्यवधान में षकार न हुआ सकार को। पुंसु में नकार स्थानिक अनुस्वार नहीं है। किन्तु मकार स्थानिक है अतः षकार न हुआ।

इस विशिष्ट अर्थ बोधनार्थ नुम् की यहाँ आवश्यकता है, वह आवश्यकता शर् में अनुस्वार अयोगवाह पठित है, शर् व्यवधान से कार्य निर्वाह अनुस्वार में भी होता यह कथन का खण्डन हुआ। चिकीर् स् यहाँ रात्सस्य नियम से सकार का लोप संयोगान्तस्य से हुआ है। नियम

व्यावर्तक है कार्य तो उत्सर्ग से होता है। कार्य करने की इच्छा युक्त को चिकीः कहते हैं। सप्तमी बहुवचन में रु सम्बन्धी रेफ का ही विसर्ग होता है। चिकीर्षु में र पर होकर यह रेफ रु का नहीं है। रोः सुपि इस प्रकार नियमन करना है।

भुजार्थक (बाहुअर्थक) उपशमन अर्थ में दम् से डोस् प्रत्यय निष्पन्न दोस् है षकारादेश से दोष् यहाँ षकार असिद्ध से सकार बुद्धि से षकार को रु आदेश हुआ असिद्ध होने से उसमें तदवत्ता शास्त्रप्रवृत्ति उपयोगिनी बुद्धिमात्र होती है, स् आता नहीं है। शसादि में दोषन् आदेश विकल्प से रूपद्वय होते हैं। 'अल्लोपोऽनः' से अकार का लोप यहाँ होगा, नकार को णकार होता है। प्रवेश करने की इच्छा कर्ता विश् सन् द्वित्वादि कार्य से विविश् से क्विप् षत्व असिद्ध से संयोगान्त लोप, बाद में षकारादेश जश्त्व चर्त्व से विविट्-विविड्।

तक्ष्, रक्ष् से क्विप् संयोगादि ककार का 'स्कोः' सूत्र से लोप, षकार को जश्त्व चर्त्व से तट् तड्। ण्यन्त इन दोनों में णिलोप का स्थानिवद् भाव से पदान्त संयोग नहीं है अतः 'स्कोः' की प्रवृत्ति न हुई है। यहाँ 'पूर्वत्रासिद्धम्' का प्रवृत्ति नहीं है उससे प्राप्त असिद्धत्व संयोगादिलोप-लत्व-णत्व वा० से नहीं होता हैं। अतः अचः परस्मिन् से स्थानिवद्भाव हुआ, यहाँ संयोगान्त लोप से तक् तग् जश्त्व चर्त्व से होता है। गोरक्षि से क्विप् यहाँ भी पूर्ववत् स्थानिवद्भाव संयोगान्त लोप गोरक् गोरग्।

पिपच् स् यहाँ कुत्व असिद्ध से संयोगान्त लोप हुआ है। पिपठि स् की तरह सुपिस् है। सप्तमी बहुवचन में रूपद्वय है। शब्द करने वाला अर्थ में सुतूः। ज्ञानार्थक विद् से लट् उसके स्थान में शतृ उसके स्थान में वसु आदेश से विद्वस् शब्द है। सु विभक्ति पर में उगित्त्वात् नुम् (न्) सान्तमहतः से दीर्घ सुलोप, संयोगान्तलोप, वह असिद्ध से नलोपाभाव विद्वान् = ज्ञाता = ज्ञान कर्ता। आवरण (अज्ञान) का भङ्ग को ज्ञान कहते हैं। औ में नकार का अनुस्वार। सम्बोधन में हे विद्वन्।

४३६ वसोः सम्प्रसारणम् ६।४।१३१।

वस्वन्तस्य भस्य सम्प्रसारणं स्यात्। पूर्वरूपत्वम्। षत्वम्। विदुषः। विदुषा। वसुस्रंसु—इति दत्वम्—विद्वद्भ्याम् इत्यादि। सेदिवान्। सेदिवांसौ सेदिवांसः। सेदिवांसम्। सेदिवांसौ। सेदुषः। सेदुषा। सेदिवद्भ्याम् इत्यादि। सान्तमहत इत्यत्र सान्तसंयोगोऽपि प्रातिपदिकस्यैव गृह्यते, न तु धातोः, महच्छब्दसाहचर्य्यात्। सुष्ठु हिनस्तीति सुहिन्। सुहिंसौ। सुहिंसः। सुहिन्भ्याम् इत्यादि। सुहिन्सु। ध्वत्। ध्वद्। ध्वसौ ध्वसः। ध्वद्भ्याम्। एवं स्रत्।

वसु है अन्त में जिसको ऐसा भ संज्ञक अङ्ग को सम्प्रसारण होता है। विद्वस् शस् भसंज्ञा सम्प्रसारण पूर्वरूप विदुस् अस् षकारादेश, रुत्व विसर्ग विदुषः। भ्याम् में 'वसुस्रंसु' से दकारादेश। 'गया हुआ' यह सेदिवान् का अर्थ है। सद् लिट् = क्वसु वस् इट् आगम द्वित्वादिकार्य एत्वाभ्यास लोप सेदिवस् प्रातिपदिकत्वात् सु उगित्वान्नुम्, सान्तमहतः से दीर्घ सुलोप संयोगान्त लोप सेदिवान्, संयोगान्तलोप असिद्ध है अतः नलोप न हुआ सेदिवान्, औ में नुम् के नकार का अनुस्वार। सेद् वस् शस् (अस्) यहाँ अन्तरङ्ग इट् है। एवं सम्प्रसारण बहिरङ्ग है,

प्रथम इडागम होना चाहिये, किन्तु वलादित्व वसुत्व का नाश सम्प्रसारण से होने वाला है, अतः अकृतव्यूहाः परिभाषा से इडागम न हुआ, सम्प्रसारण पूर्वरूप षत्वरुत्वविसर्ग से 'सेदुषः' प्रयोग सिद्ध हुआ है। सुहिन् स् सु यहाँ सान्त संयोग है। दीर्घ क्यों नहीं हुआ ?, महत् साहचर्य से प्रतिपादिक का ही सान्त संयोग अपेक्षित है यहाँ 'न् स्' धातु के अवयव का संयोग है, अतः दीर्घ न हुआ। ध्वंसु स्रंसु से क्विप् अनुस्वार नलोप की दृष्टि में असिद्ध से नलोप 'वसु स्रंसु से दकार चर्त्व से ध्वत् स्रत् = नीचे गिरने वाला।

४३७ पुंसोऽसुङ् ७।१।८९।

सर्वनामस्थाने विवक्षिते पुंसोऽसुङ् स्यात्। उकार उच्चारणार्थः। 'बहुपुंसी' इत्यत्र उगितश्चेति ङीबर्थं कृतेन पूञो डुमसुन्निति प्रत्ययस्योगित्त्वेनैव नुम् सिद्धेः। पुमान्। हे पुमन्। पुमांसः। पुंसः। पुंसा। पुम्भ्याम्। पुंभिः पुंसु। ऋदुशनेत्यनङ्। उशना। उशनसौ। उशनसः। ॐ अस्य सम्बुद्धौ वा अनङ् नलोपश्च वा वक्तव्यः ॐ। हे उशनन्, हे उशन, हे उशनः। उशनोभ्यामित्यादि। अनेहा। अनेहसौ। अनेहसः। हे अनेहः। अनेहोभ्यामित्यादि। वेधाः। वेधसौ। वेधसः। हे वेधः। वेधोभ्याम् इत्यादि। अधातोरित्युक्ते र्न दीर्घः। सुष्ठु वसते सुवः। सुवसौ। सुवसः। पिण्डं ग्रसते पिण्डग्रः। पिण्डग्लः। ग्रसु, ग्लसु अदने।

इस सूत्र में 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' से सप्तम्यन्त 'सर्वनामस्थाने' की अनुवृत्ति है, यह विवक्षित सप्तमी है, अतः तस्मिन्निति निर्दिष्टे का विधेयांश=अव्यवहितांश, पूर्वत्वांश, षष्ठ्यंश इनकी उपस्थिति नहीं है, एवं यह असुङ् परनिमित्तक भी नहीं है, इसमें प्रमाण "असुङि उपदेशिवद् वचनम्" यह भाष्यवार्तिक है। "सर्वनामस्थान प्रत्यय की विवक्षा में पुंस् शब्द को असुङ् आदेश होता है।

उकार उच्चारणमात्र फलार्थक है, उगित्त्वसम्पादनार्थ नहीं है, जहां असुङ् आदेश नहीं होता है वहां भी पुंस् को उगित् मान कर उगितश्च से ङीप् के लिए डुमसुन् प्रत्यय जो पा से या पूञ् से आता है, उस प्रत्ययनिष्ठ उगित् से जिस प्रकार बहुपुंसी में ङीप् हुआ, उसी प्रकार प्रत्यय के उगित् को मान कर उगिदचाम् से नुम् सिद्ध ही है, ऐसी परिस्थिति में आदेश में उगित्करण सर्वथा व्यर्थ है, केवल उच्चारणमात्र के लिए है।

पुंस् शब्द को असुङादेश ङित्व से अन्त्य को हुआ है, पुमस् से सुविभक्ति उगित्त्वात् नुम्, सान्तमहतः से दीर्घ सुलोप, संयोगान्त लोप पुमान्। दैत्यगुरु में 'उशनस् से सु अनङ् उशनन् उपधादीर्घ न लोप उशना, उशनसौ * उशनस् शब्द को अनङ् विकल्प से एवं नलोप विकल्प से होता है, सम्बुद्धि पर रहते *। अनङ् नलोपाभाव में उशनन्। अनङ् में नलोप हुआ—हे उशन, अनङ् के अभाव में हे उशनः। कालवाचक अनेहस् का रूप उशनस् की तरह। केवल सम्बोधन में भेद है। हे अनेहः। ब्रह्मा वाचक वेधस् धातुभिन्न असन्त है सु में दीर्घ वेधाः। सुवस् में अस् धातु का अवयव होने से धातुभिन्न असन्त नहीं, अतः दीर्घ न हुआ—सुवः, सुवसौ। पिण्ड को खाने वाला पिण्डग्रस् में भी रुत्व विसर्गः। एवं पिण्डग्लस् में भी रुत्वविसर्ग यहां दीर्घ नही होता है। अपुरोवर्ती में अदस् शब्द का प्रयोग है, नञ् पूर्वक दस् से क्विप् अदस्।

४३८ अदस औ सुलोपश्च ६।२।१०७।

अदस औकारोऽन्तादेशः स्यात् सौ परे सुलोपश्च। तदोः सः साविति दस्य सः। असौ। ❀ ओत्वप्रतिषेधः साकच्कस्य वा वक्तव्यः सादुत्वञ्च ❀। प्रतिषेधसामर्थ्ययोगशिष्टमुत्वं तदभावे न प्रवर्तते। असकौ। असुकः। त्यदाद्यत्व पररूपत्वम् वृद्धिः। अदसोऽसेरिति मत्वोत्वे अमू। जसः शी। आद्गुणः।

अदस् शब्द को औकार आदेश अन्त को होता है सुपर रहते एवं सु का लोप होता है। अदस् सु औ = अद औ, सु का लोप वृद्धि से 'अदौ' तदोः सः सौ से दकार को सकार आदेश 'असौ'। * अकच् विशिष्ट 'अदकस्' को औत्व का प्रतिषेध विकल्प से होता है एवं सकार के बाद के वर्ण को उकारादेश होता है *।

अदकस् सु यहाँ विकल्प से औ आदेश हुआ उस पक्ष में अदक औ, वृद्धि से अदकौ दकार को सकार 'असकौ' स् लोप यहाँ हुआ है। पक्ष में अदकस् स् अत्व पररूप दकार को सकार असक उत्व असुक रुत्व विसर्ग असुकः। अदस् औ अत्व पररूप वृद्धि अदौ मुत्व अमू। अदस् जश् शी अत्व पररूप अद इ गुण 'अदे' यहाँ—

४३९ 'एत ईद् बहुवचने' ८।२।८१।

अदसो दात्परस्यैत ईत्स्याद् दस्य च मो बह्वर्थोक्तौ। अमी। पूर्वत्रासिद्धमिति विभक्तिकार्यं पश्चादुत्वमत्वे। अमुम्। अमू। अमून्। मुत्वे कृते घिसंज्ञायां नाभावः।

बहुत्व अर्थ उक्त होने पर अदस् शब्द सम्बन्धी एकार को ईकारादेश होता है, एवं दकार को मकारादेश होता है। अदस् जस् (अस्, त्यदादीनामः, से अकारादेश, अतो गुणे से पररूप जशः शी से शी आदेश, शकार की इत्संज्ञा लोप अद ई, गुण 'अदे' एकारादेश दकार को मकारादेश 'अमी'। मुत्वविधायक एवं मीत्व विधायक शास्त्र विभक्ति सम्बन्धी कार्य विधायकों के प्रति असिद्ध है, अतः प्रथम विभक्ति सम्बन्धी यावत् कार्य करके पश्चात् मुत्व एवं मीत्व करना। अदस् अम् अत्व-पररूपत्व एवं पूर्वरूपत्व से 'अदम्' बनाकर मुत्व से अमुम्। अदौ बनाकर मूत्व अमू, अदान् बनाकर मूत्व अमून्। अदस् टा (आ) अकारादेश, पररूप इनादेश अदेन मुत्व अमु की घिसंज्ञा इनमें टा बुद्धि से ना आदेश अमुना। यहाँ मुत्व असिद्ध होने से घिसंज्ञा न होनी चाहिये एवं घिसंज्ञा के अभाव से ना आदेश न होना चाहिए। इस शङ्का निवृत्त्यर्थ सूत्र—

४४० न मु ने ८।२।३।

नाभावे कर्तव्ये कृते च मुभावो नासिद्धः स्यात्। अमुना। अमूभ्याम्। अमीभिः। अमुष्मै। अमीभ्यः। अमुष्मात् अमुष्य। अमुयोः। अमीषाम्। अमुष्मिन्। अमुयोः। अमीषु।

इति हलन्ताः पुंल्लिङ्गाः।

सूत्र में प्रथम 'न' निषेधार्थक है। 'मु' में मकार उकार का समाहार द्वन्द्व है। 'ना' शब्द के सप्तमी एक वचन में 'ने' है। यहाँ विषय सप्तमी है, वह विषयपूर्व या पश्चात् दोनों सम्भव है। नाभाव विषये=अर्थात् ना भावे कृते कर्तव्ये च यह सब मिला कर सूत्रार्थ—ना भाव करना हो या ना किया गया हो वहाँ मुत्व असिद्ध नहीं होता है। अतः अमु आ यहाँ 'आङो ना' से नाभाव हुआ, बाद में मुत्व असिद्ध होने से 'सुपि च' से दीर्घ प्राप्त हुआ, अतः ना भाव करने के बाद भी मुत्व असिद्ध नहीं होता है अर्थात् मुत्व सिद्ध है। अकारान्त अङ्ग यहाँ नहीं हैं, दीर्घ न हुआ। अदाभ्याम् = अमूभ्याम्। अदेभिः = अमीभिः। अदस्यै = अमुष्यै। अदस्मात्=अमुस्मात्। अदस्य= अमुष्य। अदयोः = अमुयोः। अदेषाम् = अमीषाम्। अदस्मिन् = अमुस्मिन्। अदयोः = अमुयोः। अदेषु=अमीषु। प्रथम विभक्ति निमित्त अत्व पररूपादि यावत् कार्य कर एक अवान्तर रूप बनाकर मुत्व मीत्व करना चाहिये।

पं० श्री बा० कृ० पञ्चोलि विरचित रत्नप्रभा में हलन्त पुंलिङ्ग प्रकरण समाप्त।

अथ हलन्ताः स्त्रीलिङ्गाः ११

४४१ नहो धः ८।२।३४।

नहो हस्य धः स्याज्झलि पदान्ते च । उपानत् । उपानद् । उपानहौ । उपानहः । उपानद्भ्याम् उपानत्सु । उत्पूर्वात् ष्णिह प्रीतावित्यस्मात् ऋत्विगादिना क्विन् निपातनाद्दलोपषत्वे, क्विन्नन्तत्वात्कुत्वेन हस्य घः । जश्त्वचर्त्वे उष्णिक् । उष्णिग् । उष्णिहौ । उष्णिहः । उष्णिग्भ्याम् । उष्णिक्षु । द्यौः । दिवौ । दिवः । द्युभ्याम् । द्युषु । गीः । गिरौ । गिरः । एवंपूः । चतुरश्चतसादेशः । चतस्रः २ । चतसृणाम् । किमः कादेशे टाप् । का । के । काः सर्ववत् ।

पदान्त में स्थित नह् धातु के हकार को, एवं झल परक नह् के हकार को धादेश होता है । उप उपसर्ग पूर्वक बन्धनार्थ णह् धातु से कर्म में क्विप् प्रत्यय, गतिसमास, 'नहिवृति' से दीर्घ उपानह् की कृदन्तत्व से प्रातिपदिकसंज्ञा सु, पदसंज्ञा विभक्ति लोप करके यहां 'हो ढः' से प्राप्त ढकारादेश को बाध कर धादेश जश्त्व चर्त्व से उपानत् । उपानद् = उपनह्यते = बध्यते इति उपानत् = जूता । स्वादिषु से भ्यामादि हलादि विभक्ति पर रहते, पदसंज्ञा वहां भी धादेश जश्त्व से दकार उपानद्भ्याम् । सुप् में धादेश जश्त्व एवं चर्त्व से उपानत्सु । स्त्रीलिङ्ग शब्द है । पादुका–उपानत्–पदायता–अनुपदीना (अ० को०) ।

उत् पूर्वक ष्णिह धातु से 'ऋत्विग्' सू० से क्विन् प्रत्यय है । निपातन से उद् का दकार लोप है, धातु के आदि मूर्धन्य षकार को सादेश के बाद सात्पदाद्योः से अप्राप्त षत्व का निपातन लाभ किया । क्विन्प्रत्ययस्य से कुत्व से हकार का घकार जश्त्व से गकार वै० चर्त्व से ककार उष्णिक् = सात अक्षरों से युक्त वैदिक छन्दोविशेष । प्रक्रिया लाघवार्थ यहां 'नहो दः' ऐसा न्यास करने पर प्रकृत प्रयोगो में दोष नहीं है किन्तु 'नद्धः' यहां दकार से पर निष्ठा प्रत्यय क्त को 'रदाभ्याम्' सूत्र से नकारादेश रूप आपत्ति होगी, एवं त को धकारादेश झष् से पर न होने से नहीं होगा । एतदर्थ ध आदेश किया है । 'त' करने पर भी झष् तकार न होने से 'त' को धकार इष्ट है वह न होगा ।

दिव् धातु से अधिकरण अर्थ में डिविप्रत्यय टिलोप दिव् = स्वर्ग यहां प्राति० सु० दिव औत्, यण् द्यौः = देवगण जहां क्रीडा करे ऐसा लोक अर्थात् स्वर्ग है । द्युषु यहां दिव उत् से उकारादेश यण् षत्व हुआ है । गॄ धातु से कर्म में क्विप् इत्व रपरत्व गिर् = वाणी सु पदसंज्ञा स् लोप 'र्वोः' से दीर्घ, विसर्ग–गीः । गिरौ । गिरः । नगरी वाचक पूः है । पॄ धातु से अधिकरण में क्विप्, जनता का पालन जिसमें हो उसको पूः कहते हैं । चतुर शब्द से जस में चतस आदेश एवं ऋ को रेफादेश से चतस्रः । शस् में भी चतस्रः । चतस नाम् यहां नामि से दीर्घ का 'न तिसृचतसृ' से निषेध हुआ । 'ऋवर्णात्' से णकारादेश चतसृणाम् । प्रश्नार्थक किम् शब्द स्त्रीवाचक प्रश्न में किम् को कादेश टाप् दीर्घ म् लोप का । के । काः । सर्वा शब्द के समान रूप है । मूल में 'सर्ववत्' जो लिखा है उसमें तद्धितवति प्रत्यय परक होने से * सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः । सर्वया तुल्यम् सर्वावत् पुंवद्भाव से सर्ववत् ।

४८२ यः सौ ७।२।११०।

इदमो दस्य यः स्यात् सौ। इदमो मः। इयम्। त्यदाद्यत्वं टाप्। दश्चेति मः। इमे। इमाः। इमाम्। इमे। इमाः। अनया। हलि लोपः—आभ्याम् ३। आभिः। अस्यै। अस्याः २। अनयोः २। आसाम्। अस्याम्। आसु। अन्वादेशे तु एनाम्। एने। एनाः। एनया। एनयोः ३। ऋत्विग् इत्यादिना स्रजेः किन् अमागमश्च निपातितः। स्रक्। स्रग्। स्रजौ। स्रजः। स्रग्भ्याम्। स्रक्षु। त्यदाद्यत्वं टाप्—स्या। त्ये। त्याः। एवं तद् यद् एतद्। वाक्। वाग्। वाचौ। वाचः। वाग्भ्याम्। वाक्षु। अप्शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः। अप्तृन्निति दीर्घः। आपः। अपः।

इदम् शब्द के दकार के स्थान में य आदेश होता है सुविभक्ति पर रहते। समीपस्थ वस्तु बोधक इदम् शब्द है। यथा—'यह स्त्री' यहां इदम् का अर्थ है। इदम् सु दकार को यकार एवं 'त्यदादीनामः' से प्राप्त अकार को 'इदमो मः' ने बाध किया 'हल्ङ्याब्' से सकार का लोप से इयम्। वाक्य में इयं बालिका पठति। इदम् औ यहां अकारादेश, अतो गुणे पररूप, टाप्, अनुबन्धलोप दीर्घ से इदा, दकार को मकार इमा से पर औ को शी आदेश शकार की इत्संज्ञा लोप गुण इमे। इमे बालिके पठतः। यहां अकार पररूप टाप् दीर्घ मकारादेश से इमा बना कर विभक्तिनिमित्तक कार्य करने चाहिए। इमा जस् दीर्घ इमाः। इमा नौकाश्चरन्ति। इमा अम् पूर्वसवर्ण दीर्घ इमाम्। इमे। इमाः। इमा टा अनाप्यकः से अन् अना आ आङि चापः एकार अयादेश से अनया। इमा भ्याम् हलि लोप से लोप आभ्याम्। इदा भिस् इद् का लोप आभिः। इद स्मै इद् का लोप अस्यै इसी प्रकार रूप ज्ञान करना अन्वादेश = कथित कथन में द्वितीया टा ओस् में एनादेश से रूप मूलोक्त है। सृज् से किन् अमागम यण् स्रज् से कुत्व चर्त्व स्रक् = माला। त्यद् सु अकारादेश पररूप टाप् दीर्घ 'तदोः' सूत्र से सकारादेश विभक्ति लोप स्या त्ये त्याः। एवं सा। ते। ताः। या। ये। याः। एषा एते एताः।

तस्यै, तस्याः तस्याम्, यस्यै यास्याः। यस्याम्। एतस्यै। एतस्याः। एतस्याम्। वच् से क्विप् दीर्घ सम्प्रसारणाभाव आदि कार्य 'क्विप् वचि' वा० से। वाच् चोः कुः से कुत्व वै० चर्त्व वाक्। वाग्।

जल वाचक अप् शब्द बहुवचनान्त नित्यस्त्रीलिङ्ग है। अप् जस् (अस्) 'अप्तृन्' से दीर्घ आपः शस् में अपः।

४४३ अपो भि ७।४।४८।

अपस्तकारः स्याद् भादौ प्रत्यये परे। अद्भिः। अद्भ्यः २। अपाम्। अप्सु। दिक्। दिग्। दिशौ। दिशः। दिग्भ्याम्। दिक्षु। 'त्यदादिषु' इति दृशेः किन् विधानादन्यत्रापि कुत्वम्। दृक्। दृग्। दृशौ। दृशः। त्विट्। त्विड्। त्विषौ। त्विषः। त्विड्भ्याम्। त्विट्त्सु। त्विट्सु। सह जुषत इति सजूः। सजुषौ। सजुषः। सजूर्भ्याम्। सजूष्षु: सजूःषु। षत्वस्यासिद्धत्वाद् रुत्वम्। आशीः। आशिषौ। आशिषः। आशीर्भ्याम्। असौ। त्यदाद्यत्वं टाप्। औङः शी। उत्वमत्वे अमू। अमूः। अमूम् अमू। अमूः। अमुया। अमूभ्याम्।

अमूभिः । अमूष्यै । अमूभ्याम् अमूभ्यः । अमूष्याः २ । अमूयोः । अमूषाम् । अमुष्याम् । अमूषु ।

❀ इति हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम् ❀

अप् के अन्त्यवर्ण को तकारादेश होता है भकारादि प्रत्यय पर रहते । अप् भिस्—अत् भिस् जश्त्व से दकार अद् भिस् सकार को रुत्व विसर्ग अद्भिः । अप् सु पकार को बकार उसको पकार अप् सु । जल वाचक यह है । दिश् से किन् , प्रत्यय षत्व–जश्त्व–कुत्व–चर्त्व=षडगकाः । दिक् दिग् दिशौ दिश ।

दृश धातु से क्विप् प्रत्यय होने पर भी इस धातु ने त्यदादि पूर्व में रहने पर किन् को देखा था । अतः किन् प्रत्यय दृष्ट होने से यहां क्विबन्त है तो भी कुत्व 'किन् प्रत्ययस्य' से हुआ ।

दृक् । दृग् । दृशौ । दृशः, । त्विष् धातु से क्विप् प्रत्यय ड् , ग् क् से त्विट् = कान्ति । ङः सि धुट् से वे० धुट् , विट्त्सु । पक्ष में धुट् रहित प्रयोग है विट्सु । सहचरी या सहेली में सह उपपद रहते प्रीत्यर्थक या सेवार्थक जूष् से क्विप् प्रत्यय प्रा० संज्ञा सु पदत्व 'ससजुषोः' से रुत्व, उपधादीर्घ सजूः । सुप् में 'वा शरि' से विकल्प से विसर्ग पक्ष में सकार 'नुम् विसर्जनीयः' से षत्वादि से रूप द्वय । आङ् पूर्वक शास् से क्विप् 'शास इत्' से आकार को इकार सकार को षकार आशिष् , षकार असिद्धि से रुत्व उपधादीर्घ से आशीः । आशिषौ । शुभ बात मुंह से कहना शुभाशंसनम् = आशीः । अदस् = यह । अदस् शब्द से सुप्रत्यय अकारादेश को बाधकर 'अदस औ सुलोपश्च' से औ आदेश सुलोप, अद औ वृद्धि 'तदोः' से सकारादेश असौ ।

अदस् औ अत्व, पररूप, टाप्, दीर्घ अदा औ को शी आदेश गुण अदे मुत्व अमू । अदस् अस् अत्व पररूप टाप् दीर्घ मुत्व रुत्व विसर्ग अमूः । अदा आ एत्व अयादेश मुत्व अमुया । अदाभ्याम्—अमूभ्याम् । अदा—भिस् = अमूभिः । अदस्यै = अमुष्यै । अदा भ्यस् = अमूभ्यः । अदस्याः—अमुष्यायाः । अदयोः—अमुयोः अदा साम्—अमूषाम् अदस्मिन् अमुस्मिन् । अदासु — अमूषु ।

पं० श्री बा० कृ० पञ्चोलि वि० रत्नप्रभा में हलन्त स्त्रीलिङ्ग समाप्त ।

अथ हलन्ता नपुंसकलिङ्गाः १२

स्वमो लुक्। दत्वम्। स्वनडुत्। स्वनडुद्। स्वनडुही। चतुरनडुहोरित्याम्। स्वनड्वांहि। पुनस्तद्वत्। शेषं पुंवत्। दिव उत्। विमलद्यु अहः। अन्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य पूर्वपदस्येवोत्तरखण्डस्यापि पदसंज्ञायां प्राप्तायाम् ❀ "उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ प्रतिषेधः" ❀। इति प्रत्ययलक्षणं न। विमलदिवी। विमलदिवि। अपदादिविधौ किम्। दधिसेचौ। इह षत्वनिषेधे कर्तव्ये पदत्वमस्त्येव। कुत्वे तु न।

वाः। वारी। अझलन्तत्वान्न नुम्। वारि। चत्वारि। न लुमतेति कादेशो न। किम्। के। कानि। इदम्। इमे। इमानि। ❀ अन्वादेशे नपुंसके एनद्वक्तव्यः ❀। एनत्। एने। एनानि। एनेन। एनयोः २। ब्रह्म। ब्रह्मणी। ब्रह्माणि। हे ब्रह्मन्। हे ब्रह्म। रोऽसुपि। अह भोति। विभाषा ङिश्योः। अह्नी। अहनी। अहानि।

सुन्दर है बैल जिस नगर में स्वनडुह् शब्द से नपुंसकत्व विवक्षा में सु का उकार की इत् संज्ञा लोप, 'वसुस्रंसु' से हकार को दकारादेश, 'वाऽवसाने' से वै० चर्त्व स्वनडुत्। स्वनडुद्। नपुंसक में अपवादविषय को छोड़कर सु एवं अम् का लुक् 'स्वमो र्नपुंसकात' से होता है एवं औङ् औट् को शी आदेश। जस् शस् को शि आदेश होता है। स्वनडुही यहां शी आदेश है। स्वनडुह् शि, यहां शि की सर्वनामस्थानसंज्ञा, 'चतुरनडुहोः' से आम् आगम, झलन्त लक्षण नुम्, यण्, अनुस्वार स्वनड्वांहि। प्रथमा समान द्वितीया मे रूप हैं। स्वच्छ है आकाश जिस दिवस में = विमलदिव् से सु, उसका लुक् 'दिव उत्' से वकार को उकारादेश, यण् विमलद्यु अहः। बिमला द्योः ययोः अह्नोः इस विग्रह में विमलदिव् औ शी आदेश कर यहां समास संज्ञा एवं विभक्तियों का लुक् हुआ है पूर्वपद में पुंवद्भाव है। "विमला औ दिव औ" यह अलौकिक विग्रह वाक्य है। यहां दिव् शब्दोत्तर लुप्त औ का प्रत्यय लक्षण से सुबन्तत्व प्रयुक्त पद संज्ञा दिव् की होकर 'दिव उत्' से वकार को उकारादेश होना चाहिए सो क्यों नहीं हुआ ?,

जिस प्रकार 'राज्ञः पुरुषः' 'राजपुरुषः' यहां 'राजन् अस् पुरुष स्' इस अलौकिक विग्रह वाक्य में समास कर विभक्ति का लुक् करके लुप्त विभक्ति अस् का प्रत्ययलक्षण से पूर्व भाग 'राजन् की सुबन्तत्व प्रयुक्त पद संज्ञा से नान्त पद मानकर 'न लोपः' सूत्र से नकार का लोप हुआ तथैव यहां उत्तरखण्ड में प्रत्यय लक्षण से पदत्व है, अतः 'उत्' होना उचित है। इस शङ्का अतीव समुचित है, तो भी समास के चरमावयव रूप उत्तरप्रद को पद संज्ञा में प्रत्ययलक्षण नहीं होता है। पूर्वपद को प्रत्यय लक्षण न्यायतः प्राप्त होता है वहां प्रत्यय लक्षण निषेधार्थक कोई वचन नहीं है। यह वार्तिक का पूर्वांश है।

उसके बाद "अपदादिविधौ" अंश है—उत्तरपद के आदि (प्रथम) वर्ण को कार्य करने में अन्तर्वर्तिनी विभक्ति को आश्रयण कर वहां उत्तर पद में प्रत्यय लक्षण होता है (अर्थात् निषेध का निषेध से प्रत्यय लक्षण का लाभसिद्ध हुआ) १ प्रत्ययलक्षण २ उसका निषेध ३ उस निषेध का विशिष्ट घटना में (आदि अक्षर को कार्य में) निषेध तीन अंशों के ज्ञान उपेक्षित है। विमलदिवी यहां उत्तरपद के चरम अवयव वकार को पदान्त मानकर उत्व करने में प्रत्यय

लक्षण का प्रतिषेध वार्तिक ने किया है। सिञ्चतः इति सेचौ दध्न; सेचौ 'दधिसेचौ' यहां समास में लुप्त सेच् के उत्तर में लुप्त औ का प्रत्ययलक्षण कर सुबन्तत्व प्रयुक्त 'सेच्' की पदसंज्ञा होती है, अतः 'आदेशप्रत्यययोः' से प्राप्तषत्व का 'सात्पदाद्योः' से पद का आदि सकार होने से षत्व का निषेध हुआ। यहां पदादि कार्य में प्रत्ययलक्षण का निषेध का निषेध होकर प्रत्ययलक्षण हुआ है। सेच् के चकार को पदान्तत्व प्रयुक्त 'चोः कुः' से कुत्व करने में पदान्त विधि है, अतः प्रत्यय लक्षण के निषेध का निषेधक की प्रवृत्ति न होकर प्रत्ययलक्षण निषेधक 'उत्तरपदत्वे' की प्रवृत्ति यहां हुई, अतः कुत्व न हुआ। 'उत्तरपदत्वे' वार्तिक की आवश्यकता या खण्डन प्रकार अतीव विस्तृत है, वह अन्यत्र से ज्ञात करना, यहां विस्तार के भय से इन बातों का उपन्यास नहीं किया है। केवल मूल ग्रन्थ का उचित समन्वय यहां लिखा गया है।

उष्णता—निवारक वार् शब्द से सु विभक्ति का लुक् रेफ का विसर्ग—वाः। वार् औ, शी आदेश—वारी। वार् जस् शि, यहां रेफ झल में नहीं अतः नुम् न हुआ। वारि। चतुर् जस् शि आदेश आम् यणादेश चत्वारि। शस् में भी चत्वारि। विभक्ति लुक् का प्रत्यय लक्षण का निषेध 'न लुमता' से हुआ अतः किम् को कादेश विभक्ति पर न होने से न हुआ। किम्। किम् औ कादेश शी (ई) गुण से 'के'। किम् जस्, शि कादेश नुम् उपधादीर्घ—कानि।

'इदमो मः' से बाधित अकारादेश न हुआ 'इदम्'। इदम् औ शी आदेश, अकारादेश पररूप, 'दश्च' से मादेश गुण इमे। इदम् जस्, शी आदेश अत्व, पररूपत्व, नुम्, उपधादीर्घ दकार को मकारादेश इमानि। नपुंसक में अन्वादेश = कथित कथन में एनत् आदेश इदम् को होता है द्वितीया, टा एवं ओस् में।

ब्रह्मन् का नलोप ब्रह्म। सम्बोधन में लुक् का प्रत्ययलक्षण पक्ष में 'न ङिसम्बुद्ध्योः से नलोप का अभाव से ब्रह्मन् पक्ष में 'न लुमता' निषेध नित्यत्व पक्ष में हे ब्रह्म!। अहन् के प्रथमा एकवचन में विभक्ति लुक् से सुप् परत्वाभाव है, अतः 'रोऽसुपि' से नकार को रेफादेश है। रु नहीं है अत 'भाति' पर रहते 'हशि च' से उत्व न हुआ। अहन् शी, विकल्प से अकार लोप होता है। रूप-द्वय है। बहुवचन में शि उपधादीर्घ—अहानि।

४४४ 'अहन्' ८।२।६८।

अहन्नित्यस्य रुः स्यात् पदान्ते। अहोभ्याम्। अहोभिः। इह 'अहः' 'अहोभ्याम्' इत्यादौ रत्वरुत्वयोरसिद्धत्वान्नलोपे प्राप्ते अहन्नित्यावर्त्य नलोपाभावं निपात्य द्वितीयेन रुर्विधेयः। तदन्तस्यापि रुत्वरत्वे। दीर्घाण्यहानि यस्मिन् स दीर्घाहा निदाघः। इह हल्ङ्यादिलोपे प्रत्ययलक्षणेनासुपीति निषेधाद् रत्वाभावे रुत्वस्यासिद्धत्वान्नान्तलक्षण उपधादीर्घः। सम्बुद्धौ तु हे दीर्घाहो निदाघः। दीर्घाहानौ। दीर्घाहानः। दीर्घाह्ना। दीर्घाहोभ्याम्।

दण्डि। दण्डिनी। दण्डीनि। स्रग्वि। स्रग्विणी। स्रग्वीणि। वाग्ग्मि। वाग्ग्मिनी वाग्ग्मीनि। बहुवृत्रहाणि। बहुपूषाणि। बह्वर्यमाणि। असृजः पदान्ते कुत्वम्, सृजेः किन् विधानात्। विश्वसृडादौ तु न, सृजिदृशोरिति सूत्रे 'रज्जुसृड्भ्याम्' इति भाष्यप्रयोगात्।

यद्वा व्रश्चादिसूत्रे सृजियज्योः पदान्ते षत्वं कुत्वापवादः।

सृग्त्विक्शब्दयोस्तु निपातनादेव कुत्वम् । असृक् शब्दस्य तु अस्यते-रौणादिके ऋच् प्रत्यये बोध्यः । असृक् । असृग् । असृजी । असृञ्जि । पदन्निति वा असन् असानि । असृजा । अस्ना । असृग्भ्याम् । असभ्याम् । इत्यादि । ऊर्क् । ऊर्ग् । ऊर्जी । उर्न्जि । नरजानां संयोगः ।

पदान्त स्थित अहन् शब्द के नकार को रु आदेश होता है । अह रु भ्याम्, हशि च से उ को गुण अहोभ्याम् । 'अहः' में रेफादेश असिद्ध है, एवं अहोभ्याम् यहां रुत्व भी असिद्ध है अतः उभयत्र नकार बुद्धि से 'न लोपः' सूत्र से नलोप प्राप्त है, किन्तु नलोप नहीं होता है, कारक कि 'अहन्' सूत्र का आवृत्ति कर एक रुत्वविधायक एवं अन्य नलोपाभाव विधायक है । अहन् को विधीय-मान कार्य अहन् शब्दान्त दीर्घाहन् आदि से भी होता है । यहां 'पदस्य' का अधिकार है वह विशेष्य है, गृह्यमाण अहन् विशेषण है, अतः तदन्तविधि है । 'ग्रहणवता' परिभाषा यहां तदन्त निषेधक नहीं है वह प्रत्यय विधानस्थल में ही लगती है, यहां आदेशविधान में उसका विषय ही नहीं है ।

दीर्घाहन् शब्द से प्रथमैकवचन में सुप्रत्यय के सकार का 'हल्ङ्याप्' से लोप हुआ है, यहां प्रत्ययलक्षण से सुप् परत्व बुद्धि से रेफादेश न हुआ, अतः रु आदेश हुआ है वह रु नलोप विधायक शास्त्र की दृष्टि में असिद्ध है, अतः नान्त पदत्व बुद्धि से उपधादीर्घ कर रु को यादेश उसका 'हलि सर्वेषाम्' से निदाघ का नकार को हल् मान कर लोप हुआ है—'दीर्घाहा' रूप है । केवल कोई पर में न रहे वहां 'दीर्घाहाः' । सम्बोधन में विभक्ति का लोप कर प्रत्ययलक्षण से सम्बुद्धि परत्व ज्ञान से नान्त लक्षण दीर्घ न हुआ । सुप् परत्व से रेफादेश का अभाव है । अहन् सूत्र से रु आदेश नकार को हुआ है । 'हशि च' से उकार कर गुण से 'दीर्घाहो निदाघः' रूप की सम्बोधन में सिद्धि हुई । दीर्घाहन् एवं निदाघ का कर्मधारय में 'दीर्घाहर्निदाघः' रूप है, यहां 'न लुमता' से प्रत्ययलक्षण निषेध से सुप् परत्व न होने से रेफादेश है । रु नहीं हुआ है । भ्याम् में रुत्व उत्व गुण ।

दण्ड सुबन्त नगर अर्थ में 'अत इनि' से इन् प्रत्यय अकार का लोप दण्डिन् से सुप्रत्यय उसका लुक् नलोप 'दण्डि' । दण्डिन् जस् अस् को शि, इनहन् से उपधादीर्घ दण्डीनि । स्रग्विन् का रूप दण्डिन् की तरह है, बहुवचन में इन् अनर्थक है तो भी 'इन्हन्' से नियम्य उपधादीर्घ होता यहां विन् अर्थवान् है । वाच् से ग्मिन् प्रत्यय है । चकार को कुत्व करने के पश्चात् जश्त्व से गकारादेश है । एक यह गकार एवं एक ग्मिनि प्र० का गकार मिल कर दो गकारयुक्त रूप है । वाग्ग्मिन् से सुप्रत्यय उसका लुक्, न लोप 'वाग्ग्मि' । यहां भी इन् अनर्थक है तो भी तदन्त विधि से प्रथमा बहुवचन में 'इन्हन्' से उपधादीर्घ है ।

बहुवृत्रहन् से प्रथमा में सु 'बहुवृत्रह' रूप है । औ में शी आदेश विभाषा अकार का लोप होता है, लोप पक्ष में हकार को कुत्व से घकारादेश 'बहुवृत्रघ्नी' पक्ष में 'अत्पूर्वस्य' से णत्वादि कार्य से 'बहुवृत्रहणी' रूप है । जस् में बहुवृत्रहाणि में उपधादीर्घ । बहुत सूर्य है जिस स्थान में बहुपूषन् के सु में 'बहुपूष' रूप है । औ में विकल्प अकार लोप से दो रूप हैं, बहुपूष्णी बहुपूषणी । जस् में बहुपूषाणि । जनसमूह जिसको श्रेष्ठ माने या स्वामी माने उसको अर्यमन् कहते हैं । बहुअर्यमन् सुबन्त द्वय का बहुव्रीहि समास है—बहवः अर्यमणः यस्मिन् बह्वर्यमन् प्र० ए० व० में बह्वर्यम । औ में विकल्प अकार लोप से दो रूप है ।

बह्वर्यम्णी, बह्वर्यमणी । जस् में इनहन् से उपधा दीर्घ है । नाडीयों द्वारा शरीर में रक्त का सञ्चार होता है, रक्त=रुधिरवाचक असृक् शब्द योगरूढ है । क्षेपणार्थक अस् से उ० ऋज् प्रत्यय

हैं, अस् का अर्थ फैंकना है। असृज् स् यहां यद्यपि क्विन् प्रत्यय नहीं है तो भी सृज् ने क्विन् प्रत्यय को देखा है अतः क्विन्प्रत्ययस्य से कुत्व प्राप्त है, किन्तु 'चोः कु' का दृष्टि में 'क्विन् प्रत्ययस्य' असिद्ध है, अतः 'चोः कुः' से कुत्व प्राप्त है उसको अपवादत्व के कारण षत्व ने बाध किया, षकार जकार को हुआ, जश्त्व से डकार, उसको कुत्व से गकार, विकल्प चर्त्व से ककार पक्ष में है—'असृक्' 'असृग्' दो रूप है। बहुवचन में झलन्त लक्षण नुम्, अनुस्वार, परसवर्ण ञ् से 'असृञ्जि'।

'विश्वसृज्' शब्द में कुत्व नहीं होता है। 'रज्जुसृड्भ्याम्' भाष्य प्रयोग से 'क्वचित् कुत्वाभावः' यह ज्ञापन है। अननुगत ज्ञापन के अपेक्षा व्यवस्थित ज्ञाप्य वचनाकार इस प्रकार है 'अव्यय भिन्न पूर्व पद से उत्तर में सृज् को कुत्व नहीं होता है' असृज् में नञ् तत्पुरुष नहीं है, वह आदि अकार अस् धातु का है। स्रज् आदि में तो निपातन से कुत्व होता है। यह एक पक्ष है। व्रश्चेति सूत्र कुत्व का अपवाद है। अतः सृज् यज् को पदान्त में कुत्व नहीं होता है।

शसादि विभक्ति परक असृज् को वैकल्पिक असन् आदेश होता है। उस पक्ष में पूर्वप्रदर्शित रूप से एक ओर रूप–'असानि' हुआ है। असृजा, पक्ष में आदेश अकार लोप अस्ना। असृग्भ्याम् असभ्याम् यहां नलोप असिद्ध है, अतः 'सुपि च' से दीर्घ न हुआ। बलवान् में ऊर्ज् से क्विप् लोप, जश्त्व चर्त्व से ऊर्क्। ऊर्ग्। जस् में नुम् आगम से न् र् ज् तीन व्यञ्जन का एकत्र संयोग है।

❀ बहुर्जि नुम् प्रतिषेधः, अन्त्यात्पूर्वो वा नुम् ❀। बहूर्जि। बहूर्ञ्जि वा कुलानि। त्यत्। त्यद्। त्ये। त्यानि। तत्। तद्। ते। तानि। यत्। यद्। ये। यानि। एतत्। एतद्। एते। एतानि। अन्वादेशे तु एनत्।

विभिद्यतेः क्विप्। बेभित्। बेभिद्। बेभिदी। शावल्लोपस्य स्थानिवत्त्वाद् अझलन्तत्वान्न नुम्। अजन्तलक्षणस्तु नुम् न, स्वविधौ स्थानिवत्त्वाभावात्। बेभिदि ब्राह्मणकुलानि। चेच्छिदि।

• बहुर्जि में नुमागम नहीं होता है, यदि नुम् करना ही है तो अन्त्य वर्ण के पूर्व में विकल्प से नुम् होता है। यहां 'मिदचोऽन्त्यात्' सूत्र की प्रवृत्ति नहीं है, अन्त्य व्यञ्जन के पूर्व नुम् विकल्प से होता है। यहां जकार के पूर्व एवं रेफ के बाद नकार की स्थिति रहती है। नकार का अनुस्वार परसवर्ण से 'बहूर्ञ्जि' रूप है। बड़े बलवान् घराने। त्यद् से सु उसका लोप प्रत्ययलक्षण का निषेध से विभक्ति पर में नहीं है अकारादेश नहीं—त्यद्, यद्, एतद् में। द्विवचन में अकार, पररूप ही गुण त्ये, ते आदि रूप है। अन्वादेश में एनत् आदेश एतद् को होता है।

क्यच्प्रत्ययान्त बेभिद्य से क्विप् अकार लोप यकार लोप बेभिद् से सुप्रत्यय उसका लोप जश्त्व चर्त्व। बेभित्। बेभिद्। बेभिदी। बेभिद् जस् उसको शि यहां 'अतो लोपः' से अकार का लोप हुआ था। उसका स्थानिवद्भाव से झलन्त नहीं है अतः नुम् 'नपुंसकस्य झलचः' से न हुआ। स्थानिवद्भाव से अजन्तत्व बुद्धि से अजन्त लक्षण उससे नुम् होना चाहिए, किन्तु पूर्व को कार्य करने में, या पूर्वत्वेन दृष्ट से पर को कार्य करने में ही स्थानिवद्भाव होता है, स्व को कार्य में स्व का स्थानिवद्भाव प्राप्त ही नहीं है। इस न्यायतः प्राप्तार्थ का अनुवादक केवल 'स्वविधौ न स्थानिवत्' वचन है। वह अपूर्व नहीं है। एवं चेच्छिद्य क्यजन्त से क्विप् अलोप यलोप सु लोप चेच्छित्, चेच्छिद्, जस में चेच्छिदि। पुनः पुनः तोडने वाला। फिर फिर छेदन करने वाला। यह बेभित्, एवं चेच्छित् का अर्थ है।

किसी राजा की सभा में किसी पण्डित का प्रश्न यह था कि हे पण्डितगण ! यदि आप में प्रतिभा है तो आप मेरे प्रश्न का उत्तर छः मास में दें।

"जायन्ते नव सौ तथाऽमि च नव भ्याम् भिस् भ्यसां सङ्गमे
षट्संख्यानि नवैव सुप्यथ जसि त्रीण्येव तद्वच्छसि।
चत्वार्यन्यवचस्सु कस्य विबुधाः शब्दस्य रूपाणि त-
ज्जानन्तु प्रतिभाऽस्ति चेन्निगदितुं षाण्मासिकोऽत्रावधिः" ॥ १ ॥

उसके प्रश्न का तत्क्षण किसी पण्डितेन्द्र ने उत्तर श्लोक में ही दिया है वह श्लोक यह है—

"गवाक्शब्दस्य रूपाणि क्लीबेऽर्चागतिभेदतः।
असन्ध्यवङ्पूर्वरूपैर्नवाधिकशतं मतम् ॥ १ ॥
स्वमुसुप्सु नव षट् भादौ षट्के स्युस्त्रीणि जश्शसोः।
चत्वारि शेषे दशके रूपाणीति विभावय ॥ २ ॥

पूजा एवं गति यह दो भेद के कारण नपुंसक में गवाञ्च् शब्द के रूप—असन्धि-अवङ्-पूर्व-रूप-इनके योग से १०९ रूप है। उनमें सु, अम्, सुप् में नव नव प्रत्येक के रूप हैं। २७। भकारादि छः प्रत्ययों में प्रत्येक के छ छ रूप है। ३६। जस् एवं शस् में प्रत्येक के तीन तीन रूप हैं ६। अन्य दश विभक्तियों में प्रत्येक के चार चार रूप हैं। ४०। सब मिलकर एक सौ नव रूप है। उसको आप जाने। इस उत्तर से सभास्थित सर्वजन आनन्दयुक्त हुए।

तथाहि—गामञ्चतीति विग्रहे ऋत्विगादिना क्विन्। गतौ नलोपः। अवङ् स्फोटायनस्येत्यवङ्। गवाक्। गवाग्। सर्वत्र विभाषेति प्रकृतिभावे—गो अक्। गो अग्। पररूपे-गोऽक्। गोऽग्। पूजायां नस्य कुत्वेन ङः। गवाङ्। गो अङ्। गोऽङ्। अम्यपि एतान्येव नव। औङः शी। भत्वाद् 'अचः' इति अलोपः। गोची। पूजायान्तु गवाञ्ची। गोअञ्ची। गोऽञ्ची। जश्शसोः शिः। शेः सर्वनामस्थानत्वा-न्नुम्। गवाञ्चि। गो अञ्चि गोऽञ्चि। गतिपूजनयोस्त्रीण्येव। गोचा गवाञ्चा। गोऽञ्चा। गवाग्भ्याम्। गो अग्भ्याम्। गोऽग्भ्याम्। गवाङ्भ्याम्। गो अङ्भ्याम्। गोङ्भ्याम्। इत्यादि। सुपि तु ङान्तानां पक्षे 'ङ्णोः कुग्टुक्' इति कुक्। गवाङ्क्षु। गो अङ्क्षु। गोङ्क्षु। गवाङ्षु। गो अङ्षु। गोऽङ्षु। गवाक्षु। गो अक्षु। गोऽक्षु। न चेह 'चयो द्वितीया' इति पक्षे ककारस्य खकारेण षण्णामाधिक्यं शङ्क्यम्, चर्त्वस्यासिद्धत्वात्। कुक्पक्षे तु तस्यासिद्धत्वाज्जश्त्वाभावे पक्षे चयो द्वितीया-देशात् त्रीणि रूपाणि वर्धन्त एव।

उक्तमेषां द्विर्वचनानुनासिकविकल्पनात्।
रूपाण्यश्वाक्षिभूतानि (५२७) भवन्तीति मनीषिभिः॥

गत्यर्थक पूजार्थक अञ्चु धातु है। गत्यर्थक में नलोप होता है। पूजार्थक में नलोप नहीं होता है। यहां जो नकार है, वह वास्तव में नकार है, अनुस्वार, परसवर्ण से ञकाररूप है, वह नलोप करने में अनुस्वारादिक कार्य असिद्ध होने से उसमें नकार बुद्धि ही होती है।

गाम् अञ्चति ऐसे विग्रहमें 'ऋत्विग्' से क्विन्प्रत्यय हुआ है। उसमें अञ्चुधातु के गति अर्थ में नलोप हुआ तब गो अच् ऐसी स्थिति हुई; सु प्रत्यय का 'स्वमोर्नपुंसकात्' से लुक्।

सम्बन्धार्थ गो से आगत एवं लुप्त विभक्ति का प्रत्ययलक्षण से गो पद है अवङादेश गव अच् दीर्घ से गवाच् यहां चोः कुः में कुत्व—गवाक् गवाग्। सर्वत्र विभाषा से प्रकृतिभाव कुत्व गो अक्। गो अग्। पूर्वरूप यहां 'एङः पदान्तादति' से गोऽक् गोऽग्। पूजा मे नकार को कुत्व से ङकार। संयोगान्त लोप, गवाङ्। गो अङ्। गोङ्। इस प्रकार सु में नव रूप होते है। अम् में भी वही नव। औङः पर रहते भसंज्ञा, शी, अकार लोप, अवङ्, प्रकृति भाव, एवं पूर्वरूप, नलोप, पूजा में नलोपाभाव गोची, गवाञ्ची, गो अञ्ची, गोञ्ची। जस् शस् के स्थान में शि वह सर्वनाम स्थान है, नपुंसकस्य' से नुम् पूर्ववत् तीन रूप, गवाञ्चि, गो अञ्चि, गोञ्चि। टा में चार, भ्याम् मे छ।

सप्तमी बहुवचन मे कुगागम। गवाङ्क्षु। गोअङ्क्षु। गोङ्क्षु। पक्ष मे 'षु' घटित पूर्व की तरह रूप। गवाक्षु गो अक्षु गोक्षु यहां चर्त्व असिद्ध होने से ककार का खकार 'चयो द्वितीया' से न हुआ। जश्त्व की दृष्टि में कुक् असिद्ध है अतः यहां जश्त्व न हुआ इसमें द्वितीयाक्षर 'चयोः' से होता ही है, यह तीन रूप अधिक हुए। इन १२२ रूपों के 'अनचि च' से विकल्प द्वित्व, 'अणोऽप्रगृह्यस्य' से विकल्प अनुनासिक सब मिलकर अश्व ७ अक्षि २ भूत ५ "अङ्कानां वामतो गतिः" से अङ्को की वाम भाग से गिनती होती है। इससे ५२७ रूप होते है। इन रूपों का विद्वानों को ध्यान में रखने चाहिए।

तिर्यक्। तिरश्ची। तिर्यञ्चि। पूजायान्तु तिर्यङ्। तिर्यञ्ची। तिर्यञ्चि। यकृत्। यकृती। यकृन्ति। पदन्नेति वा यकन्। यकानि। यक्ना यकृता। शकृत्। शकृती। शकृन्ति। शकानि। शक्ना। शकृता। ददत्। ददती।

क्विन् प्रत्ययान्त तिर्यञ्च् शब्द के गत्यर्थ में नलोप, विभक्ति लुक्, तिरि आदेश, चोः कुः से कुत्व तिर्यक्। शी में तिरश्ची। जस् में शि उसकी सर्वनामसंज्ञा तिरि आदेश यण् नुम् अनुस्वार पर-सवर्ण तिर्यञ्चि। पूजार्थक में तिर्यङ्। तिर्यञ्ची। तिर्यञ्चि। पित्त स्थान को यकृत् कहते हैं। यकृत्, यकृती, यकृन्ति। नुम्। यकन् आदेश में यकानि। अलोप से यक्ना। पक्ष में यकृता। शेष पुंवत्। विष्ठा = शकृत्। शकृन्ति। शकानि। शक्ना शकृता। देने वाले को ददत् कहते हैं। दानार्थक दाधातु से वर्तमान में लट् उसको शतृ आदेश होता है शप् का श्लु (लोप) द्वित्व दादा पूर्व का ह्रस्व ददा अत् आकार का लोप से ददत्। सु का लुक्। औ को शी। ददती।

४४५ वा नपुंसकस्य ७।१।७९।

अभ्यस्तात्परो यः शता तदन्तस्य क्लीबस्य नुम् वा स्यात् सर्वनामस्थाने। ददन्ति। ददति। तुदत्।

अभ्यस्तसंज्ञक से पर शतृ प्रत्यय तदन्त नपुंसक शब्द को नुम् विकल्प से होता है। 'ददत् इ' यहां नुम् पक्ष में ददन्ति। नुम् के अभाव यहां ददति।

४४६ आच्छीनद्योर्नुम् ७।१।८०।

अवर्णान्तादङ्गात् परो यः शतुरवयवस्तदन्तस्याङ्गस्य नुम् वा स्याच्छी-नद्योः परतः। तुदन्ती। तुदती। तुदन्ति। भात्। भान्ती। भाती। भान्ति। पचत्।

अवर्णान्त अङ्ग से पर जो शतृ प्रत्यय का अवयव वह है अन्त में जिसको वैसा अङ्ग को नुम् विकल्प से होता है, शी या नदी संज्ञक पर रहते।

व्यथन = पीडार्थक तुद् से लट् शतृ = अत् शविकरण पररूप तुदत् यहां अवर्णान्त अङ्ग तुद् उसके बाद त् शतृ प्रत्यय का अवयव है। तदन्त अङ्ग तुदत् उसको नुम् तुदन्ती यहां औ को शी आदेश है। पक्ष में तुदती। तदन्ति में नपुंसकस्य झलचः से नुम् तुदन्ति। दीप्त्यर्थक भा से लट् शतृ दीर्घ भात् द्विवचन में भान्ती भाती। नपुंसकस्य से नुम् भान्ति। पच् अ अत् पररूप पचत्।

४४७ शप्श्यनोर्नित्यम् ७।१।८१।

शप्श्यनोरात्परो यः शतुरवयवस्तदन्तस्य नित्यं नुम् स्याच्छीनद्योः परतः। पचन्ती। पचन्ति। दीव्यत्। दीव्यन्ती। दीव्यन्ति। स्वप्। स्वब्, स्वपी। नित्यात्परादपि नुमः प्राक् अप्तृन्निति दीर्घः, प्रतिपदोक्तत्वात्। स्वाम्पि। निरवकाशत्वं प्रतिपदोक्तत्वमिति पक्षे तु प्रकृते तद्विरहान्नुमेव। स्वम्पि। स्वपा। 'अपो भि:'—स्वद्भ्याम्। स्वद्भिः।

अर्तिपृवपि' इत्यादिना धनेरुस्। रुत्वम्। धनुः। धनुषी। सान्तेति दीर्घः। नुम्विसर्जनीयेति षत्वम्। धनूंषि। धनुषा। धनुर्भ्याम्। एवं चक्षुर्हविरादयः।

पिपठिषतेः क्विप्। र्वोरिति दीर्घः। पिपठीः। पिपठिषी। अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वाज् झलन्तलक्षणो नुम् न। सर्वविधौ स्थानिवत्त्वाभावादजन्तलक्षणोऽपि न नुम्। पिपठिषि। पिपठीर्भ्याम् इत्यादि। पयः। पयसी। पयांसि। पयसा। पयोभ्याम् इत्यादि। सुपुम्। सुपुंसी। सुपुमांसि। अदः। विभक्तिकार्यम्। उत्वमत्वे। अमू। अमूनि।

इति हलन्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम्।

शप् या श्यन् का अवर्ण से पर जो शतृ का जो अवयव तदन्त को नित्य नुम् होता है, शी या नदी संज्ञक पर रहते।

शप् में अकार मात्र शेष रहता है अन्य की इत्संज्ञा लोप होता है। श्यन् में यकार मात्र शेष रहता है। आदि दो में शप् विकरण है, अन्य में श्यन् विकरण है।

अच्छा जल है जिस स्थान में स्वप् शब्द है। स्वप् जस् शि आदेश 'स्वप् इ' यहां 'नपुंसकस्य झलचः' से परत्व के कारण एवं नित्यत्व के कारण 'अप्तृन्' से प्राप्त दीर्घ को बाधकर नुम् होना चाहिये। किन्तु अप् शब्द को उच्चारण कर विधीयमान दीर्घ प्रतिपदोक्त है। प्रतिपदोक्त—कार्य प्रबल होने के कारण नुम् को बाधकर दीर्घ हुआ है। शीघ्रोपस्थितिरूप अन्तरङ्ग मूलक प्रतिपदोक्त न्याय है। अर्थात् अन्तरङ्ग दीर्घ प्रतिपदोक्त कहा गया है। निरवकाश जो प्रतिपदोक्त कार्य वह बाधक होता है 'आपः' में नुम् की अप्राप्ति स्थल में दीर्घ सावकाश है, अतः पर एवं नित्य नुम् होना (५।१।२) चाहिए। निरवकाश प्रतिपदोक्त बाधक है यह शेषाद् विभाषा ५।४।१५४। एवं उगवादिभ्यो यत् सूत्रों के भाष्य में स्पष्ट है। इस पक्ष में नुम् अनुस्वार परसवर्ण से 'स्वम्पि' आदि प्रत्यय परक स्वप् के पकार को तकारादेश कर जश्त्व से दकार—स्वद्भ्याम्।

धन् धातु से उस् प्रत्यय सकार को षकार से धनुष्। सुप्रत्यय का लुक् षकार रुत्व की दृष्टि में असिद्ध है, अतः रुत्व विसर्ग से धनुः। धनूंषि यहां नुम् 'सान्तमहतः' से दीर्घ, 'नुम् विसर्जनीयः' से षकार। धनूंषि। रेफान्त धातु न होने से 'धनुः' यहां 'र्वोः' से दीर्घ न हुआ। नेत्रार्थक चक्षुः आदि रूप चक्षुः, हविः

आदि है। होम द्रव्यार्थक हविः है। सन्नन्त=अध्ययन विषयिणी इच्छा कर्तृ कुल अर्थ में-पिपठिष् से क्विप् प्रत्यय। उससे सु उसका लुक् रुत्व की दृष्टि में 'आदेशप्रत्यययोः सूत्र से विधीयमान षकार असिद्ध है अत रुत्व उपधा दीर्घ विसर्ग पिपठीः। जस् को शि कर के 'पिपठिष इ' यहां सन् का अकार को 'अतो लोपः' से लोप हुआ था उसका स्थानिवद्भाव से झलन्त नहीं है, अतः नुम् न हुआ। स्व-विधि में स्थानिवद् भाव प्राप्त ही नहीं है अतः अजन्त लक्षण नुम् नहीं हुआ = पिपठिषि। पयस् शि, नुम्, सान्तमहतः से दीर्घ, 'नश्चापदान्तस्य' से अनुस्वार—पयांसि।

सुन्दर पुरुष है जिस नगर में सुपुंस् शब्द से सु विभक्ति का लुक्, संयोगान्त लोप सुपुम्। मकार का अनुस्वार औ को शी सुपुंसी 'सुपुम् स् इ' असुङ् (अस्) सुपुमस् इ' नुम् 'सान्तमहतः' से दीर्घ सुपुमांसि। यह अर्थ में अदस्, शब्द है, उससे सु लुक् रुत्व विसर्ग से अदः। अदस् औ अकारादेश पररूप शी आदेश गुण अदे = मूत्व अमू। अदानि = अमूनि। पुंवत् शेष रूप है।

पं० श्री बा० कृ० पञ्चोलि वि० रत्नप्रभा में हलन्त नपुंसक लिङ्ग समाप्त

अथाव्ययप्रकरणम् १३

लिङ्गप्रयुक्त, कारकप्रयुक्त एवं क्रियाप्रयुक्त भिन्न भिन्न विकार को जो प्राप्त न करे उसे अव्यय कहते हैं। अव्ययी भाव में वास्तविक अव्ययत्व नहीं है किन्तु आरोपित अव्ययत्व है। एवं संख्या की भी प्रतीति न रहे उसको अव्यय कहते हैं। तथा विविध प्रकारता को जो न प्राप्त करे उसे अव्यय कहते हैं।

४४८ स्वरादिनिपातमव्ययम् १।१३७।

स्वरादयो निपाताश्चाव्ययसंज्ञाः स्युः।

स्वरादिगणपठित शब्दों की एवं निपात संज्ञक शब्दों की अव्यय संज्ञा होती है।

स्वर्, अन्तर्, प्रातर्, पुनर्, सनुतर्, उच्चैस्, नीचैस्, शनैस्, ऋधस्, ऋते, युगपत्, आरात्, पृथक्, ह्यस्, श्वस्, दिवा, रात्रौ, सायम्, चिरम्, मनाक्, ईषत्, जोषम्, तूष्णीम्, बहिस्, अवस्, समया, निकषा, स्वयम्, वृथा, नक्तम्, नञ्, हेतौ, इद्धा, अद्धा, सामि, वत्, ब्राह्मणवत्, क्षत्रियवत्, सना, सनत्, सनात्, उपधा, तिरस्, अन्तरा, अन्तरेण, ज्योक्, कम्, शम्, सहसा, विना, नाना, स्वस्ति, स्वधा, अलम्, वषट्, श्रौषट्, वौषट्, अन्यत्, अस्ति, उपांशु, क्षमा, विहायसा, दोषा, मृषा, मिथ्या, मुधा, पुरा, मिथो मिथस्, प्रायस्, मुहुस्, प्रवाहुकम्, प्रवाहिका, आर्यहलम्, अभीक्ष्णम्, साकम्, सार्धम्, नमस्, हिरुक्, धिक्, अम्, आम्, प्रताम्, प्रशान्, मा माङ्, आकृतिगणोऽयम्।

च, वा, ह, अह, एव, एवम्, नूनम्, शश्वत्, युगपत्, भूयस्, कूपत्, कुवित्, नेत्, चेत्, चण्, कच्चित्, यत्र, नह, हन्त, माकिः माकिम्, नाकिः, नकिम्, पाङ्, नञ्, यावत्, तावत्, त्वै, द्वै, न्वै, रै, श्रौषट्, वौषट्, स्वाहा, स्वधा, तुम्, तथाहि, खलु, किल, अथ, सुष्ठु, स्म, आदह, 'उपसर्ग-विभक्तिस्वरप्रतिरूपकाश्च = अवदत्तम्, अहंयुः, अस्तिक्षीरा, अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, पशु, शुकम्, यथाकथाच, पाट्, प्याट्, अङ्ग है, हे, भो, अये, द्य, विषु, एकपदे युत, आतः। चादिराकृतिगणः।

(१) अव्यय	(१) भाषार्थ	(२) अव्यय	(२) भाषार्थ
स्वर्	स्वर्ग या परलोक	नीचैस्	नीच स्थान,
अन्तर्	मध्य में		या थोड़ा
प्रातर्	प्रातः काल में	शनैस्	धीरे धीरे
पुनर्	फिर या विशेष	ऋधक्	यथार्थ, वियोग, शीघ्र
सनुतर्	अन्तर्ध्यान में		समीपता,
उच्चैस्	ऊंचा स्थान		छोटेपन,

(३) अव्यय	(३) भावार्थ	(४) अव्यय	(४) भावार्थ
ऋते	विना	ज्योक्	काल बाहुल्य, प्रश्न-
युगपत्	एककाल में		शीघ्रता सम्प्रति ।
आरात्	दूर या निकट	कम्	जल, मस्तक, निन्दा,
पृथक्	अलग		सुख
ह्यस्	बीता हुआ काल दिन,	शम्	सुख
श्वस्	आने वाला कल का	सहसा	विना हेतुक या अवि-
दिवा	दिन में		चार से
रात्रौ	रात में	विना	छोड़कर
सायम्	सायंकाल	नाना	अनेक, विना,
चिरम्	बहुत समय तक	स्वस्ति	कल्याण, मङ्गल
मनाक्	थोड़ा	स्वधा	पितृ सम्बन्धी दान
ईषत्	थोड़ा	अलम्	भूषण, पूर्ति, शक्ति,
जोषम्	मौन या सुख		वारण, निषेध,
तूष्णीम्	मौन	वषट्	यह तीनों शब्द देव-
बहिस्	बहार	श्रौषट्	सम्बन्धी हविर्दान
अवस्	बाहर की ओर	वौषट्	में प्रयुक्त है
समया	निकट या मध्य में	अन्यत्	और रीति से
निकषा	निकट	अस्ति	है,
स्वयम्	आप ही	उपांशु	गुप्तरीति से बोलना
वृथा	निष्फल		या रहस्य
नक्तम्	रात में	क्षमा	सहन
नञ्	नहीं	विहायसा	आकाश में
हेतौ	कारण में	दोषा	रात में
इद्धा	प्रकाशता	मृषा	झूठ बोलना
अद्धा	स्पष्टता, या निश्चय से,	मिथ्या	असत्य भीषण
सामि	अर्ध, या निन्दित	मुधा	निष्प्रयोजन
वत्	सदृश	पुरा	निरन्तर, पहले से,
ब्राह्मणवत्	ब्राह्मण के तुल्य		भविष्य, समीप
क्षत्रियवत्	क्षत्रियतुल्य	मिथो मिथस्	एकान्त परस्पर
सना	नित्य	प्रायस्	बहुधा
सनत्	सदा	मुहुस्	वार वार
सनात्	सर्वदा	प्रबाहुकम्, प्रवाहिका	उसी समय या ऊपर
उपधा	विभाग	आर्यहलम्	बालात्कार
तिरस्	अन्तर्धान, तिर्यक्,	अभी क्ष्णम्	वार वार, निरन्तर
	तिरस्कार	साकम्, सार्धम्,	साथ
अन्तरा	मध्य या विना	नमस्	नमस्कार
अन्तरेण	वर्जन	हिरुक्	विना

(५) अव्यय	(५) भाषार्थ	(६) अव्यय	(६) भाषार्थ
धिक्	निन्दा, धमकाना, शीघ्रता से या अल्पता से	यावत्, तावत्	जितना, जबतक, तितना, तब तक
		त्वै	विशेष, वितर्क,
आम्	अङ्गीकार करना	द्वै	वितर्क, कदाचित्
प्रताम्	ग्लानि	न्वै	वितर्क
मा, माङ्	अशङ्का, निषेध	रै	दान, अनादर
(यह स्वरादि	आकृति गण है ।)	श्रौषट् वौषट्	हवि दान में
निपात	निपातार्थ	स्वाहा	देवताओं के अर्पण में
च	समुच्चय, अन्वाच्य, इतरेतरयोग, समाहार	स्वधा	पितृ अर्पण में
		तुम्	तुकार कर
वा	विकल्प, उपमा, निश्चय समुच्चय	तथाहि	इस प्रकार से, इस प्रमाण से ।
ह	प्रसिद्धि	खलु	निश्चय, निषेध वाक्या लङ्कार में
अह	पूजा, आदर'		
एव	निश्चय, अनिश्चय	किल	वार्ता, अलीक
एवम्	ऐसा	अथो अथ	मङ्गल, अनन्तर, आरम्भ, प्रश्न, अधिकार, प्रतिज्ञा, समुच्चय कात्स्न्यर्य ।
नूनम्	निश्चय, सम्भावना		
शश्वत्	निरन्तर, साथ		
युगपत्	एक काल में		
भूयस	बहुधा, अधिकता	सुष्ठु	अच्छा
कूपत्, सूपत्	प्रश्न, प्रशंसा, अच्छा	स्म	बीतना, पादपूरण
कुवित्	बाहुल्य या प्रशंसा,	आदह	आरम्भ, निन्दा हिंसा
नेत्	शङ्का, निषेध, विचार समुच्चय	* उपसर्ग-स्वर, विभक्ति इनके समान दिखाई देने वाले शब्द अव्यय है । *	
चेत्	यदि		
चण	जो		
कच्चित्	इष्टप्रश्न क्या,	अवदत्तम्	दिया हुआ
किञ्चित्	कुछ	अहंयुः	अहंकारवान्
यत्र	आश्चर्य, अनिश्चित, निन्दा, अक्षमा ।	अस्तिक्षीरा	दूध जिसमें रहे वह
		अ	सम्बोधन, विक्षेप, निषेध
नह	नहीं		
हन्त	हर्ष, विषाद, वाक्यारम्भ, दया	आ	वाक्य एवं स्मरणार्थ
माकि, माकिम्, नकिः नकिम्,	नहीं	इ	सम्बोधन, निन्दा विस्मय
		ई, उ, ऊ, ओ, औ	सम्बोधन वाचक
माङ् नञ्	नहीं	पशु	सरल, अच्छा

(७) अव्यय	(७) भावार्थ	(८) अव्यय	(८) भावार्थ
शुकम्	शीघ्रता	विषु	नानार्थक, सर्वत्र,
यथाकथाच	अनादर, किसी		जहांतहां
	प्रकार	एकपदे	अकस्मात्, एक समय
पाट्	सम्बोधन	युत्	दोष, निन्दा
अङ्ग, ह, हे, भो अये	सम्बोधनार्थक	आत	इसमें
घ	हिंसा, प्रतिकूलता, पादपूर्ति, सम्बोधन		

चादि भी आकृति गण है इनको छोड़कर भी निपात है। स्वरादि में के कुछ शब्द यहां पुनः आये हैं वे स्वरार्थ है—निपात का आदि उदात्त होता है। निपाता आद्युदात्ताः।

४४९ तद्धितश्चासर्वविभक्तिः १।१।३८।

यस्मात् सर्वा विभक्तिर्नोत्पद्यते स तद्धितान्तोऽव्ययं स्यात्। परिगणनं कर्तव्यम्। तसिलादयः प्राक् पाशपः। शस्प्रभृतयः प्राक् समासान्तेभ्यः। अम्। आम्। कृत्वोऽर्थाः। तसिवती। नानाञाविति। तेनेह न। पचति—कल्पम्। पचतिरूपम्।

तद्धितान्त जो शब्द, उनमें से जिनके पश्चात् सब विभक्तियां नहीं लगती उनकी अव्ययसंज्ञा होती है। अव्ययसंज्ञक तद्धितान्त कौन से इसकी गिनती करनी चाहिए अन्यथा दोष होगा। "पञ्चम्यास्तसिल्"। ५।३।७ से लेकर याप्ये पाशप्। ५।३।४३ इसके पूर्व सूत्र तक। "बह्वल्पार्थाच्छस्" ५।४।४२ यहां से लेकर समासान्ताः। ६।४।६८ इसके पूर्व सूत्र तक। अमु च छन्दसि। ५।४।१२से विधीयमान अम्, 'किमेत्तिङ्' ५।४।११ से विहित आम्। 'संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्' ५।४।१७ से विहित कृत्वसुच् तदर्थक सुच्। तेनैकदिक्, तसिश्च से विधीयमान तसि, 'तेन तुल्यम्' से विहित वतिप्रत्यय, 'विनञ्भ्याम्' से विहित ना एवं नाञ् इन्प्रत्यय जिनके अन्त में रहे उनकी अव्यय संज्ञा होती है। इसके बाहर ईषदसमाप्तौ ५।३।६७ से विहित कल्पप् प्रत्ययान्त को एवं प्रशंसायां रूपप् ४।३।६६ से विहित रूपप् प्रत्ययान्त की अव्यय संज्ञा न हुई। इनकी व्यावृत्ति परिगणन का मुख्य फल है पचतिकल्पम् = कच्चा पकाता है। पचतिरूपम् = अच्छा पाक करता है।

४५० कृन्मेजन्तः १।१।३९।

कृद् यो मान्त एजन्तश्च तदन्तमव्ययं स्यात्। स्मारं स्मारम्। जीवसे। पिबध्यै।

धातु के अधिकार में विहित 'कृदतिङ्' सूत्र से कृत्संज्ञक प्रत्यय मकारान्त तथा ए ऐ ओ औ वे वर्ण अन्त में जिनके है उनकी अव्यय संज्ञा होती है। स्मृ धातु से णमुल् (अम्) वृद्धि स्मारम् द्वित्व से स्मारम् स्मारम्, कृत्प्रत्यय णमुल् मान्त है, तदन्त की अव्यय संज्ञा हुई। वैदिक एकारान्त 'जीवसे' यहां असेन् प्रत्यय है, अ से एकारान्त है, जीवसे की अव्यय संज्ञा हुई। पीने के निमित्त अर्थ में पा से शध्यै प्रत्यय है पा को पिबादेश से पिबध्यै एकारान्त की अव्यय संज्ञा हुई।

४५१ क्त्वातोसुन्कसुनः १।१।४०।

एतदन्तमव्ययं स्यात्। कृत्वा। उदितोः। विसृपः।

क्त्वा (त्वा) तोसुन् (तोस्) कसुन् (अस्) इन प्रत्ययान्त शब्दों की भी अव्यय संज्ञा होती है। कृत्वा (गतः)। उदितोः = उदय पाने को यहां तोसुन् प्रत्यय है। जाने के लिए अर्थ में 'विसृपः' यहां कसुन् प्रत्यय है।

४५२ अव्ययीभावश्च १।१।४१।

अधिहरि।

अव्ययीभाव समास की भी अव्यय संज्ञा होती है।

वास्तविक अव्यय नहीं, किन्तु अव्यय की तरह होने से अव्ययीभाव में अव्ययत्व का अध्यास = आरोप है। 'अन्यस्मिन् अन्यधर्मावभासोऽध्यासः' इसी लिए अव्ययीभाव में च्विप्रत्यय अभूत तद्भावार्थक है, जो सम्भव नहीं जिसमें उसकी सम्भावना करना। हरौ ङि (इ) अधि यहां विभक्त्यर्थ अधिकरण अर्थ का वाचक अधि है, 'अव्ययम्' सूत्र से विभक्त्यर्थ में अव्ययीभाव समास है हरौ इति अधिहरि = हरि में। अव्यय संज्ञा से विभक्ति लुक्।

४५३ अव्ययादाप्सुपः २।४।८२।

अव्ययाद् विहितस्यापः सुपश्च लुक् स्यात्। तत्र शालायाम्। विहित-विशेषणान्नेह। अत्युच्चैसौ। अव्ययसंज्ञायां यद्यपि तदन्तविधिरस्ति, तथापि न गौणे। आब्ग्रहणं व्यर्थम्, अलिङ्गत्वात्।

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥

इति श्रुतिर्लिङ्गकारकसंख्याऽभावपरा।

वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः।
आपश्चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा॥

वगाहः। अवगाहः। पिधानम्। अपिधानम्।

❀ इत्यव्ययानि ❀

अव्यय से विहित आप् या सुप् उसका लोप होता है। तत्र शालायाम्। यहां शाला अर्थ तत्र का ही है तत्र से सप्तमी एवं टाप् आया था उसका इसने लुक् किया, अतः तत्र के बाद सप्तमी का श्रवण न रहा एवं तत्र से टाप् जो आया था उसका भी श्रवण न रहा।

उच्चत्व विशिष्ट स्थान को अतिक्रमण करने वाले दोनों इस अर्थ में अत्युच्चैस् है। उससे औ प्रत्यय है, वह उच्चैस् अव्यय से विहित नहीं है। अत्युच्चैस् से विहित है किन्तु अत्युच्चैस् अव्यय नहीं है। अतः विभक्ति का लुक् न हुआ। यद्यपि 'येन विधिः' से तदन्त विधि से अव्ययान्त से विहित है किन्तु वह तदन्त विधि अव्ययार्थ विशेषणी भूत रहे अर्थात् अव्ययार्थ में विशेषण रहे वहां तदन्त विधि नहीं होती है। सूत्र में आब् ग्रहण व्यर्थ है अव्ययार्थ लिङ्गान्वयी नहीं है।

अर्थात् समवाय सम्बन्ध से लिङ्गार्थ अव्ययार्थ में प्रकारतया भासमान नहीं है। अतः अव्यय से टाप् नहीं होता तब तत्र में केवल सप्तमी का लुक् मात्र ही अव्यय संज्ञा का प्रयोजन है।

तीनों लिङ्ग में समान रहे, सर्वविभक्त्यन्त में समान रूप रहे, एक वचनादि तीनों वचनों में समान रूप रहें, एवं 'ये न वियन्ति = भिन्नभिन्नविकारान् = लिङ्ग—क्रिया—कारकप्रयोज्यान् न प्राप्नुवन्ति तानि अव्ययानि' अर्थात् लिङ्ग-क्रिया-एवं कारक प्रयुक्त अनेक विभिन्न रूप-विकारों से रहित जो शब्द स्वरूप हो उनकी अव्यय संज्ञा होती है। संज्ञिनिष्ठ अनेकत्व संज्ञा में आरोपित है।

शब्दों में यह स्वाभाविक नियम है कुछ शब्द पूर्वोक्त विकारों को प्राप्त करते हैं, कुछ नहीं जो उन विकारों के प्राप्त करें वे अव्यय नहीं है। इस लिए भाष्यकार ने कहा है कि "अलिङ्गता, असंख्यता" यह अव्यय लक्षण वाचनिक नहीं है किन्तु यह स्वाभाविक है। यह सार्थक संज्ञा है।

पं० श्री बा० कृ० पञ्चोलि विरचित रत्नप्रभा में अव्यय प्रकरण समाप्त।

अथ स्त्रीप्रत्ययप्रकरणम् १४

४५४ स्त्रियाम् ४।१।३।

अधिकारोऽयं समर्थानामिति यावत्।

तीन गुणों से युक्त पदार्थ है, सत्त्व गुण की अधिकता जहां रहे एवं अन्य दो गुणों की न्यूनता रहे उसे पुंस्त्व, रजोगुण की अधिकता जहां रहे उसे स्त्रीत्व, एवं तमोगुण की अधिकता रहे, उसे नपुंसकत्व कहते है। उन = पुंस्त्व-स्त्रीत्व-नपुंसकत्व धर्मों से युक्त शब्दों को पुंलिङ्ग-स्त्रीलिङ्ग-नपुंसक लिङ्ग कहते हैं। गुण स्वरूप लिङ्ग का द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से अन्वय है, गुण एवं गुणी का नित्य समवाय सम्बन्ध है। पदार्थमात्र में सभी लिङ्ग है, अत एव तट शब्द तीनों लिङ्ग में है, कुछ शब्द उभयलिङ्गक है, कुछ एकलिङ्गक है इसमें व्यवहार, शिष्ट प्रयोग एवं कोशादि नियामक है। अतः लिङ्ग ज्ञानार्थ सूत्र निर्माण अनावश्यक है यह भगवान् भाष्यकार कहते हैं—"लिङ्गमशिष्यम्, लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य" इति। सूत्रकार मत में स्त्री शब्द स्त्रीत्वविशिष्ट धर्म-परक है स्त्रीवाचक शब्द रूपार्थक है। भाष्यकार मत में धर्मपरक स्त्री शब्द है—'स्त्रीत्वे' अत एव स्त्रीत्वे द्योत्ये टाबादि होते हैं। स्त्री प्रत्ययों को लिङ्ग वाचकता नहीं है, वाचक तो उनके मत में प्रातिपदिक ही है स्त्री प्रत्यय द्योतक है = समीपस्थ पद में रहने वाली शक्ति (वृत्ति) का उद्बोधक को द्योतक कहते हैं। 'स्तनकेशवती नारी' यह लक्षण लक्षित यहां नहीं है स्त्रीत्व, स्त्री के अनुकरण करने वाला पुरुष में वह लक्षण अतिव्याप्ति से युक्त है, एवं अचेतन 'खट्वा' आदि में अव्याप्त है।

यह अधिकार सूत्र है, 'समर्थानां प्रथमाद्वा' सूत्र से पूर्व तक इसका अधिकार हैं, यहां मर्यादा है, अभिविधि नहीं है।

४५५ अजाद्यतष्टाप् ४।१।४।

अजादीनामकारान्तस्य च वाच्यं यत् स्त्रीत्वं तत्र द्योत्ये टाप् स्यात्। अजाद्युक्तिर्ङीपो ङीषश्च बाधनाय। अजा। अतः—खट्वा। अजादिभिः स्त्रीत्वस्य विशेषणान्नेह, पञ्चाजी। अत्र हि समासार्थसमाहारनिष्ठं स्त्रीत्वम्। अजा। एडका अश्वा। चटका। मूषिका। एषु जातिलक्षणो ङीष् प्राप्तः। बाला, वत्सा, होढा, मन्दा, विलाता, एषु 'वयसि प्रथमे' इति ङीप् प्राप्तः।

अज है आदि में जिनके वैसे शब्द, एवं ह्रस्व अकारान्त शब्दों का वाच्य जो स्त्रीत्व वह द्योत्य रहने टाप् प्रत्यय होता है। वस्तुतः स्त्रीत्व द्योत्य रहे वहां अजादि रूप प्रातिपदिक से एवं अकारान्त प्रातिपदिक से टाप् होता है। प्रत्यय विधान में पञ्चम्यन्त निर्देश उचित है। अजादिगण पठित शब्द अकारान्त है, अदन्तात् से ही टाप् होता सूत्र में अजादि ग्रहण बाधक बाधनार्थ है। अदन्त निमित्तक टाप् को 'जातेरस्त्रीविषयात्' ङीष् प्राप्त है अज आदि में एवं वत्स आदि में 'वयसि प्रथमे' से ङीप् प्राप्त है इनको बाध कर टाप् की प्रवृत्ति के लिए सूत्र में विशेष वचन अजादि कहा है।

पञ्चानाम् अजानाम् समाहारः यहां = पांच बकरों का समूह अर्थ में "तद्धितार्थोत्तरपदे" से समाहार द्वन्द्व है, 'पञ्चाज' यहां 'अकारान्त' उत्तर पदक समाहार स्त्रीलिङ्ग में इष्ट है, अतः 'पञ्चाज' स्त्रीरूपार्थ में विद्यमान है 'द्विगोः' से ङीप् अकार लोप से 'पञ्चाजी' बना है।

यहां शङ्का होती है कि ङीप् को बाध कर टाप् क्यों नहीं हुआ ?, समासार्थ समाहार वाच्य स्त्रीत्व यहां है, अज शब्द निष्ठ शक्ति बाच्य स्त्रीत्व नहीं है, सूत्रार्थ यह है कि अजादि से पर्य्याप्ति सम्बन्ध से जहां स्त्रीत्व की शक्ति से प्रतीति रहे, वहां टाप् होता है।

स्त्रीत्व अजादि में विशेषणतया अन्वित है, अज से टाप् यहां टकार पकार इत् संज्ञक है केवल आकार श्रूयमाण रहता है। दीर्घ से अजा। यहां अजत्व जाति विशिष्ट व्यक्ति का वाचक होने से ङीप् प्राप्त था उसको बाध कर टाप् हुआ है। बकरी को अजा कहते हैं। एडक, से टाप् एडका = मेषी (अ० को० २ का० ९ व०), अश्वा = घोडी = वडवा। चटका = कलविङ्कपत्नी। मूषिका = चूही। इनमें ङीप् को बाध कर टाप्। वयोवाचक—बाला = कन्या, १६ वर्ष पूर्व की कन्या। वत्सा = पुत्री। होडा, मन्दा विलाता वे किस वयोवचन है, वह कोशादि से अज्ञात है, सामान्यतः वयोवाचक होने से यहां प्रथम वयोवाचक मान कर ङीप् को बाध कर टाप् हुआ है।

❀ संभस्त्राजिनशणपिण्डेभ्यः फलात् ❀। संफला, भस्त्रफला। ङ्यापोरिति ह्रस्वः। ❀ सदच्काण्डप्रान्तशतैकेभ्यः पुष्पात् ❀। सत्पुष्पा, प्राक्पुष्पा, प्रत्यक्पुष्पा। ❀ शूद्रा चामहत्पूर्वा जातिः ❀। पुंयोगे तु शूद्री। अमहत्पूर्वा किम् ?, महाशूद्री। क्रुञ्चा, उष्णिहा, देवविशा, ज्येष्ठा, कनिष्ठा। ❀ मध्यमेति पुंयोगेऽपि ❀। ❀ कोकिला जातावपि ❀। ❀ मूलान्नञः ❀। अमूला। ऋन्नेभ्यो ङीप्। कर्त्री। दण्डिनी।

सम्, भस्त्रा, अजिन, शण, एवं पिण्ड शब्द से पर जो फलवाचक फल उससे स्त्रीत्व द्योत्य रहे वहां टाप् होता है। 'पाककर्ण' सूत्र का यह अपवाद है। संफला = ओषधि वाचक हैं, अथवा समृद्ध फलवती नगरी आदि का भी वाचक है।

भस्त्रा फल से टाप् यहां संज्ञा होने से पूर्वपद के आकार का ह्रस्व अकार भस्त्रफला = भाथी। सत्, अञ्च, काण्ड, प्रान्त शत एक इन शब्द है पूर्व में जिसको ऐसा जो पुष्प शब्द तदान्त स्त्रीवाचक से टाप् प्रत्यय होता है। विद्यमान पुष्पों से युक्त को सत्पुष्प टाप् सत्पुष्पा कहते हैं। प्राक्पुष्पा= पूर्वकाल में पुष्प थे, सम्प्रति नहीं यह अर्थ है। पश्चिमदेशोद्भव पुष्प युक्त को प्रत्यक्पुष्पा कहते हैं। यहां अञ्चु के दो उदाहरण इस लिए दिये गये हैं कि 'सत्प्राग्' वार्तिक में पढा था, उसका खण्डनार्थ यह यत्न है, किसी उपसर्ग पूर्वक अञ्चु का ग्रहण यहां इष्ट है। इसी प्रकार काण्डपुष्पा, शतपुष्पा, एकपुष्पा रूप होते हैं।

* यहां वाक्यत्रय है १–शूद्रा, २–अमहत्पूर्वा, ३–जातिः। १–शूद्र शब्द स्त्रीत्वविशिष्टार्थ वाचक रहे तब उससे टाप् होता है। २–महत्पूर्व स्त्रीवाचक शूद्र शब्द से टाप् नहीं होता है। पूर्व योग द्वय जाति वाचक शब्द से ही टाप् करते हैं—अर्थात्–शूद्रत्व जाति विशिष्ट वाचकात् शूद्र शब्दान्तात् महत्पूर्व रहितात् टाप्। शूद्रत्व जाति से युक्त पुरुष ने अशूद्रा कन्या से विवाह असवर्ण किया है वहां उस स्त्री में वास्तविक शूद्रत्व नहीं है, पुरुषयोग से अध्यस्त है ऐसे स्थल में 'पुंयोगात्' सूत्र से ङीष् होता है शूद्री। यहां वार्तिकार्थ में अनारोपित शूद्रत्व जाति विशिष्टात् यह संकोच करना आवश्यक है।

'समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः' से यहां टाप् रूप प्रत्यय विधान है अतः तदन्तविधि नहीं होने पर केवल शूद्र से ही टाप् प्राप्त है, महाशूद्र से अप्राप्त है, पुनः वार्तिक में अमहत्पूर्व ग्रहण क्यों किया ?, वह व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि 'प्रत्ययविधौ' तदन्तविधि निषेध में प्रत्यय स्त्रीप्रत्यय भिन्न लेना, अर्थात् स्त्रीप्रत्यय में तदन्तविधि होती है। महाशूद्र शब्द आभीरत्व

जातिविशिष्ट का समुदाय शक्ति से वाचक है, अवयव शक्ति से अजहत्स्वार्थावृत्तिपक्ष में शूद्रत्व-जाति विशिष्ट का वाचक होने से तदन्तविधि से प्राप्त टाप् का निषेधार्थ वार्तिक में 'अमहत्पूर्व' सार्थक है। टाप् निषेध करने पर जाति लक्षण ङीप् हुआ। समुदाय शक्ति एवं अवयव शक्ति दोनों जहां रहे वहां निषेध की प्रवृत्ति है, केवल अवयव शक्ति रहे वहां टाप् होता ही है यथा—शूद्रा। क्षत्रिय से शूद्रा में उत्पन्न कन्या को उग्रा कहते हैं, यह अनुलोम सङ्कर है, क्योंकि पुरुष उच्चजाति का एवं स्त्री निम्न जाति की है। उस उग्रा में ब्राह्मण से उत्पन्न सन्तति में आभीरत्व जाति रहती है। यहां आभीरी महाशूद्री है। शरीर से मोटी शूद्रा यहां 'महाशूद्रा' यहीं होता है! वस्तुतः समासादिस्थलों में समुदायशक्तिपक्षसिद्धान्त सिद्ध है, अवयव शक्ति पक्ष का त्याग है।

"समासे खलु भिन्नैव शक्तिर्पङ्कजशब्दवत्
बहूनां वृत्तिधर्माणां वचनैरेव साधने
स्यान्महत् गौरवं तस्मादेकार्थीभाव आश्रितः।"

अतः अवयव शक्ति से प्राप्त टाप् को रोकने के लिए अमहत्पूर्व की अनावश्यकता ही है। तदन्तविधि ज्ञापक 'अनुपसर्जनात्' अधिकार है। अतः स्त्रीप्रत्यय विधीयमान स्थलों में तदन्तविधि होगी ही, एतदर्थ 'अमहत् पूर्वा' अनावश्यक है।

पुंयोग रहे या न रहे सर्वत्र स्त्री वाचक ज्येष्ठ आदि से टाप् होता है। ज्येष्ठत्ववती ज्येष्ठा। पुंयोग से आरोपित ज्येष्ठत्व है तो भी गौण मुख्य न्याय की स्त्रीत्वनिमित्तक कार्यों में अप्रवृत्ति ही है। वास्तविक ज्येष्ठत्व में भी ज्येष्ठा होता है। वास्तविक कनिष्टत्व (अल्पत्व) स्त्री वाचक में रहे या पुंयोग से आरोपित रहे उभयत्र टाप् कनिष्ठा = अवस्था कृत न्यूना। मध्यमत्व विशिष्टा या आरोपित मध्यमत्व विशिष्टा मध्यमा यहां टाप् हुआ है। कोकिलत्व जाति से युक्त स्त्री यहां टाप् कोकिला, यहां जातिलक्षण ङीप् नहीं होता है ङीप् का बाधक टाप् है।

* नञ् से पर मूल शब्द रहे वहां ङीष् नहीं होता है स्त्रीत्वे द्योत्ये। यह वा० 'पाककर्ण' सूत्र पर पठित है, प्राप्त ङीष् का निषेधक है, अमूला = नहीं है मूल जिसका ऐसी ओषधि विशेष को कहते हैं। यह सूत्र 'ऋन्नेभ्यः' प्रथम प्रसङ्ग से आ चुका है किन्तु प्रकरण में मुख्य यह है एतावता इसका उपन्यास है। स्त्री वाचक ऋकारान्त एवं नान्त शब्दों से ङीप् होता है। कार्यकारिका या स्त्री इस अर्थ में उत्पत्तिजनक व्यापारार्थक कृञ् धातु से कर्तृरूप अर्थ में 'ण्वुल् तृचौ' से तृच् प्रत्यय एवं गुण से कर्तृ ङीप् (ई) यण् कर्त्री। दण्ड संयोगवती शाला इस अर्थ में षष्ठ्यन्त दण्ड शब्द से इन् प्रत्यय विभक्ति लोप भसंज्ञा अकार लोप स्त्री दण्डिन् से ईकार दण्डिनी।

४५६ उगितश्च ४।१।६।

उगिदन्तात् प्रातिपदिकात् स्त्रियां ङीप् स्यात्। पचन्ती। भवन्ती। शप्श्यनोरिति नुम्। उगिदचामिति सूत्रेऽञ्ग्रहणेन धातोश्चेदुगित्कार्यं तर्ह्यञ्चतेरेवेति नियम्यते। तेनेह न—उखास्रत्। क्विप्। अनिदितामिति नलोपः। पर्णध्वत्। अञ्चतेस्तु स्यादेव। प्राची। प्रतीची।

उगित् है अन्त में जिसको ऐसे प्रातिपदिक से ङीप् होता है। यहां उगिदन्त तदन्त प्रतिपदिक से भी ङीप् होता है, कहीं वास्तविक, कहीं व्यपदेशिवद्भाव से आरोपित उगिदन्तान्त का ग्रहण करना चाहिये। शतृ का अत उगित् है तदन्त पचत, भवत, उगिदन्त हैं परमपचत्, परमभवत, उगिदन्तान्त है, केवल पचत् में वह व्यपदेशिवद्भाव लभ्य है। वस्तुतः यहां तदादि

विधि नहीं है अतः उगिदन्त से ही कार्य निर्वाह होता है। पचत् से ईकार, नुम् = पचन्त् = वर्तमान काल में रसोई बनाने वाली स्त्री। भवत् ई, नुम् भवन्ती = व० का० में उत्पन्न कन्या। बट्लोही से भूमि में गिरी हुई लपसी (गुजरात में कंसार कहते) इस अर्थ का वाचक यहां उखास्रत् शब्द है, उगित् प्रातिपदिक भी है, ङीप् क्यों नहीं हुआ ?, एवं पत्तियों को गिराने वाली स्त्री इस अर्थ में पर्णध्वत् से भी ङीप् क्यों नहीं हुआ ?, 'उगिदचाम्' सूत्र में अञ्चु उगित् है ही, केवल उगित् कहने से नुम् अञ्च् को भी होता, पुनः उसमें अञ्चुग्रहण व्यर्थ होकर नियमार्थ है कि—धातु को उगित्प्रयुक्त कार्य हो तो अञ्च् को ही, (यह नियम नलोपी अञ्चु परक है) अतः यहां दोनों पूर्वोक्त उदाहरणों में ङीप् न हुआ, उखा पूर्वक स्रंस् को किन् अनिदितां से नलोप 'वसुस्रंसु' से दकारादेश चर्त्व उखास्रत्। पर्णध्वत्।

दिशावाचक प्राच् से ङीप् होकर यहां नलोपी अच् है उगितश्च से ङीप् हुआ—प्राची। एवं प्रतीची।

४५७ वनो र च ४।१।७।

वन्नन्तात् तदन्ताच्च प्रातिपदिकात् स्त्रियां ङीप् स्याद् रश्चान्तादेशः। वन्निति ङ्वनिप्-क्वनिब्-वनिषां सामान्यग्रहणम्। प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणम्। तेन प्रातिपदिकविशेषणात्तदन्तमपि लभ्यते। सुत्वानमतिक्रान्ता अतिसुत्वरी। अतिधीवरी। शर्वरी। ⊛ वनो न हश इति वक्तव्यम् ⊛। हशन्ताद् धातो र्विहितो यो वन् तदन्तात् तदन्तान्ताच्च प्रातिपदिकात् ङीप् रश्च नेत्यर्थः। 'ओणृ अपनयने' वनिप्, विड्वनोरित्यात्वम्। अवावा ब्राह्मणी। राजयुध्वा। ⊛ बहुव्रीहौ वा ⊛। बहुधीवरी। पक्षे टाप् वक्ष्यते।

सूत्र में अनुबन्ध रहित वन् मात्र का निर्देश वन् घटित सर्व प्रत्ययों का ग्रहणार्थ है। वन् प्रत्यय बोधक है। प्रत्यय का जहां उद्देश्य विधया ग्रहण रहे वहां परिभाषा से तदादिरूप विशेष्यांश की उपस्थिति होती है, प्रत्यय की 'येन विधिः' से विशेषणसंज्ञा होने से तदन्तविधि रूप संज्ञी येन विधि से प्राप्त हैं उस अंश की परिभाषा अनुवादक है। तदादि अंश परिभाषा का अपूर्व (नवीन) है।

इन अंशद्वय युक्त प्रत्यय ग्रहण परिभाषा से तदादि विशेष्यक एवं वन् विशेषण यहां तदन्त विधि हुई—वन्नन्ततदादि, अधिकार प्राप्त प्रातिपदिक का वन्नन्ततदादि विशेषण है, प्रातिपदिक विशेष्य है येन विधिः से पुनः तदन्त विधि से वनन्ततदाद्यन्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्वद्योत्य रहे वहां ङीप् प्रत्यय होता है, एवं वन् के अन्त को र आदेश होता है।

स्नान करने वाले को अतिक्रमण करने वाली स्त्री इस अर्थ में द्वितीयातत्पुरुष अतिसुत्वन् से ङीप् रेफादेश से अतिसुत्वरी। धारण करने वाले को अतिक्रमण करने वाली स्त्री अतिधीवन् से ङीप् रेफादेश अतिधीवरी। दुःख का नाश करने वाली रात्रि को शर्वरी कहते हैं, हिंसार्थक शृ से वनिप् गुण शर्वन् से ङीप् रेफादेशे शर्वरी, यहां शर्वन् वनन्ततदादि है उसमें व्यपदेशिवद्भाव से वनन्ततदाद्यन्तत्व का आरोप किया है।

यहां ङीप् सिद्ध का यह सूत्र अनुवादक है केवल रभाव ही विधेय है। हशन्त धातु से विहित जो वन् तदन्त तदादि वह है अन्त में जिसको ऐसे प्रातिपदिक से ङीप एवं रेफादेश नहीं होता है। दूर करने वाली इसमें ओण् से वन् यहां ङीप् का निषेध हुआ 'विड्वनोः' से णकार को आकारादेश ओ को अव् आदेश अवावन् का प्रा० ए० व० में अवावा। भूत काल में राजा

को युद्ध कराने वाली एतदर्थक राजयुध्वन् से ङीप्, र का निषेध से राजयुध्वा स्त्री। अनेक धारण करने वाले पुरुषों से युक्त नगरी यहां बहुव्रीहि समास है, वहां ङीप् एवं रादेश की प्रवृत्ति विकल्प से होती है ङीप् एवं रादेश पक्ष में बहुधीवरी। पक्ष में प्र० में बहुधीवा, बहुधीवानौ। डाप् पक्ष में बहुधीवे। तीन रूप होते हैं। द्विवचन में टाप् एवं उसका अभाव से रुप ज्ञान स्पष्ट होते हैं। एकवचन में नहीं।

४५८ पादोऽन्यतरस्याम् ४।१।८।

पाच्छब्दः कृतसमासान्तस्तदन्तात्प्रातिपदिकात् ङीन् वा स्यात्। द्विपदी। द्विपाद्।

कृत समासान्त जो पाद् शब्द वह है अन्त में जिसको ऐसा स्त्रीवाचक प्रातिपदिक से ङीप् विकल्प से होता है। अनेकार्थक पाद शब्द है—१ श्लोक के चतुर्थांश पाद, २—चरण में पाद, ३—किरण में पाद, ४-पर्वतों के समीप छोटे पर्वतो में। पाद अकारान्त शब्द है उत्तर सूत्र में ऋच् अर्थ का वाचक कृतसमासान्त का ही ग्रहण करना है, अतः अर्थाधिकार के अनुरोध से यहां भी कृतसमासान्त का ही ग्रहण होता है, यही पाद् की अनुवृत्ति उत्तर सूत्र में है, "न हि सर्पन्ती गोधा अग्रे गत्वा अहि र्भवति"।

इस न्याय से जो अर्थ पाद् का वही उत्तर में। दौ है चरण जिसका ऐसी स्त्री अर्थ में समास कर "संख्यासुपूर्वस्य" से द् के बाद का अकार का लोप होकर द्विपाद् बना है। अभावरूप लोप को समास चरम अवयवत्व-रूप समासान्तत्व लोप के स्थानी अकार में स्थित का लोप में आरोप है। द्विपाद् से ङीप्, भसंज्ञा, 'पादः पत्' से पद् आदेश द्विपदी। पक्ष में द्विपात् द्विपाद्।

४५९ टाबृचि ४।१।९।

ऋचि वाच्यायां पादन्ताट्टाप् स्यात्। द्विपदा ऋक्। एकपदा। न षट्स्वस्रादिभ्यः। पञ्च। चतस्रः। पञ्चेत्यत्र नलोपे कृतेऽपि ष्णान्ता षडिति षट्संज्ञां प्रति नलोपः सुप्स्वरेति नलोपस्यासिद्धत्वान्न षट्स्वस्रादिभ्य इति न टाप्।

ऋक् अर्थ में पाद शब्दान्त प्रतिपादिक से टाप् प्रत्यय होता है। टाप् से द्विपदा ऋक्। एकपदा ऋक्। पाद शब्द समानार्थक पद शब्द भी है। पञ्चत्व संख्या विशिष्ट संख्येय साड़ी अर्थ में पञ्चन् से जस् का लुक् नलोप यहां असिद्ध है अतः षट् संज्ञा कर 'न षट्स्वस्रादिभ्यः' से निषेध से टाप् न हुआ। संज्ञा विधान में 'न लोपः सुप्' की प्रवृत्ति होती है।

वस्तुतः यथोद्देश पक्ष में पञ्चन् की पूर्वजात षट् संज्ञा नलोप के बाद अवशिष्ट 'पञ्च' में है ही अतः निषेध से टाप् नहीं यही समाधान ठीक है। न लोप असिद्ध कर षट् संज्ञा सम्प्रति करना यह अत्यन्त अनुचित है। 'न लोपः सुप्स्वर' में संज्ञा पद से घिसंज्ञा का ही ग्रहण होता है, अन्योन्याश्रय दोष ग्रस्त 'दत्तदण्डिनौ' 'दण्डिदत्तौ' उदाहरण पर भाष्य के प्रामाण्य से। अतः 'संज्ञाविधौ' में षट् संज्ञा नहीं ली जाती है। अथवा भूतपूर्व षट्त्व के आरोप में भाष्य भी प्रमाण है 'न षट्' पर कहा है कि स्त्रीलिङ्ग में जो जो प्राप्त है उन उनका निषेधक है पञ्च में केवल टाप् प्राप्त है, अन्यत्र सर्वत्र ङीप् ही प्राप्त है, यद् यद् शब्द के अक्षरस्वारस्य से टाप् का भी यह निषेधक है वह कब संभव है भूतपूर्व षट्त्वारोप से ही।

४६० मनः ४।१।११।

मनन्तान्न ङीप्। सीमा सीमानौ।

मनन्तदादि तदन्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व द्योत्य रहे वहां ङीप् नहीं होता है। यहां भी दो तदन्तविधि, मनन्ततदादि प्रातिपदिक का विशेषण है, पुनः तदन्तविधि होती है। सीमन् से 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' प्राप्त था वह न हुआ। सीमा सीमानौ। अतिसीमन् यहां भी ङीप् निषेध हुआ—अतिसीमा। अतिसीमानौ।

४६१ अनो बहुव्रीहेः ४।१।१२।

अनन्ताद् बहुव्रीहेर्न ङीप्। बहुयज्वा। बहुयज्वानौ।

अनेक याग करने वाले जिस नगरी में रहे उस नगरी को बहुयज्वा कहते हैं।

४६२ डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम् ४।१।१३।

सूत्रद्वयोपात्ताभ्यां डाब् वा स्यात्।

अनन्त। एवं मन्नन्त शब्दों को विकल्प से डाप् होता है दामन् से डाप् टिलोप दामा। सीमा औ में दाम। सीमे। डाप् के अभाव पक्ष में दामानौ, सीमानौ।

दामन् शब्द स्त्रीलिङ्ग एवं नपुंसक लिङ्ग है। पुलिङ्ग नहीं है कोषकार के मत से। बहुयज्वन् से डाप् टिलोप बहुयज्वा, द्विवचन में बहुयज्वे, बहुयज्वानौ।

४६३ अन उपधालोपिनोऽन्यतरस्याम् ४।१।२८।

अनन्ताद् बहुव्रीहेरुपधालोपिनो वा ङीप् स्यात्। पक्षे टाप्निषेधौ। बहुराज्ञी। बहुराजे। बहुराज्ञ्यौ बहुराजानौ।

उपधा लोपी जो अन्नन्त बहुव्रीहि उससे विकल्प ङीप् होता है। पक्ष में टाप् होता है। एवं अनो बहुव्रीहेः से निषेध भी होता है,। दो विकल्प में तीन रूप होते हैं बहुराज्ञी, यहां ङीप्। बहुराज्ञ्यौ यहां विकल्प से ङीप् पक्ष में डाप् बहुराजे डाप् के अभाव में 'अन्' से निषेध बहुराजानौ।

४६४ प्रत्ययस्थात्कात् पूर्वस्यात इदाप्यसुपः ७।४।३।४४।

प्रत्ययस्थात् ककारात् पूर्वस्याकारस्येकारः स्यादापि परे स आप् सुपः परो न चेत्। सर्विका। कारिका। अतः किम्, नौका। प्रत्ययस्थात् किम्, शक्नोतीति शका। असुपः किम्, बहुपरिव्राजिका नगरी। कात् किम्, नन्दना। पूर्वस्य किम्, परस्य मा भूत्। कटुका। तपरः किम्, राका। आपि किम्, कारकः। ❀ मामकनरकयोरुपसंख्यानम् ❀। मामिका। नरान् कायतीति नरिका। ❀ त्यक्त्यपोश्च ❀। दाक्षिणात्यिका। इहत्यिका।

सुप् से पर अस्थित आप् पर में रहते प्रत्यय के ककार से पूर्वस्थित अकार को इकारादेश होता है। सर्वनाम संज्ञक सर्व शब्द की टि (अकार) के पूर्व अकच् (अक्। होकर सर्वक है उससे टाप् (आ) दीर्घ से 'सर्वका' यहां इकारादेश अकार को हुआ—सर्विका कारक आ दीर्घ

इकारादेश कारिका। नौका अकार यहां नहीं इकार न हुआ। शका में प्रत्यय का ककार नहीं है बहवः परिव्राजकाः वर्तन्ते यस्यां नगर्य्याम् यहां बहुव्रीहि समास विभक्ति लुक् बहुपरिव्राजक से टाप् प्रत्यय है, लुप्त जस् का प्रत्यय लक्षण से यह टाप् सुप् से पर है इकारादेश न हुआ—बहुपरिव्राजका नगरी। नन्दना में ककार नहीं है।

पूर्वस्य किम्—कटुक आ दीर्घ से कटुका, यहां पूर्वग्रहण न करते तो दीर्घ को बाधकर ककार से उत्तर अ को इकार होकर यण् से 'कटुक्या' न हो अतः पूर्वग्रहण किया है। यद्यपि सवर्ण दीर्घ अन्तरङ्ग है किन्तु "वार्णादाङ्गं बलीयः" से बहिरङ्ग इकार विधायक शास्त्र अङ्गाधिकारीय होने से प्रबल है वह दीर्घ को बाधकर इकारादेश करेगा अतः पूर्वग्रहण की आवश्यकता है।

यहां 'आपि' सप्तम्यन्त है कात् पञ्चम्यन्त है पञ्चमी परिभाषा 'तस्मात्' सप्तमी परिभाषा 'तस्मिन्' दोनों के विधेयांश की उपस्थित होकर ककार से अव्यवहित उत्तर एवं आप् से अव्यवहित पूर्व को इकारादेश पूर्वग्रहण के अभाव में होगा तब "नित्यं क्रीडाजीविकयोः" निर्देश अनुपपन्न होगा 'जीवक्योः' रूप बनेगा अतः यहां तस्मात् परिभाषा से उत्तरांश अव्यवहितांश की उपस्थिति न होगी।

किन्तु ककार समीप अकार आप् से अव्यवहित पूर्व रहे उसको इकार होगा, जीवक आ यहां पूर्व उपस्थित ककार समीप अकार को इकार होता है, येन नाव्यवधानम् से ककार आकार दोनों के बीचों में ककार मात्र का व्यवधान सह्य है। कटु का में तो ककार पूर्ववर्ती अकार नहीं है अतः दीर्घ को बाधकर ककारोत्तर अकार को ही इत्व न हो जाय एतदर्थ पूर्वग्रहण आवश्यक है।

अत ग्रहण तो व्यर्थ नहीं है, 'तिङश्च' अकच् प्रत्यय घटक 'भवतकु' का अ शब्द से समास कर (अ इवाचर 'अ') भवत्क्वा क्रिया यहां वकार को इत्वनिवारणार्थ चरितार्थ है। यदि आप् से पूर्व ककारावधिक पूर्व अकार को ही इत्व में निर्देशादि सहाय से क से पूर्व को ही इत्व करेंगे तो पूर्वग्रहण व्यर्थ ही है।

रात्रिवाचक राका में ह्रस्व अकार नहीं है अतः इकार न हुआ। 'कारकः' यहां आप् नहीं है। मामक एवं नरक को भी आप् पर रहते ककार से पूर्व अकार को इकार होता है। ममेयम्=मामिका। मनुष्यों को शब्द द्वार आधान करे नरिका। त्यगन्त त्यवन्त को ककार से पूर्व आकारस्थानिक अकार को इकार होता है आप् पर रहते। दक्षिण दिशा के समीप निवास करने वाली या वहां उत्पन्न होने वाली अर्थ में त्यक् प्रत्यय यहां है। इह भवा इहत्यिका यहां त्यप् प्रत्यय है।

४६५ न यासयोः ७।३।४५।

यत्तदोरस्येन्न स्यात्। यका। सका। यकाम्। तकाम्। ॐ त्यकनश्च प्रतिषेधः ॐ। उपत्यका। अधित्यका।

यत् तत् शब्द के अकार को इकार नहीं होता है आप् पर रहते। यकद्, तकद् से सु अकारादेश पररूप टाप् दीर्घ प्रत्ययस्थात् से इकारादेश का इसने निषेध किया। यका। सका। द्वितीया में यकाम्। तकाम्। यहां भी निषेध हुआ है। त्यकन् प्रत्ययान्त रहें वहां भी ककार पूर्ववती अकार को आप् पर रहते इकारादेश नहीं होता है। उपत्यका, अधित्यका, यहां उप शब्द से एवं अधिशब्द से समीप एवं आरुढ़ अर्थ में त्यकन् प्रत्यय है। समीप एवं आरुढ़ स्थान पर्वत का ही रहे। अन्य का नहीं पर्वत के समीप भूमि को उपत्यका कहते हैं। पर्वत के उपरि भूमि को अधित्यका कहते हैं।

❀ आशिषि वुनश्च न ❀। जीविका। भवका। ❀ उत्तरपदलोपे न॰❀। देवदत्तिका—देवका। ❀ क्षिपकादीनाञ्च ❀ क्षिपका। ध्रुवका। कन्यका। चटका। ❀ तारका ज्योतिषि ❀। अन्यत्र तारिका। ❀ वर्णका तान्तवे ❀। अन्यत्र वर्णिका। ❀ वर्तका शकुनौ प्राचाम् ❀। उदीचान्तु वर्तिका। ❀ अष्टका पितृदैवत्ये ❀। अष्टिकान्या। ❀ सूतिकापुत्रिकावृन्दरकाणां वेति वक्तव्यम् ❀। इह वा अ इतिच्छेदः। कात्पूर्वस्याकारादेशो वेत्यर्थः। तेन पुत्रिकाशब्दे ङीन् इकारस्य पक्षे अकारः। अन्यत्रेत्वबाधनार्थमकारस्यैव पक्षेऽकारः। सूतकेत्यादि।

आशीर्वाद अर्थ में वर्तमान वुन् सम्बन्धी ककार से पूर्व अकार को आप् पर रहते इकारादेश नहीं होता है। तुम जीवो एवं उत्पन्न हो इसमें जीवक, भवक से टाप् दीर्घ इकार का निषेध जीवका भवका। उत्तरपद का जहां लोप हो वहां अक के अकार को इकारादेश नहीं होता है। देवका यहां उत्तरपद दत्त का लोप है। इत्व न हुआ। क्षिपकादिगण पठित शब्दों में ककार पूर्व अकार को इकार नहीं होता है। आप् पर रहते। नक्षत्रार्थक तारका रहे वहां इकार को प्रतिषेध है। तारावाचक रहे वहां 'तारिका' इकार हुआ।

तन्तुओं का समुदाय इस अर्थ में वर्णका। किसी ग्रन्थ की व्याख्या करने वाली या स्तोत्रकर्त्री यहां वर्णिका। ण्वुल् प्रत्ययान्त यह शब्द है। जहां पक्षि वाचक वर्तक शब्द रहे वहां इकार प्राचीन आचार्यों के मत में नहीं होता है। वर्तका। अन्य मत में वर्तिका। पितृ देवकर्म में अष्टका यहां इकार नहीं होता है जिस कर्म में ब्राह्मण भोजन करते हैं उसको अष्टका कहते हैं। आठ अध्याय जहां रहें उसमें 'अष्टिका' होता है। यहां कन् प्रत्यय है। सूतिका, पुत्रिका वृन्दारक इनको इत्व नहीं होता है विकल्प से अकार आदेश होता है। अकार को अकारविधान इत्व बाधनार्थक है। पुत्रिका में ङीन् के ईकार का ह्रस्व करते इकार को अकार विकल्प से पुत्रिका पुत्रका दो रूप बने हैं। सूतिका, सूतका।

४६६ उदीचामातः स्थाने यकपूर्वायाः ७।३।४६।

यकपूर्वस्य स्त्रीप्रत्ययाकारस्य स्थाने योऽकारस्तस्य कात्पूर्वस्येद्वा स्यादापि। केऽण इति ह्रस्वः। आर्यका। आर्यिका। चटकका। चटकिका। अतः किम्, सांकाश्ये भवा साकाश्यिका। यकेति किम्, अश्विका। स्त्रीप्रत्ययेति किम्; शुभं यातीति शुभंया अज्ञाता शुभंया इति शुभंयिका। ❀ धात्वन्तयकोस्तु नित्यम् ❀ सुनयिका। सुपाकिका।

य, क, पूर्वक जो स्त्रीप्रत्यय सम्बन्धी अकार उसके स्थान में जो अकार उसके स्थान में विकल्प कर के इकार होता है आप् पर रहते। आर्य शब्द से टाप् दीर्घाकर आर्या से कप्रत्यय केऽणः से ह्रस्व आर्यक से टाप् दीर्घ यहां आकार स्थानिक अकार को विकल्प इकारादेश। आर्यिका, पक्ष में आर्यका संकाश से निर्मित नगर इस अर्थ में ण्य प्रत्यय सांकाश्य से भवार्थक में वुञ्, वुको अक सांकाश्य का यहां अकार नहीं अत इत्व नित्य हुआ।

* धात्वन्त यकार या ककार पूर्वक स्त्रीप्रत्यय का सम्बन्धी आत् स्थानिक अकार को नित्य इकारादेश होता है। अच्छी नीति वाली सुनया से कप्रत्यय केऽणः से ह्रस्व, नित्य इकार। अच्छा पाक करने वाली सुपाका क, ह्रस्व इकार सुपाकिका।

४६७ भस्त्रैषाजाज्ञाद्वास्वा नञ्पूर्वाणामपि ७।३।४७।

स्वेत्यन्तं लुप्तषष्ठीकं पदम् । एषामत इद् वा स्याम् । तदन्तविधिनैव सिद्धे नञ्पूर्वाणामपीति स्पष्टार्थम् । भस्त्राग्रहणमुपसर्जनार्थम् । अन्यस्य तूत्तरसूत्रेण सिद्धम् । एषा द्वा एतयोस्तु सम्पूर्वयो र्नेत्त्वम् । अन्तर्वतिनीं विभक्तिमाश्रित्याऽसुप इति प्रतिषेधात् । अनेषका । परमैषका । अद्वके । परमद्वके । स्वशब्दग्रहणं संज्ञोपसर्जनार्थम् । इह हि आतः स्थाने इत्यनुवृत्तं स्वशब्दस्यातो विशेषणम्, न तु द्वैषयोरसम्भवात् । नाप्यन्येषामव्यभिचारात् । स्वशब्दस्तु अनुपसर्जनमात्मीयवाची अकजर्हः । अर्थान्तरे तु न स्त्री । संज्ञोपसर्जनीभूतस्तु कप्रत्ययान्तत्वात् भवत्युदाहरणम् । एवम् आत्मीयायां स्विका, परमस्विका इति नित्यमेवेत्त्वम् । निर्भस्त्रका निर्भस्त्रिका । एषका । एषिका । कृतषत्वनिर्देशान्नेह विकल्पः । एतिके । एतिकाः । अजका अजिका । ज्ञिका । ज्ञका । द्विके । द्वके । निःस्वका । निःस्विका ।

स्वा यहां तक लुप्तषष्ठीक पद है। भस्त्रा, एषा, अजा, ज्ञा, द्वा, एवं स्वा यह शब्द नञ् पूर्वक भी हो तो भी आकार के ह्रस्व अकार को विकल्प से इकार होता है तदन्त विधि से नञ् पूर्वक को भी इकार हो जाता नञ् पूर्व ग्रहण स्पष्टता निमित्तक है अर्थात व्यर्थ है सूत्र में भस्त्रा ग्रहण उपसर्जनार्थ= गौणार्थ के निमित्त है। प्रधानार्थ को तो अभाषितपुंस्काच्च से सिद्ध है इकारादेश विकल्प से।

एषा एवं द्वा शब्द के पूर्व में कोई शब्द विद्यमान रहे तब इत्व नहीं होता है, क्योंकि लुप्त विभक्ति (अन्तर्वर्तिनी) का प्रत्यय लक्षण से सुप् से पर आप् है अतः 'असुपः' निषेध लगता है, इस लिए वहां अनेषका रूप होता है। न सु एतद् सु ऐसी स्थिति में अकच् करने पर, वैकल्पिक अकच् करने के पूर्व नञ् तत्पुरुष समास करने पर, "अन्तरङ्गान् अपि विधीन् बहिरङ्गो लुक् बाधते" परिभाषा से 'त्यदादीनामः' की प्रवृत्ति के पहले ही सामासिक लुक् हो गया है। फिर विशिष्ट से सुप् त्यदादीनामः से अत्व पररूप करके टाप् होता है। यहां यादि सुप् से पर टाप् होने से आकारस्थानिक अकार को इत्व नहीं होता है।

अज्ञाता एषा एवका न ऐषका 'अनेषका' इसी प्रकार परमेषका, अद्वके परमद्वके जानना चाहिए। यहां स्वशब्द का ग्रहण संज्ञा एवं उपसर्जन के निमित्त है। यहां अतः स्थाने की अनुवृत्ति पूर्व से आती है। वह स्वशब्द का विशेषण है द्वा एवं एषा में असम्भव के कारण। एवं भस्त्रादि में अव्यभिचरित के कारण आतः विशेषण नहीं है। संज्ञा एवं उपसर्जन स्वशब्द होता है कप्रत्यय होने पर इससे विकल्प होता है। आत्मीय वाची अनुपसर्जन स्वशब्द की टिके पूर्व अकच् होता है वहां आतः स्थानी अकार नहीं है अतः वहां विकल्प से इकारादेश नहीं होता है।

आत्मीय से भिन्नार्थ = ज्ञाति धन अर्थ में स्वशब्द स्त्रीलिङ्ग नहीं है अतः संज्ञा उपसर्जन में टाप् कर के कप्रत्यय कर ह्रस्व से अकार स्थानिक अकार को विकल्प इत्व होता है। आत्मीयार्थ में स्विका परमस्विका यहां नित्य इत्व है 'निर्भस्त्रका' निर्भस्त्रिका यहां दो रूप है। यहां समास, उपसर्जन ह्रस्व टाप् अज्ञातादि अर्थ में कप्रत्यय ह्रस्व पुनः टाप्। इसी प्रकार एषा—एषिका। सूत्र में षकार निर्देश से एतिके यहां नित्य इकार, विकल्प से नहीं अजका। अजिका। ज्ञका। ज्ञिका। द्वके द्विके निःस्वका निःस्विका। स्वस्याः निष्क्रान्ता निःस्वका।

४६८ अभाषितपुंस्काच्च ७।३।४८।

एतस्माद् विहितस्यातः स्थानेऽत इद् वा स्यात्। गङ्गका। गङ्गिका। बहुव्रीहे र्भाषितपुंस्कत्वात् ततो विहितस्य नित्यम्। अज्ञाता खट्वा अखट्विका। शैषिके कपि तु विकल्प एव।

अभाषित पुंस्क शब्द से विहित जो अकार उसके स्थान में जो अकार उसके स्थान में इकारादेश विकल्प से होता है। यहां विहित शब्द का अध्याहार है। गङ्ग शब्द से टाप् दीर्घ, कप्रत्यय, हस्व गङ्गक से टाप् दीर्घ विकल्प इकार गङ्गिका पक्ष में गङ्गका।

'अविद्यमाना खट्वा यस्याः' इस विग्रह में "नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः" इस वार्तिक से बहुव्रीहि समास कर विद्यमान रूप उत्तरपद का लोप नञ् नकार लोप शेषाद् विभाषा विकल्प होने से कप् का अभाव अखट्वा का आकार का गोस्त्रियोः' से ह्रस्व अखट्व से पुनः टाप् उससे विभक्ति सु स्वार्थ में कप् प्रत्यय विभक्ति लुक् केऽणः से ह्रस्व अखट्वक से टाप् दीर्घ अखट्वका यहां अखट्व भाषितपुंस्क है उससे ही विहित आकार है। अभाषितपुंस्क खट्व से विहित आप् नहीं अतः यहां इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं है वैकल्पि इत्व न हुआ यहां। प्रत्यय—स्थात् से नित्य इत्व होता है।

शैषिक कप् पक्ष में समासार्थ विग्रह वाक्य में बहुव्रीहिसमास के पूर्व में ही कप् होता है यहां भाष्य वचन यह है कि "न तावत् तेषामन्यद् भवति कपं तावत् प्रतीक्षते तब तक अन्य कार्य नहीं होते हैं वे सब कार्य = समासादि कप् की प्रतीक्षा करते हैं। कप् होने के बाद ही समासादि कार्य होता है। प्रकृत में 'न स् खट्वा स् कप्' 'क' एवं समास युगपद् प्रवृत्त हुए। तद्धितान्तत्वेन प्रातिपदिक संज्ञा होने पर कबन्त प्रातिपदिक है की प्रत्ययान्त प्रातिपदिक न होने से अखट्वाक का अकार ह्रस्व नहीं है, 'केऽणः से प्राप्त ह्रस्व का 'न कपि' से निषेध है। आपोऽन्यतरस्याम् से अभाषितपुंस्क खट्व से विहित आप्का ह्रस्व कर कबन्त से टाप् कर अभाषितपुंस्क खट्व से विहित आप्का ह्रस्वाकार यहां है अतः विकल्प से इकार एवं इकाराभाव से अखट्विका अखट् का रूपद्वय है।

४६९ आदाचार्याणाम् ७।३।४९।

पूर्वसूत्रविषये आद् वा स्यात्। गङ्गाका। उक्तपुंस्कात्तु शुभ्रिका।

आचार्यों के मत से अभाषितपुंस्क प्रातिपदिक से विहित जो आप् उसका अकार को अत् होता है। गङ्ग टाप् (आ) दीर्घ, कप् (क) टाप् क टाप् दीर्घ ह्रस्व इससे आकार गङ्गाका। पक्ष में गङ्गिका, गङ्गका रूप है। भाषितपुंस्क शुभ्र से टाप् कप् टाप् दीर्घ ह्रस्व यहां नित्य इत्व है। शुभ्रिका।

४७० अनुपसर्जनात् ४।१।१४।

अधिकारोऽयम्, यूनस्तिरित्यभिव्याप्य। अयमेव स्त्रीप्रत्ययेषु तदन्तविधिं ज्ञापयति।

यूनस्ति सूत्र तक इसका अधिकार है, उन सूत्रों से विहित कार्य अनुपसर्जन से होता है वह बोधन करता है। वे कार्य मुख्यार्थक प्रातिपदिक से होंगे। यही सूत्र स्त्रीप्रत्यय विधान में तदन्त

विधि को ज्ञापन = बोधन करता है। इसका विस्तृत विवरण 'बहुवक्ष्यमाणा' पङ्क्ति के विवरण में स्पष्ट होगा।

४७१ टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः ४।१।१५।

अनुपसर्जनं चट्टिदादि तदन्तं यददन्तं प्रातिपदिकं ततः स्त्रियां ङीप् स्यात्। कुरुचरी। उपसर्जनत्वान्नेह—बहुकुरुचरा। नडट् नदी। वक्ष्यमाणेत्यत्र टित्त्वात्, उगित्वाच्च ङीप् प्राप्तः, यासुटो ङित्त्वेन लाश्रयमनुबन्धकार्यं नादेशानामिति ज्ञापनान्न भवति। श्नः शानचः शित्त्वेन क्वचिदनुबन्धकार्येऽप्यनल्विधाविति निषेधज्ञापनाद्वा।

सौपर्णेयी। ऐन्द्री। औत्सी। ऊरुद्वयसी ऊरुदघ्नी। ऊरुमात्री। पञ्चतयी। आक्षिकी। लावणिकी। यादृशी। इत्वरी। ताच्छीलिके णेऽपि। चौरी। ॐनञ्स्नञीकक्ख्युंस्तरुणतलुनानामुपसंख्यानम्ॐ। स्त्रैणी। पौंस्नी। शाक्तिकी। आढ्यङ्करणी। तरुणी। तलुनी।

यहां 'अनुपसर्जनात्,' प्रातिपदिकात्, स्त्रियाम्, इनका अधिकार है। टित् का अर्थ टकार की इत् संज्ञायुक्त ढ आदि ग्यारह प्रत्यय बोधक है यहां "प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणम्" इस परिभाषा की प्रवृत्ति है, इससे तदादि शब्दरूप विशेष्य की उपस्थित होती है टित् एवं ढादि विशेषण उसके हैं अतः तदन्त विधि होकर टिदन्ततदादि, एवं ढाद्यन्ततदादि अर्थ होता है।

इनका विशेषण अनुपसर्जन है—अनुपसर्जनं यद् टिदन्ततदादि एवं अनुपसर्जनं यत् ढाद्यन्त तदादि, अनुप॰ॅन सूत्र में श्रूयमाण का ही विशेषण है उसमें प्रमाण यह है कि—"श्रुतानुमितयोः श्रुतसम्बन्धो बलीयान्" यह परिभाषा ही इसके बाद टिदन्ततदादि, एवं ढाद्यन्ततदादि इनका विशेष्य प्रातिपदिक है। प्रातिपदिक विशेष्यक टिदन्ततदादि विशेषणक एवं ढाद्यन्त तदादि विशेषणक तदन्त विधि कर इसका ही स्त्री रूपार्थ विशेषण है, प्रधान का ही स्त्रीरूप अर्थ का विशेषण होना उचित है, "प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययः" परिभाषा से अब सूत्रार्थ यह सम्पन्न हुआ—

अनुपसर्जन जो टिदन्त तदादि, एवं ढ = आदि ग्यारह प्रत्ययान्त तदादि, तदन्त स्त्री रूपार्थ में विद्यमान प्रातिपदिक (टिदन्त तदाद्यन्त, ढाद्यन्ततदाद्यन्त' से ङीप् प्रत्यय होता है।

यहांगुरुदेव पूज्य श्री उपाध्याय जी का कथन है कि टित् तीन प्रकार है—प्रत्यय, धातु एवं प्रातिपदिक टप्रत्यय टित् है। घेट् में धातु टित् हैं।'नडट् यहां प्रातिपदिक टित् है। अतः टित् प्रत्ययमात्र बोधक नहीं है,ढ आदि ग्यारह तो केवल प्रत्यय मात्र के बोधक है अतः टित् में प्रत्यय मात्र बोधक के अभाव से तदादि की उपस्थिति नहीं है उपसर्जन प्रातिपदिक स्त्री में विद्यमान रहे वहां ङीप् यही अर्थ होगा, अन्यत्र पूर्वोक्तार्थ ही उचित है। 'प्रत्ययग्रहणे'परिभाषा प्रत्यय मात्र बोधक में ही प्रवृत्त होती है, जो प्रत्यय एवं प्रत्ययेतर बोधक रहे वहां इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं है। अनुपसर्जन डिदन्त का ग्रहण है। एवं अनुपसर्जन ढाद्यन्ततदादि का ग्रहण है

१—टित्प्रत्यय का उदाहरण—'कुरुषु चरति या सा' कुरुदेश में गमन करने वाली इस अर्थ में अधिकरण उपपद में रहते गत्यर्थकचर से 'चरेष्टः' से ट प्रत्यय होता है। ट् की इत्संज्ञा से अकारमात्र अवशिष्ट रहता है, प्रत्यय को टित् सम्पादन का कोई फल नहीं है अवयव में अचरितार्थ अनुबन्ध समुदाय का उपकारक है। अतः उपपद समासयुक्त कुरुचर में टित्वका आरोप किया गया

क्योंकि अधिकरणयुक्त समुदाय को छोड़ कर टित्त्व 'चरेष्टः' से अन्यत्र नहीं रहता है, अनुसर्जन एवं स्त्रीवाचक दोनों कुरुचर है, अतः अनुसर्जन टिदन्त प्रातिपदिक से ङीप् होकर भसंज्ञा अलोप कुरुचरी धातु रूप टित् का उदाहरण स्तनंधयी है। यहां 'धेट् पाने' धातु है। प्रातिपदिक टित् का उदाहरण पचादिगण पठित 'नडट्' यहां ङीप् कर अलोप से 'नदी' बना।

बहवः कुरुचराः वर्तन्ते यस्यां नगर्य्याम् सा बहुकुरुचरा = अनेक कुरुदेश में भ्रमण करने वाले पुरुष हैं जिस नगरी में वह नगरी बहुकुरुचरा कहीं जाती है। यहां टिदन्त प्रातिपदिकार्थ अन्य पदार्थ नगरी में विशेषण = उपसर्जन है। अतः यहां ङीप् न हुआ टाप् हुआ है। यहां स्त्रियाम् प्रधान का=प्रातिपदिकार्थ का ही विशेषण है, इसमें ज्ञापक अनुपसर्जनाधिकार है, अन्यथा स्त्रीरूपार्थ वाचक यहां कुरुचर नही है वह पुंलिङ्ग है ङीप् की प्राप्ति ही नहीं अधिकार व्यर्थ अनुपसर्जन होगा, यदि अनुपसर्जन भी प्रधान प्रातिपदिकार्थ का विशेषण होगा तो 'बहुकुरुचरा' पदार्थ तो अनुसर्जन है। अतः अधिकार करने पर भी ङीप् दुर्वार होगा, पुनः वह व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि अनुसर्जन श्रुत डिदादि का ही विशेषण है,

बहुधीवरी यहां ङीप् रादेशार्थ अनुपसर्जनाधिकार व्यर्थ होकर स्त्रीप्रत्यय में तदन्त विधि ज्ञापक भी है, जब तक अधिकार सार्थक नहीं होगा तब तक अवान्तर विघ्नबाधाओं को दूर करने के लिए जिन वचनों की आवश्यकता होगी उन सबको ज्ञापन करता है। १—स्त्रीप्रत्यय में तदन्त विधि होती है। २—अनुसर्जन श्रुत का विशेषण ही है अन्य का नहीं, ३—स्त्रियाम्, प्रधान प्रातिपदिकार्थ का ही विशेषण है श्रुत का नहीं' "यावता विना यदनुपपन्नं तत्सर्वं तेन ज्ञाप्यते" न्याय से। उपसर्जन पदार्थ—इतरार्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपित प्रकारता प्रयोजकत्वरूप है। अन्य पद के अर्थ में विशेष्यता रहे उस में जो पदार्थ विशेषण रहे उसका प्रयोजक को उपसर्जन कहते हैं। अथवा स्वान्तपर्याप्त शक्ति निरूपकार्थनिष्ठ विशेष्यता निरूपित प्रकारता निरूपित स्त्रीत्व निष्ठाऽवच्छेदक ताप्रयोजक धर्मवत्त्वमुपसर्जनत्वम्। इसका समन्वय प्रकार प्रथम कह चुके हैं, 'अतिखट्वाय' वहां देखिये।

वक्ष्यमाणा इति—ब्रूञ् धातु से लट् कर्म में हुआ है, 'लटः सद्वा' से शानच् आदेश, 'स्यतासी' से स्य विकरण, 'ब्रुवो वचि' से वच्यादेश, कुत्व, सकार को षकारादेश, 'आने मुक्' से मुक् आगम, नकार को णकार टाप् दीर्घ—वक्ष्यमाणा। यहां लट् के स्थान में जायमान शानच् में स्थानिवृत्ति टित्त्वधर्म का 'स्थानिवत्' सूत्र से आरोप कर टिदन्त प्रातिपदिक अनुपसर्जन, एवं स्त्रीवाचक होने से ङीप् होकर 'वक्ष्यमाणी' ऐसा रूप क्यों नहीं हुआ ?, एवं 'बहुवक्ष्यमाणा' यहां टिदन्त वक्ष्यमाणा यद्यपि उपसर्जन है अतः इससे ङीप् अप्राप्त है तो भी 'उगितश्च' से ङीप् प्रत्यय स्थानिवद्भाव से उगित्त्व है क्यों नहीं हुआ ?, इस शङ्का के निवारणार्थ समाधान करते हैं कि यहां स्थानिवद्भाव नहीं होता है, अल् विधि में स्थानिवद्भाव का निषेध 'अनल्विधौ' करता है, स्थानी लकार तद्वृत्ति धर्म टित्त्व या उगित्त्व तन्निमित्तक टाप एवं ङीप् कार्य वे कर्तव्य रहे वहां स्थानिवद्भाव नहीं होता है।

यह कथन तो अनुचित है, 'प्रदाय', 'प्रस्थाय' यहां स्थानिवद्भाव से क्त्वाप्रत्यय वृत्ति कित्त्व ल्यप् में लाकर 'घुमास्था' से इत्त्व प्राप्त है, उसके निषेधार्थ 'न ल्यपि' सूत्र किया है, वह, 'अनल्-विधौ' से वहां स्थानिवद्भाव का निषेध से कित्त्व धर्म नहीं आ सकता तब व्यर्थ सूत्र होकर ज्ञापन करता है कि "अनुबन्धप्रयुक्त कार्य करने में स्थानिवद्भाव का 'अनल् विधौ' निषेध की प्रवृत्ति नही होती है। प्रकृत में टित्त्वात्, उगित्वात् ङीप् उभयत्र क्यों नहीं हुआ।

पुनः समाधान के लिए यत्न यह है कि लिङ् स्थानिक परस्मैपद प्रत्यय आगमी को मान कर जायमान आगम = यासुट् में परम्परया स्थानिवद्भाव से ङित्त्व धर्मारोप होता ही है तो पुनः यासुट् को आचार्य ने 'ङिच्' शब्द से ङित्व बोधन क्यों किया वह व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि- "लकाराश्रय अनुबन्ध निमित्तक कार्य आदेशों को नहीं होता है।

वह परस्मैपदसंज्ञक प्रत्ययों में ङित्त्व नहीं आवेगा तब यासुट् को ङित्त्व बोधन कृतार्थ है। प्रकृत में लट् वृत्ति टित्त्व एवं उगित्त्व का आश्रयण शानच् में नहीं है, अतः ङीप् अप्राप्त है। यह कथन भी उचित नहीं है, भाष्यकार ने 'सार्वधातुकम् अपित्' सूत्र में 'अपित्' ऐसा योगविभाग कर 'अपित्' सूत्र में 'यासुट् परस्मैपदानाम्' सूत्र से ङित् का अनुकर्षण कर नञ् को निषेध परक रख कर परस्परान्वय से 'पित् ङित्' न। एवं ङित् पित् न इस व्याख्यानार्थ 'ङित्' ग्रहण सार्थक है अतः पूर्वोक्त ज्ञापन = लाश्रयादि न कर सकता है पुनः शङ्का ङीप् की स्थिर रह गई है।

पुनः समाधानार्थ यत्न करते हैं कि श्नावृत्ति शित्त्व स्थानिवद्भाव से शानच् में आकर सार्वधातुकादि कार्य होगें, पुनः शानच् आदेश में शिद् ग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि "अनुबन्धाश्रय कार्य करने में भी कहीं कहां। अनल्विधौ" स्थानिवद्भाव का निषेधक है, प्रकृत में स्थानिवद्भाव निषेध से ङीप् न हुआ। यह कथन भी अनुचित है, क्योंकि भाष्यकार ने श्नावृत्ति शित्व शानच् में आ जावेगा, यह मान कर आनच् कर शानच् के शित्त्व का प्रत्याख्यान = खण्डन किया है, तब स्थानिवद्भाव से ङीप् होना चाहिए, अतः ङीप् को निवारणार्थ शानच् (आनच्) का अजादिगण में पाठ कर आनजान्त स्त्रीवाचक अजादि प्रातिपदिक से प्राप्त ङीप् को बाध कर टाप् हुआ है यही समाधान सर्वोपरि है। यह पङ्क्ति अतीव प्रसिद्ध हैं, अतः विस्तृत व्याख्या लिखी गई है। शास्त्रार्थ एवं परीक्षा में उपयोग इसका होता है।

गरुड माता सुपर्णी उससे षष्ठ्यन्त से 'स्त्रीभ्यो ढक्' से ढक् ढकार को एय् वृद्धि आदि कार्य से सौपर्णेय स्त्री ङीप् अलोप सौपर्णेयी। सुपर्ण से ढक् प्रत्यय होता है। गौरादिगण में सुपर्ण का पाठ नहीं उस पक्ष में ङीष् नहीं होगा। अण् प्रत्ययान्त दिशावाचक ऐन्द से ङीप् भसंज्ञा अकार लोप ऐन्द्री। अञ् प्रत्ययान्त औत्स से ङीप् अलोप औत्सी। प्रमाण अर्थ में द्वयसच् प्रत्ययान्त ऊरुद्वय से ङीप् ऊरुद्वयसी। दघ्नच्प्रत्ययान्त, मात्रच् प्रत्ययान्त से ङीप् ऊरुदघ्नी, ऊरुमात्री, अवयवी वाचक से अवयव अर्थ में तयप् से तयप्प्रत्ययान्त पञ्चतय से ङीप् अलोप पञ्चतयी। ठक्प्रत्ययान्त आक्षिक से ङीप् अलोप आक्षिकी। विक्रेयार्थ दूकान में प्रसारित लवणसुबन्त से ठञ्प्रत्ययान्त लावणिक से ङीप् अलोप लावणिकी। यादृश शब्द कञ् प्रत्ययान्त है उससे ङीप् यादृशी। इण् धातु से करप् तुक् से इत्वर से ङीप् इत्वरी।

१—गरुडमाता की कन्या, गरुड़ की बहन २—इन्द्र है देवता जिसका ऐसी दिशा को ऐन्द्री ३—उत्स मुनि सम्बन्धिनी पर्णशाला ४—जानु को ऊरू कहते हैं, जङ्घापर्यन्तजलयुक्त नदी। ५-६-७ ऊरुद्वयसी, उरुमात्र का भी वही अर्थ है। ८—पञ्च अवयव युक्त वस्तु। ९—पासा से जूआँ खेलने वाली १०—नमक बेचने वाली ११—उसकी तरह ज्ञात होने वाली १२—गमनशीला स्त्री या नदी आदि।

तच्छीलिके णेऽपि—शील शब्द स्वभाव वाचक है, महाभारत में शीलनिरूपण में कहा है कि किसी के स्वभाव—प्रकृति का अधिक समय साथ में व्यतीत हो पर ही सम्यक् ज्ञान होता है "शीलं कालेन विज्ञेयम्" "शीलवान् भव पुत्रक" युधिष्ठिर की समृद्धि = ऐश्वर्य से जलाभुजा दुर्योधन से भीष्मपितामह उसको उपदेश देते हैं। युधिष्ठिर की तरह तुम शीलवान् बनो।

प्रकृतमें जिसी स्त्री का चोरी करने का ही स्वभाव पड़ गया है यहां चोर से 'छत्रादिभ्यो णः' से णप्रत्यय, णकार की इत्संज्ञा अकार पर वृद्धि अलोप चौर यहां णप्रत्यय अण्वत् होकर टिड्ढाणञ् से ङीप् अलोप से चौरी' बना है "प्रथमान्त से शील अर्थ में विधीयमान णप्रत्यय अण् सदृश होता है"।

इसमें प्रमाण यह है-कर्मन् प्रथमान्त से शील अर्थ में छात्रादिभ्यो णः से णप्रत्यय प्रातिपदिक संज्ञा विभक्ति लोप आदि वृद्धादि से 'कार्मन् अ' यहां 'अन्' सूत्र से प्राप्त टिलोपाभाव का निषेध करने के लिए एवं टिलोपार्थं सूत्र किया है 'कार्मस्ताच्छील्ये'। इस सूत्र की आवश्यकता ही नहीं है क्यों कि टिलोप तो नस्तद्धिते से प्राप्त ही है। अन् सूत्र की तो यहां प्रवृत्ति ही नहीं है वह तो अण् प्रत्यय पर रहे वहां प्रकृतिभाव से टिलोपाभाव को बाधन करता है कार्म अ वह अकार णप्रत्यय का ही है। अण् का नहीं है, पुनः टिलोपार्थ 'कार्मस्ताच्छील्ये' व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि तच्छीलार्थक णप्रत्यय अण्वत् होता है। प्रकृत में चौरी बना। तच्छीलार्थक ही अन्यार्थक (प्रहरार्थक णप्रत्यय) प्रत्यय अण्वत् नहीं होता है दण्डः प्रहरणं यस्यां क्रियायाम् यहां दाण्डा क्रिया यही हुआ, यहां प्रहरणार्थक णप्रत्यय है।

* नञ्, स्नञ्, ईकक्, ख्युन्, इन प्रत्ययान्त तदादि से एवं तरुण, तलुन प्रातिपदिक से भी स्त्री रूप अर्थ में ङीप् प्रत्यय होता है।

नञ् प्रत्ययान्त एवं स्नञ् प्रत्ययान्त में सुबन्त स्त्रैण पौंस्न से ङीप् अलोप स्त्रैणी। पौंस्नी। ईकक् प्रत्ययान्त शाक्तिक से ङीप् शाक्तिकी। आढ्य कर्म उपपद पर रहते कृञ धातु से ख्युन् प्रत्यय यु को अनादेश उपपद-समासादि मुमागम आढ्यंकरण से ङीप् अलोप 'आढ्यङ्करणी'। तरुण एवं तलुन-शब्द प्रथमवयोवाचक है किन्तु गौरादि में पाठ होने से ङीप् प्राप्त था, उसको बाधनार्थ यहां तरुण, तलुन का पाठ है, ङीप् में अनुदात्तस्वर, ङीष् उदात्तस्वर होता है। १—स्त्री की कन्या अतीव मृदुस्वभावा। २—पुरुष की कन्या वीरा ३—शक्ति कहते हैं गदा को, गदा प्रहार करने वाली देवी ४—जो धनी नहीं है उसको धनयुक्त करने वाली स्त्री ५—प्रथमवयः से युक्त ६—इसका भी वही अर्थ है।

४७२ यञश्च ४।१।१६।

यञन्तात् स्त्रियां ङीप् स्यात्। अकार लोपे कृते।

अनुपसर्जन यञन्त तदादि, तदन्त जो प्रातिपदिक स्त्रीवाचक से ङीप् होता है। गर्ग की गोत्रापत्या कन्या इस अर्थ में षष्ठ्यन्त गर्ग से 'गर्गादिभ्यो यञ्' से यञ् प्रत्यय हुआ है, तद्धितान्तत्व से प्रातिपदिकसंज्ञा विभक्ति लुक् आदि वृद्धि अकार लोप से गार्ग्य से इस सूत्र से ङीप् प्रत्यय अकार का 'यस्येति च' से लोपकर 'गार्ग्य् ई' यहां—

४७३ हलस्तद्धितस्य ६।१।१५०।

हल उत्तरस्य तद्धितयकारस्योपधाभूतस्य लोपः स्यात् इति परे। गार्गी। अनपत्याधिकारस्थान्न ङीप्, द्वीपे भवा द्वैप्या। अधिकारग्रहणान्नेह—दैवस्यापत्यं दैव्या। देवाद्यञञाविति हि यञ् प्राग्दीव्यतीयो न त्वपत्याधिकारे पठितः।

हल् से उत्तर उपधा में स्थित तद्धित प्रत्ययावयव यकार का लोप होता है ईकार पर रहते। यकार का लोप से गार्गी = गर्गकुल की कन्या। यहां आदिस्वर उदात्तत्व से युक्त है। यहां "तस्या-

पत्यम्'' से अपत्य का अधिकार से युक्त सूत्र विहित यञ् का ग्रहण होता है, यहां वार्तिक है— "आपत्यग्रहणं कर्तव्यम्'' इसमें अपत्य शब्द लक्षणया अपत्याधिकारपरक है इससे भवार्थक यञ् का ग्रहण नही हुआ। द्वीपमे उत्पन्न स्त्री अर्थ में भवार्थक यञ् प्रत्यय है द्वैप्या। देवस्यापत्यम्—'दैव्या' यहां 'देवात्' सूत्र से विहित यञ् यद्यपि अपत्यार्थक है किन्तु वह अपत्याधिकारीय नहीं है। प्राग्दीव्यतीय है।

४७४ प्राचां ष्फ तद्धितः ४।१।१७।

यञन्तात् ष्फो वा स्यात् च तद्धितः।

यञ् प्रत्यय का अकार तदन्त प्रातिपदिक से स्त्रीरूपार्थ में ष्फ प्रत्यय होता है उसकी तद्धित संज्ञा होती है।

४७५ षः प्रत्ययस्य १।३।६।

प्रत्ययस्यादिः ष इत् स्यात्।

प्रत्यय के आदि अवयव षकार की इत् संज्ञा होती है। 'तस्य लोपः' से षकार का लोप होता है।

४७६ आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम् ७।१।२।

प्रत्ययादिभूतानां फादीनां क्रमादायन्नादय आदेशाः स्युः। तद्धितान्तत्वात्प्रातिपदिकत्वम्। षित्त्वसामर्थ्यात् ष्फेणोक्तेऽपि स्त्रीत्वे 'षिद्गौरा' इति वक्ष्यमाणो ङीष्।

प्रत्ययों के आदिभूत फ, ढ, ख, छ, एवं घ को क्रमशः आयन्, ऐय् ईन्, इय् आदेश होते हैं। यहां स्थानी में अकार उच्चराणार्थ है, व्यञ्जन मात्र ही विवक्षित है। तद्धित प्रत्ययान्त तदादि की यहां प्रातिपदिक संज्ञा होती है।

तृतीयादि सन्तान की गौत्र संज्ञा एवं पूर्ववर्ती न पुरुष जीवित रहें तो चतुर्थ की युव संज्ञा होती है। गौत्रार्थक प्रत्यय से ही युवार्थक प्रत्यय होते हैं। गर्ग के गौत्र (कुल में उत्पन्न विहित कन्या के युवापत्य इस अर्थ में प्रथम यञ् प्रत्यय से गार्ग्य बनाकर उससे युवार्थक प्रत्यय तद्धित संज्ञक हुआ है 'गार्ग्य ष्फ' यहां आदि षकार प्रत्ययावयव है उसकी इत्संज्ञा लोप (षोडश में प्रत्ययावयव नहीं है अतः लोप नहीं) फ् को आयन् गार्ग्य आयन यहां अकार का लोप करके प्रातिपदिक संज्ञा गार्ग्यायन के नकार का णकार। यहां स्त्रीत्व अर्थ में विधीयमान युवार्थक ष्फ प्रत्यय से स्त्रीत्व रूप अर्थ कथित है जो अर्थ उक्त रहे तदर्थक प्रत्यय नहीं होना चाहिये—'उक्तार्थानामप्रयोगः' न्याय से किन्तु ष्फ में षकारेत्संज्ञा वैयर्थ्य के भय से यहां 'उक्तार्थक' न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती है 'षिद् गौरा' से ङीप् प्रत्यय कर अलोप गार्ग्यायणी रूप बना। "द्विबर्द्धं सुबद्धं भवति'' न्याय से यहां स्त्रीत्वरूपार्थक दो प्रत्यय हैं, द्विधा मान स्त्रीत्व का नहीं है दोनों में से यथेच्छ एक स्त्रीत्व का वाचक है अन्य अनुवादक है। जैसे 'द्वौ' आदिवत्।

४७७ सर्वत्र लोहितादिकतन्तेभ्यः ४।१।१८।

लोहितादिभ्यः कतशब्दान्तेभ्यो यञन्तेभ्यो नित्यं ष्फः स्यात् 'लौहित्यायनी। कात्यायनी।

यञ्प्रत्ययान्त लोहतादि से कतशब्दान्त प्रातिपदिक से ष्फ प्रत्यय होता है। गर्गादि का अन्तर्गण लोहितादि है। लौहित्य ष्फ-आयन् ङीप् लौहित्यायनी। कात्य ष्फ आयन् ङीप् कात्यायनी। लोहिता वंशोद्भवा कन्या के युवापत्य कन्या। कतवंश में उत्पन्न कन्या की युवापत्य कन्या।

४७८ कौरव्यमाण्डूकाभ्याञ्च ४।१।१९।

आभ्यां ष्फः स्यात्। टाप्ङीषोरपवादः। कुर्वादिभ्यो ण्यः। कौरव्यायणी। ढक् च मण्डूकादित्यण्। माण्डूकायनी। ॐ आसुरेरुपसङ्ख्यानम् ॐ। आसुरायणी।

कौरव्य एवं माण्डूक शब्द से ष्फ होता है। कौरव्य शब्द योपध होने से यहां जातिलक्षण ङीष् अप्राप्त है किन्तु टाप् प्राप्त था उसका इसने बाध किया। यहां यञ्प्रत्यय नहीं अतः 'यञश्च' की प्राप्ति नहीं है। माण्डूकायन से ङीप् जाति लक्षण प्राप्त था उसको इसने बाध किया। इञ् प्रत्ययान्त आसुरी से ष्फ होता है। ष्फ में षकार की इत्संज्ञा लोप 'आयन्' सूत्र से आयन् आदेश आलोप ङीप् आसुरायणी।

४७९ वयसि प्रथमे ४।१।२०।

प्रथमवयोवाचिनोऽदन्तात् स्त्रियां ङीप् स्यात्। कुमारी। ॐ वयस्यचरम इति वक्तव्यम् ॐ। वधूटी। चिरण्टी। वधूटचिरण्टशब्दौ यौवनवाचिनौ। अतः किम्, शिशुः। कन्याया न, कन्याया कनीन चेति निर्देशात्।

पहली उम्र को कहने वाले अकारान्त प्रातिपदिक स्त्रीवाचक से ङीप् प्रत्यय होता है। प्राणियों की अवस्था विशेष सूचक काल को वयः कहते हैं। कुमार ङीप् (ई) अलोप कुमारी = षोडषवर्ष के भीतर उम्र वाली कन्या। यहां कात्यायन कहते हैं कि सूत्र में प्रथमे न कर 'वयसि अचरमें' वृद्धावस्था को छोड़ कर अन्य वयोवाचक से ङीप् होता है। अतः नवयौवन में स्थित वधू चिरण्ट से स्त्री अर्थ में ङीप् न हुआ है, कन्यावाचक शिशु शब्द अकारान्त होने से ङीप् न हुआ। सूत्रे निर्देश से कन्या से ङीप् नहीं, किन्तु टाप् कन्या।

४८० द्विगोः ४।१।२१।

अदन्ताद् द्विगो ङीप् स्यात्। त्रिलोकी। अजादित्वात् त्रिफला। त्र्यनीका सेना।

स्त्रीलिङ्ग में वर्तमान अकारान्त द्विगुसमाससंज्ञक प्रातिपदिक से ङीप् होता है। तीन लोक का समाहार = समूह अर्थ में त्रयाणां लोकानां समाहारः यहां 'तद्धितार्थ' से द्विगु समासादि कार्य से त्रिलोक शब्द स्त्री वाचक ही इष्ट है, 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियमिष्टः' इससे स्त्रीत्व के कारण ङीप् अलोप त्रिलोकी एवं त्रिफली प्राप्त था, किन्तु अजादिगण में इसका पाठ से टाप् ने ङीप् को बाध किया है त्रिफला। 'पाककर्ण' की यहां प्राप्ति नहीं है यह शब्द जाति वाचक न होने से। तीन भाग से युक्त सेना समूह अर्थ में समाहार द्विगु अकारान्त अनीक है किन्तु अजादि गण में पाठ से ङीप् को बाधकर टाप् हुआ है।

४८१ अपरिमाणबिस्ताचितकम्बल्येभ्यो न तद्धितलुकि ४।१।२२।

अपरिमाणान्ताद् बिस्ताद्यन्ताच्च द्विगो ङीब् न स्यात् तद्धितलुकि सति।

पञ्चभिरश्वैः क्रीता पञ्चाश्वा। आर्हीयष्ठक्, अध्यर्धेति लुक्। द्वौ बिस्तौ पचति द्विबिस्ता। द्विकम्बल्या। परिमाणान्तात्तु द्व्याढकी। तद्धितलुकि किम्, समाहारे—पञ्चाश्वी।

तद्धित लुक् होने पर अपरिमाणान्त, एवं विस्ताद्यन्त शब्द द्विगु स्त्री वाचक रहे वहां ङीष् नहीं होता है। पाँच अश्वों से खरीद की हुई स्त्रीत्व विशिष्ट वस्तु इस अर्थ में पञ्चाश्व से टाप् दीर्घ पञ्चाश्वा से आर्हीय ठक् प्रत्यय हुआ। उसका 'अद्ध्यर्ध' से लुक् = अदर्शन, ङीप् का निषेध से टाबन्त पञ्चाश्वा। द्वौ बिस्तौ पचति अर्थ में द्विबिस्त से ङीप् का निषेध टाप् दीर्घ द्विबिस्ता = बत्तीस मासा युक्त सुवर्ण खण्ड (स्वर्णमुद्रा) से क्रीत स्त्रीत्व विशिष्ट वस्तु। बिस्त शब्द परिमाण वाचक है, अत उसका पृथक् ग्रहण सूत्र में किया है। १ उन्मान, २ परिमाण ३ प्रमाण ४ इनसे भिन्न संख्या, यह साङ्केतिक परिमाण वाचक है यहां इस कारिका का उल्लेख आवश्यक है।

"ऊर्ध्वमानं किलोन्मानं परिमाणन्तु सर्वतः।
आयामस्तु प्रमाणं स्यात् सङ्ख्या बाह्या तु सर्वतः॥

तराजू पर रखकर गुञ्जा आदि से जो वस्तु नापी जाय उसको उन्मान कहते हैं, पुरुष भी उन्मान है। नपना से चारो ओर समान कर जो नापी जाय वस्तु उसे परिमाण कहते हैं। दीर्घता = लम्बाई नापी जाय उसको प्रमाण कहते हैं = वस्त्र भूमि आदि। इस सूत्र मे परिणाम शब्द साङ्केतिक परिणाम का वाचक है परिच्छेदक मात्र का वाची नहीं है।

"गुञ्जा पञ्च तु माषः स्यात्ते सुवर्णस्तु षोडश।
पलं सुवर्णाश्चत्वारः पञ्च वापि प्रकीर्तितम्॥
पलद्वयन्तु प्रसृतं द्विगुणं कुडवं मतम्।
चतुर्भिः कुडवैः प्रस्थः प्रस्थाश्चत्वार आढकाः॥
तुल्या यवाभ्यां कथिताऽत्र गुञ्जा (लीलावती)
षोडशमाषमितो बिस्तः सुवर्ण इति चोच्यते'।

पाँच गुञ्जा को माष कहते हैं। सोलह माष को सुवर्ण नाप कहते हैं। चार या पाँच सुवर्ण को पल कहते हैं। प्रसृत द्विगुणित पल को कुडव कहते हैं। चार कुडव का एक प्रस्थ है, चार प्रस्थ को आढक कहते हैं। जव के दाने के समान को गुञ्जा संज्ञा है यह लीलावतीकार का मत है। अस्सी (८०) गुञ्जा की रति नामक नाप है। पल शत को तुला कहते है, विंशति तुला को भार कहते हैं। दो पलशत को प्रसन कहते हैं। दश भार को आचित कहते हैं। जो बैलगाड़ी आदि से वहन के योग्य है। "आचितो शाकटो भारः"।

द्वौ आचितौ वहति या सा द्व्याचिता, ठक् लुक् ङीप् निषेध टाप् से यह सिद्धि हुआ है। सौ गण्डे भर ऊर्णा से कम्बल शीतनिवाराणार्थ बनता है। कमल शब्द से यत् प्रत्यय संज्ञा में हुआ है— 'कम्बलाच्च संज्ञायाम्' पा० सू०। द्वाभ्यां कम्बल्याभ्यां क्रीता इस अर्थ में समास विभक्ति लुक् तेन कृतम् से ठञ् का 'अध्यर्ध' से लुक् 'द्विगोः' से प्राप्त ङीप् का निषेध से द्विकम्बल्या = दो सौ गण्डे भर ऊर्णा से क्रीत वस्तु। कम्बल्यम् = ऊर्णापलशतम्। द्वौ आढकौ पचति ठञ् प्रत्यय है, उसका लुक् परिमाण वाचक है, अतः निषेध न हुआ 'द्विगोः' से ङीप्। 'पञ्चानाम् अश्वानां समाहारः' यहां तद्धित प्रत्यय नहीं है लुक् नहीं है, द्विगोः से ङीप् पञ्चाश्वी'।

४८२ काण्डान्तात् क्षेत्रे ४।१।२३।

क्षेत्रे यः काण्डान्तो द्विगुस्ततो न ङीप् तद्धितलुकि। द्वे काण्डे प्रमाणमस्या द्विकाण्डा क्षेत्रभक्तिः। प्रमाणे द्वयसजिति विहितस्य मात्रचः प्रमाणे लो द्विगो नित्यमिति लुक्। क्षेत्रे किम्, द्विकाण्डी रज्जुः।

तद्धित प्रत्यय लुक होने पर क्षेत्रे वाचक काण्डान्त द्विगु से ङीप् नहीं होता है षोडशसहस्र-परिमित दण्ड को काण्ड कहते हैं। द्वौ काण्डौ प्रमाणमस्याः क्षेत्रभक्तेः द्विकाण्डा, यहां काण्डन्त-द्विगु क्षेत्र अर्थ में है ङीप् का निषेध हुआ है। यहां भक्ति शब्द भाग वाचक है। प्रमाणार्थक मात्रच् का लुक् है। रज्जु वाचक द्विकाण्ड से ङीप् प्रत्यय से द्विकाण्डी हुआ है।

४८३ पुरुषात् प्रमाणेऽन्यतरस्याम् ४।१।२४।

प्रमाणे यः पुरुषस्तदन्ताद् द्विगो ङीप् वा स्यात् तद्धितलुकि। द्वौ पुरुषौ प्रमाणमस्याः सा द्विपुरुषी, द्विपुरुषा वा परिखा।

तद्धित लुक् होने पर, प्रमाण वाचक जो पुरुष शब्द तदन्त द्विगु से विकल्प ङीप् होता है। यहां प्रमाण शब्द सामान्यतः परिच्छेदक पारिभाषिक नहीं है क्योंकि पुरुष तो पारिभाषिक उन्मान है वह प्रमाण में रहेगा ही नहीं सूत्र व्यर्थ होगा। दो पोरसा पानी से युक्त खाई अर्थ में द्विगु समास प्रमाणार्थक प्रत्यय का 'प्रमाणे लोः' लुक्, विकल्प से ङीप् तदभाव।

४८४ ऊधसोऽनङ् ४।४।१३१।

ऊधोऽन्तस्य बहुव्रीहेरनङादेशः स्यात् स्त्रियाम्। इत्यनङि कृते डाब्ङीब्-निषेधेषु प्राप्तेषु।

स्त्रीलिङ्ग में उधस् शब्दान्त बहुव्रीहि को अनङादेश होता है। इस सूत्र से अनङ् करने पर 'डाबुभाभ्याम्' से डाप् वैकल्पिक प्राप्त है एवं 'अन उपधालोपिनः' से वैकल्पिक ङीप् एवं 'ऋन्नेभ्यः' से ङीप् प्राप्त है, 'अनो बहुव्रीहेः' से निषेध प्राप्त है किन्तु—

४८५ बहुव्रीहेरूधसो ङीष् ४।१।२५।

ऊधोऽन्ताद् बहुव्रीहे ङीष् स्यात् स्त्रियाम्। कुण्डोध्नी। स्त्रियां किम्, कुण्डोधो धैनुकम्। इहानङपि न, तद्विधौ स्त्रियामित्युपसङ्ख्यानात्।

ऊधस् शब्दान्त बहुव्रीहि को स्त्रीलिङ्ग में ङीप् होता है। कुण्डमिव ऊधः यस्याः सा बहुव्रीहि समास कर कुण्डोधस् अनङादेश से कुण्डधस् अन् ङीप् 'अल्लोपोऽनः' अकारलोप करने पर, कुण्ड के समान स्तनवाली कुण्डोध्नी। धेनुसमुदायको धैनुकम् कहते हैं यहां कुण्डोधस् शब्द स्त्री लिङ्ग नहीं है अत अनङादिकार्य न हुए नपुंसक में कुण्डोधः बना है। अनङ् भी स्त्रीलिङ्ग में ही होता है वहां स्त्रियाम् का अधिकार है।

४८६ सङ्ख्याव्ययादे ङीप् ४।१।२६।

ङीषोऽपवादः। द्व्यूध्नी। अत्यूध्नी।। बहुव्रीहिरित्येव। ऊधोऽतिक्रान्ता अत्यूधाः।

संख्या एवं अव्यय जिसके आदि में है ऐसा स्त्रीलिङ्ग में वर्तमान ऊधस् शब्दान्त बहुव्रीहि संज्ञक प्रातिपदिक से ङीप् होता है। यह सूत्र पूर्व सूत्र से प्राप्त ङीष् का बाधक है। द्व्यूध् अन् ङीप्=

ई, अति ऊध् अन् ई अकारलोप ब्यूघ्नी, अत्यूघ्नी द्वे ऊधसी यस्याः सा एवं अतिशयितम् ऊधः यस्याः सा बहुव्रीहि समास से ब्यूधस् अत्यूधस् शब्द बनाकर तब अनङादि कार्य होते हैं। द्वितीया तत्पुरुष समास में स्तन का अतिक्रमण करने वाली गाय इसमें अनङादि कार्य का अभाव है।

४८७ दामहायनान्ताच्च ४।१।२७।

संख्यादेर्बहुव्रीहेर्दामान्ताद् हायनान्ताच्च ङीप् स्यात्। दामान्ते डाप्-प्रतिषेधयोः प्राप्तयोः हायनान्ते टापि प्राप्ते वचनम्। द्विदाम्नी। अव्यय-ग्रहणाननुवृत्तेरुद्दामा वडवेत्यत्र डाब्निषेधावपि पक्षे स्तः। द्विहायनी बाला। ॐ त्रिचतुर्भ्यां हायनस्य णत्वं वाच्यम् ॐ। वयोवाचकस्यैव हायनस्य ङीब् णत्वं चेष्यते। त्रिहायणी। चतुर्हायणी। वयसोऽन्यत्र त्रिहायना, चतुर्हायना शाला।

संख्या वाचक शब्द जिसके आदि में है ऐसे दामान्त एवं हायनान्त बहुव्रीहि स्त्रीलिङ्ग रहते ङीप् होता है। एकदेश में स्वरितत्व प्रतिज्ञा से अव्यय को छोड़ कर केवल संख्या की यहां अनुवृत्ति है "क्वचिदेकदेशोऽप्यनुवर्तते"। यहां दामान्त शब्द से 'डाबुभाभ्याम्' से डाप् एवं 'अनो बहुव्रीहे' से ङीप् का निषेध प्राप्त था, तथा हायनान्त शब्द से टाप् प्राप्त था, किन्तु इस सूत्र ने सब का बाध किया। द्विदामन् ङीप् अकार का लोप द्विदाम्नी = दो बन्धन रज्जूओं से युक्त अव्यय की अनुवृत्ति न होने से 'उद्दामा वडवा' यहां अन उपधा सूत्र से विकल्प पक्ष में डाप् तथा ङीप् का निषेध होता है। दो वर्ष की कन्या इस अर्थ में द्विहायनी बाला। त्रि एवं चतुर् शब्द से पर हायन के नकार को णकार होता है वह हायन शब्द वयोवाचक रहे तब ही, कालवाचक में नकार को णकार नहीं होता है। त्रिहायणी बाला चतुर्हायणी कन्या। शाला अर्थ में णकार नहीं हुआ।

४८८ नित्यं संज्ञाछन्दसोः ४।१।२९।

अन्नन्ताद् बहुव्रीहेरुपधालोपिनो ङीप्। सुराज्ञी नाम नगरी। अन्यत्र तु पूर्वेण विकल्प एव। वेदे तु शतमूर्ध्नी।

स्त्रीलिङ्ग में विद्यमान उपधा लोप युक्त अन्नन्त बहुव्रीहि समास संज्ञक प्रातिपदिक से ङीप् होता है। अच्छा प्रशासक राजा है जिस नगरी में यहां सुराजन् ङीप् (ई) अकार लोप श्चुत्व ज्ञः सुराज्ञी यहां रूढ नगरी की संज्ञा समझनी चाहिये, जहां केवल योगिकार्थ की प्रतीति है संज्ञा नहीं है वहां तो 'अन उपधालोपिनः' से विकल्प ङीप् होता है पक्ष में डाप्। वेद में तो शतं मूर्धानो यस्याः सा यहां शतमूर्धन् से ङीष् उपधा लोप शतमूर्ध्नी यह सूत्र उत्तरार्थ ही है, संज्ञा में नियत वर्णमाला युक्त शब्द प्रयोग है, छन्द में आपत्ति दे नहीं सकते विकल्प ङीप् प्राप्त ही है वह वेद में नित्य कर देने से कार्यनिर्वाह होता ही है अतः यह प्रयोग सिद्ध्यर्थ नहीं है।

४८९ केवलमामकभागधेयपापापरसमानार्यकृतसुमङ्गलभेषजाच्च ४।१।३०।

एभ्यो नवभ्यो नित्यं ङीप् स्यात्, संज्ञाछन्दसोः। अथोत इन्द्र केवली-विंशः। मामकी। भागधेयी। पापी। अपरी। समानी। आर्यकृती। सुमङ्गली।

भेषजी। अन्यत्र केवला इत्यादि। मामकग्रहणं नियमार्थम्, अण्णन्तत्वादेव सिद्धे। तेन लोकेऽसंज्ञायाञ्च मामिका।

इन नव शब्दों से संज्ञा एवं वेद में नित्य ङीप् होता है। संज्ञा छन्द से भिन्न से इनसे टाप् होता है।

१—केवली: यह द्वितीया बहुवचनान्त है अतः विभक्ति का लोप न हुआ। २—मामकी यहां मेरे शरीर में अर्थ में अस्मद् अण् ममकादेश वृद्धि ङीप् यहां अण्न्ततदादि होने से 'टिड्ढाणञ्' से ङीप् प्राप्त ही था। मामक ग्रहण यहां नियमार्थ है, अणन्तमामक से ङीप् हो तो वेद एवं संज्ञा में ही, अन्यत्र नहीं अतः लोक एवं संज्ञा में टाबन्त मामिका ही होता है। ३—भागधेयी यहां भाग शब्द से धेय प्रत्यय स्वार्थ है। भागधेय से ङीप् अलोप। ४—पापशब्द नपुंसक लिङ्ग है, उससे 'अर्श आदिभ्योऽच्' से मत्वर्थीय अच् से पापयुक्ता अर्थ में पाप से ङीप् अलोप पापी। ५—भिन्नार्थक अपर आद्युदात्त का यहां ग्रहण है सूत्र वृषादीनाञ्च। अपरी। अन्यत्र अपरा। ६—आर्य्येण=श्रेष्ठेन कृता=सम्पादिता अर्थ में आर्यकृती=उत्तम पुरुष से उत्पन्ना। ७—सुमङ्गली=सुन्दर मङ्गलयुक्ता। लोक में ङ्यन्त नहीं है किन्तु ईप्रत्ययान्त है अतः सुलोप नहीं कर सुमङ्गली: यही बनेगा। ८—"शिवारुद्रस्य भेषजी" औषध वाचक से ङीप्। रोग जिससे भय खाय ऐसी औषधि। भिषज् से इदमर्थ में अण् भैषज शब्द औषध में प्रयुक्त है। 'लोक में केवला। अनेकार्थक केवल शब्द है। १—निश्चित अर्थ में नित्य नपुंसक है। केवलं स मूर्खः। सम्पूर्ण एवं एक अर्थ में तीनों लिङ्ग है। केवलो गच्छति यहां एक अर्थ है। केवला याचकाः=सभी याचक है। यहां सर्वार्थक है।

४९० अन्तर्वत् पतिवतो र्नुक् ४।१।३२।

एतयोः स्त्रियां नुक् स्यात्। ऋन्नेभ्यो ङीप्। गर्भिण्यां जीवद्भर्तृकायां च प्रकृतिभागौ निपात्येते। तत्रान्तरस्त्यस्यां गर्भ इति विग्रहे अन्तः शब्दस्याधिकरणशक्तिप्रधानतयाऽस्ति सामानाधिकरण्याभावाद् अप्राप्तो मतुब् निपात्यते। पतिवत्नी इत्यत्र तु वत्वं निपात्यते। अन्तर्वत्नी। पतिवत्नी। प्रत्युदाहरणन्तु—अन्तरस्त्यस्यां शालायां घटः। पतिमती पृथिवी।

अन्तर्वत् एवं पतिवत् शब्द को स्त्रीलिङ्ग में नुक् होता है, यह नुक् आगम है प्रत्यय नहीं है, उक् की इत् से नान्त होने से। पूर्वोक्त ऋन्नेभ्यो ङीप् से ङीप् होता है। गर्भधारण करने वाली स्त्री इस अर्थ में अन्तर् शब्द से मतुप् प्रत्यय निपातन से ही होता है। एवं जिस स्त्री का पति जीवित है इस अर्थ में मतुप् सामान्य शास्त्र से प्राप्त है उसके मकार को वकार निपातन से ही होता है। अन्तर्वत् एवं पतिवत् से नुक् ङीप् अन्तर्वत्नी = * गर्भ भीतर धारण करने वाली स्त्री पतिवत्नी = जीवित पतियुक्ता। यहां अन्तर् शब्द अधिकरण शक्ति प्रधान है (भीतर में) अस्ति का अर्थ वर्तमान कालिक सत्ता विशिष्ट मतुप् विधायक में अन्तर् का अर्थ एवं अस्तिका अर्थ दोनों यहां भिन्न भिन्न है अतः एकार्थबोधकत्व रूप सामानाधिकरण्य नहीं है अतः अप्राप्त मतुप् को यह सूत्र निपातन से विधान करता है। लक्षण प्रवृत्ति विना कार्य करने को निपातन कहते है। 'पतिरस्ति अस्याः' यहां अस्त्यर्थ एवं पति का अर्थ एक है = वर्तमान कालिक सत्ताविशिष्ट ही यहां पति एवं जो पत्यर्थ वह वर्तमान काल विशिष्ट सत्तावान् है एकार्थ बोधकत्वरूप सामानाधिकरण्य होने से मतुप् 'तदस्य' सूत्र से प्राप्त ही है, उसी से ही केवल मतुप् के मकार को वकारादेश का निपातन है।

प्रत्युदाहरण इस सूत्र का—जिस शाला के भीतरी भाग में घड़ा रक्खा है वह शाला यहां वाक्य ही संस्कृत में रहेगा। मतुप् एवं नुक् नहीं होगा। एवं रक्षक राजा संयुक्त पृथिवी यहां क्रमशः अन्तः अस्ति अस्याम् (शालायाम्) वाक्य ही रहेगा। एवं पतिमती पृथिवी यह होगा।

४९१ पत्युर्नो यज्ञसंयोगे ४।१।३३।

पतिशब्दस्य नकारादेशः स्यात्, यज्ञेन सम्बन्धे। वसिष्ठस्य पत्नी। तत्कर्तृकयज्ञस्य फलभोक्त्रीत्यर्थः, दम्पत्योः सहाधिकारात्।

यज्ञ का सम्बन्ध रहते पतिशब्द को नकारादेश होता है। यहां सम्बन्ध यह है कि यज्ञ से उत्पन्न फल की प्राप्ति युक्त होना। धार्मिक यज्ञादिकार्यों में धर्मपत्नी एवं पति दोनों का सहाधिकारत्व है। देवता को उद्देश कर वैध आधार (हवनकुण्ड) में हविषादि द्रव्यत्याग को जो मन्त्र पूर्वक होता है उसे यज्ञ कहते हैं। मन्त्र से जिसकी स्तुति की जाय उसको देवता कहते हैं। यथा "सौर्य्यं चरूं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चस्कामः" यहां सूर्य देवता है। पतिपत्नी में धन का विभाजन नहीं है परस्पर सम्मति पूर्वक यज्ञादिकार्य होते हैं यह भी दोनों का सम्बन्ध है। वसिष्टकर्तृक यज्ञ का भोक्ता केवल वसिष्ट नहीं किन्तु उनकी पत्नी भी है।

४९२ विभाषा सपूर्वस्य ४।१।३४।

पतिशब्दान्तस्य सपूर्वस्य प्रातिपदिकस्य नो वा स्यात्। गृहस्य पतिः गृहपत्नी। अनुपसर्जनस्येतीहोत्तरार्थमनुवृत्तमपि न पत्युर्विशेषणं किन्तु तदन्तस्य। तेन बहुव्रीहावपि। दृढपत्नी। दृढपतिः। वृषलपत्नी। वृषलपतिः। अथ वृषलस्य पत्नी इति व्यस्ते कथमिति चेत्? पत्नीव पत्नीत्युपचरात्। यद्वा आचारक्विबन्तात् कर्तरि क्विप् अस्मिंश्च पक्षे पत्नियौ। पत्नियः, इति इयङ् विशेषः। सपूर्वस्य किम्? गवां पतिः स्त्री।

विद्यमान है पूर्वपद जिसको ऐसा पति, वह है अन्त में जिसको ऐसे प्रातिपदिक को नकारादेश होता है विकल्प से धान्यादि वस्तु समूह को जो ग्रहण करे वह गृह है, घर का भी स्वामी इस अर्थ में षष्ठीतत्पुरुष समास युक्त गृह पति के इकार को न् हुआ नान्तत्वेन ङीप् गृहपत्नी पक्ष में गृहपतिः। पूर्वसूत्र से अधिकार प्राप्त 'अनुपसर्जनात् है उसकी यहां भी अनुवृत्ति है, यदि यहां उसका अधिकार न करेंगे तो उत्तर सूत्र में वह न जा सकेगा, मध्य में विच्छेद के कारण, अतः यहां आगत अनुपसर्जन श्रुत का विशेषण नहीं है किन्तु पति शब्दान्त प्रातिपादिक का ही है, इससे अनुपसर्जन पत्यन्तप्रातिपदिक बहुव्रीहि में है वहां भी नकारादेश होता है यथा—दृढः पति र्यस्याः सा दृढपत्नी, दृढपतिः। यहां पत्यर्थ अन्यपदार्थ में विशेषण रूप उपसर्जन है किन्तु दृढपत्यर्थ अविशेष है अत अनुपसर्जन पत्यन्त प्रातिपादिक से विकल्प से नकार हुआ है। (अर्थात् यहां अनुपसर्जन वास्तव में व्यर्थ है केवल उत्तर में अनुवृत्ति के लिए है।)

वृद्धपत्नीः। वृद्धपतिः। यह भी सिद्ध है। वस्तुतः बहवः समानपतयो यस्या साः "बहुसमानपति" यहां पत्यन्त समानपति का अर्थ अन्यपदार्थ में विशेषणीभूत है यहां नादेश वारणार्थ अनुपसर्जनात् की आवश्यकता है वह पत्यन्त का विशेषण है इति गुरुदेवाः (वृषलः = शूद्रः पतिः यस्याः सा यहां भी नादेश एवं तदभाव से दो रूप है समास रहित स्थल में वृषलस्य पत्नी यहां नादेश नहीं होना चाहिए क्योंकि समास पूर्वपद नहीं पति उत्तर पद नहीं प्रत्यन्त प्रातिपदिक नहीं अतः पति यही होना चाहिये ?

समाधान करते हैं—उपचारात् इत्यादि शब्दों से मूलकार का तात्पर्य्य यह है कि लक्षणा वृत्ति से, स्त्री प्रत्ययान्त पत्नी शब्द शक्ति से ब्राह्मणी, क्षत्रिया, एवं वैश्या में प्रवृत्त है वह शूद्र स्त्री को बोधन करेगा (बोधन में बीच है लक्षणा = उपचार । अथवा ब्राह्मणादिक की पत्नी समान आचरण करने वाली इस अर्थ में आचार में क्विप् कर प्रातिपदिकार्थ कर्ता में क्विप् प्रत्यय कर के पत्नी इव आचरति पत्नीयत कर्ता में क्विप् यलोप अलोप पत्नी इस अर्थ में आचार क्विबन्त पत्नी धातु है अतः अचि श्नु से इयङादेश होता है औ आदि विभक्तियों में । गवां पतिः स्त्री यह पूर्वपद नहीं है । पूर्वपद समासावयव आदि पद में ही रूढ है ।

४९३ नित्यं सपत्न्यादिषु ४।१।३५।

पूर्वविकल्पापवादः । समानस्य सभावोऽपि निपात्यते । समानः पतिः यस्याः सा सपत्नी । एकपत्नी । वीरपत्नी ।

समानादि नव शब्द पूर्व पद में रहे ऐसा पत्यन्त प्रातिपदिक को नकारादेश होता है। समान को स आदेश निपात से होता है, एकपति की अनेक स्त्रियां परस्पर सौत कहलाती है, इस अर्थ में समानः पतिः यस्याः सा समानपतिः शब्द के अन्त में इकार को नकारादेश एवं समान को स आदेश ङीप् सपत्नी । एक है पति जिस स्त्री का यहां एकपत्नी । वीराः = अतीव पौरुष-शक्ति युक्त है पति जिसका वह स्त्री वीरपत्नी है ।

४९४ पूतक्रतोरै च ४।१।३६।

इयं त्रिसूत्री पुंयोगे एवेष्यते । पूतक्रतोः स्त्री पूतक्रतायी । यया तु क्रतवः पूताः पूतक्रतुरेव सा ।

स्त्रीलिङ्ग में विद्यमान पूतक्रतु शब्द से ङीप् एवं उसको ऐकारादेश भी होता है । यह सूत्र एवं बाद के सूत्र मिल कर तीनो सूत्र पुरुषयोग में ही लगते हैं । अन्यत्र नहीं । इसमें प्रमाण भाष्यवार्तिक ही है—"पुंयोगप्रकरणे पूतक्रत्वादीनामुपसंख्यानम्" अर्थात पूत क्रतु आदि को कार्य पुंयोग (पुरुष सम्बन्ध) में होता है, इस वार्तिक में एकवचन एवं द्विवचन का प्रयोग न कर बहुवचन का प्रयोग कर बहुवचनान्त = "पूतक्रत्वादीनाम्" कहा अतः तीन सूत्रों का ग्रहण होता है, कपिञ्जलाधिकरण न्याय से। यथा "कपिञ्जलान् आलभेत" यहां बहुवचन से अनेक कपिञ्जलो का, इस सारांश लेकर लिखा है मूल में "इयं त्रिसूत्री पुंयोग एव" यह वार्तिकार्थ लभ्य है अपूर्व नही है। 'णिजां' त्रयाणां गुणः' यहां णिजां बहुवचन से ही तीन का ग्रहण होता पुनः त्रयाणां ग्रहण व्यर्थ होकर कपिञ्जलाधिकरण न्याय अनित्य है, किन्तु दोषस्थल में ही न्याय्य की प्रवृत्तिः, इष्टस्थले न्याय नित्य है अन्यथा न्याय का निर्विषयत्व ही होगा । पवित्र किया है यज्ञ को जिसने ऐसे पुरुष की स्त्री पूतक्रतु से ङीप् एवं उकार को ऐकार, औ को आय् आदेश से पूतक्रतायी स्त्री ।

जहां स्वयं स्त्री ही यज्ञ को पवित्र करने वाली है वहां पुंयोग नहीं है अतः ङीप्, एवं ऐकारादेश नहीं होता है—'पूतक्रतुः' यह रूप है । पुंयोग प्रयुक्त स्त्री में विद्यमान यहां नहीं है पुरा कल्प में वैदिक कर्मों में स्त्रियों का भी अधिकार था ।

४९५ वृषाकप्यग्निकुसितकुसिदानामुदात्तः ४।१।३७।

एषामुदात्त ऐकारः स्यात् ङीप् च । वृषाकपेः स्त्री वृषाकपायी "हरविष्णू वृषाकपी" इत्यमरः । वृषाकपायी = श्रीगौर्य्यौ इति च । अग्नायी । कुसितायी । कुसिदायी । कुसिदशब्दो ह्रस्वमध्यो न तु दीर्घमध्यः ।

वृषाकपि, अग्नि, कुसित कुसिद, इनको ङीप् होता है, वह उदात्त होता है, एवं इन शब्दों के अन्त्य अल् को ऐकार आदेश होता है। 'वृषा कपिः यस्य सः' यहां बहुव्रीहि समास कर 'अन्येषामपि' से दीर्घ है, शङ्कर एवं विष्णु को वृषाकपि कहते हैं उनकी स्त्री पार्वती एवं लक्ष्मी को वृषाकपायी कहते हैं। वृषाकपि यहां इकार को ऐकार ङीप् (ईकार) आय् आदेश हुआ है। पुंस्त्व विशिष्ट अग्नि की स्त्री यहां ङीप् एकारादेश अग्नायी। कुसिद की पत्नी कुसितायी। कुसिदायी। खराब स्वभाव = प्रकृति में कुसित शब्द है। या कम गोराङ्ग वाचक भी कुसित शब्द है। अथवा कुसित एवं कुसिद देवता विशेष में रूढ है कुसिद शब्द ह्रस्व इकार मध्यस्थ है, दीर्घ ईकार युक्त नहीं है। यद्यपि शब्द निर्णय में अनुभव साक्षिक प्रतीति ही प्रमाण है, ह्रस्व मध्य में है इसके लिए प्रमाण की आवश्यकता नहीं हो तो भी अपना वैदुष्य प्रयोग प्रौढित्व सिद्ध्यर्थ प्रमाणोपन्यास यहां किया जाता है इसमें भाष्यकारीय सन्दर्भ का ही यहां उपन्यास किया जाता है—'वृषाकप्यग्नि' सूत्र में उदात्त ग्रहण क्यों किया ? इस प्रश्न का उत्तर भगवान् पतञ्जलि महामुनि देते हैं कि वृषाकप्यर्थमिदम् = वृषाकपि के लिए है, यहां कपि का अन्त अनुदात्त है उसके स्थान में ऐकार अनुदात्त न हो एतदर्थ उदात्त ग्रहण किया है, इससे सिद्ध हुआ सूत्रोक्त अन्य शब्द उदात्तान्त ही है उनके लिए उदात्त की आवश्यकता नहीं है, स्थानिगुणक आदेश होता है। अब यदि कुसिद शब्द को कुसीद मानेंगे तो यहां 'लघावन्ते' फि० सू० से मध्य में ईकार गुरु है वह उदात्त होगा, अवशिष्ट शेष निघात से अनुदात्त होता है कुसीद में अन्त अकार अनुदात्त को उदात्त ऐकार विधानार्थ भी उदात्त ग्रहण है भाष्योक्ति वृषाकप्यर्थमिदम्' असङ्गत होगी अतः भाष्य मर्यादा सुरक्षार्थ कुसिद को ह्रस्व मध्य ही मानना चाहिए यहां मध्य में गुरु नहीं लघावन्ते की प्रवृत्ति नहीं, फिट् सूत्र से कुसिद का दकारोत्तरवर्ती अकार उदात्त अतः वृषाकप्यर्थमिदम् भाष्योक्ति है। इति श्रीपञ्चोलिनः।

४९६ मनोरौ वा ४।१।३८।

मनुशब्दस्यौकारादेशः स्यादुदात्तैकारादेशश्च वा, ताभ्यां सन्नियोगशिष्टो ङीप् च। मनोः स्त्री मनायी। मनावी। मनुः।

मनु शब्द के अन्त्य अल् को औकार, आदेश होता है, तथा उदात्तत्वधर्मविशिष्ट ऐकारादेश होता है, एवं जहां औकार एवं एकारादेश होते हैं वहां ही ङीप् होता है। यहां उदात्त का ऐकार से ही सम्बन्ध है। औकार से नहीं, आदेश एवं ङीप् सन्नियोग शिष्ट है यथा एक कार्य में नियुक्त पुरुषों की समानकार्यकरणार्थ साथ ही प्रवृत्ति होती है एवं साथ ही निवृत्ति होती है। तथैव यहां भी जब औ या एकार तब ही ङीप्, आदेश के अभाव में ङीप् का भी अभाव देखिये—परिभाषा—सन्नियोगशिष्टानां सहैव प्रवृत्तिः सहैव निवृत्तिः। पुंयोग में ही इसकी भी प्रवृत्ति है। मनु नामक पुरुष की पत्नी अर्थ में औकारादेश एवं ङीप् पक्ष में आव् आदेश से मनावी। ऐकार आदेश आय् पक्ष में मनायी, उभय के अभाव में ङीप् का भी अभाव में मनुः।

४९७ वर्णादनुदात्तात् तोपधात् तो नः ४।१।३९।

वर्णवाची योऽनुदात्तन्तस्तोपधस्तदन्तादनुपसर्जनात् प्रातिपदिकाद् वा ङीप् स्यात् तकारस्य नकारादेशश्च। एनी, एता, रोहिणी, रोहिता। वर्णानां तणतनितान्तानामिति फिट् सूत्रेणाद्युदात्तः। त्रेण्या च शलल्येति गृह्यसूत्रम्। त्रीण्येतानि अस्या इति बहुव्रीहिः। अनुदात्तात् किम्, श्वेता, घृतादीनाञ्चेत्यन्तोदात्तोऽयम्। अत इत्येव, शितिः स्त्री। * पिशङ्गादुपसङ्ख्यानम् *

पिशङ्गी, पिशङ्गा । ❀ असितपलितयोर्न ❀ । असिता, पलिता । ❀ छन्दसि क्नमेके ❀ । असिक्नी, पलिक्नी । अवदात्तशब्दस्तु न वर्णवाची, किन्तु विशुद्ध-वाची, तेन अवदात्ता इत्येव ।

स्त्रीलिङ्ग में विद्यमान वर्णवाची अनुदात्तान्त जो तोपध तदन्त जो अनुपसर्जन प्रातिपदिक को विकल्प से ङीप् होता है एवं तकार को नकारादेश होता है । जहां ङीप् वहां नकारादेश जहां ङीप् का अभाव वहां नकारदेश का भी अभाव है । आदेश में अकार उच्चारणार्थ ही है । श्वेत वर्ण-वाचक एत शब्द का आदि उदात्त है, शेष निघात से अन्त्य अच् अनुदात्त है, एत से ङीप् अकार लोप तकार को नकार एनी, पक्ष में टाप् दीर्घ एता । रक्तार्थक रोहित ङीप् तकार को नकार अलोप णत्व से रोहिणी, पक्ष में रोहिता । उदात्त विधायक फिट् सूत्रार्थ—तान्त शब्द, णान्त शब्द, तिशब्दान्त, निशब्दान्त । तकारान्त जो वर्णवाचक उनका आदि उदात्त होता है । यहां तान्त से व्यञ्जनतकार है अन्त मे जिसको ऐसा पृषत् आदि शब्दों का ग्रहण करना, एवं प्रथम त से सस्वर का ग्रहण करना चाहिये । सौत्रत्वात् जश् का अभाव है ।

त्रीणि एतानि यस्याः सा एतदर्थक बहुव्रीहि समास घटक वर्णवाचक एतशब्दार्थ अन्यपदार्थ शलली में विशेषणरूप उपसर्जन हैं अतः अनुपसर्जन वर्णवाची न होने से ङीप् एवं तादेश न होना चाहिये ? अतः गृह्यसूत्र के आर्ष प्रयोग सिद्ध्यर्थ अनुसर्जन वर्णान्त प्रातिपदिकार्थ का ही विशेषण है त्र्येत अनुपसर्जन है । वर्ण वाचक का नहीं, त्र्येणी तया त्र्येण्या की सिद्धि हो गई । वस्तुतः एणी प्रथम सिद्धकर त्रिषु एणी त्र्येणी तया त्र्येण्या शलल्या तया उपलक्षिता करके यहां कार्य सिद्धि होगी अनुपसर्जन वर्णवाचक में ही अन्वित है । तदन्त में नहीं करके यहां कार्य सिद्धि हैं कि अनुसर्जन गृह्यमाण का ही विशेषण है । यहां बहुव्रीहि समास नहीं है । शलली, शलकम्, शील अनेक पर्य्यायवाचक शब्द है । आपस्तम्ब, आश्वलायन आदि से प्रणीत ग्रन्थ को गृह्य कहते हैं । त्रि एण्या असमास व्यस्त ही हैं । श्वेत शब्द घृतादीनाञ्च से अन्तोदात्त है अतः टाप् श्वेता । श्वेत वर्ण विशिष्ट स्त्रीवाचक शिति शब्द अकारान्त नहीं है अतः ङीप् एवं तादेश न हुआ ।

पिशङ्ग शब्द से ङीप् विकल्प से होता है । पिशङ्गी । पक्ष में पिशङ्गा । दीपशिखातुल्यवर्ण को पिङ्गल कहते हैं । कमल पराग धूलि तुल्य वर्ण को पिशङ्ग कहते हैं । उससे युक्त को पिशङ्गी कहा जाता है । यह अन्यतो ङीष् का अपवाद है । स्त्रीवाचक असित एवं पलित से ङीप् नहीं होता है, एवं तकार को नकार आदेश भी नहीं होता है । टाप् से असिता पलिता । असितः = कृष्णः । पलितः = जरावस्था प्रयुक्त केशोकी शुक्लता । पलितपु हि दृष्टेषु पुंसः का नाम कामिता" । कोई आचार्य असित एवं पलित स्त्रीवाचक रहे वहां क्न आदेश एवं ङीप् प्रत्यय होता है । असिक्नी, पलिक्नी । क्न आदेश इच्छा का कर्म है अतः 'क्नम्' वा० में कहा है, वह शब्द मालार्थ है । आदेश क्न है । 'अवदाता' यह शब्द वर्ण वाचक नहीं है, किन्तु विशुद्ध वाची है अतः तादेश ङीप् न हुआ विद्या योनि एवं कर्म जिसके विशुद्ध रहे वही श्रेष्ठ ब्राह्मण है, योनिः = जन्म वा जन्म का कारण वंश परम्परा ।

४९८ अन्यतो ङीष् ४।१।४०।

तोपधभिन्नाद् वर्णवाचिनोऽनुदात्तान्तात् प्रातिपदिकात् स्त्रियां ङीष् स्यात् । कल्माषी । सारङ्गी । लघावन्ते द्वयोश्च बह्वषो गुरुरिति मध्योदात्तावेतौ । अनुदात्तान्तात् किम् , कृष्णा । कपिला ।

तोपध से भिन्न वर्णवाचक अनुदात्तान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में ङीष् होता है मध्योदात्त कल्माष शब्द का अन्त अनुदात्त है ङीष् अल्लोप कल्माषी। सारङ्ग शब्द का संयोगे गुरु से रकाराकार गुरु का उदात्तत्व से अन्त अनुदात्त है ङीप् सारङ्गी। चित्रवर्णः = कल्माषः। चित्रवर्णः = सारङ्गः। उस वर्णयुक्ता स्त्री कल्माषी एवं सारङ्गी है। चातकः = पपीहा, हरिण अर्थ में भी सारङ्ग शब्द का प्रयोग होता है। नील वर्ण को कृष्ण कहते है। दीपशिखातुल्य वर्ण को कपिल कहते है। अन्त में एक लघु वर्ण रहे या दो लघु वर्ण अन्त में रहे ऐसा अनेक अच् युक्त प्रातिपदिक उसका गुरु वर्ण उदात्त होता है।

कृष्णशब्द अन्तोदात्त हैं। कपिल शब्द भी अन्तोदात्त है उभय वर्ण विशिष्ट स्त्री अर्थ में टाप् कृष्णा कपिला।

४९९ षिद्गौरादिभ्यश्च ४।१।४१।

षिद्भ्यो गौरादिभ्यश्च ङीष् स्यात्। नर्तकी। गौरी। (* आम् अनडुहः स्त्रियां वा *) अनड्वाही। अनडुही (पिपल्यादयश्च) आकृतिगणोऽयम्।

मूर्धन्यषकारेत्संज्ञक प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से एवं गौरादि गण पठित प्रातिपदिकान्त से स्त्री—लिङ्ग में ङीष् होता है। गात्रविक्षेपार्थक नृत् धातु से शिल्पिनि ष्वुन् से ष्वुन् स्त्रीलिङ्ग में नर्तकी, नृत्यकर्म जिसका जीविका का साधन है ऐसी स्त्री यहां प्रत्यय में षित्व अकृतार्थ है अत समुदाय नर्तक में षित्त्वारोप है। अवयव में अचरितार्थ अनुबन्ध समुदाय का उपकारक होता है। गौर = श्वेत वर्ण वाचक है तोपध भिन्न है। किन्तु अन्तोदात्त है। अन्यतो ङीप् से अप्राप्त ङीष् इससे हुआ अकार लोप गौरी = श्वेतवर्ण युक्त स्त्री गौरादि गणपठित अनडुह् शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होता है, एवं वार्तिक आम् आगम विकल्प करता है अनुडुही अनड्वाही = गाय को कहते है। यह वार्तिक गौरादि गण का अन्तर्गण वा० है अतः मूल पुस्तकों में इसका पाठ नहीं भी है। गौरी पार्वती वाचक भी है उमा कात्यायनी गौरी। पञ्चवर्षीया कन्या को भी गौरी कहते है। पिपल्यादि शब्द से ङीष् होता है यह भी गौरादिगण का अवान्तर वार्तिक है, प्राचीन पुस्तकों में मूल में इसका उल्लेख नहीं है यह पक्ष उचित है, गणों के अवान्तर वचनों का मूल में उपन्यास से अव्यवस्था होती है। अतः गणपाठ में ही इन को रखना चाहिये। गौरादि आकृति गण है।

५०० सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानां य उपधायाः ६।४।१४९।

अङ्गस्योपधाया यस्य लोपः स्यात् स चेद् यः सूर्याद्यवयवः। * मत्स्यस्य ङ्याम् *। * सूर्यागस्त्ययोश्छे च ङ्यां च *। * तिष्यपुष्ययो र्नक्षत्राणि यलोप इति वाच्यम् *। मत्सी। मातरि षिच्चेति षित्वादेव सिद्धे गौरादिषु मातामहीशब्दपाठादनित्यः षितां ङीष्। द्रंष्ट्रा।

सूर्यादि अङ्ग के उपधाभूत यकार का लोप होता है वह यकार यदि सूर्यादि शब्द का अवयव हो तब। मत्स्य शब्द के यकार का लोप होता है। ङी प्रत्यय पर रहते। सूर्य एवं अगस्य शब्द के यकार लोप होता है ङी प्रत्यय या छप्रत्यय पर रहते। नक्षत्र सम्बन्धी अण् प्रत्यय पर तिष्य एवं पुष्य के यकार का लोप होता है।

उदाहरण—सूर्य से समान दिशा हो जिसकी सौरी वलाका। यहां अणन्त अङ्ग है। उसकी उपधाभूत यकार का लोप ङीप्रत्यय पर रहते हुआ, यहां अणन्ततदादि निमित्तिक ङीप् है। एवं

सूर्यस्य स्त्री सूरी यहां यलोपार्थ उपधाग्रहण है। यहां पुंयोगाद् से ङीप् है। अगस्त्यस्य स्त्री अगस्ती। मत्सी। गौरादिवत् ङीष् अकारदकार लोप। मातुः माता इस अर्थ में मातृ शब्द से डामहच् प्रत्यय ऋकार रूप टि लोप मातामह में 'मातरि षिच्च' से डामहच् प्रत्यय में षित्त्व का अतिदेश किया है।

यहाँ शंका करते हैं कि मातामही में षित्व के निमित्त ङीष् हो ही जायगा पुनः ङीषर्थ गौरादि गण मे मातामह शब्द का पाठ व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि षित्वप्रयुक्त ङीष् अनित्य है अतः पाठङीषर्थं गौरादि में आवश्यक है, दशनार्थक दँश् धातु से 'दाम्नी' सूत्र से करण में ष्ट्रन् प्रत्यय है दश्यते अनया षकार की इत्संज्ञा लोप है। धातु के शकार को 'व्रश्च्' सूत्र से षकारादेश है, प्रत्ययतकार को ष्टुत्व से दंष्ट्र यहां स्त्रीलिङ्ग में षित्व से प्राप्त ङीष् अनित्य है न हुआ टाप् सवर्ण दीर्घ से दंष्ट्रा रूप है।

५०१ जानपदकुण्डगोणस्थलभाजनागकालनीलकुशकामुककबराद् वृत्त्यमत्रावपनाकृत्रिमाश्राणास्थौल्यवर्णानाच्छादनायोविकारमैथुनेच्छाकेशवेशेषु ४।१।४२।

एभ्य एकादशभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः क्रमाद् वृत्त्यादिष्वर्थेषु ङीष् स्यात्। जानपदी वृत्तिश्चेत् अन्या तु जानपदी। उत्सादित्वादञन्त'त्वेन टिड्ढ' इति ङीप्याद्युदात्तः।

कुण्डी अमत्रं चेत्, कुण्डान्या। कुडि दाहे. 'गुरोश्च हलः' इति अप्रत्ययः। यस्तु 'अमृते जारजः कुण्डः' इति मनुष्यजातिवचनस्ततो जातिलक्षणो ङीष् भवत्येव। अमत्रे हि स्त्रीविषयत्वाद् अप्राप्तो ङीष् विधीयते, न तु नियम्यते। गोणी आवपनं चेत्, गोणाऽन्या। स्थली अकृत्रिमा चेत्, स्थलाऽन्या। भाजी श्राणा चेत्, भाजाऽन्या।

नागी स्थूला चेत्, नागाऽन्या। गजवाची नागशब्दः स्थौल्यगुणयोगादन्यत्र प्रयुक्त उदाहरणम्। सर्पवाची तु दैर्घ्यगुणयोगादन्यत्र प्रयुक्तः प्रत्युदाहरणम्।

काली वर्णश्चेत्, कालाऽन्या। नीली अनाच्छानं चेत्, नीलाऽन्या। नील्या रक्ता शाटीत्यर्थः, 'नील्या अन् वक्तव्यः' इत्यन्, अनाच्छादनेऽपि न सर्वत्र, किन्तु नीलादौषधौ, नीली, प्राणिनी च, नीली गौ, संज्ञायां वा, नीली नीला। कुशी अयोविकारश्चेत्, कुशाऽन्या। कामुकी मैथुनेच्छा चेत्, कामुकाऽन्या। कबरी केशानां सन्निवेशश्चेत्, कबराऽन्या = चित्रेत्यर्थः।

१—वृत्ति २—अमत्र ३—आवपन ४—अकृत्रिम ५—श्राणा ६—स्थौल्य ७—वर्ण ८—अनाच्छादन ९—अयोविकार १०—मैथुनेच्छा ११ = केशवेश, इन अर्थों में क्रम से १—जनपद २—कुण्ड ३—गोण ४—स्थल ५—भाज ६—नाग ७—काल ८—नील ९—कुश १०—कामुक ११—कबर इन ग्यारह शब्दों से क्रमशः ङीप् होता है। जनपद ङीप् अलोप जानपदी वृत्तिः। पिता एवं पितामहादिद्वारा गन्तव्य देश को जनपद कहते हैं। कप्रत्ययान्त यह शब्द है, उसमें उत्पन्न वृत्ति अर्थ में अण्प्रत्ययान्त जानपद शब्द है, यहां 'टिड्ढाण्' से ङीप् प्राप्त था उसको

बाधकर ङीष् है, ङीप् होने पर अनुदात्त होता, ङीष् में अन्तोदात्त है। वृत्तिः = कभी बन्द न होने वाली जीविका। अन्या तु जानपदी यहां उत्सादित्व से अञ्प्रत्यय ढिड्ढ से ङीप् आद्युदात्त है।

२—कुण्ड ङीष् कुण्डी = यतियों का जलपात्र कमण्डलु। कोषः—"अस्त्री कमण्डलुः कुण्डी"। अन्यार्थ में कुण्डा, 'गुरोश्च हलः' से अप्रत्ययान्त है। पति के जीवित रहते जार से उत्पन्न पुत्र को कुण्ड कहते है। यह कुण्ड शब्द मनुष्य जाति वाचक है, इस लिए उससे स्त्रीलिङ्ग में जातिरस्त्री से ङीष् होता ही है। अमत्रार्थक कुण्ड शब्द स्त्रीलिङ्ग विषय के कारण इससे जातिलक्षण ङीष् अप्राप्त है अतः इस सूत्र से वहां ङीष् करना चाहिये। कुण्ड शब्द से अमत्र अर्थ में ही ङीष् होता है, ऐसा नियम यहां नहीं है, अप्राप्त में विधि है।

३—गौण से ङीष्—गौणी = गोण, अन्यार्थ में गौणा। ४—स्थल ङीष् स्थली=अकृत्रिम भूमि, अन्यत्र स्थला। ५—भाज ङीष् भाजी = पकाया हुआ व्यञ्जन, अन्यत्र भाजा। ६—नाग ङीष् नागी = अधिक मोटी, अन्यत्र नागा। नाग शब्द से हाथी एवं सांप शब्द वाच्य अर्थ है। उनमें जहां गजवाची नाग शब्द स्थूलता रूपी गुण के कारण स्त्री अर्थ में प्रयुक्त किया गया वह नाग इसका उदाहरण है। सर्प वाचक नाग शब्द जहां कृशता प्रयुक्त किया गया वह नाग इसका उदाहरण है। सर्पवाचक नाग शब्द जहां कृशताप्रयुक्त अतीव दुर्बल क्षीण कायायुक्त स्त्री में प्रयुक्त है वह इसका प्रत्युदाहरण है नागा स्त्री = अतीव कृशा, रोग आदि से। ७—काल ङीष् काली = काले रंग की स्त्री, अन्यत्र काला। ८—नील ङीष् नीली = अनाच्छादनार्थक में, अन्यत्र नीला = नीलरङ्ग से रंगी हुई साड़ी, यहां नीली शब्द से 'नीलया अन्' से अन् प्रत्यय है, अनाच्छादन में भी सर्वत्र नील से ङीष् नहीं होता है किन्तु ओषधि अर्थ में ङीष् होता है। प्राणी अर्थ में भी ङीष् होता है। नीली ओषधि। नीली गौ = गाय। ओषधि शब्द अधिक प्रसिद्ध है, औषधि नहीं। संज्ञा अर्थ में विकल्प ङीष्-नीली, नीला। ९—कुश ङीष् कुशी = लोहे का विकार फाल = , अन्यत्र कुशा। कोकर, रज्जू, सामवेद के गाने के लिए गुल्लर का शङ्कु विशेष यह कुशा के अर्थ हैं, प्रस्तोता यज्ञ में यज्ञीय वृक्षों की या खैर की प्रादेशमात्र की कुशा बनवावें। आठ धातु सब लोह = लोहा ही है—कोई तेजोयुक्त है कुछ तेज से रहित है सोना, चांदी, तांबा, रीति कांसा, लाख = त्रपु, सीसा, कालायस = काला लोहा इस प्रकार में। १०—कामुक ङीष् कामुकी= मैथुन की इच्छा वाली। ११—कबर ङीष् कबरी = बालों को संभालना। अन्यत्र कबरा = चित्रविचित्र।

५०२ शोणात् प्राचाम् ४।१।४३।

शोणी, शोणा।

प्राचीन आचार्यों के मत से शोण शब्द से ङीष् होता है। नवीनों के मत में नहीं, मतभेद प्रयुक्त रूपद्वय शोणी, शोणा = लाल कमल का वर्ण, कोकनदच्छविः = शोणः यह कोषकार ने कहा है। यह नियमार्थ है, ङीप् तो 'अन्यतो ङीष्' से सिद्ध ही है। प्राचीनों के मत से ही शोण से ङीष् होता है अन्यत्र नहीं अतः नियम फल शोणा है।

५०३ वोतो गुणवचनात् ४।१।४४।

उदन्तात् गुणवाचिनो वा ङीष्। मृद्वी, मृदुः। उतः किम्, शुचिः। गुण इति किम्, आखुः। *खरुसंयोगोपधान्न*। खरुः='पतिंवरा कन्या'। पाण्डुः।

उकारान्त गुणवाचक प्रातिपदिक से ङीप् होता है विकल्प से। मृदु ङीष् यण् मृद्वी पक्ष में मृदुः = कोमल स्वभावयुक्त स्त्री। उकारान्त शुचि नहीं है। अतः शुचिः पवित्रतायुक्त स्त्री।

द्रव्यवाचक आखुः = मूषिका अर्थ में है। एवं वैभव रहते हुए भी जो उसका उपभोग नहीं करता, न खाती है, न दान किसी को देता है, उसको भी आखु कहते हैं। वह पुरुष रहे या स्त्री। अति-कृपण = आखु। पति का वरण करने वाली अर्थ वाचक खरु एवं संयोगोपध शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ङीष् नहीं होता है। खरुः = पति प्राप्ति की इच्छा वाली कन्या। पाण्डुः = श्वेतवर्णः, या केवड़ा की धूलि समान वर्ण = पीत वर्ण आदि अनेकार्थक है। गत्यर्थक पडि धातु से कुप्रत्यय एवं वृद्धि से पाण्डु शब्द बना है।

इस सूत्र में वचन ग्रहण से जो शब्द गुण को विशेषणतया कहते हुए गुणाश्रय द्रव्य को विशेष्य-तया कहे इससे ही इससे ङीष् होता है, केवल गुण वाचक से नहीं। गुण शब्द से मतुप् उसका लोप से गुणवान् अर्थ है, या गुण का गुणी में उपचार = लक्षणा है। उत इस विशेषण से 'अ एं ओ' गुण संज्ञक नहीं है। वर्णत्रय गुण कथन पूर्वक द्रव्य वाचक नहीं हो सकते। अब यहां शङ्का हुई की गुण लक्षण क्या है? समास-कृदन्त-तद्धितान्त-अव्यय-सर्वनाम-जाति-संख्या-संज्ञा शब्द इनसे अतिरिक्त अर्थ वाचक शब्द की गुणवचन संज्ञा है। यही सिद्धान्त पक्ष है। अन्य मत गौरवग्रस्त एव दोषग्रस्त है। अतः उन एकदेशि मतों का आदर यहां न करना। यथा—

सत्त्वे निविशतेऽपैति पृथक् जातिषु दृश्यते।
आधेयश्चाक्रियाजश्च सोऽऽसत्त्वप्रकृतिर्गुणः" ॥ १ ॥

यहां चार विशेषण युक्त यह लक्षण है—द्रव्य रूप आधार में उत्पन्न एवं विनाशयुक्त रहते हुए, जाति से भिन्न, एवं नित्य में, अनित्य पदार्थों में रहने वाला द्रव्य भिन्न को गुण कहते हैं। ब्राह्मणत्वादि भी उत्पन्न विनाशशाली है, विशिष्ट अधिकार प्रयुक्त। तपोऽनुष्ठानकर्ता में ब्राह्मणत्व की उत्पत्ति एवं असत्कार्यकर्ता में ब्राह्मणत्व का नाश होता है, "जातिब्राह्मण एव सः"।

वोतो गुणवचनात् सूत्र में 'उत' ग्रहण नहीं करने पर 'अजाद्यतः' से अतः की अनुवृत्ति से अकारान्त गुणवाचक से ङीष् प्रत्यय विधान से मृद्वी प्रयोग जो सूत्र का मुख्य उदाहरण है उसी की सिद्धि न होने से अव्याप्ति दोष है, उस दोष की उपेक्षा कर 'शुचिः' में अतिव्याप्ति दोष का प्रदर्शन सर्वथा अनुचित है?, 'शोणात् प्राचाम्' नियमार्थ ही है, अतः वह व्यर्थ होकर 'अतः' की निवृत्ति में प्रमाण नहीं हो सकता हैं। प्राचां मते एव शोणात् ङीष्, इस नियम से अन्यतो ङीप् की प्रवृत्ति न हुई अन्यत्र, शोणा में। वा की अनुवृत्ति नियमार्थ 'शोणात्' वचन नहीं है, वह तो व्याख्यान लब्धविषय हैं। समाधान—कल्याण शब्द से इसी से ङीष् होकर 'कल्याणी' की सिद्धि होती पुनः बाह्वादिभ्यश्च में कल्याण के पाठ करण सामर्थ्य से यहां अतः की अनुवृत्ति नहीं है, मृद्वी में अव्याप्ति नहीं अतः शुचिः यहां अतिव्याप्ति दोष प्रदर्शन उचित ही हैं। अथवा खरु शब्द को वार्तिक से ङीष् निषेध से अनुमान होता है कि इसमें अतः की अननुवृत्ति ही है। अन्यथा अप्राप्त स्थल में निषेध व्यर्थ होगा। यदि शुचि शब्द इन् प्रत्ययान्त कित्त्व युक्त है तब तो 'कृति-कारादक्तिनः' से विकल्प ङीष् होता ही है तो यह प्रत्युदाहरण ठीक नहीं है किन्तु श्यामा प्रत्यु-दाहरण देना चाहिये। श्री नागेश भट्ट ने 'शुक्ला' उदाहरण दिया है किन्तु संयोगोपध होने से 'खरुसंयोगोपधान्न' से निषेध वहां होगा। खरु साहचर्य से उकारान्त संयोगोपध में वार्तिक निषेध करेगा तो नागेशोक्त उदाहरण भी उचित है यदि साहचर्य नित्य है तो। किन्तु साहचर्य अनित्य भी है अत एव दीध्यङ् वेव्यङ् धातु के साहचर्य से इट् स्तुतौ धातु का वहां ग्रहण न कर सूत्र में इट् आगम का ग्रहण कर भवित् आ वहां लघूपधगुण निषेध हुआ अतः 'श्यामा' यह प्रत्युदा-हरण निर्विवाद है।

५०४ बह्वादिभ्यश्च ४।१।४५।

एभ्यो वा ङीष् स्यात्। बह्वी, बहुः। ॐ कृदिकारादक्तिनः ॐ। रात्री, रात्रिः। ॐ सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके ॐ। शकटी, शकटिः। अक्तिन्नर्थात् किम्, अजननिः। क्तिन्नन्तत्वादप्राप्ते विध्यर्थं पद्धतिशब्दो गणे पठ्यते। हिमकाषिहतिषु चेति पद्भावः। पद्धती, पद्धतिः।

बहु आदि शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में विकल्प से ङीप् होता है। बहु ई यण् बह्वी = वैपुल्यगुणयुक्ता स्त्री। बहुः। क्तिन् प्रत्यय से भिन्न इकार वह है अन्त में जिसके ऐसे शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में विकल्प से ङीष् होता है। उत्सव (आराम) को देने वाली रात्रि ई दीर्घ रात्री। पक्ष में रात्रिः। कोई कहते हैं कि अक्तिनर्थक इकारान्त से स्त्रीलिङ्ग में ङीष् विकल्प से होता है। शकट ई शकटी पक्ष में शकटिः। अनि प्रत्यय निन्द में होकर नञ् समास से अजननिः यहां न हुआ = व्यर्थ जन्म वाली कन्या जिसमें कोई गुण नहीं है। पद्धति शब्द क्तिन् प्रत्ययान्त होने से अप्राप्त ङीष् को विधानार्थ बह्वादि गण में इसका पाठ है। हन् धातु से कर्म में क्तिन् प्रत्यय है पूर्वपाद को पद् आदेश होता है मार्गार्थक स्त्रीलिङ्ग यह शब्द है पद्धती। पद्धतिः। दो रूप है विधेय घटित रूप निर्देश प्रथम होना चाहिये पश्चात् पाक्षिक रूप।

५०५ पुंयोगादाख्यायाम् ४।१।४८।

या पुमाख्या पुंयोगात् स्त्रियां वर्तते ततो ङीष् स्यात्। गोपस्य स्त्री गोपी। ॐ पालकान्तान्न ॐ। गोपालिका, अश्वपालिका। ॐ सूर्याद् देवतायां चाप् वाच्यः ॐ। सूर्यस्य स्त्री देवता सूर्या। देवतायां किम् सूरी = कुन्ती, मानुषीयम्।

जो पुंवाचक शब्द पुरुष के योग से स्त्रीलिङ्ग में वर्तमान है, उससे ङीष् होता है। गोप शब्द गोवाल में है, इसमें गोपत्व वास्तविक है, गोपत्व धर्म को प्रवृत्ति निमित्त कहते हैं वह धर्म गोप से असवर्ण विवाहयुक्त स्त्री में जिसमें वास्तविक अगोपत्व है किन्तु पुंवाचक गोप शब्द स्त्री रूप अर्थ का अभिधान करे वहां इस सूत्र की प्रवृत्ति है वहां अगोप स्त्री में गोप त्वारोप है। एवं अन्यत्र भी ज्ञान करना। यहां पुंयोग से दाम्पत्य (पतिपत्नी भाव। सम्बन्ध ही न लेना किन्तु केकय दुहिता = कन्या इस अर्थ में केकयी आदि प्रयोग होता हैं। अतः जन्यजनक भाव आदि सम्बन्धों का भी ग्रहण अपेक्षित है। पिता एवं पुत्री का वह सम्बन्ध उपाद्य—उत्पादक भाव है। गोप की पत्नी गोपी। गोपाल शब्द जहां अन्त में रहे वहां ङीष् नहीं होता हैं। गोपालक की स्त्री गोपालिका। अश्वपालक की स्त्री अश्वपालिका यहांटाप् प्रत्यय ही है। देवता अर्थ में सूर्य शब्द से स्त्रीलिङ्ग में चाप् प्रत्यय होता है। देवयोनि में उत्पन्न सूर्य पत्नी अर्थ में सूर्या। अन्यत्र पुंयोगात् से सूर्य से ङीष् 'सूर्यातिष्य' सू० से यकार लोप सूरी = मानुषी पत्नी कुन्ती।

५०६ इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्याणामानुक् ४।१।४९।

एषाम् आनुगागमः स्यान्ङीष् च। इन्द्रादीनां षण्णां मातुलाचार्ययोश्च पुंयोग एवेष्यते। तत्र ङीषि सिद्धे आनुगागममात्रं विधीयते। इतरेषां चतुर्णामुभयम्। इन्द्राणी। ॐ हिमारण्ययोर्महत्त्वे ॐ। महद्धिमं हिमानि। महदरण्यम् अरण्यानी। ॐ यवाद् दोषे ॐ। दुष्टो यवो यवानी। ॐ यवनाल्लिप्याम् ॐ

यवनानां लिपिर्यवनानी। ❀ मातुलोपाध्याययोरानुग् वा ❀। मातुलानी, मातुली। उपाध्यायानी, उपाध्यायी। या तु स्वयमेवाध्यापिका तत्र वा ङीष्। उपाध्यायी, उपाध्याया। ❀ आचार्यादणत्वञ्च ❀। आचार्यस्य स्त्री आचार्यानी। पुंयोग इत्येव। आचार्या = स्वयं व्याख्यात्री। ❀ अर्यक्षत्रियाभ्यां वा स्वार्थे ❀। अर्याणी, अर्या = स्वामिनी, वैश्या वेत्यर्थः। क्षत्रियाणी, क्षत्रिया। पुंयोगे तु—अर्यी, क्षत्रियी। कथं ब्रह्माणीति ? ब्रह्माणम् आनयति = जीवयति इति कर्म्मण्यण्।

इन्द्र-वरुण-भव-शर्व-रुद्र-मृड-हिम-अरण्य-यव-यवन-मातुल एवं आचार्य को आनुक् आगम एवं ङीष् प्रत्यय स्त्रीलिङ्ग में होता है। इन्द्र से छः शब्दों को एवं मातुल तथा आचार्य इनको पुंयोग में ही आनुक् एवं ङीष् होता है। इनमें से ङीष् तो सिद्ध ही था 'पुंयोगात्' से केवल उसका अनुवाद कर के आनुक् इन आठों को होता है। अन्य चारों को उभय विधान = अनुक् एवं ङीप् हैं। इन्द्र की पत्नी अर्थ में इन्द्र आनुक् (आन्) ङीष्, दीर्घ, णत्व इन्द्राणी = देवराजा परमैश्वर्ययुक्त की पत्नी। महत्त्व अर्थ में हिम एवं अरण्य शब्द को आनुक् तथा ङीष् होता है। अधिक हिमयुक्त अर्थात् बर्फ का ढेर में हिमानी। बड़ा वन अर्थ में अरण्यानी। दुष्ट यव = जव जिस में अङ्कुर उत्पादन शक्ति नहीं है बन्ध्य है इस अर्थ में आनुक् एवं ङीष् होता है दुष्टो यवो यवानी। लिपि अर्थ में यवन से आनुक् एवं ङीष् होता है। यवन् आन् ङीष् दीर्घ से यवनानी = म्लेच्छों की वर्णमाला या यवन देश निवासियों की लिपि। मातुल एवं उपाध्याय शब्द को आनुक् विकल्प से होता है। ङीप् नित्य। मातुल आन् ई मातुलानी, मातुली = माता के भाई = मामा उसकी पत्नी। या मामा की कन्या को भी मातुली कहते हैं पूर्वत्र दाम्पत्य सम्बन्ध है। उत्तरत्र जन्य जनक भाव सम्बन्ध है, दाक्षिणात्यों में कुछ मामा की कन्या से विवाह करने की भी पद्धति है। धर्म शास्त्रों में इस विषय में अनेक मतभेद हैं। अन्यत्र यह रिवाज नहीं है, वह पदतः भगिनी अन्य लोग मानते हैं। बहन का भाई के साथ विवाह नहीं होता है। उपाध्याय = गुरु उनकी पत्नी अर्थ में उपाध्यायानी, पक्ष में उपाध्यायी। जो स्वयं अध्यापिका हैं वहां उपाध्यायी, उपध्याया। आचार्य को विहित आनुक् के नकार को णकार नहीं होता है। आचार्य पत्नी आचार्यानी। पुंयोग नहीं है स्वयं आचार्या है वहां आचार्या = व्याख्यानकर्त्री। अर्थ एवं क्षत्रिय से स्त्रीलिङ्ग में स्वार्थ में (प्रकृत्यर्थ) ही अनुक् एवं ङीष् होता है विकल्प से। अर्याणी, अर्या = स्वामिनी, या वैश्या। अर्य = स्वामी एवं वैश्य में है। क्षत्रियाणी, क्षत्रिया पुंयोग में अर्यी ङीप् पुंयोगात् से। अर्यी क्षत्रियी = वैश्य पत्नी, क्षत्रियपत्नी।

कथं ब्रह्माणी ?, 'इन्द्रवरुण' सूत्र में ब्रह्मन् शब्द का पाठ नहीं है, अतः आनुक् एवं ङीष् अप्राप्त है 'ब्रह्मणः स्त्री' अर्थ में ब्रह्माणी नहीं बनेगा। अतः ब्रह्मकर्म उपपद रहते ण्यन्त आन् से अण् प्रत्यय कर उपपद समास ब्रह्मान से 'टिड्ढ' से ङीप् अकार लोप, पूर्वपदात् से णकार से से ब्रह्माणो = ब्रह्मा के जीवन साधनभूता।

५०७ क्रीतात् करणपूर्वात् ४।१।५०।

क्रीतान्तादन्तात्करणादौ स्त्रियां ङीष् स्यात्। वस्त्रक्रीती। क्वचिन्न, धनक्रीता।

करण संज्ञक शब्द है अवयव जिसका ऐसा क्रीतान्त प्रातिपदिक उससे ङीष् प्रत्यय स्त्रीलिङ्ग में होता है। वस्त्रेण क्रीता इस अर्थ में समास विभक्ति लुक् यहां गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समास-

वचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः' परिभाषा से वस्त्र टा क्रीत का समास वस्त्र क्रीत से ङीष् अलोप वस्त्रक्रीती। क्रीत से विभक्ति टाप् पूर्व केवल क्रीत से ही समास हुआ है वस्त्र तृतीयान्त का। अजादि गण में धनक्रीत का पाठ है अतः यहां टाप् ही हुआ है।

५०८ क्तादल्पाख्यायाम् ४।१।५१।

करणादेः क्तान्ताददन्तात् स्त्रियां ङीष् स्यादल्पत्वे द्योत्ये। अभ्रलिप्ती द्यौः। अल्पाख्यायां किम्, चन्दनलिप्ता अङ्गना।

अल्प अर्थ गम्यमान रहते करण है पूर्व में जिसको ऐसा क्तान्त अदन्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में ङीष् होता है। थोड़े से बादल से घिरा हुआ आकाश इस अर्थ में अभ्रलिप्त ई, अकार लोप अभ्रलिप्ती, पूरे शरीर पर चन्दन का लेप युक्त स्त्री में चन्दनलिप्ता।

५०९ बहुव्रीहेश्चान्तोदात्तात् ४।१।५२।

बहुव्रीहेः क्तान्तादन्तोदात्ताददन्तात् स्त्रियां ङीष् स्यात्। जातिपूर्वादिति वक्तव्यम्। तेन 'बहुनञ्सुकालसुखादिपूर्वान्न'। ऊरुभिन्नी। नेह—बहुक्रीता। ❀ जातान्तान्न ❀। दन्तजाता। ❀ पाणिगृहीती भार्य्यायाम् ❀। पाणिगृहीता अन्या।

क्तान्त अन्तोदात्त अदन्त बहुव्रीहि से स्त्रीलिङ्ग में ङीष् होता है। यह सूत्र जातिवाचक पूर्व में रहे वहां ही प्रवृत्त होता है। बहुनञ् सु, काल, सुखादि पूर्व में नहीं प्रवृत्त होता है। परस्पर सटे नहीं है ऊरु द्वय जिसका इस अर्थ में ऊरुभिन्न से ङीप् प्रत्यय हुआ है।

तृतीयार्थ बहुव्रीहि में न ङीष् हुआ—बहूनि क्रीतानि अनया = बहुक्रीता। उत्पन्न दन्तों से युक्त अर्थ में जाता दन्ताः यस्याः यहां इससे ङीष् न हुआ टाप् दन्तजाता। जिसका शास्त्रीय मर्यादा युक्त अग्निकी साक्षि में हस्तमलाप हुआ हो वह ही ङीप् पाणिगृहीती। यथा कथञ्चित् हस्तग्रहण में टाप् पाणिग्रहीता स्त्री

५१० अस्वाङ्गपूर्वपदाद्वा ४।१।५३।

पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्पोऽयम्। सुरापीती, सुरापीता।

स्वाङ्ग वाचक से भिन्न पूर्वपद पर असंयोगोपध अनुपसर्जन स्वाङ्ग वाचक जो शब्द वह है अन्त में जिसको ऐसा अन्तोदात्त अदन्तप्रातिपदिक से विकल्प ङीष् होता है बहुव्रीहि में। 'बहुव्रीहेश्चान्तोदात्तात्' से नित्यप्राप्त ङीप् का यह बाधक है। पी ली है सुरा को जिसने-पीता सुरा यया सा—यहां बहुव्रीहि समासकर इससे ङीष् सुरापीती, पक्ष में सुरापीता। वस्त्रच्छान्न में पूर्वपद वस्त्र अच्छादन है अतः यहां 'जातिकालसुखादिभ्यः' से निष्ठान्त उदात्तान्त नहीं है यहां पूर्वपद प्रकृतिस्वर "बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्" से उदात्त है, शेष निघात से छन्न क्तान्त उदात्त है। यहां इससे या पूर्व सूत्र से ङीष् न हुआ।

५११ स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात् ४।१।५४।

असंयोगोपधमुपसर्जनं यत् स्वाङ्गं तदन्ताददन्तात् प्रातिपदिकाद् वा ङीष्। केशान् अतिक्रान्ता अतिकेशी। अतिकेशा। चन्द्रमुखी चन्द्रमुखा। संयोगोपधात्तु सुगुल्फा। उपसर्जनात् किम्, शिखा।

नहीं है संयोग उपधा में जिसको ऐसा उपसर्जन स्वाङ्गवाचक शब्द वह है अन्त में जिसको ऐसा अदन्त प्रातिपदिक उससे विकल्प ङीष् होता है। यहां बहुव्रीहि का सम्बन्ध नहीं है अतः तत्पुरुष एवं अन्य समास में भी इसकी प्रवृत्ति होती है। अतिकेश ई अलोप अतिकेशी। यहां द्वितीया तत्पुरुष है। पक्ष में अतिकेश आ दीर्घ अतिकेशा। चन्द्र के समान मुखयुक्ता यहां बहुव्रीहि समास युक्त चन्द्रमुख से ई अलोप पक्ष में टाप् चन्द्रमुखी, चन्द्रमुखा। गुल्फ शब्द संयोगोपध है अतः सुगुल्फा में ङीष् न हुआ। चरण के समीपस्थ ग्रन्थी को गुल्फ कहते हैं।

विमर्श—शीङ् धातु से खप्रत्यय एवं ईकार का ह्रस्व से शिख शब्द की सिद्धि है। स्त्रीलिङ्ग में वह किसी में विशेषण रूप उपसर्जन नहीं है अतः ङीष् न होकर टाप् से शिखा। यही प्रत्युदाहरण उचित है। कोई सुशिखा, अशिखा आदि यहां प्रत्युदाहरण देते है उनका भाव यह है—"कल्याणं पाणिपादम् यस्याः सा" "कल्याणपाणिपादा" यहां इस सूत्र से ङीष् प्राप्त है उसके वारणार्थ वे लोग यह प्रयास करते हैं कि पूर्वसूत्र से 'अस्वाङ्गपूर्वपदात्' की यहां अनुवृत्ति है—अस्वाङ्गपूर्वपद से पर स्वाङ्गवाचक उपसर्जन तदन्त अदन्त प्रातिपदिक से विकल्प ङीष् होता है, अस्वाङ्ग-पूर्वपदात् में दिग्योग लक्षण पञ्चमी है अतः अव्यवहितोत्तर का यहां लाभ होता है अस्वाङ्ग पूर्वपद से अव्यवहित उत्तर शब्द स्वाङ्ग वाचक चाहिये—प्रकृत में कल्याण से अव्यवहित उत्तर 'पाणिपाद' समुदाय है वह स्वाङ्ग वाचक नहीं है प्रत्येक में स्वाङ्गत्व है समुदाय में नहीं, स्वाङ्गत्व प्रत्येक में ही विश्रान्त है, काल्याण से अव्यवहित उत्तर पाणि है वह अन्त नहीं है, पाद अन्त है किन्तु कल्याण से अव्यवहित उत्तर नहीं है अतः 'कल्याणपाणिपादा' में टाप् ही हुआ।

जब यह परिस्थिति है तो शिखा में पूर्वपद कोई अस्वाङ्ग वाचक नहीं ङीष् की स्वतः अप्राप्ति है पुनः सूत्र में उपसर्जन ग्रहण का क्या फल है ? अतः सुशिखा प्रत्युदाहरण वे लोग देते हैं। यहां अस्वाङ्ग सु उससे पर शिखा अनुपसर्जन है ङीष् न हुआ। यह कथन ठीक नहीं है। यहां समास के पूर्व ही अन्तरङ्ग टाप् की प्रवृत्ति होकर बाद में समास से ह्रस्व अकारान्त शिख नहीं है यहां अकारान्त शिखा है। अतः सुशिखा अशिखा यह भी प्रत्युदाहरण नहीं हो सकते है। अतः शिखा ही ठीक है। अस्वाङ्ग पूर्वपदात् में पर्युदास से पूर्व अर्थ नहीं है। किन्तु यहां 'स्वाङ्ग वाचक से ङीष्' स्वाङ्ग वाचक से कोई पूर्व में अस्वाङ्ग वाचक रहे' तो वहां ङीष् नहीं होता है। प्रसज्य प्रतिषेध है शिखा में दोष निवृत्ति के लिए उपसर्जन ग्रहण है। अतः अस्य शिखा अशिखा आदि प्रत्युदाहरण असङ्गत है।

१—स्वाङ्गं त्रिधा।

अद्रवं मूर्तिमत्स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम्।

सुस्वेदा, द्रवत्वात्। सुज्ञाना, अमूर्तत्वात्। सुमुखा शाला, अप्राणिस्थ-त्वात्। सुशोफा, विकारजत्वात्।

२—अतस्थं तत्र दृष्टं च।

सुकेशी. सुकेशा वा रथ्या, अप्राणिस्थस्यापि प्राणिनि दृष्टत्वात्।

३—तेन चेत्तत् तथायुतम्।

सुस्तनी सुस्तना वा प्रतिमा, प्राणिवत् प्राणिसदृशे स्थितत्वात्।

स्वाङ्ग तीन प्रकार के हैं। अद्रव मूर्तिमत् प्राणिस्थित अविकारज इनको स्वाङ्ग संज्ञा होती

है। अर्थात् वे स्वाङ्ग पद के वाच्य हैं। स्वाङ्ग शब्द से वे गृहीत होते हैं। जहां स्वाङ्ग वाचकत्व नहीं है वहां ङीष् नहीं होता है। द्रव होने से 'सुस्वेदा', मूर्तिरहित होने के कारण 'सुज्ञाना', अप्राणिस्थ के कारण 'सुमुखा' शाला। विकारजन्य के कारण 'सुशोफा' यहां ङीष् नहीं हुआ।

प्राणिस्थ न होकर प्राणी में दृष्ट हो तो वह भी स्वाङ्ग होता है। वहां ङीष् विकल्प से—यथा सुकेशी सुकेशा वा रथ्या।

अप्राणिस्थ होने पर भी प्राणी में देखे जाने के कारण वह भी स्वाङ्ग है। अर्थात् जिस अङ्ग से प्राणी जैसा युक्त होता है, वैसे उस अङ्ग से अप्राणी भी युक्त हो, तो वह स्वाङ्ग होता है। सुस्तनी, सुस्तना वा प्रतिमा। स्तन रूप अवयव जैसा स्त्री में दृष्ट था वैसा ही वह स्तन तसवीर (फोटो) में है। यहां सदृश में तात्पर्य है। वह तो नहीं ही रह सकता है।

५१२ नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्तकर्णशृङ्गाच्च ४।१।५५।

एभ्यो वा ङीष् स्यात्। आद्ययोर्बह्वज्लक्षणो निषेधो बाध्यते, पुरस्तादपवादन्यायात्। ओष्ठादीनां पञ्चानान्तु असंयोगोपधादिति पर्युदासे प्राप्ते वचनम्, मध्येऽपवादन्यायात्। सहनञ्लक्षणस्तु प्रतिषेधः परत्वादस्य बाधकः। तुङ्गनासिकी। तुङ्गनासिका इत्यादि। नेह—सहनासिका, अनासिका। अत्र वृत्तिः—❀ अङ्गगात्रकण्ठेभ्यो वक्तव्यम् ❀। स्वङ्गी, स्वङ्गा इत्यादि। एतच्चानुक्तसमुच्चयार्थेन चकारेण संग्राह्यमिति केचित्। भाष्याद्यनुक्तत्वादप्रमाणमिति प्रामाणिकाः। अत्र वार्तिकानि—❀ पुच्छाच्च ❀। सुपुच्छी, सुपुच्छा। ❀ कबरमणिविषशरेभ्यो नित्यम् ❀। कबरम् = चित्रं पुच्छं यस्याः सा कबरपुच्छी=मयूरी इत्यादि। ❀ उपमानात्पक्षाच्च पुच्छाच्च ❀। नित्यमित्येव। उलूकपक्षी शाला। उलूकपुच्छी सेना।

बहुव्रीहि समास में स्त्रीलिङ्ग में वर्तमान नासिका उदर ओष्ठ जङ्घा दन्त कर्ण एवं शृङ्ग इनसे विकल्प ङीष् होता है। सूत्र में आदि नासिका एवं उदर है वे दोनों अनेकाच् है यहां 'न क्रोडादिबहचः' से प्राप्त निषेध को यह सूत्र बाध्य विशेष चिन्ता पक्ष का अवलम्बन कर 'पुरस्तात्' न्याय से बाध करता है अतः निषेध की प्रवृत्ति न हुई। ओष्ठादि पांच को असंयोगोपधात् से प्राप्त निषेध को यह बाध करता है 'मध्ये अपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्' इस न्याय से। अर्थात् मध्य में पढ़ा हुआ अपवाद शास्त्र पूर्व पठित शास्त्रों का बाधक है, उत्तर शास्त्र का बाधक नहीं है।

शिष्टोक्त व्याख्यानानुसार इन न्यायों की प्रवृत्ति एवं कदाचित् निवृत्ति करना होता है। 'सहनञ्' सूत्र इस सूत्र का बाधक है पर होने के कारण, वह अपने विषय में इससे प्राप्त वैकल्पिक ङीष् का निषेध करता ही है। उन्नत नासिका युक्ता स्त्री इस अर्थ में तुङ्गनासिक यहां 'न क्रोडादि' से प्राप्त निषेध को पूर्वपठित यह अपवाद बाध करता है अतः वैकल्पिक ङीष्—तुङ्गनासिकी, तुङ्गनासिका। विद्यमान नासिका युक्त अर्थ में सहनासिक यहां 'सहनञ्' ने इसको परत्वात् बाध किया है अतः टाप् ही होता है सहनासिका। एवमेव अनासिका में भी निषेध प्रवृत्ति। माधवाचार्य अङ्ग गात्र कण्ठ से विकल्प ङीष् होता है ऐसा कहते हैं। उस पर सूत्रकार पक्षपाती आचार्य कहते ही कि इस सूत्र में अनुक्तार्थ का समुच्चायक 'च' से वृत्तिकारोक्त वचन गतार्थ है। किन्तु इस विषय में भाष्यकार ने मौनव्रत का ही अवलम्बन किया है, अतः वृत्तिकारोक्त यह मत अप्रामाणिक है।

पुच्छ शब्द से ङीष् विकल्प से होता है। कबर मणि विष शर से ङीष् विकल्प होता है। उपमान वाचक से पर पक्ष एवं पुच्छ से विकल्प से निषेध होता है। सुपुच्छी। सुपुच्छा = अच्छे पुच्छ से युक्ता स्त्रीत्व युक्ता। चित्र वर्ण युक्त पुच्छों से युक्त मयूरी को कबरपुच्छी कहते हैं। उलुक सदृश पुच्छ वाली सेना का अन्त्य भाग *। उलुक के पक्ष सदृशी शाला।

५१३ न क्रोडादिबह्वचः ४।१।५६।

क्रोडादेर्बह्वचश्च स्वाङ्गान्न ङीष्। कल्याणक्रोडा। अश्वानामुरः = क्रोडा। आकृतिगणोऽयम्। सुजघना।

क्रोडादिगण पठित शब्द एवं बहच्क् स्वाङ्ग वाचक शब्द उनसे ङीष् नहीं होता है। कल्याणी क्रोडा यस्याः सा कल्याणक्रोडा यहां पूर्व भाग में 'स्त्रियाः' सूत्र से पुंवद्भाव से कल्याण हुआ है। 'स्वाङ्गात्' सूत्र से प्राप्त ङीष् का निषेध टाप् कल्याणक्रोडा = अच्छे शुभ लक्षण युक्त वक्षस्थल वाली घोड़ी = अश्वा। शोभनं जघनं यस्याः सा सुजघना।

५१४ सहनञ्विद्यमानपूर्वाच्च ४।१।५७।

सहेत्यादित्रिकपूर्वात् न ङीष्। सकेशा। अकेशा। विद्यमाननासिका।

सह, नञ् एवं विद्यमान पूर्वक स्वाङ्ग वाचक से ङीष् नहीं होता है। विद्यमार्थक सह शब्द है। सह केशाः यस्याः सा = विद्यमानकेशवती स्त्री, 'वोपसर्जनस्य' से सह को स आदेश है सकेशा। अकेशा = अविद्यमान केशवती स्त्री। विद्यमाननासिका = नासिका युक्ता स्त्री।

५१५ नखमुखात्संज्ञायाम् ४।१।५८।

ङीष् न स्यात्। शूर्पणखा। गौरमुखा। संज्ञायां किम्?, ताम्रमुखी कन्या।

स्वाङ्ग वाचक नख एवं मुख शब्द वे जिसके अन्त में रहे ऐसे प्रातिपदिक से ङीष् नहीं होता है। यह सूत्र 'स्वाङ्गात्' सूत्र प्राप्त ङीष् का निषेधक है। सूप के सदृश नख वाली = शूर्प इव नखो यस्याः सा 'शूर्पनख' यहां 'पूर्वपदात् संज्ञायामगः' सूत्र से णकारादेश ङीष् का निषेध टाप् 'शूर्पणखा' = रावण भगिनी। यहां व्युत्पत्तिमात्र बोधन है व्यक्ति विशेष में संज्ञा में ही इसका प्रयोग है। अन्यत्र नहीं। गौरमुखा किसी का नाम है, यहां गोरे मुह वाली यह केवल यौगिक अर्थ नहीं है, योग रूढ़ हो सकता है। लालमुख वाली इस अर्थ में केवल यौगिक है संज्ञा नहीं है अतः 'स्वाङ्गात्' सूत्र से ङीष् हुआ है—ताम्रमुखी कन्या।

५१६ दिक्पूर्वपदान्ङीप् ४।१।६०।

दिक्पूर्वपदात् स्वाङ्गान्तात् प्रातिपदिकात् परस्य ङीषो ङीबादेशः स्यात्। प्राङ्मुखी। आद्युदात्तं पदम्।

दिग् वाचक शब्द पूर्व में है जिसके ऐसे स्वाङ्गान्त प्रातिपदिक से पर ङीष् के स्थान में ङीप् आदेश होता है। प्राङ्मुखी में आद्युदात्त है।

५१७ वाहः ४।१।६१।

वाहन्तात्प्रातिपदिकात् ङीष् स्यात्। ङीषेवानुवर्तते न ङीप्। 'दित्यवाट् च मे दित्यौही च मे'।

वेद में वाह् शब्दान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में ङीष् होता है। यहां ङीष् की हीं अनुवृत्ति है ङीप् की नही है, स्वरित्तत्वप्रतिज्ञा के अभाव से। दित्यवाह् से ङीष् वाहः सूत्र से ऊठ् 'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप 'एत्येधत्यू' से वृद्धि 'दित्यौही'।

५१८ सख्यशिश्वीति भाषायाम् ४।१।६२।

इतिशब्दः प्रकारे, भाषायामित्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः। छन्दस्यपि क्वचित्। सखी, अशिश्वी। आधेनेवो धुनयन्ताम् अशिश्वीः।

सखि एवं अशिशु से भाषा में (लौकिकप्रयोग में) ङीष् प्रत्यय होता है। सखि ङीष् (ई) इकार लोप सखी = मित्रस्वरूपा स्त्री। नहीं है शिशु = पुत्र जिसका ऐसी स्त्री अशिशु ङीष् यण् अशिश्वी = पुत्ररहिता स्त्री। इस सूत्र में सादृश्यार्थक इति शब्द की भाषायाम् के अनन्तर योजना करनी चाहिये, भाषा में भी से वेदमन्त्र में भी इसके विषय में इसकी प्रवृत्ति होती है। अपि शब्द छन्द का संग्राहक है। वेदमन्त्र में अशिश्वी सिद्ध हुआ। "सखा सप्तपदी भव" यहां वैदिक प्रयोग में ङीष् को निषेधार्थ सूत्र में भाषायाम् कहा है अत्र स्त्रीरूपार्थ में भी वेद में सखा रूप है, 'सखी' रूप नहीं।

५१९ जातेरस्त्रीविषयादयोपधात् ४।१।६३।

जातिवाचि यन्न स्त्रियां नियतमयोपधं ततः स्त्रियां ङीष् स्यात्।

(क) १—आकृतिग्रहणा जातिः।

अनुगतावयवसंस्थानव्यङ्ग्येत्यर्थः। तटी।

(ख) २—लिङ्गानाञ्च न सर्वभाक्।

(ग) ३--सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या।

असर्वलिङ्गत्वे सति एकस्यां व्यक्तौ कथनाद् व्यक्त्यन्तरे कथनं विनाऽपि सुग्रहा जातिरिति लक्षणान्तरम्। वृषली। सत्यन्तं किम् ?, शुक्ला। सकृदित्यादि किम्, देवदत्ता।

(घ) ४—गोत्रञ्च चरणैः सह।

अपत्यप्रत्ययान्तः शाखाध्येतृवाची च शब्दो जातिकार्यं लभत इत्यर्थः। औपगवी, कठी, बह्वृची। ब्राह्मणीत्यत्र तु शार्ङ्गरवादिपठात् ङीना ङीष् बाध्यते, जातेः किम्, मुण्डा। अस्त्रीविषयात् किम्, बलाका। अयोपधात् किम्, क्षत्रिया। योपधप्रतिषेधे हयगवयमुकयमनुष्यमत्स्यानामप्रतिषेधः ❀। हयी, गवयी, मुकयी। हलस्तद्धितस्येति यलोपः। मनुषी। ❀ मत्स्यस्य ङ्याम् ❀। मत्सी।

स्त्रीलिङ्ग में विद्यमान यकारोपधरहित जातिवाचक नियत स्त्रीलिङ्ग रहित अकारान्त प्रातिपदिक से ङीष् होता है।

विमर्श—१—जन्म के साथ ही जो प्राप्त हो विशेषणतया उसको जाति कहते है, जननेन या प्राप्यते सा जातिः। यथा ब्राह्मणत्व-क्षत्रियत्व-वैश्यत्व-शूद्रत्व आदि।

२—नित्य रहे अनेक में समवाय सम्बन्ध से रहे उसे जाति हैं। घटत्व-पटत्व, मठत्व आदि।

३—पदार्थ भिन्न रहें, पदार्थ उत्पन्न नष्ट हो किन्तु भिन्न जो नहीं है एवं जो नष्ट नहीं होती है वह जाति है, अनेक घड़ों में परस्पर भेद हैं वे अनेक है, एवं उनकी उत्पत्ति एवं विनाश होता है किन्तु घटत्व न भिन्न है न नष्ट होता है, वह जातिस्वरूप है।

४—नैयायिकों के यहां कारणतावच्छेदकतया, एवं कार्यतावच्छेदकतया जाति सिद्धि प्रकार है यथा समवाय सम्बन्ध से गुण रूपकार्य के प्रति स्वरूपसम्बन्धेन द्रव्य कारण है, कारण में कारणता एवं कार्य में कार्यता रहती है वह कारणता भी किसी धर्म से युक्त है, एवं कार्यता भी किसी धर्म से युक्त है अतः कारणतावच्छेदक द्रव्यत्व एवं कार्यतावच्छेदकगुणत्व जातिस्वरूप है।

५—वैयाकरणों के यहां अनुगताकार प्रतीति से जाति सिद्धि प्रकार वै० मञ्जूषा में विस्तृत वर्णित है।

प्रकृत में भिन्न में अभिन्न प्रत्यय निमित्त को जाति कहते हैं। वह नित्य है। एक ही। है। अनेक में अनुगत है। उसे जाति कहने पर यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष ग्रस्त है—"शुक्ला शाटी" यहां टाप् न होकर ङीष् होगा। जन्म से प्राप्त हो उसे जाति कहते हैं, इससे पूर्वोक्त अतिव्यक्ति का निरास हुआ किन्तु 'युवति' इसमें अव्याप्ति हुई। अतः निर्दुष्ट अव्याप्त आदि दोष रहित लक्षण कहते हैं कि—अवयव सन्निवेश जिसका ज्ञान कराने वाली है उसे जाति कहते है। जैसे तटी। पूर्वोक्त लक्षण करने पर भी वृषल शब्द में अव्याप्ति होगी। अर्थात् 'वृषली' यहां ङीष् न होगा। कारण कि जैसे ब्राह्मणादि में अवयव सन्निवेश है, वैसे ही वृषल में है। इसका कारण कहा है कि (लिङ्गानाम्········) सम्पूर्ण लिङ्गों को जो न भजन करे अर्थात् जो शब्द पुंलिङ्ग स्त्रीलिङ्ग नपुंसकलिङ्ग इन तीनों लिङ्ग युक्त न हो, एवं एक बार उपदेश करने से जिसका सब जगह ग्रहण हो उसे जाति कहते हैं। यथा—वृषली। जैसे ब्राह्मण कहने से उसके पिता आदि में ब्राह्मणत्व जाति ज्ञात होती है। वृषल कहने से उसके सन्तान में वृषलत्व जाति का ज्ञान होता है। वैसे एक स्थान पर इन्द्र कहने से अन्यत्र उसका ग्रहण नहीं होता है अत इन्द्रत्व जाति नहीं है।

जाति लक्षण में असर्व लिङ्गक कहने से तीन लिङ्ग युक्त शुक्ल में जाति लक्षण न गया। अतः शुक्लत्वजाति नहीं तद्वाचक शुक्ल नहीं 'शुक्ला शाटी' यही प्रयोग हुआ। यह सत्यन्त का फल है। एक बार उपदेश से दूसरी व्यक्ति में ज्ञान न होने से 'देवदत्ता' यहां ङीष् न हुआ। इन लक्षण करने पर भी तद्धितान्त औपगवी, कठी, आदि प्रयोग सिद्ध न होने से—(गोत्रञ्च······) यह परिभाषिक लक्षण है—अपत्य प्रत्ययान्त, एवं शाखाध्येतृ वाचक शब्द भी जातिप्रयुक्त कार्य को प्राप्त करता है, औपगव से ङीष् से औपगवी। एवं कठशाखाध्यायिनी अर्थ में कठी यहां जाति लक्षण ङीष् प्रत्यय हुआ है।

कठ से णिनि प्रत्यय उसका लुक् अध्येता अर्थ में अण् उसका भी लुक्। बह्वृची यहां भी ङीष् बहुत सी ऋचायें जिसने अध्ययन विषयी भूत की है ऐसी स्त्री। यहां समासान्त 'ऋक्' सूत्र से अच् प्रत्यय है। बाद में ङीष्। प्राचीन समय वेद का अध्ययन स्त्रियाँ करती थी ऐसा यम ने कहा है—

"पुराकल्पे तु नरीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते"।
अध्यापनञ्च वेदानां सावित्री वचनं तथा" ॥

ब्राह्मण शब्द का शार्ङ्गरवादि गण में पाठ है अत ङीन् ने ङीष् को बाधकर ङीन् हुआ 'ब्राह्मणी'। मुण्डत्वगुणयुक्त के कारण मुण्डा यह जाति वाचक नहीं है। अस्त्री विषय कहने से

बलाकाबिसकण्ठिका यहां ङीष् न हुआ। क्षत्र से घ इय्—क्षत्रियत्व जातिवाचक स्त्री अर्थ में क्षत्रिय शब्द स्त्रीलिङ्ग है किन्तु योपध है अतः टाप् हुआ—क्षत्रिया। योपधप्रतिषेध में हयादि शब्दों को छोड़कर निषेध होता है। हयी आदि। मनुष्य से ङीप् अलोप 'हलः' से यलोप मनुषी। ङीप्रत्यय पर रहते मत्स्य के यकार का लोप होता है—मत्सी।

शीघ्र गमन कर्ता को हय कहते हैं। गत्यर्थक हि धातु से अच् गुण हयः, स्त्री चेत् हयी। गाय के सदृश जङ्गल में स्थित को गवय कहते हैं। चार पैर वाली स्त्रीत्व युक्त पशु विषयक मुकयी कहते हैं। कश्यप पत्नी मनु स्त्री के सन्तान में रहने वाली जाति मनुष्यत्व है तद्वती स्त्री में मनुषी, मत्स्य जलीय माच्छली वाचक को मत्सी कहते हैं।

५२० पाककर्णपर्णपुष्पमूलबालोत्तरपदाच्च ४।१।६४।

पाकाद्युत्तरपदाज्जातिवाचिनः स्त्रीविषयादापि ङीष् स्यात्। ओदनपाकी, शङ्कुकर्णी, शालपर्णी, शङ्खपुष्पी, दासीफली, दर्भमूली, गोवाली। औषधिविशेषे रूढा एते।

पाक-कर्ण-पर्ण-पुष्प-मूल बाल वे हैं उत्तरपद में जिसके ऐसा जातिवाचक प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में ङीष् होता है। अवयव शक्ति रहित वे शब्द है। ओदन के पाक समान पाक करने वाली स्त्री को ओदनपाकी कहते हैं। शङ्कुकर्णी = औषधियां गदही। शाला की तरह पत्ती वाली शालपर्णी = लोक में शालपनी प्रसिद्ध है। शङ्ख की तरह पुष्प वाली = शङ्खपुष्पी लोक में प्रसिद्ध है। दासी = श्रिणीं = काकजङ्घा समान फल वाली औषधि। दर्भमूली=दर्भ के समान मूलवाली। गोबाली गोबालसदृश बालवाली सफेद दूब = दूर्वा।

५२१ इतो मनुष्यजातेः ४।१।६५।

ङीष् स्यात्। दाक्षी। योपधादपि—उदमेयस्यापत्यम् स्त्री औदमेयी मनुष्येति किम्, तित्तिरिः।

इकारान्त मनुष्यजाति वाचक से स्त्रीलिङ्ग में ङीष् होता है। प्रजापति विशष—दक्ष है, उसी की ६० कन्या ये हैं। दक्ष की अपत्य कन्या अर्थ में षष्ठ्यन्त दक्ष से 'अत इञ्' से इञ् प्रत्यय, प्रातिपदिक संज्ञा विभक्ति लुक् आदि वृद्धि अकार लोप से दाक्षि इससे ङीष् इकार लोप दाक्षी। उदकं मेयं यस्य अर्थ में समास संज्ञा में उदक को उद आदेश उदमेय से अपत्यार्थक इञ् वृद्ध्यादिकार्य औदमेयि से योपध होते हुए भी इससे ङीष् इकार लोप औदमेयी = उदमेय नामक व्यक्ति विशेष की कन्या। तित्तिरिः = पक्षिविशेष है जिसको तीड़ कहते। तित्तिरः=ऋषि भी हैं।

४२२ ऊङुतः ४।१।६६।

उकारान्तादयोपधान्मनुष्यजातिवाचिनः स्त्रियाम् ऊङ् स्यात्। कुरूः। कुरुनादिभ्यो ण्यः। तस्य 'स्त्रियामवन्ति" इत्यादिना लुक्। अयोपधात् किम्, अध्वर्युः। ॐ अप्राणिजातेश्चारज्ज्वादीनामुपसंख्यानम् ॐ। रज्ज्वादिपर्युदासादुवर्णान्तेभ्य एव। अलाम्बा कर्कन्ध्वा। अनयो दीर्घान्तत्वेऽपि नोङ् धात्वोरिति विभक्त्युदात्तत्वप्रतिषेध ऊङः फलम्। प्राणिजातेस्तु कृकवाकुः। रज्ज्वादेस्तु रज्जुः। हनुः।

यकार उपधा में न रहे ऐसे मनुष्य जाति वाचक उकारान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में ऊङ् होता है। यथा—कुरूः। सुबन्त कुरु से कुरुनादिभ्यः से ण्यप्रत्यय उसका लुक् ऊङ् दीर्घ। अध्वर्यु शाखा वंश में प्रकट होने वाली अध्वर्यु यहां योपध है अतः ऊङ् न हुआ है। अध्वर कर्म उपपद में रहते या धातु से कुप्रत्यय आकार का लोप उपपद समास अध्वर्युः। अध्वर का अकार का "मृगय्वादयश्च" लोप धातु से कु प्रत्यय है। * रज्जु आदि को छोड़ कर स्त्रीलिङ्ग में वर्तमान अप्राणि जातिवाची प्रातिपदिक से ऊङ् होता है *। रज्जु उकारान्त है तद् भिन्न भी उकारान्त शब्दों का ग्रहण करना उनसे ऊङ् होता है। विप्रयोग भी अर्थ नियामक है, अवत्सा से वत्सरहित धेनु का आनयन होता है तथैव यहां भी। अलाम्बु ऊङ् आ (टा) दीर्घ यण् अलाम्ब्वा। कर्कन्धू टा कर्कन्ध्वा। यह दोनों शब्द ऊङ् की प्रकृतिभूत स्वतः दीर्घ ऊकारान्त है, यहां ऊङ् की क्या आवश्यकता है ?, ऊङ् या धातु सम्बन्धी यण् से पर शसादि विभक्तियाँ उदात्त नहीं होती है—सूत्र "नोङ्धात्वोः"। उदात्त प्रतिषेध ही इसका फल है। मोर या मुरगा वाचक कृकवाकु शब्द प्राणि जाति वाचक है अतः ऊङ् न हुआ। रज्ज्वादिका ग्रहण इस लिए है कि रज्जुः। हनुः। यहां ऊङ् न हो। हनुः = कपोल का अवयव।

५२३ बाह्वन्तात् संज्ञायाम् ४।१।६७।

स्त्रियामूङ् स्यात्। भद्रबाहूः। संज्ञायां किम्, वृत्तबाहुः।

बाहु है अन्त में जिसको ऐसा स्त्रीलिङ्ग में विद्यमानप्रातिपदिक से ऊङ् होता।

योगरूढ का उदाहरण भद्रौ = कल्याणप्रदौ बाहू यस्याः सा भद्रबाहूः। कल्याणकारि बाहुयुक्ता स्त्री। वृत्तौ = वर्तुलौ (गोल) बाहू यस्याः सा वृत्तबाहुः। यहां केवल यौगिकार्थ प्रतीयमान है, संज्ञा नहीं अतः ऊङ् न हुआ।

५२४ पङ्गोश्च ४।१।६८।

पङ्गूः। ❀ श्वशुरस्योकाराकारलोपश्च ❀। चादूङ्। पुंयोगलक्षणस्य ङीषोऽपवादः। लिङ्गविशिष्टपरिभाषया स्वादयः। श्वश्रूः।

स्त्रीलिङ्ग में विद्यमान पङ्गु शब्द से ऊङ् होता है। पङ्गु ऊङ् पङ्गू = पङ्गुल स्त्री। * श्वशुर शब्द से स्त्रीलिङ्ग में ऊङ् होता है एवं श्वशुर का अवयव उकार एवं अन्त्य अकार का लोप होता है। सास अर्थ में श्वशुर ऊङ् उकार अकार लोप से श्वश्रू यहां लिङ्ग बोधक प्रत्यय ऊङ् विशिष्ट की 'प्रातिपदिकग्रहणे' परिभाषा से प्रातिपदिकत्व का स्त्रीप्रत्ययान्त में आरोप कर स्वादि विभक्तियाँ करना।

५२५ ऊरूत्तरपदादौपम्ये ४।१।६९।

उपमानवाचि पूर्वपदमूरूत्तरपदं यत्प्रातिपदिकं तस्मादूङ् स्यात्। करभोरूः।

उपमान वाचक शब्द पूर्वपद हो और ऊरू शब्द उत्तरपद रहे ऐसे प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में ऊङ् होता है। करभ ऊरू ऊङ् सु करभोरूः। करभ की समान जङ्घा वाली स्त्री। मणिबन्ध से लेकर कनिष्ठिका पर्यन्त हाथ के बाहरी भाग को करभ कहते हैं।

५२६ संहितशफलक्षणवामादेश्च ४।१।७०।

अनौपम्यार्थं सूत्रम्। संहितोरूः। सैव शफोरूः। शफौ=खुरौ ताविव संश्लिष्टत्वादुपचारात्। लक्षणशब्दादर्श आद्यच्। लक्षणोरूः। वामोरूः। ॐ सहितसहाभ्यां चेति वक्तव्यम् ॐ हितेन सह सहितौ ऊरू यस्याः सा सहितोरूः। सहेते इति सहौ ऊरू यस्याः सा सहोरूः। यद्वा विद्यमानवचनस्य सहशब्दस्य ऊर्वतिशयप्रतिपादनाय प्रयोगः।

स्त्रीलिङ्ग में वर्तमान संहित, शफ, लक्ष या वाम वे शब्द है आदि में जिसको ऐसा ऊरूत्तर प्रातिपदिक से ऊङ् होता है। उपमावाचक कोई पूर्वपद न हो उसके लिए यह सूत्र है। उपमा वाचक पूर्वपद रहे वहां तो पूर्व सूत्र से ही कार्य ऊङ् रूप होता है। संहित ऊरू ऊङ् सु संहितोरूः मिली जांघोवाली स्त्री। शफ ऊरु ऊङ् सु=शफोरूः खुरकी समान मिली जंघायुक्ता स्त्री। अर्श आदिभ्योऽच् से अच् प्रत्ययान्त लक्षणवान् अर्थ में यहां अजन्त लक्षण शब्द है—लक्षण ऊरू ऊङ् सु= लक्षणोरूः=जिसकी जङ्घा में शुभ लक्षण सूचक् तिल आदि का चिह्न है ऐसी स्त्री। वाम ऊरू ऊङ् स् वामोरूः सुन्दर जाङ्घोवाली। * स्त्रीलिङ्ग में वर्तमान सहित एवं सह शब्द से पर जो ऊरू तदन्त प्रातिपदिक से ऊङ् होता है। हित से युक्त को सहित कहते हैं, सहितौ ऊरू यस्याः सा सहितोरूः। सहेते अर्थ में सहौ यह पद सिद्ध हुआ है सहौ ऊरू यस्याः सा इसमें सहोरूः। अथवा विद्यमान वाची सह शब्द है वह ऊरू की अतिशयता प्रतिपादनार्थ यहां प्रयुक्त है।

५२७ संज्ञायाम् ४।१।७२।

कद्रुकमण्डल्वोः संज्ञायां स्त्रियामूङ् स्यात्। कद्रूः। कमण्डलूः। संज्ञायां किम्, कद्रुः। कमण्डलुः। अच्छन्दोऽर्थं वचनम्।

स्त्रीलिङ्ग में कद्रू एवं कमण्डलु शब्द को संज्ञा में ऊङ् होता है। कद्रु ऊङ् स् कद्रूः। कमण्डलु ऊङ् स् कमण्डलूः। चतुष्पाद जातिवाचक है, संज्ञा भिन्न में ऊङ् का अभाव है छन्द में 'कद्रुकमण्डल्वोः छन्दसि' से संज्ञा एवं असंज्ञा में ऊङ् सिद्ध है यह सूत्र वेदभिन्न लौकिक प्रयोगार्थ है।

५२८ शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन् ४।१।७३।

शार्ङ्गरवादेरञो योऽकारस्तदन्ताच्च जातिवाचिनो ङीन् स्यात्। शार्ङ्गरवी। बैदी। जातेरित्यनुवृत्तेः पुंयोगे ङीषेव। ॐ नृनरयो र्वृद्धिश्चेति गणसूत्रम् ॐ। नारी।

जातिवाचक शार्ङ्गरवादि शब्द से एवं अञ् का अकार है अन्त में जिनको ऐसे शब्दों से ङीन् प्रत्यय होता है। शार्ङ्गरव ई अकार लोप शार्ङ्गरवी। श्रृङ्गरु मुनि के वंश की कन्या। बिदस्यापत्यम् स्त्री अर्थ में 'अनृष्यानन्तर्ये' से अञ् प्रत्यय है बैद ङीन् बैदी बिदवंश की कन्या। पुंयोग में जातिवाचक से ङीष् ही होता है। * नृ एवं नर शब्द से ङीन् प्रत्यय होता है एवं नृ एवं नर के अच् की वृद्धि होती है। नृ शब्द से 'ऋन्नेभ्यः' से ङीप् प्राप्त था, नर से जाति लक्षण ङीष् प्राप्त था दोनों को बाधकर यहां ङीन् प्रत्यय हुआ है। नृ ङीन् (ई) ऋ की वृद्धि आर् नारी। एवं नर ङीन् अकार लोप, आदि अकार की आकार वृद्धि नारी=पुरुष की पत्नी।

५२९ यङश्चाप् ४।१।७४।

यङन्तात् स्त्रियां चाप् स्यात्। यङ्ष्यङोः सामान्यग्रहणम्। आम्बष्ठ्या। कारीषगन्ध्या। ❀ षाद् यञश्चाप् वाच्यः ❀ पौतिमाष्या (शार्कराक्ष्या)।

यङन्त शब्द से उत्तर स्त्री लिङ्ग में चाप् होता है। यङ्ष्यङ् दोनो क यङ् से ग्रहण है। चाप् में चकार 'फिषः' को बाधकर 'चितः' से अन्तोदात्तार्थ है। अम्बष्ठस्य अपत्यं कन्या इस अर्थ वृद्धेत्कोसल ४।१।१७२। से ञ्यङ् आम्बष्ठ्या। कारीषगन्ध्या—करीषस्य इव गन्धोऽस्य करीषगन्धिः, उपमानाच्च सू० से इकार समासान्त आदेश है। उसका गोत्रापत्य अर्थ में 'अणिञोः' से ष्यङ् आदेश, यह चाप् स्त्रीलिङ्ग में विहित तो भी ङित् करणसामर्थ्य से तदन्त से भी होता है पौतिमाष्या यहां षकार से पर स्थित यञ् को चाप्। वैश्या में ब्राह्मण से जात सुत = अम्बष्ठ है। उसका गोत्रापत्य अर्थ में 'वृद्धेत्कोसलात्' से यङ् ञ्यङ् वृद्धि कर चाप् प्रत्यय है। सुखा हुआ गोबर को करीष कहते हैं। यहां करीष शब्द लक्षणा से सुखा गोबर सदृशपरक है, करीषः गन्धो यस्या सा। शार्कराक्ष्या यह भी उदाहरण है। किन्तु मूलग्रन्थ में प्राचीन पुस्तकों में अनुपलब्ध है।

५३० आवट्याच्च ४।१।७५।

अस्माच्चाप् स्यात्। यञश्चेति ङीपोऽपवादः। अवटशब्दो गर्गादिः। आवट्या।

आवट्या शब्द से स्त्रीलिङ्ग में चाप् होता है। यह ङीप् का अपवाद है। गर्गादिपठित यञन्त इससे 'यञश्च से ङीप् प्राप्त था। अवट् यञ् चाप् आवट्या।

३३१ तद्धिताः ४।१।७६।

आपञ्चमपरिसमाप्तेरधिकारोऽयम्।

पांचवे अध्यार तक इसका अधिकार है। यहां से आरम्भकर वक्ष्यमाण प्रत्यय तद्धित संज्ञक होते है। यहां संज्ञा विधायक है। प्रकृत्यर्थ के लिए हितकारक यह अन्वर्थ संज्ञा है। इससे ग्रामटिका = छोटा ग्राम इत्यादि की सिद्ध हुई। यहां टिकन अल्पार्थक है।

५३२ यूनस्तिः ४।१।७७।

युवनशब्दात् तिप्रत्ययः स्यात् स च तद्धितः। लिङ्गविशिष्टपरिभाषया सिद्धे तद्धिताधिकार उत्तरार्थः। युवतिः। अनुपसर्जनादित्येव, बहवो युवानो यस्यां सा बहुयुवा। युवतीति यौतेः शत्रन्तात् ङीपि बोध्यम्।

इति स्त्रीप्रत्ययाः।

स्त्रीलिङ्ग में युवन् शब्द से तिप्रत्यय होता है, इस तिप्रत्यय की तद्धित संज्ञा होती है। प्रातिपदिकत्व एवं प्रातिपदिकत्व का व्याप्य धर्म का लिङ्गबोधक प्रत्यय विशिष्ट में अतिदेश होता है—"प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्" परिभाषा से यहां युवन् शब्द वृत्ति प्रातिपदिकत्व रूप धर्म युवति में आरोपित है। अतः विभक्ति की उत्पत्ति होती है पुनः तद्धिताधिकार क्यों

किया ?, वह उत्तरार्थ है, उत्तर सूत्रों में इसकी आवश्यकता है। युवन् से ति, नलोप से युवतिः = युवावस्था से युक्त स्त्री।

यहां अनुपसर्जनाधिकार है—अनुपसर्जन जो युवन् शब्द तदन्त प्रातिपदिक स्त्रीलिङ्ग में विद्यमान रहे वहां प्रातिपदिक से तिप्रत्यय होता है। अनेक नवयुवकों से युक्ता नगरी—यहां अन्य पदार्थ नगरी में युवन् शब्दार्थ युवक विशेषण रूप उपसर्जन है। अतः तिप्रत्यय न होकर बहुयुवा नगरी। यौति = का मिश्रीकरण अर्थ है पति के साथ सम्मेलन करने वाली इस अर्थ में यु धातु से वर्तमान में लट् (ल) उसके स्थान में शतृ (अत्) आदेश उगितश्च से ङीप् उवङ् 'युवती'। दीर्घ इकारान्त शब्द हैं।

काशिकराजकीय संस्कृत महाविद्यालय—वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के पूर्व प्राध्यापक गुजरात प्रान्त निवासी प० श्री बालकृष्ण पञ्चोलि विरचित सविमर्श रत्नप्रभा में स्त्रीप्रत्यय प्रकरण समाप्त।

इति प्रथमो भागः

अथ कारकप्रकरणम् १५

५३३ प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा २।३।४६।

नियतोपस्थितिकः = प्रातिपदिकार्थः। मात्रशब्दस्य प्रत्येकं योगः। प्रातिपदिकार्थमात्रे लिङ्गमात्राद्याधिक्ये परिमाणमात्रे सङ्ख्यामात्रे च प्रथमा स्यात्। उच्चैः, नीचैः, कृष्णः, श्रीः, ज्ञानम्। अलिङ्गा नियतलिङ्गाश्च प्रातिपदिकार्थमात्र इत्यस्योदाहरणम्।

अनियतलिङ्गास्तु लिङ्गमात्राद्याधिक्यस्य। तटः, तटी, तटम्।

परिमाणमात्रे—द्रोणो व्रीहिः। द्रोणरूपं यत्परिमाणं तत्परिच्छिन्नो व्रीहिरित्यर्थः। प्रत्ययार्थे परिमाणे प्रकृत्यर्थोऽभेदेन संसर्गेण विशेषणम्। प्रत्ययार्थस्तु परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावेन व्रीहौ विशेषणमिति विवेकः। वचनम् = सङ्ख्या। एकः, द्वौ, बहवः। इह उक्तार्थत्वाद् विभक्तेरप्राप्तौ वचनम्।

जिस प्रातिपदिक के उच्चारण करने पर वृत्ति (शक्ति-लक्षणा-व्यञ्जना) से जिस अर्थ की प्रतीति होती है उस नियतोपस्थितिक प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा विभक्ति होती है। प्रातिपदिकार्थ से अतिरिक्त जहां केवल लिङ्ग की अधिक प्रतीति होती है, वहां भी प्रथमा विभक्ति होती है। परिच्छेदक मात्रार्थक से प्रथमा, एवं केवल संख्या अर्थ के प्रत्यायक शब्दों से प्रथमा विभक्ति होती है। यहां वचनान्तक का द्वन्द्व समास है, द्वन्द्व समास के समीप मात्र शब्द का प्रत्येक के साथ योग है। यथा प्रातिपदिकार्थमात्रे इत्यादि। यहां वचन का अर्थ संख्या हैं।

परिमाणन्तु सर्वतः' यह यहां नहीं है केवल परिच्छेदक मात्रार्थक है। अधिकरण शक्ति प्रधान= उच्चत्वविशिष्ट स्थान अर्थ वाला उच्चैस् से प्रथमा एकवचन का अव्यय होने से लुक् सकार का रुत्व विसर्ग, प्रत्यय लक्षण से पदत्व उच्चैः का है। ग्रामः उच्चैः ते तब हुआ यहां 'सपूर्वायाः' से विकल्प आदेश है। एवमेव नीचैः। यहां केवल प्रातिपदिकार्थ का बोध है। कृष्ण शब्द नियतलिङ्ग पुंस्त्व विशिष्ट बसुदेव के पुत्र रूप अर्थ का प्रत्यायक है प्रथमा—कृष्णः = भक्तजनों के पापों को दूर करने वाला। नित्य स्त्रीलिङ्ग क्विप् प्रत्ययान्त दीर्घत्व विशिष्ट विष्णुपत्नी रूप अर्थ वाचक से प्रथमा—श्रीः। ज्ञप्ति को ज्ञान कहते है यहां भावार्थक ल्युट् प्रत्ययान्त केवल ज्ञान रूपार्थ नित्य नपुंसक से प्रथमा—ज्ञानम्। लिङ्ग विषयक प्रतीति जहां नहीं होती है वे अव्यय एवं नियत लिङ्ग वाले शब्द प्रातिपदिकार्थ मात्र के उदाहरण है।

अनेक लिङ्ग युक्त यथा तट शब्द है, वैसे शब्दों में प्रातिपदिकार्थ के अपेक्षा लिङ्ग रूप अर्थ की प्रतीति भी है वे लिङ्गमात्राद्याधिक्य के उदाहरण है, पुंलिङ्ग में तटः, स्त्रीलिङ्ग में जाति लक्षण ङीषन्त तटी, नपुंसक में सु को अम् पूर्वरूप से 'तटम्'।

प्रथम लिख चुके हैं कि यहां परिमाण परिच्छेदक मात्रार्थक है सांकेतितार्थक नहीं है। अतः वितस्तिः, पुरुषः, घृतम्, काण्डम्, द्रोणः आदि से प्रथमा विभक्ति उत्पन्न हुई है।

मूलकार ने परिमाणमात्र का उदाहरण द्रोणो व्रीहिः में द्रोण प्रातिपदिक से परिमाण रूप अर्थवाचिका प्रथमा उत्पन्न है। द्रोण परिमाणविशेष का वाचक है प्रकृत्यर्थ द्रोणरूपार्थ का

परिमाण रूप प्रत्ययार्थ में विशेष्य विशेषण भाव सम्बन्ध (अभेदो वा) से अन्वय है, वह सम्बन्ध अभेदस्वरूप है।

वास्तविक परिस्थिति का पर्य्यालोचन करने पर अभेद सम्बन्ध नहीं है, वह प्रतियोगी अनुयोगी पदार्थ स्वरूप ही होगा, सम्बन्ध इन दोनों से भिन्न होता है, एवं प्रतियोगी में एवं अनुपयोगी में रहता है एवं विशिष्ट ज्ञान का नियामक होता है विशेषण पदार्थ सम्बन्ध का प्रतियोगी एवं विशेष्यपदार्थ सम्बन्ध का अनुपयोगी हुआ करता है। 'राजपुरुषः' में राजपदार्थ स्वस्वामिभावरूप सम्बन्ध का प्रतियोगी है एवं पुरुष रूप अर्थ इस सम्बन्ध का अनुपयोगी है। शिष्टो ने कहा है कि—"सम्बन्धो हि सम्बन्धिभ्यां भिन्नो द्विष्ठो विशिष्टबुद्धिनियामकः" इति। प्रकृत में जहां अभेद शब्द है वहां विशेष्य—विशेषण भाव रूप सम्बन्ध ज्ञान मानसिक करना चाहिए। द्रोणाभिन्नं यद् परिमाणम् = अर्थात् द्रोण स्वरूप परिमाण, इस प्रत्ययार्थ = परिमाण का व्रीहिरूपार्थ में परिच्छेद्य-परिच्छेदकभावरूप सम्बन्ध से अन्वय है। नापने वाले को परिच्छेदक कहते हैं यथा प्रकृत में द्रोण, जो वस्तु नापी जाय उसे परिच्छेद कहते हैं। यथा—व्रीहि = धान। व्रीहिपद से उत्तर प्रथमा प्रातिपदिकार्थ ही है, जातिनिर्देश है अतः एकवचन है वस्तुतः 'व्रीहयः' यह निर्देश उचित था अनेक व्रीहियों परिच्छेद्य है। एक नहीं।

१—द्रोणपदार्थ प्रत्ययार्थ परिमाण में अभेद सम्बन्ध से विशेषण है, परिमाण रूप अर्थ में विशेष्यता है, एवं विशेषणता भी है परिच्छेद्य परिच्छेदक भाव से व्रीहि अर्थ में केवल विशेष्यता है = द्रोणाभिन्नं यत्परिमाणं तत्परिच्छेद्यो व्रीहिः अर्थ सम्पन्न हुआ।

यहां शङ्का करते हैं कि-प्रातिपदिकार्थ में ही द्रोण से प्रथमा सिद्ध थी पुनः परिमाण में प्रथमा करने के लिए सूत्र में परिमाण ग्रहण क्यों किया ?, द्रोणार्थ रूप प्रातिपदिकार्थ में द्रोण शब्द से प्रथमा विभक्ति आने पर प्रत्ययार्थ भी नामार्थ ही हुआ उसका व्रीहिरूप नामार्थ के साथ अभेद सम्बन्ध होकर द्रोण स्वरूप व्रीहि = द्रोणाभिन्न व्रीहि यह अनिष्टार्थ की प्रतीत होगी। यह अर्थ परस्पर बाधित है परिच्छेदक एवं परिच्छेद्य का भेद है अभेद नहीं, नामार्थ = प्रतिपदिकार्थका नामार्थ = प्रातिपदिकार्थ के साथ अभेदान्वय ही है—"नामार्थनामार्थयोरभेदान्वयः"।

यदि नामार्थ का नामार्थ में भेद सम्बन्ध से अन्वय करना है तो प्रत्ययार्थ द्वारा ही होता है अर्थात् नामार्थ का प्रत्ययार्थ में अन्वय एवं प्रत्ययार्थ का नामार्थ में अन्वय, इस लिए सूत्र में परिमाण ग्रहण किया है। 'नामार्थनामार्थयोरभेदान्वयः' नियम अस्वीकार करने पर 'राजा पुरुषः' यहां राजपदार्थ का स्वत्वसम्बन्ध से पुरुष में अन्वय होने लगेगा। एवं 'भूतलं घटः' यहां भूतल का आधयेता सम्बन्ध से घट में अन्वय होने लगेगा।

यह परिमाण ग्रहण सार्थक वादी ने कहा, खण्डनवादी कहता है कि पद संस्कार पक्ष में द्रोण से प्रातिपदिकार्थ में प्रथमा कर द्रोणः सिद्ध कर पश्चात् व्रीहिः का उसके साथ संयोजन करने पर अभेदान्वय प्राप्त है किन्तु वह बाधित है (असम्भव) अतः यहां द्रोण का द्रोणपरिच्छिन्न में लक्षणा करेंगे (द्रोणपरिच्छिन्न का अर्थ द्रोणपरिच्छेदक से नपी हुई वस्तु) द्रोणपरिच्छिन्न का अभेद से व्रीहि पदार्थ में अन्वय करेंगे कोई दोष नहीं है, सूत्र मे परिमाण ग्रहण क्यों किया ?, उत्तर—द्रोणशब्द अनेकार्थ है यथा—महाभारत में प्रसिद्ध द्रोणाचार्य, एवं द्रोण = काक को भी कहते हैं।

के शवं पतितं दृष्ट्वा द्रोणो हर्षमुपागतः।
रुदन्ति कौरवाः सर्वे हा हा केशव केशव !॥

यहाँ जलस्थित शव को देखकर काक हर्ष से युक्त हुआ एवं जलस्थित शव भक्ष्य न होने से

शियार रोने लगें। द्रोण परिमाण भी है, अतः नियतोपस्थितिक नहीं है प्रातिपदिकार्थ में प्रथमा अप्राप्त है परिमाणग्रहण सूत्र में किया है। यही समाधान उचित है। एवं प्रातिपदिकार्थ सूत्र में सिद्धान्तपक्ष में प्रवृतिनिमित्त (धर्म) एवं तदाश्रय (धर्मी) दोही प्रातिपदिकार्थ से गृहीत है। द्रोण शब्द द्रोणत्व द्रोण को जिस प्रकार बोधन करता है तथैव वह परिमाणत्व परिमाण का भी बोधन करता है। अतः प्रातिपदिकार्थ से अप्राप्त प्रथमा विधानार्थ सूत्र में परिमाण ग्रहण है।

सूत्र में वचन शब्दार्थः=संख्या है एक द्वि एवं बहु शब्द से एकत्व-द्वित्व एवं बहुत्व संख्या उक्त है, अतः जो अर्थ प्रकृतिसे उक्त रहें तदर्थक विभक्ति यहां क्रमश, एकवचन-द्विवचन एवं बहुवचन अप्राप्त रहा है 'उक्तार्थानामप्रयोगः' यह न्याय है। यह न्याय अपूर्व नही है किन्तु अनन्यलब्ध अर्थ ही शब्द (या विभक्ति) का वाच्य होता है, अपूर्व अर्थ बोधकता जहां न रहें वहां अर्थबोधक प्रत्ययादिकी उत्पत्ति न होना स्वाभाविक ही है। तथापि इस सूत्र में वचनग्रहण सामर्थ्य से एकादि से क्रमशः विभक्ति तदर्थानुवादिका आई है। सर्वथा अनन्वितार्थक विभक्ति न लाकर प्रकृत्यर्थ में अन्वय योग्य विभक्ति की उत्पत्ति हुई। यथा एकः। द्वौ। बहवः, यहां एकत्व द्वित्व-बहुत्व अर्थोकी वाचिका प्रकृतियाँ है, विभक्तियां अनुवादिका है, विभक्ति का फल सुबन्त होकर पदसंज्ञा आदि है। एकः, तिष्ठति यहां अतिङन्तपद एकः उससे पर तिष्ठति को नि धात हुआ। यह भाष्य वार्तिक है—तिङ् का बोध्य जो कारक उसका बोधक जो रहे उससे प्रथमा विभक्ति होती है यथा रमेशः पठति, यहां ति कर्तृरूपार्थका वाचक है कर्तृरूप अर्थ वाच्य=बोध्य है उस अर्थ का वाचक रमेश है अतः रमेश से प्रथमा। एवं कमलेशः पठति, मीना पचति, वीणा गच्छति। वसुमती तीर्थयात्रां करोति यहां भी प्रथमा है। वार्तिकस्वरूप "तिङ् सामानाधिकरणे प्रथमा"। सूत्र में 'अन्यसम्बन्धाभाव' रूप अर्थ का प्रत्यायक मात्र शब्द है एव एवं मात्र समानार्थक है। यथा पार्थ एव धनुर्धरः पार्थ = अर्जुन में अद्वितीय धनुर्धरत्व है, अन्य में नहीं, यहां पार्थ से भिन्न अन्य तद्भिन्न पार्थ ही है।

उसी प्रकार नियतोपस्थितक अर्थ भिन्न अर्थ का अभाव रहे वहां प्रथमा प्रातिपदिकार्थ से हुई। इसी प्रकार अन्य तीनों में ज्ञान करना चाहिये) व्या० शब्देन्दुशेखर में पू० पं० श्री नित्यानन्दजी पन्त के क्रोड पत्र में विस्तार इसका है।

५३४ सम्बोधने च २।३।४७।

इह प्रथमा स्यात्। हे राम।

प्रातिपादिकार्थ की अपेक्षा जहां सम्बोधन रूपकी अधिक प्रतीति रहे वहां सम्बोधने में प्रातिपदिक से प्रथमा विभक्ति होती है यथा—हे राम ! यहां उत्पन्न विभक्ति का 'एङ् हस्वात्' से लोप हुआ है। जो सन्मुख नही हैं उसको सन्मुख करने के व्यापार को सम्बोधन कहते है = "अनभिमुखस्य अभिमुखीकरणं सम्बोधनम्" यहां विभक्ति का अर्थ सम्बोधन रूप वह प्रकृत्यर्थ के प्रति विशेष है एव क्रिया के प्रति विशेषण है। सम्बोधनार्थ का क्रिया में अन्वयबोध होता है यह कारिका भी बोधन करती है—(श्री पञ्चोलि विरचित वै० भूषण की प्रभा में इस विषय की व्याख्या देखिए)।

सम्बोधनपदं यच्च तत् क्रियायां विशेषणम्।
व्रजानि देवदत्तेति निघातोऽत्र तथा सति ॥

सिद्धवस्तु ही जहां रहे वहां यह विभक्ति होती है, वाल्यावस्था में 'राजन् ! भव युध्यस्व' तुम राजा हो जावो एवं युद्ध करों' सम्बोध्य राजत्व रूपार्थ प्रथमतः सिद्ध नही है अतः यहां सम्बोधन विभक्ति नही होती है। सम्बोधनार्थ का क्रिया में अन्वय होकर एक वाक्यत्व सम्पादन द्वारा व्रजानि को निघात हुआ देवदत्त ! मेरे गमन का कालप्राप्त हुआ है इसको तुम जानों—

५३५ कारके १।३।२३।

इत्यधिकृत्य ।

यह अधिकार सूत्र है । संज्ञाधिकार के मध्य में पठित यह सूत्र स्वतन्त्रादिरूप अर्थों की संज्ञाएँ होकर बाद में विशेष संज्ञाएँ करनी चाहिये । कर्तृ कर्मादि व्यपदेश में निमित्त को कारक कहते है—"करोति कर्तृकर्मादिव्यपदेशान् इति कारकम्" । क्रिया जनक एवं क्रिया में साक्षात् अन्वयी को कारक कहते हैं । राज्ञः पुरुष में षष्ठी में कारक की परिभाषा का समन्वय न होने से षष्ठी कारक विभक्ति नही है । कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान एवं अधिकरण वे कारक है । भर्तृ हरि ने स्वग्रन्थ में इन्ही को कारक कहा है । वस्तुतः जिसका रूपान्तर हो सके विवक्षाभेद से एव वहां आगत विभक्ति अन्त में रहे उसको शिष्टगण साधु माने उसको कारक कहते है, यह कारकत्व व्याप्य कर्तृ त्वादि नियत नही है, स्थाल्याम् पचति यहां स्थाल्या, स्थाली उनके विवक्षा भेद से रूप परिवर्तन में भी उस को साधुत्व है = "विवक्षातः कारकाणि भवन्ति" यह कारक के विषय में सिद्धान्त है कर्ता कर्म करण एवं अधिकरण इन चारों में रूपपरिवर्तन विवक्षा भेद से दिखा गया है किन्तु सम्प्रदान में विप्राय गां ददाति यहां विप्र में चतुर्थी विभक्ति रहित अन्य विभक्ति लाने पर वह असाधु एवं अप्रयुक्त होगा, यही वस्तु अपादान में है वृक्षात् पर्ण पतति यहां वृक्षसे पञ्चमी भिन्न विभक्ति आने पर असाधु एवं अप्रयुक्त होगा, इस से कर्ता कर्म करण अधिकरण चार ही कारक है, यह मत पण्डितेन्द्र महावैयाकरण प० श्रीरामाज्ञा पाण्डेय (रतसड़ बलिया) का मत है धात्वर्थ व्यापारसे उत्पन्न जो फल उसका विशेषण जो मृदु एवं स्तोकादि उन में भी कारकत्व है । अनुत्पन्न घट में बौद्ध पदार्थ मानकर बुद्धिस्थ घट में कारकत्व है घटं करोति आदि स्थल में । पदार्थ दो प्रकार के है बौद्ध एवं बाह्य । बौद्ध पदार्थ सत्ता वैयाकरणों ने मानी हैं पूज्य, महावैयाकरण गुरुदेव श्री सभापति शर्मा उपाध्याय विरचित वैयाकरण लघु मञ्जूषा की रत्न प्रभा में इसका विस्तार है ।

५३६ कर्तुरीप्सिततमं कर्म १।४।४९।

कर्तुः क्रियया आप्तुमिष्टतमं कारकं कर्म संज्ञं स्यात् । कर्तुः किम् , माषेष्वश्वं बध्नाति, कर्मण ईप्सिता माषा न कर्तुः । तमप्ग्रहणं किम् , पयसा ओदनं भुङ्क्ते । कर्मेत्यनुवृत्तौ पुनः कर्मग्रहणमाधारनिवृत्त्यर्थम् । अन्यथा गेहं प्रविशतीत्यत्रैव स्यात् ।

कर्ता में रहने वाला जो प्रकृतधात्वर्थ व्यापार उस व्यापार से उत्पन्न जो फल उस फल का जो फलतावच्छेदक सम्बन्ध से आश्रय उससे सम्बन्ध करने को जो अत्यन्त इष्ट उसकी कारक संज्ञा पूर्वक कर्म संज्ञा होती है । धात्वर्थ दो है—फल एवं व्यापार, व्यापार का जनक कर्ता आदि है, व्यापार जन्य है, एवं जनक भी है, फल जन्य है वह व्यापार से उत्पन्न होता है । व्यापार का अनाश्रय होते हुए जो फलाश्रय है उसकी कर्मसंज्ञा होती है । अन्य कारक से अनधीन व्यापाराश्रय की कर्तृसंज्ञा ।

'चैत्रो ग्रामं गच्छति' यहां गम् धात्वर्थ व्यापाराश्रय चैत्र है । चैत्र निष्ठ क्रिया जन्य फल संयोग है, संयोगाश्रयत्व से अतिशय सम्बन्ध करने को इष्ट ग्राम है उसकी कारक संज्ञा कर कर्म संज्ञा हुई, कर्म वाचक प्रातिपदिक से द्वितीया होकर चैत्रो ग्रामं गच्छति व्यापार का अनधिकरण संयोगाश्रय चैत्र नही, किन्तु ग्राम ही है । इस प्रकार अन्य ज्ञान करना चाहिये । यहां जिस वाक्य का घटक पद के अर्थ की कर्म संज्ञा अभिप्रेत है, उस वाक्य में

उच्चरित जो धातु उसका ही वाच्य व्यापार लेना चाहिए, अन्य अनुच्चारित धात्वर्थ व्यापार नहीं यहां गृहीत होता है।

सूत्र में 'कर्तुः' ग्रहण न करने पर माषेषु अश्वं बध्नाति, यहां अश्व निष्ठ भक्षण क्रिया जन्य फलाश्रयत्वेन सम्बन्ध करने को इष्ट माषों की कर्म संज्ञा होकर माषान् अश्वं बध्नाति यह होने लगेगा। कर्तुः ग्रहण करने पर यहां बन्धन क्रिया कर्ता क्षेत्र का स्वामी है। उसमें रहने वाली क्रिया बन्धन है उसका फलाश्रय अश्व है, उसकी ही कर्म संज्ञा हुई है अश्व तो यहां कर्म है उसको माषभक्षण इष्ट है। "कर्मणः ईप्सिता माषा न कर्तुः" इसने यही सूचित किया।

तमप्ग्रहण सूत्र में क्यों किया इस प्रश्नकर्ता का यह अभिप्राय है की 'कर्तुरुद्देश्यं कर्म' यही सूत्र करो ईप्सित युक्त तमप् ग्रहण क्यों किया? अर्थात् 'ईप्सिततम' क्यों किया ?, इस प्रश्न के उत्तरदाता ईप्सित एवं तमप् दोनों की आवश्यकता सिद्ध करें। जहां कर्ता भोजन कर चुका था किन्तु उसको भोजनार्थ पुनः प्रवृत्त करने के लिए पयोलाभ की लालच अन्य कोई देता है उस स्थल में 'पयसा ओदनं भुङ्क्ते' यहां भोजन कर्ता का उद्देश्यभूत पय है उसकी कर्म संज्ञा न हो एतदर्थ ईप्सित ग्रहण किया है, फलाश्रयत्व से सम्बन्ध को इष्ट ओदन है पय नहीं। तमप् ग्रहण न करने पर वारणार्थानाम् ईप्सितः एवं सूत्र का समान विषय होगा ऐसी परिस्थिति में "अग्नेर्माणवकं वारयति" यहां अग्नि की कर्म संज्ञा होगी, यदि अपादान संज्ञा विशेष से इसका बाध होगा तो माणवक की भी अपादान संज्ञा कर अग्नेर्माणवकात् वारयति यह अनिष्ट रूप रूप आपत्ति होगी, तमप् करने पर अतिशय इष्ट की कर्म संज्ञा, केवल इष्ट की अपादान संज्ञा यह विषय विभाग हुआ कोई दोष नहीं है। यहां फल पद से धातु वाच्य फल गृहीत है, अन्य नहीं।

'अधिशीङ्' सूत्र से कर्म की अनुवृत्ति यहां आती पुनः कर्म ग्रहण क्यों किया ?, वहां से कर्म आधार संयुक्त आता तो आधार भूत की कर्म संज्ञा होती गेहं प्रविशति वह गेह प्रवेशन क्रिया जन्य संयोग का आधार है। किन्तु हरिं भजति, पुस्तकं चैत्रः पठति वहां हरि एवं पुस्तक आधार भूत कर्म नहीं उसकी कर्म संज्ञा न होगी अतः आधारभूत अनाधार भूत फलाश्रय की कर्म संज्ञार्थ कर्म ग्रहण सार्थक है। भीष्मं कटं कुरु, करिष्यति, स्थल में भी कर्मत्वाय यहां वर्तमानकाल ईप्सित में अविवक्षित है।

५३७ अनभिहिते २।३।१।

इत्यधिकृत्य।

यह अधिकार सूत्र है, विभक्ति विधायक अग्रिम सूत्रों में इसकी अनुवृत्ति होती है। अभिहित कथित को कहते हैं। अनभिहित = अनुक्त = अकथित समानार्थक शब्द है। किन से अनुक्त इसका स्पष्टीकरण आगे किया जायगा।

५३८ कर्मणि द्वितीया २।३।२।

अनुक्ते कर्मणि द्वितीया स्यात्। हरिं भजति। अभिहिते तु कर्मणि 'प्रातिपदिकार्थमात्रे' इति प्रथमैव। अभिधानन्तु प्रायेण तिङ्कृत्तद्धितसमासैः। तिङ्—हरिः सेव्यते कृत्—लक्ष्म्या सेवितः। तद्धितः—शतेन क्रीतः शत्यः समासः—प्राप्त आनन्दो यं स प्राप्तानन्दः। क्वचिन्निपातेनाभिधानम्, यथा—विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्। साम्प्रतमित्यस्य हि युज्यत इत्यर्थः।

अनुक्त कर्म संज्ञा वाचक शब्द से द्वितीया विभक्ति उत्पन्न होती है। भक्त हरि की सेवा करता है भक्तो हरिं भजति, यहां भक्त निष्ठ व्यापार से उत्पन्न प्रीति रूप फलाश्रय हरि की कर्म संज्ञा है, तद् वाचक हरि शब्द से द्वितीया विभक्ति हुई। कर्तृ-कर्मादि संज्ञाएं अर्थ की होती है, उसका वाचक केवल शब्द है, उसी प्रकार कारक संज्ञा भी अर्थ की है शब्द वाचक है (अर्थस्येयं संज्ञा न शब्दस्य)। जहां कर्मादि का अभिधान रहे वहां प्रथमा विभक्ति ही होगी। प्रांय करके अभिधान तिङ् एवं कृत् तथा तद्धित एवं समास से होता है एक-एक उदाहरण का यहां प्रदर्शन ज्ञानवृद्ध्यर्थ किया है, अन्यत्र स्वयं जानना चाहिये।

यथा—१ तिङ्—'हरि सेव्यते' (चैत्रेण) यह कर्मणि प्रयोग है। यहां लट् लकार कर्म में है जिस अर्थ में जो होता है, उसका वह अर्थ है, लकार का कर्म रूप अर्थ है उसके स्थान में जायमान 'त' प्रत्यय का भी कर्म अर्थ है, स्थानी के अर्थ बोधन करने में समर्थ हो वही आदेश होता है। हरि रूप कर्म त प्रत्यय से उक्त है अतः हरि से प्रथमा, यहां कर्ता अनुक्त है अतः कर्तृ वाचक से तृतीया (चैत्रेण)।

२—कृत्—'लक्ष्म्या सेवितो हरिः' यहां लक्ष्मी कर्त्री है अनुक्त होने से उससे तृतीया सेवित में कृत्प्रत्यय क्त कर्म में विहित है उससे हरि रूप कर्म उक्त है अतः कर्म वाचक से प्रथमा।

३—तद्धित—शतेन क्रीतः शत्यः यहां क्रयण (खरिद करने में) करने में शत प्रकृष्ट उपकारक है वह करण है 'शतेन' में करण में तृतीया है, तद्धित प्रत्यय यत् कर्मार्थिक है उससे क्रयण कर्म अश्वादि उक्त है अतः प्रथमा हुई है 'क्रीतम् अश्वम्' न हुआ।

४—समास—'प्राप्तः आनन्दः यं सः' यहां प्राप्ति कर्म आनन्द समास से उक्त है अतः प्राप्तम् आनन्दम् न हुआ।

५—विषवृक्षोऽपि यहां सवर्धन क्रिया कर्म विषवृक्ष से द्वितीया प्राप्त थी 'विषवृक्षम्' होना चाहिये किन्तु अपि निपात अनेकार्थक है उससे यहां कर्मरूप अर्थ उक्त है, अतः प्रथमा विभक्ति हुई है। विषवृक्ष का पौधा लगाकर वह वृक्षाकार प्रवृद्ध हुआ। उसका स्वयं काटना अनुचित है, वह राक्षस हमसे ही वरदान प्राप्त कर वृद्धिगत हुआ है उसका मैं कैसे नाश करू यह तो सर्वथा अनुचित है यह श्री शङ्करोक्ति तारकासुर सम्बन्ध में देवगण समक्ष पुरा कहीं गई थी। इसी प्रकार "क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः" इस प्रकार गुजरात प्रान्त के कविवर माघ कवि की रचना में ज्ञानाश्रय नारद की कर्मसंज्ञा न हुई इति निपात से कर्म अर्थ उक्त है।

५३९ तथायुक्तं चानीप्सितम् १।४।५०।

ईप्सिततमवदनीप्सितमपि कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्। ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति। ओदनं भुञ्जानो विषं भुङ्क्ते।

ईप्सिततम के समान क्रिया युक्त अनीप्सित कारक की भी कर्म संज्ञा होती है। यथा गांव को जाता हुआ मार्गस्थ तृण का स्पर्श करता है, यहां तृण स्पर्श ईप्सित नहीं है किन्तु मध्यमार्ग स्थित होने से उसका स्पर्श अनिच्छया भी हो जाता है—यथा 'ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति'। शत्रु के घर में धोखे से भात खाते विष भी खा लेता है, यह विष ईप्सित नहीं है तो भी कर्म संज्ञा हुई, यथा—ओदनं भुञ्जानो विषं भुङ्क्ते। जहां असाध्य रोग से पीडित जन मरण को ही अपना श्रेयः साधन मान कर इच्छा से विष का पान करता है वहां तो विषं भुङ्क्ते में विष ईप्सिततम ही है।

५४० अकथितञ्च १।४।५१।

अपादानादिविशेषैरविवक्षितं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्।

"दुह्याच्पच्दण्डरुधिप्रच्छिचिब्रूशासुजिमथ्मुषाम्।
कर्मयुक् स्यादकथितं तथा स्यान्नीहृकृष्वहाम्" ॥ १ ॥

दुहादीनां द्वादशानां नीप्रभृतीनां चतुर्णां कर्मणा यद्युज्यते तदेवाकथितं कर्मेति परिगणनं कर्तव्यमित्यर्थः। गां दोग्धि पयः। बलिं याचते वसुधाम्। अविनीतं विनयं याचते। तण्डुलान् ओदनं पचति। गर्गान् शतं दण्डयति। व्रजमवरुणद्धि गाम्। माणवकं पन्थानं पृच्छति। वृक्षमवचिनोति फलानि। माणवकं धर्मं ब्रूते शास्ति वा। शतं जयति देवदत्तम्। सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति। देवदत्तं शतं मुष्णाति। ग्राममजां नयति, हरति, कर्षति, वहति वा।

अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा। बलिं भिक्षते वसुधाम्। माणवकं धर्मं भाषते अभिधत्ते वक्ति इत्यादि। कारकं किम्, माणवकस्य पितरं पन्थानं पृच्छति। ॐ अकर्मकधातुभिर्योगे देशः कालो भावो गन्तव्योऽध्वा च कर्मसंज्ञक इति वाच्यम् ॐ। कुरून् स्वपिति। मासमास्ते। गोदोहमास्ते। क्रोशमास्ते।

अपादान आदि विशेष से अविवक्षित कारक की कर्म संज्ञा होती है। उन संज्ञाओं की विवक्षा जहां न रहे उसको अकथित कहते हैं। कर्ता में लकार करने पर कर्म अनुक्त होने से उस कर्म को भी अकथित कहते हैं उससे द्वितीया विभक्ति होती है। अकथित कर्म प्रदर्शनार्थ यह कारिका है—'दुह्याच्'।

कारिका में उल्लिखित १६ धातुओं की वाच्य क्रियाएँ से उत्पन्न फलों के आश्रयभूत अर्थों की कर्म संज्ञा तो 'कर्तुरीप्सिततम्' करेगा। वह कर्म इन धातु वाच्य व्यापारों का प्रधान कर्म कहा जाता है, उन प्रधान कर्मों से योग रखने वाला अपादादि विशेष से अविवक्षित कारक की कर्मसंज्ञा इससे होती है यह गौण = अप्रधान कर्म कहा जाता है, इस ज्ञान की आगे आवश्यकता पड़ेगी, किस कर्म में किससे लकार हो उस समय "गौणे कर्मणि"। गौ दुह्यते पयः। अजा ग्रामं नीयते।

१—गाय से दूध दोहता है यहां अलगाव में पञ्चमी अपादान से होनी चाहती थी किन्तु कारक विवक्षाधीन है अपादानत्वेन गौ की विवक्षा न की इससे कर्म संज्ञा—गां दोग्धि पयः।

२—बलिराज से पृथ्वी मांगता है यहां वसुधा कर्म से सम्बद्ध बलि का अपादानत्वेन अविवक्षा है, कर्म संज्ञा से द्वितीया-बलिं याचते वसुधाम्।

३—अविनीत से विनय की याचना करता है, यहां अविनीत की अपादानत्वेन अविवक्षा से इससे कर्म संज्ञा हुई। अविनीतं विनयं याचते।

४—चावल से भात पकाता है, यहां तण्डुल की इससे कर्म संज्ञा तण्डुलान् ओदनं पचति।

५—गर्गों से सौ रुपये दण्ड रूप में ग्रहण करता है, यहां गर्ग की अपादानत्वेन अविक्षा से इससे कर्म संज्ञा कर 'गर्गान् शतं दण्डयति'। वास्तविक में महान् पूज्य गर्ग अदण्ड्य है किन्तु वैदुष्यप्रयुक्त वैमनस्य के कारण यह उक्ति एवं गगशतदण्डन न्याय हैं।

६—व्रज में गाय को रोकता है यहां व्रज वास्तविक में अधिकरण रहा किन्तु अधिकरणत्वेन विवक्षा न करने से इस सूत्र से कर्म संज्ञा होकर व्रजं गाम् अवरुणद्धि।

७—बालक से मार्ग पूंछता है यहां बालक की कर्म संज्ञा—माणवकं पन्थानं पृच्छति।

८—वृक्ष से फलों को बटोरता है यहां वृक्ष की अपदान संज्ञा की विवक्षा नहीं कर्म संज्ञा से वृक्षम् अवचिनोति फलानि।

९—बालक के लिए धर्म देता है या उपदेश करता है यहां दानार्थ धातु है तो बालक को सम्प्रदानत्व की अविवक्षा, एवं कर्मत्वेन विवक्षा से द्वितीया माणवकं धर्मं ब्रूते शास्ति इति वा।

१०—देवदत्त को जीत कर उससे सौ रुपये लेता है यहां देवदत्त की अपादानत्वेन अविवक्षा है, कर्म संज्ञा इससे शतं जयति देवदत्तम्।

११—सुधा = अमृत के लिए समुद्र का मन्थन करता है यहां सम्प्रदानत्वेन सुधा की अविवक्षा से कर्म संज्ञा—सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति।

१२—देवदत्त को ठग कर सौ रुपये ग्रहण करता है यहां देवदत्त की अपादानत्व से अविवक्षा है इस कर्म संज्ञा—देवदत्तं शतं मुष्णाति मुष्का चोरी करना भी अर्थ है।

१३, १४, १५, १६—गांव से बकरी को ले जाता है, गांव से बकरी का अपहरण करता है, या कर्षण करता है, या गांव से हरण करता है। यहां अधिकरणत्वेन अविवक्षा कर्मत्वेन विवक्षा, अजां ग्रामं नयति, हरति आदि।

पूर्वोक्त १६ धातुओं के अर्थ के समानार्थक (पर्य्याय वाचक) धातुओं के योग में भी अकथितञ्च सूत्रविहित कर्म संज्ञा होती है।

इसमें भाष्य प्रमाण है यथा—तद्राजस्य २।४।६२ सूत्र भाष्य में पृच्छ धातु के पर्य्याय चुद् धातु को द्विकर्मक कहा गया है। "यो हि उभयोर्दोषो न तत्रैकश्चोद्यो भवति इस प्रसङ्ग को लेकर अचोद्यं मां त्वं चोदयसि, अहमपि त्वां किमचोद्यं चोदयामि। यहां चुद् धात्वर्थ पृच्छार्थक है इससे याच् समानार्थभिक्ष, ब्रूसमानार्थक भाष, अभिपूर्वकवच्, इनके योग में भी इससे कर्म संज्ञा हुई है। माणवकस्य यहां षष्ठी कारक विभक्ति नहीं है।

* अकर्मक धातुओं के योग में देश, काल, क्रिया एवं गमन करने योग्य मार्ग की कर्म संज्ञा होती है।

१—कुरून् स्वपिति, यहां स्वप् धातु शयनार्थक अकर्मक है। उसके योग में देश=कुरु नामक देश की कर्म संज्ञा हुई एवं कर्म वाचक कुरु शब्द से द्वितीया विभक्ति से 'कुरून्'। काल में मासमास्ते यहां मास की कर्म संज्ञा, आस् धातु अकर्मक है। भाव का उदाहरण गोदोहमास्ते यहां गोदोहन क्रिया से स्थिति क्रिया का काल ज्ञान है। अध्वा का उदाहरण क्रोशमास्ते यहां क्रोश रूप मार्ग की कर्म संज्ञा।

५४१ गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणाम् अणि कर्ता स णौ १।४।५२।

गत्याद्यर्थानां शब्दकर्मकाणाम् अकर्मकाणां चाणौ यः कर्ता स णौ कर्म स्यात्।

"शत्रूनगमयत्स्वर्गं वेदार्थं स्वानवेदयत्।
आशयच्चामृतं देवान् वेदमध्यापयेद् विधिम्॥ १॥
आसयत्सलिले पृथ्वीं यः स मे श्रीहरिर्गतिः।

गतीत्यादि किम्?, पाचयत्योदनं देवदत्तेन। अण्यन्तानां किम्; गमयति देवदत्तो यज्ञदत्तं तमपरः प्रयुङ्क्ते, गमयति देवदत्तेन यज्ञदत्तं विष्णुमित्रः।

❀ नीवह्योर्न ❀। नाययति वाहयति वा भारं भृत्येन। ❀ नियन्तृकर्तृकस्य वहेरनिषेधः ❀। वाहयति रथं वाहान् सूतः। ❀ अदिखाद्योर्न ❀। आदयति खादयत्यन्नं बटुना।

❀ भक्षेरहिंसार्थस्य न ❀। भक्षयति बलीवर्दान् सस्यम्। ❀ जल्पतिप्रभृतीनामुपसंख्यानम् ❀। जल्पयति भाषयति पुत्रं देवदत्तः। ❀ दृशेश्च ❀। दर्शयति हरिं भक्तान्। सूत्रे ज्ञानसामान्यार्थानामेव ग्रहणम्, न तु तद्विशेषार्थानामित्यनेन ज्ञाप्यते। तेन स्मरति जिघ्रति इत्यादीनां न। स्मारयति घ्रापयति वा देवदत्तेन।

❀ शब्दायतेर्न ❀। शब्दाययति देवदत्तेन। धात्वर्थसंगृहीतकर्मत्वेनाकर्मकत्वात् प्राप्तिः। येषां देशकालादिभिन्नं कर्म न सम्भवति तेऽत्राकर्मका न त्वविवक्षितकर्माणोऽपि। तेन मासमासयति देवदत्तमित्यादौ कर्मत्वं भवत्येव। देवदत्तेन पाचयतीत्यादौ तु न।

गति अर्थ वाले, ज्ञानार्थक, भक्षणार्थक, शब्दरूप कर्मकारक वाले एवं अकर्मक इन धातुओं की क्रियाओं का जो प्रयोज्यकर्ता वह ण्यन्त इन धातुओं के योग में कर्म संज्ञक होता है। (णिचि अनुत्पन्ने यः कर्ता का अर्थ है शुद्ध धात्वर्थ क्रिया का कर्ता = प्रयोज्य कर्ता)। "शत्रवः स्वर्गम् अगच्छन्, तान् श्रीहरिः स्वर्गम् अगमयत्" यहां गत्यर्थक गम् धातु वाच्य क्रिया का कर्ता शत्रवः है वे अण्यन्तावस्था के कर्ता हैं, उनकी णिजन्त काल में कर्म संज्ञा से शत्रून्।

स्वे = स्वकीया वेदार्थम् अविदुः तान् श्रीहरिर्वेदार्थम् अवेदयत्। यहां ज्ञानार्थक धातु के अण्यन्त कर्ता (स्वे) है उसकी ण्यन्त काल में कर्म संज्ञा (स्वान्) हुई है।

देवा अमृतम् आश्नन् तान् आशयत्। यहां भक्षणार्थ धातु के अणिजन्तकर्ता देवा को णिजन्त काल में कर्म संज्ञा से देवान्।

विधिः वेदमध्यैत तं वेदमध्यापयत्। यहां शब्द कर्म कारक वाले धातु के अण्यकर्ता विधिः है उसकी ण्यन्तकाल में कर्म संज्ञा से 'विधिम्' हुआ है। पृथ्वी सलिले आस्ते तां हरिः आशयत्। यहां अकर्मक आस् धातु के अण्यन्त कर्त्री पृथ्वी की ण्यन्त काल में कर्म संज्ञा से पृथ्वीम्।

श्लोकार्थ—शत्रुगण स्वर्ग गये उनको श्रीहरि ने प्रेरणा दी। आत्मीय पुरुषों ने वेदार्थ का ज्ञान किया उनका श्रीहरि ने प्रेरणा दी, देवताओं ने अमृत पान किया उनको पान करवाया हरि ने, ब्रह्मा ने वेद पढ़ा उसमें श्री हरि प्रेरक रहे। पृथ्वी जल में डुबी थी, उसमें प्रेरक हरि थे वे हरि मेरे रक्षक हैं या मैं उनका शरणागत हूँ।

१—गम्धात्वर्थ संयोगजनक व्यापार है, ण्यन्त का संयोगजनक व्यापारजनक व्यापार अर्थ है।

२—विद् धात्वर्थ ज्ञानजनक व्यापार है, ण्यन्त का ज्ञानजनक व्यापारजनक व्यापार अर्थ है।

३—अश् धात्वर्थ गलबिलाधः संयोगजनक व्यापार है, ण्यन्त का गलबिलाधः संयोगजनक व्यापारजनक व्यापार अर्थ है।

४—इङ्धात्वर्थ अध्ययनजनक व्यापार है, ण्यन्त का अध्ययन जनक व्यापारानुकूल व्यापार अर्थ है।

५—आस्धात्वर्थ स्थित्यनुकूल व्यापार है, ण्यन्त का स्थित्यनुकूल व्यापार जनक व्यापार अर्थ है।

यहां धात्वर्थ के भीतर अनुकूल शब्द का अर्थ जनक है। शुद्ध गम् धात्वर्थ फल संयोग है। ण्यन्त गम् का फल संयोग जनक व्यापार है। विद्धात्वर्थ फल ज्ञान है, ण्यन्त विद् का ज्ञानजनक व्यापार जनक व्यापार है। उसका फल ज्ञान जनक व्यापार है। अश्धात्वर्थ फल गलबिलाधः संयोग है। ण्यन्त अश् का गलबिलाधः संयोग जनक व्यापार फल है। इङ्धात्वर्थ फल अध्ययन है, ण्यन्त इङ् धात्वर्थ फल अध्ययन जनक व्यापार है। आस् धातु का फल स्थिति है, ण्यन्त अस् का फल स्थित्यनुकूल व्यापार है। ण्यन्तस्थल में प्रयोजक व्यापार का फल प्रयोज्य निष्ठ व्यापार होता है सर्वत्र।

यहां शङ्का करते हैं कि णिच् रहित शुद्ध धात्वर्थ फल की कर्म संज्ञा 'कर्तुरीप्सिततम्' से होती है उसी प्रकार ण्यन्तस्थल में द्वितीय व्यापार का प्रथम व्यापार को फल मानकर प्रयोज्य कर्तृ संज्ञक शत्रु आदि की कर्म संज्ञा भी 'कर्तुरीप्सिततम्' से हो जायगी पुनः 'गतिबुद्धि' यह सूत्र क्यों किया ?, यह व्यर्थ होकर नियमार्थ है, नियम इस प्रकार है ण्यन्त व्यापार प्रयोज्य व्यापाराश्रय की कर्म संज्ञा हो तो गत्याद्यर्थक ण्यन्त धातुओं जो सूत्र में उच्चरित है इनके योग में ही, अन्यत्र नहीं।

इस नियम से ण्यन्त पाचि धात्वर्थ द्वितीय व्यापार का जो प्रथम व्यापार फल है उसका जो आश्रय प्रयोज्यकर्ता देवदत्तादि है उनकी कर्म संज्ञा न हुई अतः इस प्रकार के प्रयोज्य कर्ता से तृतीया ही होगी यथा देवदत्तः पचति तं पचन्तं देवदत्तं चैत्रः प्रेरयति यहां पच् धात्वर्थ विक्लित्यनुकूल-व्यापार अर्थ है ण्यन्त का विक्लित्यनुकूल व्यापार जनक व्यापार अर्थ है, यहां द्वितीय व्यापार का प्रथम व्यापाराश्रय देवदत्त प्रयोज्य कर्ता है नियम से कर्म संज्ञा न हुई 'देवदत्तेन' तृतीयान्त प्रयोग हुआ।

विमर्श—अण्यन्तानाम् किम्—यज्ञदत्त जाता है उसको देवदत्त प्रेरणा करता है प्रेरक देवदत्त को विष्णुमित्र प्रेरणा करता है। इस अर्थ में अण्यन्तावस्था का कर्ता यज्ञदत्त उसकी कर्म संज्ञा होती है किन्तु ण्यन्तावस्था का कर्ता देवदत्त की कर्म संज्ञा न हो जाय इसके लिए सूत्र में अण्यन्त कहा है। यहां दो णिच् है, अतः तीन व्यापार घटित धात्वर्थ हैं—संयोग जनक व्यापार जनक व्यापार जनक व्यापार यह ण्यन्त द्वय युक्त गम् धात्वर्थ हुआ, संयोगरूप फलाश्रय ग्रामादि होता है, द्वितीय देवदत्त निष्ठ व्यापार का फलाश्रय यज्ञदत्त है, उसकी कर्म संज्ञा हुई है। तृतीय व्यापार का द्वितीय व्यापार रूप फलाश्रय देवदत्त है, किन्तु णिच् उत्पन्न होने पर वह कर्ता है, उससे तृतीया हुई, तृतीय व्यापाराश्रय विष्णुमित्र है, उसकी कर्तृ संज्ञा से प्रथमा हुई इसको संस्कृत "यज्ञदत्तो गच्छति तं देवदत्तः प्रेरयति तं विष्णुमित्रः प्रेरयति इति यज्ञदत्तं देवदत्तेन गमयति विष्णुमित्रः।

इस सूत्र में ईप्सिततम की अनुवृत्ति है अतः यह भी फलाश्रय की ही कर्म संज्ञा करता है, इस लिए देवदत्तादि को तृतीय व्यापार का द्वितीय व्यापार रूप फलाश्रय बनाने के लिए दो वार ण्यन्त-पर्य्यन्त अनुधावन यहां किया है। एक ण्यन्त से देवदत्त फलाश्रय नहीं होगा। विध्यर्थ नियमार्थ का अधिक विवेचन पद्मोल्लिकृत वै० सि० कौ० की संस्कृत लक्ष्मी व्याख्या से अवगत करना।

* ण्यन्त नी एवं ण्यन्त वह इनके योग में प्रयोज्य कर्ता की गतिबुद्धि से कर्म संज्ञा नहीं होती है गति के विना प्रापण सम्भव नहीं है अतः इन दोनों को भी गत्यर्थकत्व मानना आवश्यक है। सेवक भार को वहन करता है, उसको चैत्र प्रेरणा करता है, यहां भृत्य प्रयोज्य कर्ता की कर्म

संज्ञा न हुई भृत्यो भारं वहति नयति वा तं चैत्रः प्रेरयति इति नाययति वाहयति भारं भृत्येन चैत्रः।

* पशु प्रेरक ण्यन्त क्रिया का कर्ता = प्रयोजक कर्ता रहे, वहां ण्यन्त वह धातु के योग में प्रयोज्य कर्ता की कर्म संज्ञा का निषेध का निषेध होता है अर्थात् कर्म संज्ञा होती है। 'वाहाः रथं वहन्ति तान् सूतः = पशुप्रेरणः प्रेरयति' = वाहयति वाहान् रथं सूतः। अश्व रथ को वहन करते हैं उनको पशु प्रेरक रथ चलाने वाला प्रेरणा करता है।

* ण्यन्त भक्षणार्थक अद् धातु एवं भक्षणार्थ ण्यन्त खाद् धातु उनके योग में अण्यन्तावस्था का कर्ता = प्रयोज्य कर्ता उसकी कर्म संज्ञा नहीं होती है। अतः प्रयोज्य कर्तृ वाचक से तृतीया विभक्ति होती है। बटुः अन्नम् अत्ति = खादति तं कमलेशः प्रेरयति इति आदयति खादयति वा अन्नं बटुना कमलेशः। * अहिंसार्थक भक्षधातु ण्यन्त के योग में यह प्रतिषेध लगता है अर्थात् प्रयोज्य की कर्म संज्ञा नहीं होती है। हिंसार्थक ण्यन्त भक्ष के योग में प्रयोज्य की कर्म संज्ञा होती है। अहिंसार्थक में बटुना।

हिंसार्थक में यथा—बलीवर्दाः सस्यम् भक्षयन्ति तान् अन्यः प्रेरयति इति इसमें प्रयोज्य कर्ता बलीवर्द की कर्म संज्ञा से बलीवर्दान् हुआ है। बैल घास खाते हैं उनको दूसरा प्रेरणा करता है। * जल्पति सदृश ण्यन्त धातुओं के योग में प्रयोज्य कर्ता की कर्म संज्ञा होती है। पुत्र धर्म विषयक बोलना है, या भाषण करता है उसको देवदत्त प्रेरणा करता है। यहां पुत्र जो प्रयोज्य कर्ता है उसकी कर्म संज्ञा अप्राप्त रही उसका विधान इस वार्तिक ने किया है। * ण्यन्त दृश्धातु के योग में प्रयोज्य कर्ता की अप्राप्त कर्म संज्ञा को यह विधान करता है। भक्त हरि को देखते हैं उनको चैत्र प्रेरणा करता है। यहां प्रयोज्य कर्ता भक्त की कर्म संज्ञा से 'भक्तान्' हुआ।

'गतिबुद्धि' सूत्र में बुद्ध्यर्थक = ज्ञानार्थक का जो ग्रहण किया गया है। वहां सामान्य ज्ञानार्थक धातुओं का ही ग्रहण है विशेष इन्द्रिय जन्य ज्ञानार्थक को ग्रहण नहीं है। इस विशेष वचन का यह वार्तिक 'दृशेश्च' ज्ञापक है। अन्यथा यह व्यर्थ होगा। इस ज्ञापन का यह फल है कि—देवदत्तः स्मरति जिघ्रति वा तम् चैत्रः प्रेरयति यहां देवदत्त प्रयोज्य कर्ता की ज्ञान विशेषार्थक स्मृ एवं घ्रा ण्यन्त के योग में कर्म संज्ञा न हुई देवदत्तेन हुआ। स्मरण, एवं सूंघना का व्यापार विशेष ज्ञान स्वरूप है। क्योंकि चिन्तन एवं गन्ध ग्रहण विशेष इन्द्रिय से जन्य है। * देवदत्तः शब्दं करोति यहां क्यङ् से णिच् प्रत्यय से शब्द रूप कर्म 'शब्दाययति' शब्द के कुक्षिप्रविष्ट है, 'शब्दाययति' अकर्मक है उसके योग में प्रयोज्य कर्ता देवदत्त की अकर्मक धातु के योग में गतिबुद्धि से कर्म संज्ञा प्राप्त थी उसका इस वार्तिक ने निषेध किया—शब्दाययति देवदत्तेन। देवदत्त शब्द की इच्छा करता है। उसको रमेश प्रेरणा करता है।

गतिबुद्धि सूत्र में अकर्मक पद से किन धातुओं का ग्रहण करना ?, गत्यादि धातु सकर्मक है नियम सजातीय की अपेक्षा कर "सकर्मक ण्यन्त धातुओं के योग में प्रयोज्य कर्ता की कर्म संज्ञा हो तो गत्याद्यर्थक सूत्रोपात्त धातुओं के योग में ही" अकर्मक धातुओं में पूर्वसूत्र से ण्यन्त योग में प्रयोज्य की कर्म संज्ञा हो ही जावेगी। पुनः सूत्र में अकर्मक का ग्रहण क्यों किया ? वह व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि देश, काल, भाव, गन्तव्य अध्वा इनको छोड़ कर द्रव्य रूप कर्म जिनका न रहे, वे गतिबुद्धि में अकर्मक धातु पद बोध्य है। अन्य नहीं, अतः द्रव्य कर्म है उसकी अविवक्षा करके अकर्मक धातुओं का वहां ग्रहण नहीं होता है। अतः देवदत्तः पचति तं चैत्रः प्रेरयति यहां तण्डुलादि कर्म की अविवक्षा करने पर भी पच् अकर्मक नहीं अतः "देवदत्तेन पाचयति"

यही होता है। मास रूप कर्म रहते हुए भी अकर्मक कहा गया अतः 'मासम् आसयति देवदत्तम्' यह प्रयोग हुआ।

५४२ हृक्रोरन्यतरस्याम् १।४।५३।

हृक्रोरणौ यः कर्ता स णौ वा कर्मसंज्ञः स्यात्। हारयति कारयति वा भृत्यं भृत्येन वा कटम्। ❀ अभिवादिदृशोरात्मनेपदे वेति वाच्यम् ❀। अभिवादयते दर्शयते देवं भक्तं भक्तेन वा।

ण्यन्त हृ एवं कृ धातु के योग में अण्यन्तावस्था का कर्ता = प्रयोज्य कर्ता उसकी कर्म संज्ञा विकल्प से होती है। यह प्राप्ताप्राप्त विभाषा है, उत्पत्त्यनुकूल व्यापारानुकूल व्यापारार्थक ण्यन्त-कारि के योग में गतिबुद्धि नियम से प्रयोज्य की कर्म संज्ञा अप्राप्त थी उसका यह कर्मत्व विधान करता है। प्रापणा (वहन) नुकूल व्यापारानुकूल व्यापारार्थक ण्यन्त 'हारि' के योग में भी गति-बुद्धि नियम से 'कर्तुरीप्सिततमम्' से कर्मत्व अप्राप्त को यह कर्मत्व विधायक है अतः इसको अप्राप्त विभाषात्व सिद्ध हुआ। विकारार्थक कृधातु अकर्मक है, एवं अभ्यवहार = भोजन अर्थ में भक्षणार्थत्व होने के कारण 'गति' सूत्र से कर्म संज्ञा प्रयोज्य की ण्यन्त योग में प्राप्त है। नियामक शास्त्र की विधि मुख से प्रवृत्ति होती है। निषेधमुखेन प्रवृत्ति काचित्क अगतिकगति स्थल में जहां नियामक शास्त्र की वैयर्थ्य सम्भावना होती है वहां ही प्रवृत्ति है।

इस प्रकार यह प्राप्त विभाषा दोनों पक्षों से प्राप्ताप्राप्त विभाषात्व इस सूत्र में सिद्ध हुआ है। उदाहरण हारयति कारयति वा भृत्यं भृत्येन वा कटम् यहां भृत्य की कर्म संज्ञा विकल्प से हुई। * आत्मनेपदी अभिपूर्वक वद् एवं दृश धातु ण्यन्त रहे अण्यन्त प्रयोज्य कर्ता की कर्म संज्ञा विकल्प से होती है। भक्तः देवं अभिवदति, पश्यति वा तं चैत्र प्रेरयति यहां भक्त जो प्रयोज्य कर्ता है उसको ण्यन्त धातु के योग में कर्मत्व वैकल्पिक से भक्तम्, भक्तेन हुआ।

५४३ अधिशीङ्स्थासां कर्म १।४।४६।

अधिपूर्वाणामेषामाधारः कर्म स्यात्। अधिशेते, अधितिष्ठति अध्यास्ते वा वैकुण्ठं हरिः।

अधि उपसर्ग पूर्वक शीङ्, स्था एवम् आस् इन धातुओं की वाच्य क्रियाओं का जो कर्म द्वारा आधार कारक की कर्म संज्ञा होती है सूत्र में तीन धातुओं का द्वन्द्व समास है; द्वन्द्व के पूर्वत्वेन समीप अधि का प्रत्येक धातु से यहां योग है, "द्वन्द्वान्ते (द्वन्द्वसमीपे) श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभि-सम्बध्यते" इससे। स्पष्ट सूत्रार्थ इस प्रकार है—अधि पूर्वक शीङ् अधि पूर्वक स्था एवं अधि पूर्वक आस् इनका वाच्य जो व्यापार उससे उत्पन्न होने वाला जो फल, उसका जो आधारभूत आश्रय उस कारक की अधिकरण संज्ञा को बाध कर यह कर्म संज्ञा करता है। वैकुण्ठ में हरि शयन करते हैं, या रहते हैं, एवं विद्यमान है, वैकुण्ठ की कर्म संज्ञा हुई है।

५४४ अभिनिविशश्च १।४।४७।

'अभिनि' इत्येतत्सङ्घातपूर्वस्य विशतेराधारः कर्म स्यात्। अभिनिविशते सन्मागम्। 'परिक्रयणे सम्प्रदानम्' इति सूत्रादिह मण्डूकप्लुत्याऽन्यतरस्यां ग्रहणमनुवर्त्य व्यवस्थितविभाषाश्रयणात् क्वचिन्न। पापे अभिनिवेशः।

'अभिनिवश्' इस समूह पूर्वक विश् धातु के आधार की कर्म संज्ञा होती है। अभिनिवेश = आग्रह। सन्मार्ग विषयक आग्रह युक्त चैत्र यहां अधिकरण कारक संज्ञा न होकर सन्मार्ग की कर्म संज्ञा हुई है। यहां शङ्का होती है कि पापे अभिनिवेशः यहां पाप विषयक आग्रहवान् अर्थ में 'पापम्' ऐसा क्यों नहीं हुआ ?, 'परिक्रयणे' सूत्र से अन्यतरस्याम् की अनुवृत्ति एवं व्यवस्थित-विभाषा से क्वचित् कर्म संज्ञा का अभाव ही होता है। अतः पाप की कर्म संज्ञा न होकर अधिकरण संज्ञा से सप्तमी हुई है। किन्तु यह कथन ठीक नहीं है। भाष्यकार ने केवल छः स्थल पर ही व्यवस्थित विभाषा मानी है।

देवत्रातो गलो ग्राह इतियोगे च सद्विधिः।
मिथस्ते न विभाषन्ते गवाक्षः संशितव्रतः॥ १॥

अन्यत्र नहीं। तब यहां कर्म संज्ञा क्यों नहीं हुई ?, समाधान—"एषु अर्थेषु अभिनिविष्टानाम्" (इन अर्थों के विषय में आग्रह युक्तों का) यहां कर्म संज्ञा न दिख कर एवं अधिकरण संज्ञा दिख कर यह ज्ञापन इस भाष्य प्रयोग से होता है कि—"अभिनिविश्" इस प्रकार की आनुपूर्वी (वर्णमाला) का जहां अविकृत (विकार रहित) रूप रहे वहां ही इससे कर्म संज्ञा होती है। भाष्य प्रयोग में शकार का षत्वष्टुत्व है, पापे अभिनिवेशः यहां वि के इकार का गुण से एकार रूप विकार है अतः कर्म संज्ञा का अभाव यहां हुआ यही समाधान उचित एवं युक्ति सङ्गत है।

५४५ उपान्वध्याङ्वसः १।४।४८।

उपादिपूर्वस्य वसतेराधारः कर्म स्यात्। उपवसति अनुवसति अधिवसति आवसति वा वैकुण्ठं हरिः। ❀ अभुक्त्यर्थस्य न ❀। वने उपवसति।

❀ "उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु।
द्वितीयाम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते ❀॥

उभयतः कृष्णं गोपाः। सर्वतः कृष्णम्। धिक् कृष्णाभक्तम्। उपरि उपरि लोकं हरिः। अध्यधि लोकम्। अधोऽधो लोकम्। ❀ अभितःपरितःसमया-निकषाहाप्रतियोगेऽपि ❀। अभितः कृष्णम्। परितः कृष्णम्। ग्रामं समया। निकषा लङ्काम्। हा कृष्णाभक्तम्। तस्य शोच्यतेत्यर्थः। बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्।

उप अनु अधि एवं आङ् पूर्वक वस् धातु वाच्य व्यापार जन्य जो फल तदाश्रय का आधार की कर्म संज्ञा होती है। वैकुण्ठ जो वासादि अर्थों का फलाश्रय आधार है उसकी कर्म संज्ञा यहां हुई है—'वैकुण्ठे' न हुआ। वन में उपवास करता है। यहा उपवास रूप अर्थ के वाचक वस् धातु के आधार वन की कर्म संज्ञा न हुई 'वने' यहां अधिकरण सप्तमी है, इसमें प्रमाण क्या है ?

विमर्श—भाष्य में "वसेरश्यर्थस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः" इस वार्तिक में अर्थ शब्द निवृत्ति परक है, यथा मषकार्थो धूमः यहां मषक की निवृत्ति के लिये धूवां है, उसी प्रकार यहां वार्तिक में भोजन की निवृत्ति अर्थात् उपवास अर्थ में वस् धातु का आधार की कर्म सज्ञा नहीं होती है। उसी का भावार्थ (सारांश) "अभुक्त्यर्थस्य न" यह संस्कृत वाक्य है। वार्तिक नहीं है। * उभयतः सर्वतः धिक्, एवं उपरि उपरि, अधः अधः, इन आम्रेडितान्तों के योग में द्वितीया विभक्ति होती है। उनसे

अन्यत्र (अन्य शब्दों के योग) भी इष्ट प्रयोगानुसारिणी द्वितीया होती है । उदाहरणों में क्रमशः 'कृष्णम्' 'अभक्तम्' 'लोकम्' यहां इससे द्वितीया है। अभितः परितः समया (समीप में) हा निकषा (समीप में) एवं प्रति इन शब्दों के योग में द्वितीया होती है (शब्द योग = शब्दार्थ सम्बन्ध) । 'कृष्णम्' 'ग्रामम्' 'लङ्काम्' 'अभक्तम्' यहां इससे द्वितीया है। 'बुभुक्षितम्' यहां प्रति के योग में द्वितीया है = भूखे को कुछ भी नहीं अच्छा लगता है। संसार में आकर जो कृष्ण भक्त नहीं वह चिन्तनीय है यहां अभक्त की निन्दा गम्यमान है। येषां श्रीमद्यशोदा से आरम्भ कर कीर्तनस्थो मृदङ्गः पर्यन्त कविवर ने श्लोक रूप में वर्णन किया है।

५४६ अन्तराऽन्तरेण युक्ते २।३।४।

आभ्यां योगे द्वितीया स्यात्। अन्तरा त्वां मां हरिः ! अन्तरेण हरिं न सुखम् ।

अन्तरा एवं अन्तरेण इनके योग में द्वितीया विभक्ति होती है । यहां अन्तरेण टाबन्त भिन्न है अतः साहचर्य से अन्तरा टाबन्त भिन्न का ग्रहण है, टाबन्त भिन्न अन्तरा शब्द तृतीयान्त भिन्न है अतः अन्तरेण तृतीयान्त भिन्न का ग्रहण यहां करना इस प्रकार परस्पर साहचर्य से दोनों अव्यय है उन्हीं का ग्रहण होता है। अन्तरा आदि के अर्थ से योग रहे वहां ही द्वितीया अन्यत्र नहीं यह 'योगे' शब्द बोधन करता है । अन्तरा त्वां मां वा कृष्णस्य मूर्तिः यहां मध्यार्थक अन्तरा पदार्थ के साथ कृष्णपदार्थ का सम्बन्ध नहीं अतः कृष्ण से द्वितीया न हुई किन्तु षष्ठी । 'अन्तरा त्वां मां च कमण्डलुः 'यहां प्रथमा । यहां प्रथमा ने इस उपपद विभक्ति का बाध किया है। परस्पर शपथ खाते हैं कि तुम्हारे एवं मेरे मध्य में हरि ही है। हरि साक्षात्कार के बिना संसार में सुख नहीं है

५४७ कर्मप्रवचनीयाः १।४।८३।

इत्यधिकृत्य ।

यह अधिकार सूत्र है, उत्तर सूत्रों में जाकर विधेय स्वरूप इस पद को यह वहां समर्पण करता है। 'कर्मप्रवचनीय' शब्द योगरूढ है = कर्म शब्द यहां क्रियार्थक है यथा 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' सूत्र में कर्म = क्रिया व्यतिहारे = व्यत्यासे अर्थ है । कर्म प्रोक्तवन्तः ये ते कर्मप्रवचनीयाः यहां कर्म उपपद रहते प्रपूर्वक वच् धातु से भूत अर्थ में अनीयर् प्रत्यय होता है। भूतकाल में क्रिया को कह चुका हो, सम्प्रति क्रिया का जो वाचक नहीं, द्योतक भी नहीं एवं सम्बन्ध का वाचक नहीं किन्तु सम्बन्ध विशेष का जो द्योतक है उसको कर्मप्रवचनीय कहते हैं।

"क्रियाया द्योतको नायं सम्बन्धस्य न वाचकः।
नापि क्रियापदाक्षेपी सम्बन्धस्य तु भेदकः" ॥

५४८ अनुर्लक्षणे १।४।८४।

लक्षणे द्योत्येऽनुरुक्तसंज्ञः स्यात् । गत्युपसर्गसंज्ञापवादः ।

जहां लक्षण अर्थ द्योत्य रहे, वहां अनु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। यह संज्ञा गति एवं उपसर्ग संज्ञा की बाधिका है। अर्थात् लक्ष्य-लक्षण भाव सम्बन्ध में अनु कर्म प्रवचनीय ही है। गतिसंज्ञक एवं उपसर्गसंज्ञक नहीं है। संज्ञाद्वय बाध रूप ही प्रयोजन है। अन्यथा 'लक्षणेत्थम्' से यहां कर्मप्रवचनीय संज्ञा सिद्ध ही थी।

५४९ कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया २।३।८।

एतेन योगे द्वितीया स्यात् । जपमनु प्रावर्षत् । हेतुभूतजपोपलक्षितं वर्षणमित्यर्थः । पराऽपि हेतौ इति तृतीयाऽनेन बाध्यते, लक्षणेत्थंभूतेत्यादिना सिद्धे पुनः संज्ञाविधानसामर्थ्यात् ।

कर्मप्रवचनीय संज्ञक से द्योत्य जो सम्बन्ध उस सम्बन्ध का जो प्रतियोगी तद्वाचक से द्वितीया विभक्ति होती है । सूत्र में युक्त ग्रहण से सम्बन्ध प्रतियोगी अर्थ का लाभ हुआ है अतः विशेष्य भूत अर्थ रूप अनुयोगी तद् वाचक से द्वितीया नहीं होती है ।

ज्ञान का जनक जो ज्ञान उस ज्ञान का जो विषय उसको लक्षण कहते हैं—ज्ञानजनकज्ञान-विषयत्वं लक्षणत्वम् ।

यथा वर्षण ज्ञान काल का उत्पादक ज्ञान जपाधिकरण काल उस ज्ञान का विषय जप है वह लक्षण हुआ । ज्ञान से जन्य जो ज्ञान उस ज्ञान की विषयता जहां रहे वह लक्ष्य है ।

यथा जप काल ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान वर्षण काल का ज्ञान उस ज्ञान में या समान वर्षण = वृष्टि वह लक्ष्य है । ज्ञानजन्य ज्ञानविषयत्वं लक्ष्यत्वम् ।

इस प्रकार लक्ष्य लक्षण भाव सम्बन्ध का ज्ञान कर यहां 'जपमनु प्रावर्षत्' जप पूर्वोक्त सम्बन्ध का प्रतियोगी है उससे द्वितीया विभक्ति की उत्पत्ति हुई है । यहां निश्चित जप ज्ञान काल था उससे अनिश्चित काल में हुई वृष्टि काल का निश्चय भी हुआ है । अवर्षण समय में वृष्टि निमित्तक जपानुष्टान हुआ यहां जप वृष्टि में हेतु है यहां हेतु में तृतीया प्राप्त थी किन्तु पर भी तृतीया को बाध कर 'अनुर्लक्षणे' ने कर्मप्रवचनीय संज्ञा विधान पुनः किया अतः यहां कर्मप्रवचनीय संज्ञा प्रयुक्त द्वितीया ही होती है । अन्यथा लक्षणेत्थंभूत से लक्षण में संज्ञा सिद्ध थी पुनः 'अनुर्लक्षणे' व्यर्थ ही होगा ।

५५० तृतीयार्थे १।४।८५।

अस्मिन् द्योत्येऽनुरुक्तसंज्ञः स्यात् । नदीमन्ववसिता सेना । नद्या सह संबद्धेत्यर्थः । षिञ् बन्धने क्तः ।

तृतीया विभक्त्यर्थ का द्योतक अनु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है । यहां तृतीयार्थ=सहार्थ है । नदी के साथ सम्बद्ध सेना अर्थ में सम्बद्धार्थक अनु के योग में नदी की कर्म प्र० सं० एवं द्वितीया । नदी प्रतियोगिक साहित्यवती सेना । अनु अव पूर्वक बन्धनार्थक षिञ् धातु से क्तप्रत्यय से अन्ववसित की सिद्धि है ।

५५१ हीने १।४।८६।

हीने द्योत्येऽनुः प्राग्वत् । अनु हरिं सुराः, हरेर्हीना इत्यर्थः ।

जहां अनु का हीन = छोटा अर्थ द्योत्य रहे वहां अनु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है । देवता हरि से छोटे हैं यहां अनु की कर्म प्र० से हरि से द्वितीया विभक्ति हुई ।

५५२ उपोऽधिके च १।४।८७।

अधिके हीने च द्योत्ये उपेत्यव्ययं प्राक्संज्ञं स्यात् । अधिके सप्तमी वक्ष्यते । हीने—उप हरिं सुराः ।

अधिक एवं हीनार्थ द्योत्य रहे वहां उप की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। अधिकार्थक उप के योग में "यस्मादधिकम्" से सप्तमी कहेंगे। यहां हीन अर्थ में उदाहरण है। हरि से देवगण हीन है। उप की कर्म प्र०, हरि से द्वि०।

५५३ लक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्यनवः १।४।९०।

एष्वर्थेषु विषयभूतेषु प्रत्यादय उक्तसंज्ञाः स्युः। लक्षणे—वृक्षं प्रति पर्यनु वा विद्योतते विद्युत्। इत्थंभूताख्याने—भक्तो विष्णुं प्रति पर्यनु वा। भागे—लक्ष्मी हरिं प्रति पर्य्यनु वा, हरेर्भाग इत्यर्थः। वीप्सायाम्—वृक्षं वृक्षं प्रति पर्यनु वा सिञ्चति। अत्रोपसर्गत्वाभावान्न षत्वम्। एषु किम्, परिषिञ्चति।

प्रथम लक्षणार्थ कह चुके हैं। किसी ज्ञान को उत्पन्न करने वाला जो ज्ञान उसका विषय लक्षण, इत्थंभूताख्यान = किसी प्रकार को प्राप्त जो हो उसका कहना। वीप्सा भाग = अंश, क्रिया द्वारा सकल अभिप्रेत पदार्थ का सम्बन्ध = व्याप्ति, इन अर्थों के होने पर प्रति परि एवं अनु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। लक्षण अर्थ में यथा वृक्षं प्रति पर्यनु वा विद्योतते विद्युत् यहां विजली विद्योतन ज्ञान का उत्पन्न करने वाला ज्ञान हुआ वृक्षज्ञान, तद् विषय वृक्ष होने से प्रति आदि की कर्म प्रवचनीय संज्ञा हुई है।

वृक्ष के सामने, या ऊपर या पश्चात् विजली चमकती है।

इत्थंभूताख्यान में यथा 'भक्तो विष्णुं प्रति पर्यनु वा'। भक्त विष्णु के प्रति किञ्चित्प्रकार भक्ति आदि को पाया हुआ है। भागार्थ लक्ष्मी हरिं प्रति पर्य्यनु वा—लक्ष्मी हरि का अंश है। क्रिया साकल्येन सम्बन्धुम् इच्छा = वीप्सा अर्थ में यथा वृक्षं वृक्षं प्रति पर्यनु वा सिञ्चति। यहां सिञ्चन क्रिया द्वारा उद्यान स्थित सकल वृक्षों का सम्बन्ध करता है, 'नित्यवीप्सयोः' सू० से वृक्षम् का द्वित्व यहां हुआ है। अर्थात् किसी भी पेड़ को छोड़ता नहीं है सबको जल से युक्त करता है। जहां जहां उद्यान स्थित वृक्ष वृत्ति वृक्षत्व है वहां वह जल सेकत्व है यह व्याप्ति को वीप्सा वीप्सार्थक प्रत्यादि का क्रिया के साथ योग नहीं अप्राप्त उपसर्ग संज्ञा यहां है अतः परिसिञ्चति यहां 'उपसर्गात् सुनोति' सूत्र से धातु के आदि सकार को षकारादेश न हुआ। यहां अप्राप्तिमूलक अपवाद सदृश अर्थ है, वास्तविक अपवाद स्थल में प्राप्तिमूलक बाध से उत्सर्ग शास्त्र का न होना ही होता है यहां अप्राप्त उपसर्ग संज्ञा का न होना यही अर्थ है।

५५४ अभिरभागे १।४।९१।

भागवर्जे लक्षणादावभिरुक्तसंज्ञः स्यात्। हरिम् अभि वर्तते। भक्तो हरिम् अभि। देवं देवमभिसिञ्चति। अभागे किम्, यदत्र ममाभिष्यात् तद् दीयताम्।

भाग से भिन्नार्थक अर्थात् लक्षण, इत्थंभूताख्यान, और वीप्सा अर्थ में अभि शब्द की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। क्रमिक तीनों अर्थ के उदाहरण हैं। भाग अर्थ में कर्मप्रवचनीय संज्ञा के अभाव में धात्वर्थ क्रिया के साथ योग होने से अभि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हुई है। अतः अभि स्यात् यह आदि सकार का 'उपसर्गात् सुनोति' से षकार हुआ—अभिष्यात्। इसमें जो मेरा अंश = हिस्सा हो वह मुझे दीजिये।

५५५ अधिपरी अनर्थकौ १।४।९३।

उक्तसंज्ञौ स्तः। कुतोऽध्यागच्छति। कुतः पर्य्यागच्छति। गतिसंज्ञाबाधाद् गतिर्गताविति निघातो न।

निरर्थक अधि एवं परि की कर्म प्रवचनीय संज्ञा होती है। अधि परि के प्रयोग से जहां किसी अर्थ विशेष की प्रतीति नहीं वे निरर्थक कहे जाते हैं। गतिसंज्ञा का कर्म प्रवचनीय संज्ञा ने बाध किया अतः यहां निघात = अनुदात्त नहीं होता।

५५६ सुः पूजायाम् १।४।९४।

सुसिक्तम्। सुस्तुतम्। अनुपसर्गत्वात् न षः। पूजायां किम्, सुषिक्तं किं तवात्र। क्षेपोऽयम्।

पूजा अर्थ में वर्तमान सुशब्द की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। सुसिक्तम् यहां उपसर्ग संज्ञा के अभाव से षत्व न हुआ। अच्छी तरह सिञ्चा हुआ अर्थ है। निद्रा में सुषिक्तम् यहां कर्म प्र० का अ० से उप० संज्ञा षत्व हुआ है।

५५७ अतिरतिक्रमणे च १।४।९५।

अतिक्रमणे, पूजायां चातिः कर्मप्रवचनीयसंज्ञः स्यात्। अतिदेवान् कृष्णः।

अतिक्रमण एवं पूजा अर्थ में अति की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। कृष्ण सब देवताओं को अतिक्रमण करने वाले हैं, कृष्ण सब देवताओं की अपेक्षा पूज्य है, उभयार्थ में अति की कर्म प्र० सं० कृष्ण से द्वि० वि० हुई।

५५८ अपिः पदार्थसम्भावनाऽन्ववसर्गगर्हासमुच्चयेषु १।४।९६।

एषु द्योत्येष्वपिरुक्तसंज्ञः स्यात्। सर्पिषोऽपि स्यात्। अनुपसर्गत्वान्न षः। सम्भावनायां लिङ्। तस्या एव विषयभूते भवने कर्तृदौर्लभ्यप्रयुक्तं दौर्लभ्यं द्योतयन्नपिशब्दः स्यादित्यनेन सम्बध्यते। सर्पिष इति षष्ठी तु अपिशब्द-बलेन गम्यमानस्य बिन्दोरवयवावयविभावसम्बन्धे। इयमेव ह्यपिशब्दस्य पदार्थद्योतकता नाम। द्वितीया तु न प्रवर्तते, सर्पिषो बिन्दुना योगो न त्वपिने-त्युक्तत्वात्। अपि स्तुयाद् विष्णुम्। सम्भावनम् = शक्त्युत्कर्षमाविष्कर्तुमि-त्युक्तिः। अपि स्तुहि। अन्ववसर्गः = कामचारानुज्ञा। धिग् देवदत्तम् अपि स्तुयाद् वृषलम् = गर्हा। अपि सिञ्च, अपि स्तुहि = समुच्चये।

सूत्र में नही प्रयुक्त जो पदान्तर उसका जो अर्थ वही यहां पदार्थ पद से गृहीत है। पदार्थ = अप्रयुज्यमान पद का अर्थ, अन्ववसर्ग = कामचारानुज्ञा, गर्हा = निन्दा, एवं समुच्चय इन अर्थों में विद्यमान अपि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

पदार्थ में यथा—"सर्पिषोऽपि स्यात्" "घृत का बिन्दु भी हो" यहां पदार्थ द्योतक 'अपि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से उपसर्गत्व प्रयुक्त षत्व नहीं हुआ, इस स्थल में 'स्यात्' में सम्भावना में लिङ् का प्रयोग हुआ है। सम्भावना ही का जो विषयीभूत भवन (सत्ता) उसमें बिन्दु इस कर्ता की दुर्लभताप्रयुक्त क्रिया का दौर्लभ्य प्रकाश करता हुआ अपिशब्द स्यात् इस क्रिया के

साथ सम्बद्ध होता है। 'सर्पिषः' यहां जो षष्ठी वह अपि शब्द के बल से गम्यमान जो बिन्दु उसके साथ सर्पिष् के अवयव-अवयविभाव सम्बन्ध में हुई, यहीं अपि शब्द की पदार्थ द्योतकता है।

इस स्थान में द्वितीया विभक्ति नहीं होती है क्यों कि सर्पिष् का सम्बन्ध (योग) बिन्दु के साथ है, अपि के साथ नहीं, यह बात कह दी गई है। अपि स्तुयाद् विष्णुम् यह सम्भावना का उदाहरण है = शक्ति के उत्कर्ष प्रकाश के निमित्त जो अत्युक्ति उसको सम्भावना कहते हैं। अपि स्तुहि यह अन्ववसर्ग का उदाहरण है, = स्तुति कर। अभिलाषा के अनुकूल जो अनुज्ञा उसको अन्ववसर्ग कहते हैं। गर्हा = निन्दा शूद्र की स्तुति करे तो देवदत्त को धिक्कार है = धिक् देवदत्तम् अपि स्तुयाद् वृषलम्।

समुच्चय—सिञ्चो या स्तुति करो = अपि सिञ्च अपि स्तुहि। यहां कर्मप्रवचनीय संज्ञा से उपसर्ग संज्ञा न होने से धातु के सकार को षकार न हुआ।

५५९ कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे २।३।५।

इह द्वितीया स्यात्। मासं कल्याणी, मासमधीते, मासं गुडधानाः। क्रोशं कुटिला नदी, क्रोशमधीते। क्रोशं गिरिः। अत्यन्तसंयोगे किम्, मासस्य द्विरधीते। क्रोशस्य एकदेशे पर्वतः।

विराम रहित संयोग को अत्यन्त संयोग कहते है। अत्यन्त संयोग में काल वाचक एवं मार्ग वाचक शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है। मासं कल्याणी यहां मास शब्द काल वाचक है इससे द्वि० वि० हुई। मास पर्य्यन्त निरन्तर दुःख का अभावपूर्वक सुख ही है। मासमधीते = एक मास में अध्ययन के उपयागी काल में व्यवधान रहित निरन्तर अध्ययन करता है। मासं गुडधाना। भुजे हुये जब को धाना कहते है, या धान मसाला का प्रसिद्ध ही है। एक मास पर्य्यन्त भोजन में निरन्तर गुड से युक्ता धाना की प्राप्ति हो रही है। क्रोशं कुटिला नदी। एक कोस तक नदी वक्र है लगातार। कोस तक अध्ययन करता है। एक कोस तक पर्वत है। अत्यन्त संयोग कहने से यहां महीने में दो बार पढता है वह द्वितीया न हुई, यथा—मासस्य द्विरधीते। क्रोशरूपी मार्ग के एक कोने पर पर्वत है यहां क्रोशस्य हुआ। कालशब्दार्थ विरेचन "कालविमर्श" लक्ष्मी व्या० ८०१, ८०२ में पञ्चोली कृत वै० सि० कौ० की व्याख्या देखिये। संस्कृत सा० में १७३ ग्रन्थों में कालपदार्थ का विवेचन किया गया है उसका संग्रह एकत्र आवश्यक है, इस विषय में स्वर्गीय महावैयाकरण प० श्रीहाराणचन्द्रभट्टाचार्य महोदय का प्रयास स्तुत्य है। कर्म सात प्रकार के है, १—ईप्सित, २—अनीप्सित, ३—ईप्सितानीप्सित, ४—उक्ताकथित, ५—अनुक्ताकथित, ६—अनुक्तकर्तृकर्म, ७—उक्त कर्तृकर्म। और भी चार अधिक हो सकते हैं—यथा, ८—अनुक्तेप्सित ९—उक्तेप्सित, १०—अनुक्तानीप्सित, ११—उक्तानीप्सित अनुक्तेप्सित का उदाहरण—द्वारकां गच्छति हरिः। उक्तेप्सित कर्म का उदाहरण—द्वारिका गम्यते हरिणा। फल एवं व्यापार धात्वर्थ एक में रहे उसको अकर्मक धातु कहते हैं—फलसमानाधिकरणव्यापारवाचकत्वं सकर्मकत्वम्। फल अन्यत्र रहे व्यापार अन्यत्र रहे वह धातु अकर्मक है—फलव्यधिकरणव्यापारवाचकत्वं सकर्मकत्वम्। किसी ने "लज्जासत्तास्थितिजागरणं वृद्धिक्षयभयजीवितमरणम्। शयनं क्रीडारुचिदीप्त्यर्थं धातुगणं तमकर्मकमाहुः" यह कहा है। अर्थात् इन तेरह अर्थ वाचक धातु अकर्मक है, यह लक्षण ठीक नहीं है भूधातु सत्ता में अकर्मक एवं वही भू अनुभव अर्थ में सकर्मक, इसी प्रकार अन्य धातुओं भी हैं। संक्षेप से द्वितीया कारक यहाँ समाप्त हुआ।

५६० स्वतन्त्रः कर्ता १।४।५४।

क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्त्ता स्यात्।

स्वम् = आत्मा तन्त्रम् = प्रधानम् अस्य स्वतन्त्रः = स्वाधीन को लोक में कहते हैं। स्वतन्त्र के पाँच नाम हैं। १ स्वतन्त्र २ अपावृत्त ३ स्वैरी ४ स्वच्छन्द ५ निवग्रह = बन्धन या प्रतिबन्ध रहित। स्वतन्त्र शब्द का अवयव तन्त्र शब्द भी अनेकार्थक है १ कुटुम्बकार्य २ सिद्धान्त ३ श्रेष्ठ औषधि ४ प्रधान ५ जूलाहा (तन्तुवाय में) ६ शाखभेद ७ परिच्छद। यहां स्वतन्त्र शब्द प्रधानार्थक है। सूत्र में 'कारकम् का अधिकार से क्रिया का यहां लाभ हुआ है क्रिया का प्रधान आश्रयकी कर्तृ संज्ञा होती है। अन्यकारकों का व्यापार कर्तृ व्यापाराधीन है, कर्ता का व्यापार अन्य कारकों के व्यापार के अधीन नहीं है यही प्राधान्य कर्ता में है। अन्य कारकों का व्यापार कर्तृ व्यापाराधीन है उनमें परतन्त्रता = पराधीनता है। कर्त्ता तीन प्रकार का है। १ शुद्ध २ प्रयोजक हेतु ३ कर्म कर्त्ता, धात्वर्थ व्यापाराश्रयत्वं कर्तृत्वम् = धातु का अर्थ जो व्यापार वह जिसमें रहे उसे कर्त्ता कहते हैं। विवक्षितपद से कारण विवक्षाधीन है—विवक्षातः काग्काणि भवन्ति। स्थाली पचति स्थाल्या पचति, स्थाल्यां पचति, इन प्रयोग से कारक के विषय में को निश्चित सिद्धान्त प्रदर्शन सम्भव नहीं है। विवक्षाधीनत्व कर्तृत्व कर्मत्वादि है। उदाहरण -कमलेशः पुस्तकं पठति। रमेशो विश्वनाथमन्दिरं गच्छति। वसुमती सिद्धपुरं तिष्ठति, वीणा वदति, मीना पठति आदि कर्तृ-कारक के उदाहरण है।

५६१ साधकतमं करणम् १।४।४२।

क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकं करणसंज्ञं स्यात्। तमबग्रहणं किम्, 'गङ्गायां घोषः'।

यहां क्रियापद धात्वर्थ जो व्यापार उसे उत्पन्न जो फल तद्वाचक है। अर्थात् फल सिद्धि में जो अतीव उपकारक (जिसके व्यापार के बाद फल सिद्धि होती है। यथा वाण) जो कारक उसकी करण संज्ञा होती है। उदाहरण में रामेण धनुषो वाणेन वाली हतः। यहां राम से कर्त्ता में तृतीया है, वाण से करण में तृतीया है, हतः मे क्तप्रत्यय से कर्म उक्त है अतः वाली से प्रथमा विभक्ति है, प्राण का वियोग रूप फल सिद्धि में प्रकृष्ट उपकारक बाण है, धनुष नहीं बाण की करण संज्ञा से तृतीया बाणेन। यद् व्यापारानन्तरं फलसिद्धिस्तत्प्रकृष्टत्वम्।

विमर्श—तमब् ग्रहणम् किमर्थम्—इस सूत्र में कारक का अधिकार है, एवं क्रियते अनेन इति करणम्, इस करण महासंज्ञा से क्रिया सिद्धि में साधक यह अर्थ लाभ हो जायगा पुनः सूत्र में साधक पद व्यर्थ होकर अधिक शब्द अधिक अर्थ का बोधन करता है उससे साधकतम = प्रकृष्टोपकारक का लाभ हो ही जाता पुनः यहां तमप् ग्रहण व्यर्थ है—क्यों किया ?, ग्रन्थकार तमप् का फल बताते हैं 'गङ्गायां घोषः'। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार यहां करण महासंज्ञा को अन्वर्थ मान कर करण से ही साधक का लाभ किया।

उसी प्रकार "आधारोऽधिकरणम्" वहां अधिकरण इस महासंज्ञा से ही आधार का लाभ होगा, पुनः आधारपद व्यर्थ होकर आधारतमार्थ अर्थात् जिसके सर्व अवयव जहां आधार रहे, वहां ही अधिकरण संज्ञा होगी यथा "तिलेषु तैलम्' तिल के यावत् अवयव तैल का आधार है, गौण आधार में अब अधिकरण संज्ञा नहीं होगी तब "गङ्गायां घोषः' यहां झोपड़ा का आधार तट है उसमें सामीप्य मूलक लक्षणा से गङ्गा पद मुख्यार्थ को त्याग कर तटार्थ बोधक है। झोपड़ा

का सर्वावयव से गङ्गा आधार नहीं है। अधिकरण संज्ञा वहां भी हो एतदर्थ तमप् ग्रहण व्यर्थ होकर कल्पना (ज्ञापन) करता है कि "अस्मिन् कारकाधिकारे शब्दसामर्थ्यजन्यार्थप्रकर्षो नाश्रीयते" = इस कारक प्रकरण में कोई शब्द व्यर्थ होकर अर्थ गत प्रकर्ष (यथा साधकतम यथा आधारतम) का समाश्रयण नहीं कर सकता है, तथाच मुख्य, गौण यत्किञ्चित् अवयव से आधार सब की अधिकरण संज्ञा हुई यथा—गङ्गायां घोषः। तिलेषु तैलम्। वटे गावः। कटे आस्ते आदि।

प्रकृत में साधक पद पूर्व ज्ञापन से केवल उपकारक अर्थ को बोधन करेगा। क्रिया सिद्धि में उपकारक धनुष् भी है उसकी भी करण संज्ञा होने लगेगी। उसकी व्यावृत्ति के लिए प्रकृष्टार्थ लाभार्थ तमप् है। फल सिद्धि बाण व्यापारानन्तर ही है उसी की ही करण संज्ञा हुई। धनुष् देश से निकाल कर लक्ष्य देश में गमन रूप व्यापार बाण में है, वेधनोत्तर प्राण वियोग उसमें प्रकृष्टोपकारक बाण। आभीर पल्ली=झुपड़ी या झोपड़ा उसको घोष कहते हैं। शक्यार्थ का सम्बन्ध=सामीप्यादि रहे एवं जहां शक्यार्थ बाध रहें वहां लक्षणा वृत्ति का समाश्रयण होता है—शक्यसम्बन्धो लक्षणा। अथवा शक्यता में रहने वाले धर्म का आरोप उसे लक्षणा कहते हैं "शक्यतावच्छेदकधर्मारोपो लक्षणा" इसी पक्ष में "गङ्गायां मीनघोषौ स्तः" यहां द्वन्द्व समास की सिद्धि हुई है।

५६२ कर्तृकरणयोस्तृतीया २।३।१८।

अनभिहिते कर्तरि करणे च तृतीया स्यात्। रामेण बाणेन हतो वाली। *प्रकृत्यादिभ्य उपसङ्ख्यानम् *। प्रकृत्या चारुः, प्रायेण याज्ञिकः, गोत्रेण गार्ग्यः, समेनैति, विषमेणैति, द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति, सुखेन दुःखेन वा यातीत्यादि।

अनुक्त कर्ता एवं करण में तृतीया होती है। राम अनुक्त कर्ता है, वाण अनुक्त करण है, दोनों से तृतीया रामेण बाणेन वाली हतः अतः यहां वाली कर्म क्तप्रत्यय से उक्त है उक्त से प्रथमा। यहां हन् धात्वर्थ प्राणवियोग का जनक व्यापार इस अर्थक बोधक है। फलाश्रय राम है। फलसिद्धि में प्र० उ० बाण है। प्रकृति आदि जिनमें ऐसे शब्दों से तृतीया होती है यथा स्वभाव से कोमल अर्थ में प्रकृत्या चारुः। आदि उदाहरणों में तृतीया इसने की है। प्रकृत्या अभिरूपः यहा कृधात्वर्थ क्रियानिरूपितकरणत्व से ही तृतीया सिद्ध है इसी प्रकार अन्य भी इस वार्तिक की आवश्यकता नहीं है।

५६३ दिवः कर्म च १।४।४३।

दिवः साधकतमं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्, चात् करणसंज्ञम्। अक्षैरक्षान् वा दीव्यति।

दिव धातु वाच्य व्यापार से उत्पन्न जो फल उसकी सिद्धि में जो प्रकृष्ट उपकारक उसकी कर्मसंज्ञा एवं करण संज्ञा होती है। यहां चकार समुच्चायार्थक हैं, अतः एक ही समय में साधकतम में करणत्व एवं कर्मत्व इन दोनों का समावेश है। पर्य्यायतां नहीं है। मनसादेवः यहां समास एवं अलुक् है यहां कर्मण्यण् से अण् प्रत्यय हुआ है। एवं करण में तृतीया भी हुई है।

यथा अक्षैः अक्षान् दीव्यति, यहां करण संज्ञा से तृतीया कर्म संज्ञा में द्वितीया। पासों को अक्ष कहते हैं। अक्ष के तीन भेद है, देवनाक्ष, शकटाक्ष, विभीतिकाक्ष। यहां देवनाक्ष का ग्रहण है।

५६४ अपवर्गे तृतीया २।३।६।

अपवर्गः = फलप्राप्तिस्तस्यां द्योत्यायां कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे तृतीया स्यात्। अह्ना क्रोशेन वा अनुवाकोऽधीतः। अपवर्गे किम्, मासमधीतो नायातः।

फलसमाप्ति होने पर काल वाचक एवं अध्व (मार्ग) वाचक से अत्यन्त संयोग में तृतीया होती है। अपवर्ग का अर्थ त्याग या मोक्ष। क्रिया की समाप्ति में एवं साकल्य अर्थ में भी अपवर्ग हैमकोश से है। फल प्राप्ति होने पर क्रिया की समाप्ति होती है। काल वाचक एवं मार्ग वाचक से तृतीया का उदाहरण—यथा अह्ना क्रोशेन वा अनुवाकः = ऋक्यजुःसमूहः, अधीतः। यहां अध्ययन जन्य ज्ञान प्राप्तिरूप फल प्राप्त है, अतः अहन् एवं क्रोश से तृतीया हुई है।

मासपर्य्यन्त अध्ययन करने पर भी अनुवाक के अध्ययन जन्य ज्ञान प्राप्तिरूप फल न हुआ वहां 'कालाध्वनों' से द्वितीया ही हुई यथा 'मासमधीतीतो नायातः'।

५६५ सहयुक्तेऽप्रधाने २।३।१९।

सहार्थेन युक्ते अप्रधाने तृतीया स्यात्। पुत्रेण सहागतः पिता। एवं साकं सार्धं समं योगेऽपि। विनाऽपि तद्योगं तृतीया, वृद्धो यूनेत्यादिनिर्देशात्।

सहशब्दार्थ युक्त अप्रधान कर्तृ वाचक शब्द से तृतीया विभक्ति होती है। पुत्रा सहित पिता आयें। यहां आगम क्रिया का प्रधान कर्त्ता पिता है, क्रिया में अनन्वयी पुत्र अप्रधान है, पुत्र से तृतीया, प्रधान कर्त्ता से प्रथमा कारक विभक्ति हुई है। सह शब्द के समानार्थक शब्दों के योग में भी इस सूत्र की प्रवृत्ति है, यहां अप्रधान न कहते प्रधानकर्त्ता पिता (पितृ) से तृतीयापत्ति होती। वस्तुतः अप्रधाने व्यर्थ है प्रधान कर्तृ वाचक से कारक विभक्ति बलवती है, वह उपपद तृतीया विभक्ति को बाध करेगी 'उपपदविभक्तेः कारकविभक्ति र्बलीयसी' यह परिभाषा है। वृद्धो यूना में तृतीया निर्देश से यह सिद्ध होता है कि सहार्थ योग न भी रहे वहां भी तृतीया विभक्ति इससे होती है। सह शब्द विद्यमान भी है। "सहैव दशभिः पुत्रै र्भारं वहति गर्दभी" यहां भी तृतीयां इससे हुई है।

५६६ येनाङ्गविकारः २।३।२०।

येनाङ्गेन विकृतेनाङ्गिनो विकारो लक्ष्यते ततस्तृतीया स्यात्। अक्ष्णा काणः। अक्षिसम्बन्धिकाणत्वविशिष्टः। अङ्गविकार किम्, अक्षि काणमस्य।

सूत्र में अवयव वाचक अङ्ग शब्द 'अर्श आदिभ्योऽच्' से मत्वर्थीय अच् प्रत्ययान्त है। यहां अच् प्रत्ययान्त अङ्ग का अर्थ = अङ्गी = शरीर अर्थ है। 'येन' में यत् शब्द से अङ्ग विशिष्ट अङ्गी में विशेषणतया भासमान अङ्ग को बोधन करता है। अर्थ—जिस अङ्ग विकृत से अङ्गी का विकार प्रतीयमान रहे वहां विकृत अवयव वाचक शब्द से तृतीया विभक्ति होती है। नेत्र सम्बन्धि का—णत्व विशिष्ट में अक्षि शब्द से तृतीया होकर 'अक्ष्णा काणः' की सिद्धि हुई है। लेशमात्र भी दर्शन राहित्य ही काणत्व है। इस पुरुष की आंख कानी है यहां इसकी प्रवृत्ति नहीं है, यहां शरीर रूप अङ्गी का विकार प्रतीयमान नहीं है। यहां प्रातिपदिकार्थ में प्रथमा ही है।

५६७ इत्थंभूतलक्षणे च २।३।२१।

किञ्चित्प्रकारं प्राप्तस्य लक्षणे तृतीया स्यात्। जटाभिस्तापसः। जटाज्ञाप्य-तापसत्वविशिष्ट इत्यर्थः।

इत्थंभूत अर्थात् इस प्रकार का वह है, इस अर्थ का जनाने वाला जो अर्थ उसके बोधक प्रातिपदिक से तृतीया विभक्ति होती है। जटाभिः तापसः यहां जटा से तृतीया = जटाओं से वह तपस्वी है, यहां लक्षण जटा है।

५६८ संज्ञोऽन्यतरस्यां कर्मणि २।३।२२।

सम्पूर्वस्य जानतेः कर्मणि तृतीया वा स्यात्। पित्रा पितरं वा सञ्जानीते।

सम् पूर्वक ज्ञा धातु के कर्म से तृतीया विकल्प से होती है। ज्ञा धात्वर्थ कर्म पिता है तृतीया, पक्ष में द्वितीया पित्रा, पितरम्।

५६९ हेतौ २।३।२३।

हेत्वर्थे तृतीया स्यात्। द्रव्यादिसाधारणं निर्व्यापारसाधारणं च हेतुत्वम्। करणत्वन्तु क्रियामात्रविषयं व्यापारनियतं च। दण्डेन घटः, पुण्येन दृष्टो हरिः। फलमपीह हेतुः। अध्ययनेन वसति। गम्यमानापि क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिका। अलं श्रमेण, श्रमेण साध्यं नास्तीत्यर्थः। इह साधनक्रियाम्प्रति श्रमः करणम्। शतेन शतेन वत्सान् पाययति पयः, शतेन परिच्छिद्येत्यर्थः। ॐ अशिष्टव्यवहारे दाणः प्रयोगे चतुर्थ्यर्थे तृतीया ॐ। दास्या संयच्छते कामुकः। धर्म्ये तु भार्य्यायै संयच्छति।

हेतु अर्थ में तृतीया होती है। द्रव्यादि साधारण और निर्व्यापार साधारण का नाम हेतु है। अर्थात् जो द्रव्य, गुण, और कर्म व्यापार रहित होकर क्रिया का सम्पादक है, वह हेतु होता है। और जो द्रव्य गुण और कर्म व्यापार से युक्त होकर क्रिया का जनक हो, वह करण है। यथा दण्डेन घटः, यहां दण्डनिरूपित हेतुत्ववान् दण्ड है इस कारण तृतीया हुई। पुण्येन दृष्टो हरिः— यहां हरि दर्शन हेतु पुण्य से तृतीया हुई है। क्रोधेन रक्तः यहां रक्तत्व में क्रोध हेतु है क्रोध से तृतीया हुई। यहां हेतु से फल का भी ग्रहण होता है। अध्ययनेन वसति = अध्ययन हेतु वास करता है, यहां वास का फल अध्ययन है वही हेतु है।

वाक्य घटक शब्द से अवाच्य अध्याहारादि से लभ्य क्रिया को गम्यमान क्रिया कहते हैं वह भी कारक विभक्ति के उत्पत्ति में हेतु है। यथा अलं श्रमेण = यह कार्य श्रम से साध्य नहीं है, यहां क्रिया की ऊहा की जाती है इस ऊहित क्रिया का श्रम करण है, तर्कित क्रिया साधन है उस साधन क्रिया निरूपित करणत्व श्रम में है श्रमेण यहां तृतीया हुई। शतेन शतेन वत्सान् पाययति पयः = सौ सौ बछड़ों को जल पिलाता है यहां तर्कित परिच्छेदन क्रियानिरूपित करणत्व शत में है शतेन परिच्छिद्य अर्थ है। शास्त्र एवं धर्म विहित आचारवान् को शिष्ट कहते जो रागादि वश से अन्यथ वादी नहीं है, एवं सकल पदार्थ के तत्त्व को पूर्ण रूप से जाने वह भी शिष्ट है। दुराचारी को अशिष्ट कहते हैं। * अशिष्ट व्यवहार में दाण् धातु के प्रयोगस्थल में चतुर्थी के अर्थ में तृतीया होती है। यथा दास्या संयच्छते कामुकः = कामी पुरुष रति फलक दासी को दान देता है, दासी संगम निन्दित कर्म है, संयच्छते में दाण् को यच्छ आदेश है, यहां अधर्मार्थ दान होने से चतुर्थी न हुई किन्तु इस वार्तिक से तृतीया हुई है शिष्ट व्यवहार में धर्मार्थ दान को करें वहां चतुर्थी होती है भार्यायै संयच्छते। तृतीया समाप्त है।

५७० कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् १।४।३२।

दानस्य कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानसंज्ञः स्यात्।

लाघवार्थ संज्ञा का करण है, यहां महती सम्प्रदान संज्ञा करने में आचार्य तात्पर्य यह है कि जिसको उद्देश्य करके अच्छी तरह दान दिया जाय उसको सम्प्रदान कहते हैं। इससे वृत्ति में 'दानस्य' का लाभ हुआ है। दा धातु का जो कर्म उससे सम्बन्ध कराने के लिए जो इष्ट है, अर्थात् जिसको उद्देश्य करके दान किया जाय उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है। सम्प्रदान तीन प्रकार का है १—प्रेरक, २—अनुमन्तृक, ३—अनिराकर्तृक। १—भक्ति द्वारा भक्त राम को प्रेरणा मुक्ति के लिए करता है तब राम भक्त को मुक्ति देते है—रामो भक्ताय मुक्तिं ददाति। २—अनुमन्तृक वह है जिसमें न प्रेरणा की जाय, न निराकरण किया जाय यथा तापसः वने रामाय फलमूले ददाति। यहां राम फल एवं मूल की प्राप्ति के लिए न प्रेरणा करते हैं न मना करते हैं। ३—अनिराकर्तृक वह है जिसमें प्रेरणा, निराकरण, और अनुमति भी न हो यथा पुरुषोत्तमाय पुष्पं ददाति, यहां प्रेरणा, निषेध, एवं ग्रहण विषय निश्चय नहीं प्रतीयमान है।

५७१ चतुर्थी सम्प्रदाने २।३।१३।

विप्राय गां ददाति। अभिहित इत्येव। दानीयो विप्रः। * क्रियया यमभिप्रैति सोऽपि सम्प्रदानम् *। पत्ये शेते। * कर्मणः करणसंज्ञा, सम्प्रदानस्य च कर्मसंज्ञा *। पशुना रुद्रं यजते, पशुं रुद्राय ददातीत्यर्थः।

सम्प्रदान में चतुर्थी होती है। विप्र यहां दान कर्म का उद्देश्य है, वह कर्म सम्बन्ध से इष्ट है, अतः विप्राय यहां चतुर्थी हुई। विप्र को उद्देश्य कर गाय को चैत्र देता है। सम्प्रदान रूप अर्थ अन्य से अनुक्त रहे वहां चतुर्थी होती है। दानीयो विप्रः यहां दान का उद्देश्य विप्र कृत्प्रत्यय अनीयर् से उक्त है अतः विप्र से प्रथमा विभक्ति हुई। चतुर्थी की यहां प्राप्ति नहीं है।

* क्रिया से जिसका सम्बन्ध की इच्छा की जाय उसकी भी सम्प्रदान संज्ञा होती है। यथा पत्ये शेते यहां स्त्री शयन क्रिया द्वारा पति प्राप्ति की इच्छा करती है पति से चतुर्थी। * यज धातु के कर्म की करण संज्ञा होती है एवं सम्प्रदान की कर्म संज्ञा होती है। यथा पशुना रुद्रं यजते, यहां रुद्र को पशु देता है, पशु यज का कर्म था उसकी करण से पशुना, रुद्र सम्प्रदान था उसकी कर्म संज्ञा हुई रुद्रम्।

५७२ रुच्यर्थानां प्रीयमाणः १।४।३३।

रुच्यर्थानां धातूनां प्रयोगे प्रीयमाणोऽर्थः सम्प्रदानं स्यात्। हरये रोचते भक्तिः। अन्यकर्तृकोऽभिलाषो रुचिः। हरिर्निष्ठप्रीतेर्भक्तिः कर्त्री। प्रीयमाणः किम्, देवदत्ताय रोचते मोदकः पथि।

रुच्यर्थक धातुओं के प्रयोग में तृप्त होने वाले कारक की सम्प्रदान संज्ञा होती है। यथा हरये रोचते भक्तिः = हरि को भक्ति अच्छी लगती है। अभिलष् धातु के कर्ता से भिन्न कर्ता रुच् धातु का होता है अर्थात् अभि पूर्वक लष् धातु का कर्म जो भक्ति है, वह यहां रुच् धात्वर्थ क्रिया की कर्त्री है। इस प्रकार रुच् धातु एवं अभिलष् धातु में भेद है अतः अभिलष् धातु के योग में सम्प्रदान संज्ञा न हुई यथा—हरिः भक्तिम् अभिलषति, यथा हरि से प्रथमा, भक्ति से कर्म में द्वितीया हुई है।

यहां किसी को भ्रम था कि दोनों धातु एकार्थक है, उस भ्रम को दूर करने के लिए ग्रन्थकार स्वयं लिखते हैं कि अन्यकर्तृकोऽभिलाषो रुचिः अन्य का अर्थ है भिन्नः—भेदवान् = भेदाश्रय,

भेद अपने प्रतियोगी में नित्य साकाङ्क्ष है कि प्रतियोगिक भेद, स्वप्रतियोगिक भेद तो स्व में रहता ही नहीं, क्यों कि प्रतियोगी की सत्ता तद् अभाव विषयक बुद्धि में प्रतिबन्धक है, अतः प्रकृत में अभिलष् धातु का जो कर्ता, तत्कर्तृकप्रतियोगिक भेदवत् जो कर्म उस धातु का वह है कर्ता जिसका ऐसा रुच् धातु है। हरि निष्ठ प्रीति की भक्ति कर्त्री है। प्रीत्याश्रय हरि हैं, हरि के अन्तःकरण में समवाय सम्बन्ध से प्रीति विद्यमान है। प्रीत्याश्रय पुरुष अभीष्ट वरदाता होता हैं। अतः भक्त भक्ति = पूज्य में अनुराग करता है। प्रीत्याश्रय न होने से मार्ग वाचक की सम्प्रदान संज्ञा न हुई 'पथि' यहां अधिकरण में सप्तमी हुई = देवदत्त को मार्ग में लड्डू अच्छा लगता है। हर्षार्थक मुद् धातु से ण्वुल् प्रत्यय से मोदक शब्द = हर्ष देने वाला की सिद्धि हुई है—"ब्राह्मणो मोदक प्रियः" "अलङ्कारप्रियो विष्णुः" 'नमकारप्रियो भानुः' जलधाराप्रियः शिवः।

५७३ श्लाघह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः १।४।३४।

एषां प्रयोगे बोधयितुमिष्टः सम्प्रदानं स्यात्। गोपी स्मरात् कृष्णाय श्लाघते, ह्नुते, तिष्ठते, शपते वा। ज्ञीप्स्यमानः किम्, देवदत्तस्य श्लाघते पथि।

श्लाघ्—ह्नुङ्—स्था—एवं शप् इन धातुओं के योग में जिसको जनाया जाय उस की सम्प्रदान संज्ञा होती है। यथा गोपी स्मरात् कृष्णाय श्लाघते ह्नुते, तिष्ठते शपते वा गोपी काम के वश होकर कृष्ण की प्रशंसा करती है, सपत्नी से दूर करती है, स्थिर होकर अपना अभिप्राय प्रकट कहती हैं, और कृष्ण की उपालम्भ देती है। इनसे कृष्ण विषयक स्वानुराग को जनाती है, कृष्ण की सम्प्रदान संज्ञा यहां हुई। जिसको जनाया जाय = यद् विषयक अनुराग का व्यक्तीकरण किया जाय यह कहने से 'देवदत्तस्य श्लाघते पथि' यहां मार्गरूपार्थक की सम्प्रदान संज्ञा न हुई 'पथि' में अधिकरण में सप्तमी हुई।

५७४ धारेरुत्तमर्णः १।४।३५।

धारयतेः प्रयोगे उत्तमर्ण उक्तसंज्ञः स्यात्। भक्ताय धारयते मोक्षं हरिः। उत्तमर्णः किम् ?, देवदत्ताय शतं धारयति ग्रामे।

ऋण देने वाला उत्तमर्ण कहाता है एवं ऋण का ग्रहीता अधमर्ण कहाता है। ण्यन्त धृ धातु का प्रयोग हो वहां उत्तमर्ण की सम्प्रदान संज्ञा होती है। भक्त ने प्रथम भक्ति रूपी ऋण (कर्ज) हरि को दिया, ऋण के धारण करने वाले हरि जो अधमर्ण है वे उत्तमर्ण भक्त को ऋण चुकाने के लिए मोक्ष प्रदान करते हैं। भक्ताय धारयते मोक्षं हरिः = हरि भक्त के लिए मोक्ष को धराते हैं। ग्राम यहां उत्तमर्ण नहीं है अतः सम्प्रदान संज्ञा न हुई। किन्तु अधिकरण में सप्तमी है।

५७५ स्पृहेरीप्सितः १।४।३६।

स्पृहयतेः प्रयोगे इष्टः सम्प्रदानं स्यात्। पुष्पेभ्यः स्पृहयति। ईप्सितः किम्, पुष्पेभ्यो वने स्पृहयति। ईप्सितमात्रे इयं संज्ञा, प्रकर्षविवक्षायान्तु परत्वात्कर्मसंज्ञा—पुष्पाणि स्पृहयति।

ण्यन्त स्पृह् धातु के योग में ईप्सित की सम्प्रदान संज्ञा होती है। यथा पुष्पेभ्यः स्पृहयति = फलों के निमित्त इच्छा करता है। यहां ईप्सित पुष्प हैं। वन की सम्प्रदान संज्ञा न हुई क्यों कि वे ईप्सित नहीं है 'वने' यहां सप्तमी। वे फूल अत्यन्त अच्छे लगते हैं इस प्रकार की इच्छा में

ईप्सिततमत्व की विवक्षा है यहां परत्व के कारण 'कर्तुरीप्सिततमम्' से कर्म संज्ञा से पुष्प से द्वितीया ही होती है। यथा—पुष्पाणि स्पृहयति।

५७६ क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः १।४।३७।

क्रुधाद्यर्थानां प्रयोगे यं प्रति कोपः स उक्तसंज्ञः स्यात्। हरये क्रुध्यति, द्रुह्यति, ईर्ष्यति, असूयति। यं प्रति कोपः किम्, भार्यामीर्ष्यति, मैनामन्योऽद्राक्षीदिति। क्रोधः = अमर्षः। द्रोहः = अपकारः। ईर्ष्या = अक्षमा। असूया= गुणेषु दोषाविष्करणम्। द्रुहादयोऽपि कोपप्रभवा एव गृह्यन्ते। अतो विशेषणं सामान्येन यं प्रति कोप इति।

क्रुध्, द्रुह्, ईर्ष्य, असूय, इन धातुओं के प्रयोग में जिसके प्रति क्रोध किया जाय उस कारक की सम्प्रदान संज्ञा होती है। यथा हरये क्रुध्यति आदि, = हरि के अर्थ क्रोध करता है, अपकार करता है, ईर्ष्या करता है, एवं गुणों में दोष निकालता है। यहां हरि के प्रति क्रोधादि की अभिव्यक्ति है। अतः हरि की सम्प्रदान संज्ञा एवं चतुर्थी उससे होकर 'कृष्णाय'। अन्य पुरुष के दर्शनवती अपनी स्त्री को धमकाता है कि इसको अन्य पुरुष न देखें। यहां वास्तव में स्त्री के प्रति क्रोध की अभिव्यक्ति वह पुरुष नहीं करता है किन्तु उसका अभिप्राय अन्य पुरुष दर्शनाभाव में है अतः 'भार्याम्' यहां कर्म में द्वितीया ही हुई है।

सूत्रोक्त चारों का भिन्नार्थत्व है। एकार्थत्व नहीं है उसको स्पष्ट कर दिया गया है। अमर्ष को क्रोध कहते हैं। अपकार को द्रोह कहते हैं। अक्षमा को ईर्ष्या कहते हैं। गुणों में दोष देखना उसको असूया कहते हैं। द्रुहादि भी क्रोध से उत्पन्न हैं अतः सामान्यत सभी धात्वर्थों का विशेषण 'यम्प्रति कोपः' कहा है, "न हि अकुपितः क्रुध्यति" आदि।

५७७ क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः कर्म १।४।३८।

सोपसर्गयोरनयो र्यं प्रति कोपस्तत्कारकं कर्मसंज्ञं स्यात्। क्रूरमभिक्रुध्यति अभिद्रुह्यति।

उपसर्ग पूर्वक क्रुध् एवं द्रुह के योग में जिसके प्रति कोप गम्यमान रहे उस कारक की कर्म संज्ञा होती है। यह सूत्र पूर्व सूत्र का बाधक है। क्रूरमभिक्रुध्यति द्रुह्यति = क्रूर पुरुष पर क्रोध एवं द्रोह करता है, यहां क्रूर की पूर्व सूत्र से प्राप्त सम्प्रदान संज्ञा निषेध पूर्वक इससे कर्म संज्ञा है।

५७८ राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः १।४।३९।

एतयोः कारकं सम्प्रदानसंज्ञं स्यात्। यदीयो विविधः प्रश्नः क्रियते। कृष्णाय राध्यति, ईक्षते वा। पृष्टो गर्गः शुभाशुभं पर्यालोचयतीत्यर्थः।

राध् एवं ईक्ष् धातु के प्रयोग में जिसका विविध (नाना प्रकार) प्रकार का प्रश्न हो उस कारक की सम्प्रदान संज्ञा होती है। यथा कृष्णाय राध्यति ईक्षते = नन्द द्वारा कृष्ण के विषय में अनेक प्रश्न पूँछने पर कृष्ण के भाग्य विषयक ग्रहों का महादैवज्ञ वैयाकरण शिरोमणि गर्गाचार्य आलोचना करते हैं, यहां कृष्ण की सम्प्रदान संज्ञा हुई है।

५७९ प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्ता १।४।४०।

आभ्यां परस्य श्रृणातेर्योगे पूर्वस्य प्रवर्तनारूपव्यापारस्य कर्ता सम्प्रदानं

स्यात्। विप्राय गां प्रतिश्रृणोति, आश्रृणोति वा। विप्रेण मह्यं देहीति प्रवर्तितः प्रतिजानीते इत्यर्थः।

प्रति पूर्वक एवं आङ् पूर्वक श्रुधातु के योग में जो पूर्व प्रेरणा रूप व्यापार का कर्ता है उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है। यथा—'विप्राय गां ददाति' यहां यजमान को ब्राह्मण ने प्रेरणा गोदानार्थ दी थी तदनन्तर वह ब्राह्मण को उद्देश्य कर गाय रूप कर्म का दान करता है। प्रतिजानीते = दान देने की प्रतिज्ञा करता है।

५८० अनुप्रतिगृणश्च १।४।४१।

आभ्यां गृणातेः कारकं पूर्वव्यापारस्य कर्तृभूतम् उक्तसंज्ञं स्यात्। होत्रेऽनुगृणाति प्रतिगृणाति=होता प्रथमं शंसति, तम् अध्वर्युः प्रोत्साहयतीत्यर्थः।

अनुपूर्वक एवं प्रति पूर्वक गृधातु के योग में पूर्व व्यापार के कर्तृकारक की सम्प्रदान संज्ञा होती है। यथा होत्रेऽनुगृणाति, प्रतिगृणाति = होता प्रथम कहता है पश्चात् अध्वर्यु उसको उत्साहित करता है। यहां पूर्व व्यापार का कर्ता होता है, उसकी सम्प्रदान संज्ञा, चतुर्थी से 'होत्रे'।

५८१ परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम् १।४।४४।

नियतकालं भृत्या स्वीकरणं परिक्रयणं तस्मिन् साधकतमं कारकं सम्प्रदानसंज्ञं वा स्यात्। शतेन शताय वा परिक्रीतः। ❋ तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या ❋। मुक्तये हरिं भजति। ❋क्लृपि सम्पद्यमाने च❋। भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते सम्पद्यते जायते इत्यादि। ❋ उत्पातेन ज्ञापिते च ❋। वाताय कपिला विद्युत्। ❋ हितयोगे च ❋। ब्राह्मणाय हितम्।

नियत समय तक धनादि देकर जो भृत्य = सेवक को अत्यन्त स्वाधीन कर लेना वह परिक्रयण कहलाता है, उस परिक्रयण में अत्यन्त साधक की सम्प्रदान संज्ञा विकल्प से होती है। सौ रुपये देकर स्वीकार किया हुआ सेवक यहां परिक्रयण में प्रकृष्ट उपकारक शत है उसकी सम्प्रदान संज्ञा हुई, चतुर्थी से शताय, सम्प्रदान के अभाव में करण में तृतीया से शतेन।

* जिस कार्य के लिए कारण वाचक शब्द का प्रयोग किया हो उसको तादर्थ्य कहते हैं, उससे चतुर्थी होती है। यथा मुक्तये हरिं भजति = मुक्ति के लिए हरि का भजन करता है, यहां मुक्ति रूप कार्य के निमित्त हरि का भजन है मुक्ति रूप कार्यार्थ मुक्ति की सम्प्रदान संज्ञा से चतुर्थी 'मुक्तये'। * क्लृप् धातु के योग में उत्पन्न होने वाला कारक है उसकी सम्प्रदान संज्ञा होती है। यथा भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते सम्पद्यते जायते = भक्ति ज्ञान के अर्थ होती हैं, यहां क्लृप् धातु के समानार्थक संपूर्वक पद् धातु और ज्ञा धातु है। वार्तिक में पर्य्यायवाचक धातुओं के ग्रहण निमित्त अर्थ शब्द है। ज्ञानाय यहां चतुर्थी। * अशुभ घटना का सूचक को उत्पात कहते हैं। जहां उत्पात से जो जाना जाय तद्वाचक से चतुर्थी होती है यथा वाताय कपिला विद्युत्=पीत वर्ण की बिजली से आंधी बहुत आती है। यहां वात से चतुर्थी हुई है। आतपाय अतिलोहिनी = अत्यधिक लाल वर्ण की बिजली धूप के निमित्त होती है। कृष्णा सर्वविनाशाय = काली विद्युत सब के नाश निमित्त है। दुर्भिक्षाय सिता भवेत = सफेद वर्ण की (शुभ्र) विद्युत दुर्भिक्ष (अकाल) के निमित्त होती है। यहां उत्पात वाचक से चतुर्थी हुई है। हित शब्द के योग में जिसका हित प्रतीयमान रहे उससे चतुर्थी विभक्ति होती है। ब्राह्मणाय हितम् (अध्ययनम्) यहां ब्राह्मण के

लिए अध्ययनादि शुभ कर्म हित सम्पादक है। चतुर्थी से ब्राह्मणाय। यह वार्तिक अपूर्व नहीं है। तत्पुरुष समास में 'चतुर्थी तदर्थ' सूत्र हित सुबन्त का चतुर्थ्यन्त से साथ समास संज्ञा बोधक है उससे ही ज्ञापन होता है कि हित शब्द के योग में कारक से चतुर्थी होती है। अन्यथा चतुर्थ्यन्त मिलेगा नहीं हित के साथ समास न होने पर उस सूत्र किया गया हित ग्रहण व्यर्थ होगा अतः उससे लब्धार्थ का यह अनुवादक मात्र ही है। 'हितयोगे च'। यह संस्कृत भाषा में वाक्यमात्र है कात्यायनादि की कृति नहीं है।

५८२ क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः २।३।१४।

क्रियार्था क्रिया उपपदं यस्य तस्य स्थानिनोऽप्रयुज्यमानस्य तुमुनः कर्मणि चतुर्थी स्यात्। फलेभ्यो याति। फलान्याहर्तुं यातीत्यर्थः। नमस्कुर्मो नृसिंहाय। नृसिंहमनुकूलयितुमित्यर्थः। एवं 'स्वयंभुवे' नमस्कृत्येत्यादावपि।

गुणत्व का अनाश्रयण एवं विभाग का असमवायी जो कारण उसको क्रिया कहते हैं। संयोगजन्य-संयोग एवं विभागजन्य विभाग उसमें क्रिया लक्षण अतिव्याप्त न हो एतदर्थ यहां विशेषण दिया गया हैं। यहां क्रिया अर्थः प्रयोजनं यस्या सा क्रियार्था = क्रिया के निमित्त क्रिया के अर्थ जिसके उपपद क्रिया हो ऐसे स्थानी = अप्रयुज्यमान तुमुन् प्रत्यायान्त के कर्म से (तद्वाचक से) चतुर्थी होती है। यथा फलेभ्यो याति = फलों को लेने के निमित्त वह जाता है, यहां आहर्तुम् का कर्म फल है। फलों का आहरणार्थ यानक्रिया है। जिस क्रिया का फल कर्म है उस क्रिया वाचक शब्द 'आहर्तुम्' का यहां प्रयोग नहीं है, किन्तु अध्याहारादि से उसकी मानसिक प्रतीति यहां गम्यमान है। क्यों वह जाता है? आहरण के लिये, किस का आहरण ?, फलों का। 'नमस्कुर्मो नृसिंहाय' = नृसिंहावतारधारण करने वाले भगवान् को हम लोग नमस्कार करते हैं।

यहां अप्रयुज्यमान 'अनुकुलयितुम् का कर्म नृसिंह है, चतुर्थी हुई। नृसिंहत्व विलक्षण जात्यन्तर है। यह शाब्दिक सिद्धान्त है वै० मञ्जूषा में विस्तृत इसका वर्णन रत्नप्रभा में है। इसी प्रकार स्वयंभु भगवान् को अनुकूल करणार्थ हम लोग प्रणाम करते हैं वहां भी 'स्वयंभुवे चतुर्थी' हुई है। यह सूत्र कर्मार्थक द्वितीया का बाधक है।

५८३ तुमर्थाच्च भाववचनात् २।३।१५।

भाववचनाच्च (३-३-११) इति सूत्रेण यो विहितस्तदन्ताच्चतुर्थी स्यात्। यागाय याति = यष्टुं यातीत्यर्थः।

भाववचनाश्च' इस सूत्र से विहित जो प्रत्यय तदन्त से चतुर्थी होती है। यागाय याति यज्ञ करने के निमित्त वह जाता है, यहां याग शब्द 'यजनं यागः' भाव में घञ् प्रत्ययकर उपधा वृद्धि कुत्व से बना है अतः याग से चतुर्थी होकर 'यागाय' बना है भावार्थक प्रत्ययान्त एवं भावप्रत्यय की प्रकृति का ही अर्थ है। किन्तु यहां तुम् का अर्थ द्योतक है।

५८४ नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च २।३।१६।

एभिर्योगे चतुर्थी स्यात्। हरये नमः। उपपदविभक्तेः कारकविभक्ति-र्बलीयसी। नमस्करोति देवान्। प्रजाभ्यः स्वस्ति। अग्नये स्वाहा। पितृभ्यः स्वधा। अलमिति पर्य्याप्त्यर्थग्रहणम्। तेन दैत्यभ्यो हरिरलं प्रभुः समर्थः

शक्त इत्यादि। प्रभ्वादियोगे षष्ठ्यपि साधुः। तस्मै प्रभवति स एषां ग्रामणीरिति निर्देशात्। तेन प्रभुर्बुभूषु र्भुवनत्रयस्येति सिद्धम्। वषट् इन्द्राय। चकारः पुनर्विधानाय। तेनाशीर्विवक्षायां परामपि चतुर्थी चाशिषीति षष्ठीं बाधित्वा चतुर्थ्येव भवति। स्वस्ति गोभ्यो भूयात्।

नमः स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलम्, वषट् इनके योग में उद्देश्य वाचक शब्द से चतुर्थी होती है। हरये नमः यहां हरिको उद्देश्यकर नमस्कार विधेय है। जहां एक समय एक कारक की उपपदनिमित्तक विभक्ति प्राप्त है एवं कारक विभक्ति भी प्राप्त है वह कारक विभक्ति बलवती होकर उपपद विभक्ति को बाध करती है। यथा—नमस्करोति देवान्, मुनित्रयं नमस्कृत्य। यहां भाष्य-वार्तिक प्रामाण्य से 'अलम्' केवल पर्याप्ति अर्थ वाचक का ग्रहण है। अन्यार्थ—भूषण, अलंकार-निषेधादि का नहीं है।

अलम् के पर्य्याय बाचक यद्यपि प्रभु समर्थ शक्त भी है किन्तु प्रभु आदि के योग में षष्ठी विभक्ति भी होती है यथा—'तस्मै' 'एषाम्' द्विविध सौत्रप्रयोग है। इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रभु के योग में षष्ठी से तीनो भुवनो का स्वामी बनने की इच्छा वाला अर्थ में 'भुवनत्रयस्य प्रभुः' यह सुसङ्गत है। सूत्र में चकार योगविभाग द्वारा उसी अर्थ जो सूत्र प्रतिपादित है उसका विधायक है पृथक् 'च' योगविभाग बाधक बाधनार्थ है अतः आशीर्वाद अर्थ में स्वस्ति गोभ्यो भूयात यहां पर भी 'चतुर्थी चाशिषि' को बाधकर षष्ठी न हो कर चतुर्थी ही गो से होकर 'गोभ्यः' बना है।

५८५ मन्यकर्मण्यनादरे विभाषाऽप्राणिषु २।३।१७।

प्राणिवर्जे मन्यतेः कर्मणि चतुर्थी वा स्यात् तिरस्कारे। न त्वां तृणं मन्ये तृणाय वा। श्यना निर्देशात् तानादिकयोगे न। न त्वां तृणं मन्वे। अप्राणिष्वित्यपनीय—*नौकाकान्नशुकशृगालवर्जेष्विति वाच्यम्*। तेन न त्वां नावम् अन्नं वा मन्ये इत्यत्राप्राणित्वेऽपि चतुर्थी न। न त्वां शुने श्वानं वा मन्ये इत्यत्र प्राणित्वेऽपि भवत्येव।

प्राणी को छोड़कर तिरस्कार अर्थ में दिवादिमन् धातु का जो कर्म तद्वाचक से चतुर्थी होती है। पक्ष में द्वितीया। मैं तुम को तृण के समान भी नहीं मानता हूं यहाँ तृणाय 'तृणम्' हुआ है। यदि सूत्र में दिवादि एवं तनादि उभय मन् का ग्रहण अपेक्षित होता तो लाघवार्थ मन् कर्मणि यह आचार्य कहते पुनः मन्य यह गुरुभूत निर्देश से श्यन् विकरण दिवादिगण पठित ही मन् का यहां ग्रहण है, वह श्यन् निर्देश तनादि की व्यावृत्ति करने में उपलक्षण है विशेषण नहीं अतः दिवादिका मन् लट् लोट् लङ् विधि में श्यन् विकरण है अन्य लकारो में श्यन् विकरण नहीं है वहां भी यह चतुर्थी का विधान करेगा। उपलक्षण को स्वयं रहने की आवश्यकता नहीं है तो भी इतर का व्यावर्तक हो सकता है अविद्यमानं सत् व्यावर्तकम् उपलक्षणम् यथा काकवन्तो देवदत्तस्य गृहाः'। यहां अप्राणिषु इस पद को निकाल कर उसके स्थान में यह पठना चाहिये। नौ, काक, अन्न, शुक श्रृगाल इनसे भिन्न मन् धातु का कर्म से चतुर्थी वि० होती है। अतः न त्वां 'नावम्' अन्नम्' यह अप्राणी होते हुए भी निषेध से द्वितीया ही हुई है। तुम को मैं कुत्ते के समान भी नहीं समझता हूँ यहां श्वन् से शुनम् शुने प्राणी होते हुए भी हुआ।

५८६ गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि २।३।१२।

अध्वभिन्ने गत्यर्थानां कर्मणि एते स्तश्चेष्टायाम्। ग्रामं ग्रामाय वा गच्छति। चेष्टायां किम् मनसा हरिं व्रजति। 'अनध्वनि' इति किम् पन्थानं गच्छति। गन्त्राधिष्ठितेऽध्वन्येवायं निषेधः। यदा तूत्पथात्पन्था एवाक्रमितुमिष्यते तदा चतुर्थी भवत्येव। उत्पथेन पथे गच्छति।

अध्व वाचक शब्द भिन्न गायर्थक धातु के कर्म से चेष्टा अर्थ में द्वितीया एवं चतुर्थी होती है। गाब को जाता है यहां ग्रामायं ग्रामम् हुआ है शरीर का व्यापार को ही चेष्टा कहते हैं = प्राणिनां हिताहितपरिहारार्था चेष्टा'। मनसा हरिं व्रजति' यहां चेष्टा अर्थ नहीं, अतः यहां केवल हरि से द्वितीया कर्म में हुई है पन्यानम् यह मार्गार्थ से केवल द्वितीया ही हुई है गमन कर्ता से अधिष्ठित मार्ग में यह अनध्वनि' निषेध की प्रवृत्ति है किन्तु जब उत्पथ = कुमार्ग से सत्पथ = श्रेष्ठ मार्ग में जाने की इच्छा हो तो वहां चतुर्थी ही होगी यथा उत्पथेन सत्पथे गच्छति = उन्मार्ग से सुमार्ग में जाता है, इस विशेषार्थ बोधन में भाष्यकार का वार्तिक ही प्रमाण है।

यहां अधिष्ठित शब्द से "शब्दप्रयोग काल में कर्तृ वृत्ति व्यापार में जन्य जो फल उसका ग्रहण करना उचित है। कुद्धोऽध्यापकः=खण्डिकोपाध्यायः शिष्याय चपेटाम् (चप्पत) ददाति, रजकाय वस्त्रं ददाति, शिष्याय मतिं ददाति, रोगिणे औषधं ददाति। मैत्रावरूणाय दण्डप्रदानम्' आदि स्थलों में दाधात्वर्थ भिन्न भिन्न है, वैयाकरणभूषण की श्रीपञ्चोलीकृत प्रभा में इन सब विषयों का विस्तृत वर्णन है। चतुर्थी समाप्त।

५८७ ध्रुवमपायेऽपादानम् १।४।२४।

अपायः = विश्लेषस्तस्मिन् साध्ये ध्रुवम् = अवधिभूतं कारकम् अपादानं स्यात्।

यहां ध्रुव पद स्थिरार्थक नही है, किन्तु विभाग का जनक व्यापार का आश्रय न रहते हुये विभाग का जो आश्रय तदर्थक है। चल एवं अचल से दो प्रकार का अपादान है, "धावतोऽश्वात् पतति" = दौड़ते हुए घोड़े से गिरता है यह चल अपादान है। अचल अपादन-यथा पर्वतात् पतति = पर्वत से गिरता है। वृक्षात् पर्णं पतति = वृक्ष से पत्ती गिरती है भेड़ आपस में टक्कर से हटते है—मेषौ परस्पराद् अपसर्पतः।

५८८ अपादाने पञ्चमी २।३।२८।

ग्रामादायाति। धावतोऽश्वात् पतति। कारकं किम्, वृक्षस्य पर्णं पतति। ❀ जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसङ्ख्यानम् ❀। पापाज्जुगुप्सते, विरमति। धर्मात्प्रमाद्यति।

अपादन में पञ्चमी विभक्ति प्रातिपदिक से होती है ग्रामात् आयाति = गाँव से आता है जिस स्थान से वह चला उस स्थान से चलने वालो का विभाग हुआ विभागाश्रय यहां ग्राम है, विभाग-जनक क्रिया का आश्रय कर्ता है, अतः विभागाश्रय की अपादानसंज्ञा पूर्वक यहां पञ्चमी है। धावतोऽश्वात् पतति = दौड़ते हुए घोड़े से वह गिरता है यहां पतनका विभागाश्रय घोड़ा है तद्-वाचक अश्व से पञ्चमी अश्व का विशेषण शतृप्रत्ययान्तार्थ है तद् वाचक धावत् से भी पञ्चमी

विशेष्य विशेषण की समान विभक्ति हो अभेदान्वय बोध में धावनक्रियाश्रयाभिन्न अश्व यह इन दोनों पदार्थोका अर्थ है। यह चल अपादान का उदाहरण है। वृक्षसम्बन्धवत् पर्णकर्मक वर्तमान-कालिक पतन एतदर्थक = वृक्षस्य पर्ण पतति यहां वृक्षकारक नही है अतः सम्बन्धमें षष्ठी हुई है वहां सम्बन्ध 'अवयव-अवयवी' है । * निन्दा, विरति एवं प्रमाद बोधक धातुओं के कारक की अपादान संज्ञा होती है। यथा पापात् जुगुप्सते = पाप के कारण संसारमें निन्दा का पात्र वह होता है, गुप् धातु से सन्प्रत्यय निन्दा अर्थ में है।

पापात्--विरमति यहां पापात् अपादाने पञ्चमी है। पापसे विरति है। धर्मात् प्रमाद्यति वह धर्म कार्य में आलास्य लक्षण प्रमाद करता है। यहां इस वार्तिक की आवश्यकता नही है यहां भी 'ध्रुवमपाये' सूत्र से ही अपादान संज्ञा होकर अपादान कारक से पञ्चमी सिद्ध ही है। यथा जो मनुष्य जिस कार्य से निन्दित लोक में होता है उस कार्य से वह पृथक् होता है यहां पापविभागाश्रय है अपादानत्व सिद्ध ही है। पाप से विराम को प्राप्त करने में भी पृथक् करणार्थ की यहां स्पष्टप्रतीति है। जो जिससे प्रमाद करता है। वह उससे अलग होता है अतः धर्म की भी विभागाश्रयत्वेन उसका अपादानत्व सिद्ध ही है वार्तिक अनावश्यक है अतः इसका अनारम्भ ही उचित है। इसी प्रकार उत्तर वर्णितसूत्रोंका भी बुद्धिकृत अपादत्वका आश्रयण से खण्डन है।

५८९ भीत्रार्थानां भयहेतुः १।४।२५।

भयार्थानां त्राणार्थानां च प्रयोगे भयहेतुरपादानं स्यात्। चौराद् (चोराद्) बिभेति। चौरात् त्रायते। भयहेतुः किम्, अरण्ये बिभेति, त्रायते वा।

भय अर्थवाले एवं रक्षा अर्थवाले धातुओं के प्रयोग में भय का जो हेतु = कारण उसकी अपादान संज्ञा होती है। चोर से डरता है, चोर से रक्षा वह अपनी करता है यहां चौर से अपादान संज्ञा पूर्वक पन्चमी हुई है 'चैरात्'। अरण्य = वन उसमें डरता है यहां अरण्यभयका कारण नहीं अतः अरण्य से सप्तमी हुई है। यहां भी जिससे जो डरता है या जो जिससे रक्षार्थ अलग होता है यहां विभागाश्रय चोर है पूर्व से अपादानत्व सिद्ध है इस सूत्र की आवश्यकता नहीं है।

५९० पराजेरसोढः १।४।२६।

पराजेः प्रयोगेऽसह्योऽर्थोऽपादानं स्यात्। अध्ययनात् पराजयते, ग्लायतीत्यर्थः। असोढः किम्, शत्रून् पराजयते = अभिभवतीत्यर्थः।

परा उपसर्ग पूर्वक जिधातु के योग में असह्य कारक की अपादान संज्ञा होती है। यथा अध्ययनात् पराजयते = पढने से ग्लानि = सुस्तता का अनुभव करता है। अध्ययन से पञ्चमी विभक्ति हुई। यहां भी जो जिससे ग्लानि का अनुभव करता है वह उससे अलग होता है सामान्य सूत्र से यहां अपादानत्व सिद्ध है इस सूत्र की आवश्यकता नहीं है। शत्रुओं का तिरस्कार करता है यहां 'शत्रून् पराजयते' में असाध्य अर्थ शत्रु नहीं अतः कर्मार्थक द्वितीया शत्रु से हुई है। यद्यपि जिधातु परस्मैपदी है किन्तु वि या परा उपसर्ग पूर्वक वह आत्मनेपदी होता है। सूत्र—'विपराभ्यां जेः'।

५९१ वारणार्थानामीप्सितः १।४।२७।

प्रवृत्तिविघातः=वारणम्। वारणार्थानां धातूनां प्रयोगे ईप्सितोऽर्थोऽपादानं स्यात्। यवेभ्यो गां वारयति। ईप्सितः किम ?, यवेभ्यो गां वारयति क्षेत्रे।

कुछ काम करने में प्रवृत्त वहां से हटा देना उसको वारण कहते हैं। वारणार्थक धातुओं के योग में इष्ट कारक की अपादान संज्ञा होती है। अर्थात् वारणार्थ धात्वर्थ व्यापार जन्य जो फल उसके आश्रय की अपादान संज्ञा होती है। यवेभ्यो गां वारयति = यवभक्षणरूप कार्य से वह गाय का निवारण करता हैं। यहां ईप्सित यव है उसकी अपादान से पञ्चमी 'यवेभ्यः'। क्षेत्र = खेत ईप्सित नही है अतः क्षत्र की अपादान संज्ञा न हुई,-अधिकरण में सप्तमी 'क्षेत्रे' है। धात्वर्थ यहां प्रवृत्ति = संयोग जनकव्यापाररूप है। विघात पूर्वोक्त व्यापार का अभाव है।

दोनों अंश मिला कर यह अर्थ हुआ कि संयोग का उत्पादक व्यापार का अभाव जनक व्यापार। गाय की इच्छा है की यव मेरे उदरस्थ हो जाय, एतदर्थ गाय की प्रवृत्ति है, खेत के मालिक ने उस व्यापार से गायको अलग किया, अलग करने वाले को ईप्सित यव है, वह यव रक्षार्थ ही रोकने में प्रवृत्त है। संयोगरूप फलाश्रय गाय है अत, 'गाम्' यहां कर्तुरीप्सिततमम् से कर्मत्व प्रयुक्त द्वितीया हुई है।

संयोगजनकव्यापाराभाव रूप फलाश्रय यव है उसकी इससे अपादान संज्ञा से पञ्चमी 'यवेभ्यः' अतिशय ईप्सित में कर्म संज्ञा, सामान्यत, ईप्सित की अपादानसंज्ञा से कर्म एवं अपादान का संघर्ष नहीं है। विषय विभाग है। अन्यथा विशेषसंज्ञा = अपादान से कर्मत्व शक्ति का बाध होता इसी लिए कर्म संज्ञा में केवल ईप्सित न कह कर 'ईप्सिततम' का ग्रहण किया है। अग्नेर्माणवकं वारयति यहां अग्नि की अपादान संज्ञा से पञ्चमी ईप्सिततम माणवक कर्मसंज्ञा हुई है।

५९२ अन्तर्धौ येनादर्शनमिच्छति १।४।२८।

व्यवधाने सति यत्कर्तृकस्यात्मनो दर्शनस्याभावमिच्छति तदपादानं स्यात्। मातुर्निलीयते कृष्णः। अन्तर्धौ किम्, चौरान्न दिदृक्षते। इच्छति ग्रहणं किम्, अदर्शनेच्छायां सत्यां सत्यपि दर्शने यथा स्यात्।

छिप जाना अर्थ को अन्तार्ध कहते हैं। छिपा उस से जाया जाता है कि जिसको अपने नहीं दिखने को इच्छा हो। अर्थात् व्यवधान रहने पर जिससे अपना अदर्शन की इच्छा मात्र प्रतीयमान हो उसकी अपादान संज्ञा होती है। मातु र्निलीयते कृष्णः = कृष्ण की इच्छा यहां यह है कि माता मुझ को न देखें एतदर्थ वह उससे छिपता है। मातृ की अपादान से पञ्चमी 'मातुः'।

व्यवधान न होने पर अपादान संज्ञा नहीं होती है—सामने से तस्कर (चोर) आ रहा है किन्तु उसको भय से देखने की इच्छा वह नहीं करता है यहां चं र की कर्म संज्ञा से द्वितीया होकर 'चौरान्' यह द्वितीयान्त शब्द प्रयोग हुआ है। सूत्र में इच्छति ग्रहण इस लिए किया है कि देखने की इच्छा न हो और कदाचित् दिख भी पड़े वहां भी अपादनार्थ वह है।

५९३ आख्यातोपयोगे १।४।२९।

नियमपूर्वकविद्यास्वीकारे वक्ता प्राक्संज्ञः स्यात्। उपाध्यायाद् अधीते। उपयोगे किम्, नटस्य गाथां शृणोति।

नियमपूर्वक विधाका स्वीकार (उपयोग) में प्रवक्ता को अपादान संज्ञा होती है। पढाने वाले को प्रवक्ता कहते हैं। उपाध्यायात् अधीते = उपाध्यय से पठता वह है। नटसम्बन्धिनी गाथा श्रवण में गुरुशिष्य परम्परा गम्यमान नहीं है अतः नटकी अपादान संज्ञा न हुई। इस सूत्र की भी आवश्यकता नहीं है उपाध्याय से निः सरण शब्द को शिष्यग्रहण करता है यहां उपाध्याय विभागाश्रय है पूर्व से ही अपादानत्व सिद्ध है। भाष्यकार में कहा भी है—अयमपि योगो वक्तुमशक्यः" इत्यादिना।

५९४ जनिकर्तुः प्रकृतिः १।४।३०।

जायमानस्य हेतुरपादानसंज्ञः स्यात्। ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते।

जन् धातु वाच्यक्रिया के कर्ता का जो हेतु उसकी अपादान संज्ञा होती है ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते = ब्रह्मा से प्रजा उत्पन्न होती है। यहां उत्पत्त्यर्थक जन् धातु के कर्तृभूत प्रजाएँ है उनका उत्पादक ब्रह्मा है अतः पञ्चमी से ब्रह्मणः हुआ।

५९५ भुवः प्रभवः १।४।३१।

भवनं भूः। भूकर्तुः प्रभवस्तथा। हिमवतो गङ्गा प्रभवति। तत्र प्रकाशते इत्यर्थः। * ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च *। प्रासादात्प्रेक्षते, आसनात्प्रेक्षते। प्रासादमारुह्य आसने उपविश्य प्रेक्षत इत्यर्थः। श्वसुराज्जिह्रेति, श्वसुरं वीक्ष्येत्यर्थः। * गम्यमानाऽपि क्रिया कारकविभक्तीनां निमित्तम् *। कस्मात्त्वं नद्याः। *यतश्चाध्वकालनिर्माणं तत्र पञ्चमी*। तद्युक्तादध्वनः प्रथमासप्तम्यौ। * कालात्सप्तमी वक्तव्या *। वनाद् ग्रामो योजनं योजने वा। कार्तिक्या आग्रहायणी मासे।

जहां से कोई वस्तु उत्पन्न होती है उसको प्रभव कहते हैं, जो प्रभव भू धातु वाच्य क्रिया कर्ता का कारण हो उस उत्पादक की अपादान संज्ञा होती है। यथा हिमवतः गङ्गा प्रभवति = हिमालय पर्वत से गङ्गा प्रकाशित होती हैं यहां उत्पादक कारण होने से अपादान संज्ञा से 'हिमवतः' हुआ है। जहां ल्यबन्तार्थ की प्रतीति रहे किन्तु ल्यबन्तार्थ प्रतिपादक क्रिया वाचक शब्द अप्रयुक्त रहे वहां कर्म एवं अधिकरण कारक की अपादान संज्ञा होती है। महल पर चढ़ कर देखता है, आसन पर बैठ कर देखता है यहां प्रसादमारुह्य, एवं आसने उपविश्य न कह कर आरुह्य उपविश्य अप्रयुक्त है, उसका कर्म प्रासाद एवं अधिकरण आसन दोनो से अपादान प्रयुक्त पञ्चमी आसनात् एवं प्रासादात्।

यहां ल्यबन्तार्थ क्रिया जन्यफलाश्रयत्वरूप कर्मत्व प्रासाद में है, एवं कर्ता के द्वारा प्रेक्षण क्रिया का अधिकरण आसन है यहां सम्बन्ध स्व (आसन) वृत्ति (चैत्र) वृत्ति प्रेक्षण स्ववृत्तिवृत्तित्वस्वरूप-आसन प्रेक्षण का सम्बन्ध है। अधिकरण कारक कर्तृ द्वारा ही क्रिया का आश्रय है साक्षात् नहीं। पत्नी या पति उसका जनक को श्वसुर कहते हैं। पुरुष के लिए स्त्री का पिता उसका श्वसुर है, पत्नी के लिए पति का पिता उसका श्वसुर है। यहां भी वीक्ष्य ल्यबन्त का अप्रयोग है उसका अध्याहारादिना लभ कर उसका अर्थ का कर्म श्वसुर की अपादान संज्ञा से श्वसुरात् जिह्रेति श्वसुर को देखकर लज्जित होता है।

अध्याहारादि से लब्ध क्रिया भी कारक विभक्ति की उत्पत्ति में कारण है, यथा तुम कहां से आये? प्रश्न के उत्तर में 'नद्याः' यहां गम्यमान क्रिया आगत है जिसका प्रयोग नहीं है। नदी से पञ्चमी। * जहां से मार्ग एवं कालके निर्माण में पञ्चमी की है उस से युक्त मार्ग वाची शब्द से प्रथमा और सप्तमी होती है उससे युक्त काल वाचक शब्द से केवल सप्तमी होती है। वनात् ग्रामो योजनं योजने वा। यहां अध्वपरिमाण वन से हुआ है, इस कारण वन से पञ्चमी, तथा मार्ग वाचक योजन से प्रथमा एवं सप्तमी 'कार्तिक्याः आग्रहायणी मासे' यहां काल का परिमाण है, इस कारण कार्तिकी से पञ्चमी, और कालवाचक मास से सप्तमी।

५९६ अन्यारादितरर्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते २।३।२९।

एतैर्योगे पञ्चमी स्यात्। अन्य इत्यर्थग्रहणम्। इतरग्रहणं प्रपञ्चार्थम्। अन्यो भिन्न इतरो वा कृष्णात्। आराद् वनात्। ऋते कृष्णात्। पूर्वो ग्रामात्। दिशि दृष्टः शब्दो दिक्शब्दः। तेन सम्प्रति देशकालवृत्तिना योगेऽपि भवति। चैत्रात्पूर्वः फाल्गुनः।

अवयववाचियोगे तु न, तस्य परमाम्रेडितमिति निर्देशात्। पूर्वं कायस्य। अञ्चूत्तरपदस्य तु दिक्शब्दत्वेऽपि षष्ठ्यतसर्थेति षष्ठीं बाधितुं पृथग्ग्रहणम्। प्राक् प्रत्यग् वा ग्रामात्। आच्—दक्षिणा ग्रामात्। आहि-दक्षिणाहि ग्रामात्। अपादाने पञ्चमीति सूत्रे कार्तिक्याः प्रभृतीति भाष्यप्रयोगात्प्रभृत्यर्थयोगेऽपि पञ्चमी। भवात्प्रभृति आरभ्य वा सेव्यो हरिः। अपपरिबहिरिति समासविधानाज्ज्ञापनात् बहिर्योगे पञ्चमी ग्रामाद् बहिः।

अन्यार्थ, आरात्, इतर, ऋते, दिशा वाचक शब्द, अञ्चूत्तरपद, आच्प्रत्ययान्त, आहि-प्रत्ययान्त शब्दों के योग में पञ्चमी विभक्ति प्रातिपदिक से होती है। अन्य में शब्द वृत्ति वर्ण मात्र ही केवल न लेनी किन्तु अन्यार्थ से उसके पर्य्याय वाचक शब्दों का भी ग्रहण होता है। यथा अन्य भिन्न इतर आदि।

सूत्र में इतर ग्रहण व्यर्थ है केवल स्पष्ट अर्थ ज्ञापनार्थ है। वस्तुतः इतर स्त्वन्यनीचयोः" कोश से नीचार्थक इतर के योग में पञ्चमी विधानार्थ इतर ग्रहण आवश्यक है। व्यर्थ नहीं है, इतर शब्द योगरुढ है, इः = कामः तेन तरति इति इतरः कामप्रधानत्वात् ईश्वरभक्ति बहिर्मुखत्वात् नीच इत्यर्थ। 'घट पटो न' यहां नञ् भी भेदार्थक है पञ्चमी निवारणार्थ वाचक शब्द योग में पञ्चमी होती है नञ् द्योतक है, वाचक नहीं है। दिक् शब्द से कभी दिशा में देखा गया शब्द का ग्रहण है। सम्प्रति देश या काल बोधक दिक् शब्द रहे तभी उसके योग में पञ्चमी होती है। यथा चैत्रात् पूर्वः फाल्गुनः। यहां पूर्व शब्द काल वाचक है। 'तस्मात्परम्' न कह कर सूत्रकार ने 'तस्य परमाम्रेडितम्' कहा अतः अवयव वाचक दिक् शब्द के योग में पञ्चमी नहीं होती है पूर्वं कायस्य यहां काया = शरीर उसका पूर्वावयव यहां पूर्व शब्द अवयवार्थक है, अतः षष्ठी हुई है। प्राङ् आदि शब्द दिक् वाचक है उनका दिक् शब्द से कार्य निर्वाह होता पुनः सूत्र में अञ्चूत्तर पद ग्रहण इस लिए किया है की षष्ठ्यतसर्थ से प्राप्त षष्ठी बाधनार्थ है। ग्रामात् प्राक् यहां षष्ठी न हुई।

आच्प्रत्ययान्त दक्षिणा के योग में ग्राम से पञ्चमी। यद्यपि प्रभृति शब्द योग में पञ्चमी अप्राप्त थी किन्तु कार्तिक्याः प्रभृति इस भाष्यप्रयोग से प्रभृति एवं प्रभृत्यर्थ = पर्याय वाचक शब्द उनके भी योग में पञ्चमी होती है यथा भवात् प्रभृति। पञ्चम्यन्त का बहिः सुबन्त के साथ समास विधान के सामर्थ्य से बहिः के योग में पञ्चमी भी होती है, न्यायतः प्राप्त षष्ठी तो सिद्ध ही है अतः यहां अपि = भी गर्भित व्याख्यान करना उचित है। इससे 'करस्य करभो बहिः' यहां षष्ठी हुई।

५९७ अपपरी वर्जने १।४।८८।

एतौ वर्जने कर्मप्रवचनीयौ स्तः।

वर्जन अर्थ में अप एवं परि शब्द की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

५९८ आङ् मर्य्यादावचने १।४।८९।

आङ् मर्यादायामुक्तसंज्ञः स्यात् ।

मर्यादा अर्थ में आङ् की कर्म प्रवचनीय संज्ञा होनी है। सूत्र में मर्यादायाम् कहना था पुनः वचनग्रहण करने से अभिविधि अर्थ में आङ् की भी कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

५९९ पञ्चम्यपाङ्परिभिः २।३।१०।

एतैः कर्मप्रवचनीयै र्योगे पञ्चमी स्यात्। अप हरेः, परि हरेः संसारः। परिरत्र वर्जने। लक्षणादौ तु हरिं परि। आ मुक्तेः संसारः। आ सकलाद् ब्रह्म।

कर्म प्रवचनीय संज्ञक अप् आङ् एवं परि के योग में पञ्चमी होती है। अप शब्द आदि दोनों उदाहरणों में वर्जनार्थक है। जहां लक्षणार्थ परि रहेगा वहां 'लक्षणेत्थंभूताख्यान' से कर्मप्रवचनीय एवं द्वितीया ही होगी। आ मुक्तेः संसारः में आङ् मर्यादार्थक है। मुक्ति के अव्यवहित पूर्व क्षण तक संसार में स्थिति यहां मुक्ति क्षण छुट गया है अतः 'तेन विना मर्यादा' यहां आङ् मर्यादार्थक है। आ सकलाद् ब्रह्म यहां ब्रह्म सत्ता की व्याप्ति सर्वत्र है कोई ऐसा स्थल विशेष नहीं जहां ब्रह्मसत्ता की स्थिति न रहे यहां आङ् अभि विधि में है "तेन सह अभिविधिः"। यहां सकलात् में पञ्चमी अभिविधि में आङ् योग में है।

६०० प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः १।४।९२।

एतयोरर्थयोः प्रतिरुक्तसंज्ञः स्यात्।

किसी के स्थान में वैसा ही गुण युक्त की स्थापना करना उसको प्रतिनिधि कहते हैं। एक वस्तु के बदले दूसरी वस्तु को देना उसको प्रतिदान कहते है। इन अर्थ में उनकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

६०१ प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात् २।३।११।

अत्र कर्मप्रवचनीयै र्योगे पञ्चमी स्यात्। प्रद्युम्नः कृष्णात् प्रति। तिलेभ्यः प्रतियच्छति माषान्।

जिस से प्रतिनिधि और प्रतिदान हो उससे कर्मप्रवचनीय योग में पञ्चमी होती है। प्रद्युम्नः कृष्णात् प्रति = कृष्ण के प्रद्युम्न प्रतिनिधि है, यहां प्रतिनिधि अर्थ होने पर कर्मप्रवचनीय प्रति के योग में कृष्ण से पञ्चमी हुई। प्रतिदान अर्थ में यथा—तिलेभ्यः प्रतियच्छति माषान् = तिलों से उडदों को देता है, यहां प्रतिदान अर्थ में प्रति की कर्मप्रवनीय संज्ञा उसके योग में तिलसे पञ्चमी तिलेभ्यः।

६०२ अकर्तर्यृणे पञ्चमी २।३।२४।

कर्तृवर्जितं यद् ऋणं हेतुभूतं ततः पञ्चमी स्यात्। शताद् बद्धः। अकर्त्तरीति किम्, शतेन बन्धितः।

कर्तसंज्ञक से भिन्न जो हेतुभूत ऋण उससे पञ्चमी होती है।

शताद् बद्धः=सौ रुपैये के कारण बन्धनयुक्त वह हुआ है। यहां शत जो ऋण है वह कर्ता नहीं प्रत्युत बन्धन में हेतु है अतः शत से पञ्चमी शताद्। कर्तृसंज्ञक शत से तृतीया शतेन बन्धितः।

६०३ विभाषा गुणेऽस्त्रियाम् २।३।२५।

गुणे हेतावस्त्रीलिङ्गे पञ्चमी वा स्यात्। जाड्याज्जाड्येन वा बद्धः। गुणेति किम्, धनेन कुलम्। अस्त्रियां किम्, बुद्ध्या मुक्तः। विभाषेति योगविभागाद्-गुणे स्त्रियाञ्च क्वचित्। धूमादग्निमान्। नास्ति घटोऽनुपलब्धेः।

गुण वाचक हेतुभूत पुंलिङ्ग या नपुंसक लिङ्ग, में वर्तमान शब्द से विकल्प पञ्चमी होती है। पक्ष में तृतीया होगी। जाड्यात जाड्येन वा बद्धः=जड़ता से बधा हुआ। यहां गुण वाचक जाड्यशब्द नपुंसक है एवं बन्धन में हेतुभूत भी है पञ्चमी से जाड्यात, तृतीया से जाड्येन।

धनेन कुलम् यहां धन शब्द गुण वाचक नहीं; द्रव्य वाचक है अतः तृतीया हेतु में है।

मुक्ति में बुद्धि हेतुभूत है किन्तु वह स्त्रीलिङ्ग है अतः इसकी अप्रवृत्ति से हेतु मे तृतीया से बुध्या मुक्तः। यहां विभाषा योग विभाग कर हेतु अर्थ में तृतीया एवं पञ्चमी होती है वह अर्थ कर गुण-वाचक से भिन्न एवं द्रव्यवाचक से भी तृतीया एवं पञ्चमी। धूम हेतुक वह्नियुक्त पर्वतादि यहां धूम द्रव्य है तो भी पञ्चमी हुई। यहां घड़ा नही है, उसकी यहां उपलब्धि नहीं है, यदि होता यहां तो वह अवश्य मिलता, नहीं मिलता है, अतः नहीं है। इस अर्थ में—अत्र घटो नास्ति अनुपलब्धेः। यहां अनुपलब्धि शब्द स्त्रीलिङ्ग है तो भी इससे पञ्चमी हुई।

दार्शनिकलोग ६ प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष—अनुमान—उपमान—शब्द—अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धिः। नैयायिक चार मानते हैं।

५—अर्थस्य आपत्तिः कल्पना—अर्थापत्तिः=पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते अर्थात रात्रि में वह भोजन करता है। उपपाद्य जो पीनत्व उससे उपपादक जो रात्रि भोजन उसकी कल्पना हुई।

उपपाद्यज्ञानेनोपपादकज्ञानकल्पनम् = अर्थापत्तिः।

६—भूतले घटो नास्ति, अनुपलब्धेः, यदि स्यात तर्हि उपलभ्येत, नोपलभ्यते अतो नास्ति=पृथ्वी में घड़ा नहीं है क्यों कि वह मिलता नहीं है यदि होता तो मिलता, नहीं मिलता है, अतः नहीं है यहि अनुपलब्धि का उदाहरण है। नैयायिक अर्थापत्ति को अनुमान में अन्तर्भाव मान कर उसको स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते हैं अनुपलब्धि का अभाव में अन्तर्भाव है चार ही प्रमाण है। प्रत्यक्ष ज्ञानादि की प्रक्रिया दार्शनिकों की भिन्न-भिन्न है वैयाकरणों की वह प्रक्रिया वै० ल० मञ्जूषा में श्री नागेश भट्ट ने प्रदर्शित कर व्याकरण को स्वतन्त्र दर्शन का महत्त्व पूर्ण स्थान दिया है। आचार्य चरण श्री सभापति शर्मोपाध्याय महोदय ने उसका विशद व्याख्यान रत्नप्रभा में जो किया है वह उत्कृष्टतम वैदुष्य सूचक है उसको देखिये—रत्नप्रभा वै० ल० मञ्जूषा की।

६०४ पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम् २।३।३२।

एभिर्योगे तृतीया स्यात् पञ्चमीद्वितीये च। अन्यतरस्यां ग्रहणं समुच्चयार्थम्, पञ्चमीद्वितीये चानुवर्तेते। पृथग् रामेण, रामात् रामं वा। एवं विना, नाना।

पृथक, विना, नाना शब्दों के अर्थ योग में द्वितीया, तृतीया और पञ्चमी होती है। यहां अन्यतरस्याम् पद समुच्चयार्थक है, पञ्चमी एवं द्वितीया की यहां अनुवृत्ति है। उदाहरण स्पष्ट है एवं रामेण रामाद् रामं विना नाना।

६०५ करणे च स्तोकाल्पकृच्छ्रकतिपयस्यासत्त्ववचनस्य २।३।३३।

एभ्योऽद्रव्यवाचकेभ्यः करणे तृतीयापञ्चम्यौ स्तः। स्तोकेन स्तोकाद् वा मुक्तः। द्रव्ये तु स्तोकेन विषेण हतः।

अद्रव्यवाची स्तोक, अल्प, कृच्छ्र एवं कतिपय इन शब्दों से करण में तृतीया एवं पञ्चमी होती है। यथा स्तोकेन यह स्तोक अद्रव्यार्थक है जहां स्तोक शब्द विष शब्दार्थ के साथ अभेदान्वयी है वहां स्तोकत्वविशिष्ट विषरूप द्रव्य का बोधक है वहां इसकी अप्रवृत्ति से करण में केवल तृतीया से स्तोकेन विषेण हतः = विनाशं गतः।

६०६ दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च २।३।३५।

एभ्यो द्वितीया स्यात्, चात्पञ्चमीतृतीये। प्रातिपदिकार्थमात्रे विधिरयम्। ग्रामस्य दूरं दूरात् दूरेण वा। अन्तिकम्, अन्तिकात्, अन्तिकेन वा। असत्त्ववचनस्येत्यनुवर्तनान्नेह—दूरः पन्थाः।

दूर एवं अन्तिकार्थ शब्द से द्वितीया विभक्ति होती है, चकार से पञ्चमी एव तृतीया भी होती है। दूरं दूरात् दूरेण, आदि।

इन विभक्तियां का कोई प्रकृत्यर्थ से अतिरिक्त अर्थ नहीं है अतः प्रातिपदिकार्थमात्र में हुई है जहां दूरशब्द द्रव्यार्थक है यथा दूरः पन्थाः यहां इसकी प्रवृत्ति इस लिए नहीं है कि इस सूत्र में पूर्व सूत्र में असत्त्ववचन की अनुवृत्ति है।

अपादान तीन प्रकार का है १ निर्दिष्टविषय, २ उपात्तविषय, ३ अपेक्षितक्रियक।

विमर्श—१—जहां साक्षाद् धातु से गति का निर्देश रहे उसको निर्दिष्ट विषय कहते हैं। यथा अश्वात् पतति। २—जहां धात्वन्तरगर्भित विषय रहे उसको उपात्तविषय कहते हैं। यथा बलाहकात् विद्योतते, यहां निःसरणाङ्ग विद्योतन अर्थ है। ३— क्रिया जहां साकाङ्क्ष रहे, यथा कुतो भवान्? पाटलिपुत्रात्। यहां आगमका अध्याहार करके अर्थ करना। पञ्चमी समाप्त।

६०७ षष्ठी शेषे २।३।५०।

कारकप्रातिपदिकार्थव्यतिरिक्तः स्वस्वामिभावादिसम्बन्धः शेषस्तत्र षष्ठी स्यात्। राज्ञः पुरुषः। कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव। सतां गतम्। सर्पिषो जानीते। मातुः स्मरति। एधो दकस्योपस्कुरुते। भजेः शम्भोश्चरणयोः। फलानां तृप्तः।

कारक एवं प्रातिपदिकार्थ से भिन्न अर्थ जो स्वस्वामिभावादि सम्बन्ध है वह शेष है उस शेष अर्थ में प्रातिपदिक से षष्ठी होती है। राज्ञः यहां स्वरुप सम्बन्ध में षष्ठी हुई है। राजपदार्थ एवं पुरुष पदार्थ का स्वामि सेवकत्व सम्बन्ध है या स्वस्वामिभावसम्बन्ध है यहां इस सम्बन्ध का प्रतियोगी राजपदार्थ है। अनुयोगी पुरुषपदार्थ है, सम्बन्ध के प्रतियोगी वाचक

शब्द से षष्ठी होती है, अनुयोगी से नहीं अतः राजा का पुरुष इस अर्थ राज्ञः पुरुष या राजपुरुष होता है इसी अर्थ में पुरुषस्य राजा नहीं होता है। इससे भिन्न अर्थ में हो सकता है।

प्रकृति का अर्थ एवं प्रत्यय का अर्थ वे दोनों जहां एक साथ अर्थ बोधन करें वहां प्रत्ययार्थ की प्रधानता=विशेष्यता रहती है—"प्रकृतिप्रत्ययार्थौ सहार्थं ब्रूतस्तयोः प्रत्ययार्थः प्रधानम्" अतः राजन् शब्द से ही षष्ठी होती है। यदि पुरुष शब्द से षष्ठी लायेगें तो प्रकृत्यर्थापेक्षया प्रत्ययार्थ सम्बन्धार्थ विशेषण होकर पूर्वोक्त नियम भङ्ग होगा। राजपदार्थ का प्रत्ययार्थ स्वत्व में निरूपितत्व सम्बन्ध से अन्वय है, प्रत्ययार्थ स्वत्व का आश्रयता सम्बन्ध से पुरुषार्थ में अन्वय है "राजनिरूपित जो स्वत्व, तदाश्रयः पुरुष" यह अर्थ है। अथवा स्वस्वामिभाव सम्बन्ध से राजप्रकारकपुरुष-विशेष्यक बोध है।

राजपुरुषः—निरूपितत्वसम्बन्धावच्छिन्नराजत्वावच्छिन्न प्रकारता निरूपित स्वत्वत्वावच्छिन्न विशेष्यत्वावच्छिन्न स्वत्वत्वावच्छिन्नाश्रयत्वत्वसम्बन्धावच्छिन्न प्रकारता निरूपित पुंस्त्वविशिष्टै-कत्वविशिष्ट पुरुषः यह राजपुरुषः से प्रकारतावादि मत में शाब्दबोध है। राजपदार्थ का निरूपितत्व सम्बन्ध से स्वत्व में स्वत्व का आश्रयता सम्बन्ध से पुरुष में अन्वय है। समवाय सम्बन्ध से वत्ष्टत्व एवं पुंस्त्वका पुरुषार्थ में अन्वय है। संसर्गतावादि के मत में स्वस्वामिभाव सम्बन्धेन राजविशिष्टपुरुषः यह बोध होता है।

संसर्ग का प्रकारता से भान या संसर्गविधया भान एवं उनमें गुण दोष विवचनादि प्रक्रिया श्री गदाधर भट्टाचार्य विरचित व्युत्पत्तिवाद में विस्तृतवर्णन है।

कर्मादि कारक की भी सम्बन्ध विवक्षा में षष्ठी होती है, यथा सतां गतम् = सज्जन सम्बन्धि पुरुष सम्बन्धि गमनम्। यहां कर्म की सम्बन्ध विवक्षा है सर्पिषो जानीते = सर्पिः सम्बन्धिज्ञान। मातरं स्मरति अर्थ में मातुः स्मरति। एधस् शब्द सान्त है दक शब्द उदकार्थक है। एधस् दक का समाहार द्वन्द्व है। एधोदक से सम्बन्ध विवक्षा में षष्ठी है। उपस्कुरुते यहां गुणाधान में आत्मनेपद है।

शङ्कर सम्बन्धि चरण सम्बन्धि भजन यहां कर्मत्व की अविवक्षा से षष्ठी। फल सम्बन्धिनो तृप्तिः यहां करणत्व की अविवक्षा से फलानां तृप्तः।

षष्ठ्यर्थ सम्बन्ध यद्यपि अनेक है भाष्यकार ने कहा है कि "एकशतं षष्ठ्यर्थाः षष्ठ्याम् उच्चरितायां ते सर्वे प्राप्नुवन्ति" किन्तु प्रधान सम्बन्ध चार है।

स्वस्वामिजन्यजनकावयवाङ्गी तृतीयकः।
स्थान्यादेशश्च विज्ञेयः सम्बन्धोऽसौ चतुर्विधः॥

१ स्वस्वामिभाव २ जन्यजनकभाव ३ अवयववावयविभाव ४ स्थान्यादेशभाव।

साधो र्धनं पितुः पुत्रः पशोः पादो ब्रुवो वचिः।
उदाहृतश्चतुर्धा यः कविभिः परिशीलितः॥

पूर्वो प्रधान सम्बन्धों के उदाहरण उसमें वर्णित है १—साधोः धनम् = सज्जन का धन यहां स्वस्वामिभाव सम्बन्ध है। २—पितुः पुत्रः = पिता का पुत्र वहां जन्यजनकभावसम्बन्ध है। ३—पशोः पादः = पशुका चरण यहां अवयव-अवयविभाव सम्बन्ध है ४—ब्रुवः वचिः ब्रूको वच् आदेश होता है यहां स्थान्यादेशभाव सम्बन्ध है।

६०८ षष्ठी हेतुप्रयोगे २।३।२६।

हेतुशब्दप्रयोगे हेतौ द्योत्ये षष्ठी स्यात्। अन्नस्य हेतो र्वसति।

हेतु वाचक शब्द के प्रयोग में हेतु द्योत्य होने पर षष्ठी विभक्ति होती है। 'अन्नस्य हेतोः वसति' = अन्न के निमित्त निवास करता है। षष्ठी अन्नस्य।

६०९ सर्वनाम्नस्तृतीया च २।३।२७।

सर्वनाम्नो हेतुशब्दस्य च प्रयोगे हेतौ द्योत्ये तृतीया स्यात् षष्ठी च। केन हेतुना वसति। कस्य हेतोः। * निमित्तपर्यायप्रयोगे सर्वासां प्रायदर्शनम् *। किं निमित्तं वसति केन निमित्तेन, कस्मै निमित्तायेत्यादि। एवं किं कारणं को हेतुः किं प्रयोजनमित्यादि। प्रायग्रहणादसर्वनाम्नः प्रथमाद्वितीये न स्तः। ज्ञानेन निमित्तेन हरिः सेव्यः। ज्ञानाय निमित्तायेत्यादि।

हेतु शब्द के प्रयोग में हेतु द्योत्य होने पर सर्वनाम शब्द से तृतीया एवं षष्ठी होती है। उदाहरणों में स्पष्ट अर्थ समन्वय है। * निमित्त के पर्याय जो शब्द कारण हेतु उनके प्रयोग में हेतु अर्थ द्योत्य होने पर प्रायः सब विभक्तियाँ होती है। वार्तिक में प्रायः शब्द से असर्वनाम से प्रथमा एवं द्वितीया ही होती है। ज्ञानप्राप्ति के हेतुक हरि का भजन करना चाहिये, या ज्ञानप्राप्ति का आश्रय साधनरूप हरि है।

६१० षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन २।३।३०।

एतद्योगे षष्ठी स्यात्। दिक्शब्देति पञ्चम्यापवादः। ग्रामस्य दक्षिणतः, पुरः, पुरस्तात्। उपरि, उपरिष्टात्।

अतसुच् प्रत्यय के अर्थ में जो प्रत्यय होते है तदन्त के योग में षष्ठी होती है। यह सूत्र 'दिक् शब्देभ्यः' सूत्र से प्राप्त पञ्चमी का बाधक है। यथा 'ग्रामस्य दक्षिणतः' यहां 'दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच् ५।३।२८। से सप्तम्यन्त दक्षिणा शब्द से अतसुच् प्रत्यय हुआ है। पुरः में असि प्रत्यय है। पुरस्तात् में अस्तातिं प्रत्यय है उपरि में रिल् प्रत्यय एवं रिष्टातिल् से उपरिष्टात् बना हुआ है वे सब अतसुच् के समानार्थक प्रत्यय है।

६११ एनपा द्वितीया २।३।३१।

एनबन्तेन योगे द्वितीया स्यात्। एनपेति योगविभागात् षष्ठ्यपि। दक्षिणेन ग्रामं ग्रामस्य वा, एवमुत्तरेण।

एनप् प्रत्ययान्त के योग में द्वितीया होती है। इसमें 'एनपा' पृथक् सूत्र विभक्त कर षष्ठी की अनुवृत्ति से एनप् प्रत्ययान्त के योग में षष्ठी विभक्ति होती है इस अर्थ से ग्रामं ग्रामस्य उत्तरेण प्रयोग की सिद्धि हुई है, उत्तरेण आदि में 'एनबन्यतरस्याम्' से एनप् है।

विमर्श—जब एनप् प्रत्ययान्त के योग में शास्त्रकार ने द्वितीयान्त प्रयोग को ही साधुत्व बोधन किया है तो "तत्रागारं धनपतिगृहाद् उत्तरेणास्मदीयम्" यहां एनप् प्रत्ययान्त उत्तरेण के योग में धन पति गृहात् यहां पञ्चमी विभक्ति किस प्रकार हुई?

दूराल्लक्ष्यं सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन यहां तृतीयान्त तोरण का वह समानार्थक तृतीयान्त विशेषण है एनप् प्रत्ययान्त नहीं है 'उत्तरेण तोरणेन' यह अभिप्राय है।

६१२ दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम् २।३।३४।

एतै र्योगे षष्ठी स्यात् पञ्चमी च। दूरं निकटं ग्रामस्य ग्रामाद् वा।

दूर एवं समीप अर्थ वाचक शब्दों के योग में पञ्चमी एवं षष्ठी विभक्ति होती है।

६१३ ज्ञोऽविदर्थस्य करणे २।३।५१।

जानातेरज्ञानार्थस्य करणे शेषत्वेन विवक्षिते षष्ठी स्यात्। सर्पिषो ज्ञानम्।

अज्ञानार्थक ज्ञा धातु के प्रयोग में शेषत्व विवक्षा हो तब धातु का करण कारक से षष्ठी विभक्ति होती है। यथा सर्पिषो ज्ञानम् करणभूत घृत से अग्नि प्रज्वलित होता है। यहां ज्ञा = का ज्ञान अर्थ नहीं है। सर्पिष् रूप करण में शेषत्वविवक्षा से तृतीया न हुई इससे सर्पिष् सम्बन्धी अर्थ में षष्ठी हुई है। घृत सम्बन्धि प्रज्वलन अर्थ हुआ है।

६१४ अधीगर्थदयेशां कर्मणि २।३।५२।

एषां कर्मणि शेषे षष्ठी स्यात्। मातुः स्मरणम्। सर्पिषो दयनम् ईशनं वा।

स्मरणार्थक धातु एवं दय, ईश इनके कर्म से शेषत्व विवक्षा में षष्ठी विभक्ति होती है। मातृकर्मकं स्मरणम् अर्थ न कर कर्म मातृ पदार्थ में मातृ सम्बन्ध अर्थ में शेषत्व विवक्षा है अतः षष्ठी। अधिपूर्वक इक् धातु का अर्थ है स्मृति इससे यहां स्मरणार्थ का काम हुआ है। यद्यपि यहां सूत्र में स्मृत्यर्थे लिख सकते थे किन्तु इङ् इक् सदा अधि पूर्वक रहते हैं इस ज्ञान की दृढ़ता सम्पादनार्थ आचार्य ने अधीगर्थ कहा है। दयनम् ईशनम् इनके भी योग में सर्पिष् से षष्ठी विभक्ति हुई है।

६१५ कृञः प्रतियत्ने २।३।५३।

कृञः कर्मणि शेषे षष्ठी गुणाधाने। एधो दकस्योपस्कुरुते।

प्रतियत्न का अर्थ है दूसरे के गुण का ग्रहण करना है। प्रतियत्नः = गुणाधानम्। गुणाधान अर्थ में विद्यमान कृञ् धातु का कर्म यदि शेषत्व से विवक्षित रहें तब षष्ठी होती है एधो दकस्य उपस्कुरुते=इंधन (काष्ठ) जल का गुण क्लिन्नता उसको ग्रहण करता है। यहां गुणाधान अर्थ में सुट् कर गन्धनावक्षेपण से कृञ् को गुणाधान अर्थ में आत्मनेपदी बनाया गया है। उदकार्थक यहां नक वास्तविक कर्म था किन्तु कर्मत्वेन अविवक्षा है एवं शेषत्वविवक्षा से षष्ठी होकर दकस्य है।

६१६ रुजार्थानां भाववचनानामज्वरेः २।३।५४।

भावकर्तृकाणां ज्वरिवर्जितानां रुजार्थानां कर्मणि शेषे षष्ठी स्यात्। चौरस्य रोगस्य रुजा। ॐ अज्वरिसन्ताप्योरिति वाच्यम् ॐ। रोगस्य चौरज्वरः। चौरसंतापो वा। रोगकर्तृकं चौरसम्बन्धिज्वरादिकमित्यर्थः।

जिन धातुओं के कर्ता में धातु का अर्थ विशेषणता से रहता है ऐसे रुजार्थक धातुओं में से ज्वर धातु को छोड़कर उनके शेष कर्म मे षष्ठी होती है यहां भाव वचन शब्द से कर्तृस्थ भावक रुजार्थ धातुओं का ग्रहण है। चौरस्य रोगस्य रुजा, यहां रुजा = पीडा उसका कर्ता रोग है रोग शब्द घञन्त है रोग से कर्ता में कर्तृकर्मणोः कृति से षष्ठी है। चौरस्य यहां इस सूत्र से षष्ठी है। चौर कर्म की यहां शेषत्वविवक्षा है। चौर सम्बन्धिनी रोगकर्तृका पीडा यह अर्थ है। * सूत्र में 'अज्वरेः' के स्थान में 'अज्वरिसंताप्योः' ऐसा पढ़ना चाहिये। जिससे ज्वर एवं संपूर्वक तप् में इस सूत्र की अप्रवृत्ति हो जाय। जिससे रोगस्य यहां तो कर्तरि षष्ठी है किन्तु चौरस्य यहां इससे ज्वर के योग में' षष्ठी नहीं है किन्तु 'शेषे' सूत्र से षष्ठी कर समास हो गया जिससे चौरज्वरः बना है। इससे षष्ठी जहां होती है वहां षष्ठी विधान सामर्थ्य से समासाभाव रहता है। इसी प्रकार संताप के योग में इससे षष्ठी नही किन्तु 'शेषे' सूत्र से षष्ठी कर समास से रोगस्य 'चौरसन्तापः' हुआ है। रोग कर्ता है जिसका ऐसा चोरसम्बन्धि ज्वर या सन्ताप यह अर्थ है।

६१७ आशिषि नाथः २।३।५५।

आशीरर्थस्य नाथतेः शेषे कर्मणि षष्ठी स्यात् । सर्पिषो नाथनम् । आशिषि किम्, माणवकनाथनम् = तत्सम्बन्धिनी याच्ञेत्यर्थः ।

आशीर्वादार्थ नाथ् धातु का कर्म शेषत्व से विवक्षित होतो षष्ठी होती है । सर्पिषो नाथनम् = घृत सम्बन्धी आशीर्वाद । आशीर्वाद न रहे वहां इससे षष्ठी नहीं है किन्तु 'शेषे' से षष्ठी कर समास होकर माणवकनाथनम् = बालक सम्बन्धिनी याच्ञा यह अर्थ हुआ । यहां याच्ञार्थक नाथ् धातु है ।

६१८ जासिनिप्रहणनाटक्राथपिषां हिंसायाम् २।३।५६।

हिंसार्थानामेषां शेषे कर्मणि षष्ठी स्यात् । चौरस्योज्जासनम् । निप्रौ संहतौ विपर्यस्तौ व्यस्तौ वा । चौरस्य निप्रहणनम् । प्रणिहननम् । निहननम् । प्रहणनं वा । नट अवस्कन्दने चुरादिः, चौरस्योन्नाटनम् । चौरस्य क्राथनम् । वृषलस्य पेषणम् । हिंसायां किम्, धानापेषणम् ।

हंसार्थकजास्, निप्र पूर्वक हन्, (नि पूर्वक, प्रपूर्वक, प्रनि पूर्वक या निप्र पूर्वक हन् यथा युत उलटाक्रम, केवल एक एक पूर्वक हन्) नाट्, क्राथ, एवं पिष धातु इनका कर्म यदि शेषत्व से विवक्षित रहे तब षष्ठी होती है हिंसा अर्थ में । क्रमिक उदाहरण है ।

चोर को मारना = चौरस्योज्जासनम् यहां चौर में कर्मत्व अविवक्षित है, सम्बन्धस्वरूप शेषत्व विवक्षित है, चौरसम्बन्धिनी हिंसा । निप्र संघात, या उलटे, या पृथक् पृथक् इन सब जगह इससे षष्ठी होती है । वृषलस्य = शूद्रस्य पेषणम्=हिंसा । हिंसा अर्थ जहां न हो वहां षष्ठी इससे नहीं, किन्तु सामान्य 'शेषे' से षष्ठी एवं समास = धानापेषणम् ।

६१९ व्यवहृपणोः समर्थयोः २।३।५७।

शेषे कर्मणि षष्ठी स्यात् । द्यूते, क्रयविक्रयव्यवहारे चानयोस्तुल्यार्थता । शतस्य व्यवहरणं पणनं वा । समर्थयोः किम्, शलाकाव्यवहारः = गणनेत्यर्थः । ब्राह्मणपणनम् = स्तुतिरित्यर्थः ।

तुल्यार्थक वि अव उपसर्ग पूर्वक हृ एवं पण इनका कर्म यदि शेषत्व से विवक्षित हो तो षष्ठी होती है । सम × अर्थ यहां शकन्ध्वादि होने से दीर्घको बाधकर पररूप है । द्यूत = जूवां एवं लेन देन = क्रय विक्रय इन अर्थो में इनकी तुल्यार्थता रहती है, जहां गणना = गिनती अर्थ व्यवहार का होता है वहां इससे षष्ठी नहीं होती है—वहां शेषे षष्ठी एवं समास होता है सौ रूपैये का व्यवहार करना या पण लगना यहां षष्ठी होती है । ब्राह्मणपणनम् = ब्राह्मण की स्तुति यहां इसकी अप्रवृत्ति है । शलाका की गणना यहां शलकाव्यवहारः ही होता है ।

६२० दिवस्तदर्थस्य २।३।५८।

द्यूतार्थस्य क्रयविक्रयरूपव्यवहारार्थस्य च दिवः कर्मणि षष्ठी स्यात् । शतस्य दीव्यति । तदर्थस्य किम्, ब्राह्मणं दीव्यति = स्तौतीत्यर्थः ।

द्यूत एवं क्रयविक्रय व्यवहारार्थक दिव् धातु का शेषत्व से विवक्षित कर्म रहे यहां षष्ठी होती है स्तुति अर्थ वाला जहां दिव् रहे वहां 'ब्राह्मणं दीव्यति' यही होता है ।

६२१ विभाषोपसर्गे २।३।५९।

पूर्वयोगापवादः। शतस्य शतं वा प्रतिदीव्यति।

उपसर्ग पूर्वक दिव् धातु का कर्म शेषत्व से विवक्षित रहे एवं द्यूत या क्रयविक्रय अर्थ प्रतीयमान रहे यहां विकल्प से षष्ठी होती है, पक्षमे द्वितीया। यह नित्य प्राप्त पूर्वसूत्र का बाधक है।

६२२ प्रेष्यब्रुवोर्हविषो देवतासम्प्रदाने २।३।६१।

देवतासम्प्रदानेऽर्थे वर्तमानयोः प्रेष्यब्रुवोः कर्मणो = हविर्विशेषस्य वाचकाच्छब्दात् षष्ठी स्यात्। अग्नये छागस्य हविषो वपाया मेदसः प्रेष्य अनुब्रूहि वा।

देवताओं को उद्देश्य कर दान अर्थ में प्रेष्य एवं ब्रू धातु का जो हविषान्न रूप कर्म उसके वाचक शब्द से षष्ठी विभक्ति होती है।

यहां त्यज्यमान आह्वनीय द्रव्य का उद्देश्य अग्नि है वह देवता है उसको उद्देश्य कर वैध अग्नि कुण्ड में हविषान्न आदि का प्रक्षेप है, कर्म वाचक सभी से षष्ठी हुई है यथा—हविषः, वपायाः, मेदसः। प्र पूर्वक दिवादि इष्का लोट् मध्यम में प्रेष्य रूप है, प्रेष्य एवं ब्रूके योग में ही इसकी प्रवृत्ति होती है। अन्यत्र नहीं वहां "अग्नये छागस्य (बकरा) हवि वपां मेदो जुहुधि" यही प्रयोग होता है। प्रक्षेपणीय द्रव्य हविः चाहिये वहां षष्ठी। अन्यत्र नहीं, यथा 'गोमयानि' कर्म रहे वहां इससे षष्ठी न हुई। जहां कमलेशाय पुरोडाशान् प्रेष्य अनुब्रूहि है वहां देवता सम्प्रदान नहीं है द्वितीया हुई है।

६२३ कृत्वोऽर्थप्रयोगे कालेऽधिकरणे २।३।६४।

कृत्वोऽर्थानां प्रयोगे कालवाचिन्यधिकरणे शेषे षष्ठी स्यात। पञ्चकृत्वोऽह्नो भोजनम्। द्विरह्नो भोजनम्। शेषे किम्, द्विरहन्यध्ययनम्।

क्रिया की आवृत्ति के अर्थ में संख्या वाचक शब्द से विधीयमान कृत्वसुच् एवं उसका बाधक सुच् प्रत्यय वे दोनो अन्त में रहे ऐसा प्रातिपदिक के प्रयोग में काल वाचक या अधिकरण वाचक शेषत्व से विवक्षित रहे वहां षष्ठी होती है यथा पञ्चकृत्वः अह्नः भोजनम्। यहां काल अहन् से 'अहनि' अधिकरण में प्राप्त सप्तमी थी, किन्तु शेषत्वविवक्षा से षष्ठी में 'अह्नः' हुआ। दिवससम्बन्धि पांच वार भोजन यह अर्थ है, यहाँ भोजन क्रिया गत पञ्चत्वप्रत्यायक पञ्चन् से कृत्वसुच् प्रत्यय है—"संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्" कृत्वोऽर्थ का क्रिया में ही अन्वय होता है। यथा 'द्विः अह्नः भोजनम्' यहाँ कृत्वसुच् का बाधक सुच्प्रत्यय है द्विः सुजन्त है—"द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्" से सुच् प्रत्यय कृत्वसुच् का बाधक है, अहन् से षष्ठी 'अह्नः'। दिन सम्बन्धि दो वार भोजनम्। जहाँ काल वाचक अधिकरण कारक वाचक ही है, शेषत्वविवक्षा नहीं है वहाँ सप्तमी यथा द्विः अहनि अध्ययनम् = दिवस में दो बार पढाई।

६२४ कर्तृकर्मणोः कृति २।३।६५।

कृद्योगे कर्तरि कर्मणि च षष्ठी स्यात्। कृष्णस्य कृतिः। जगतः कर्ता कृष्णः। ॐ गुणकर्मणि वेष्यते ॐ। नेताऽश्वस्य स्रुघ्नस्य स्रुघ्नं वा। कृति किम्, तद्धिते मा भूत्। कृतपूर्वी कटम्।

सूत्र में कृति सत्सप्तमी है, औपश्लेषाधिकरण सप्तमी नहीं है अतः तस्मिन् परिभाषा के विधेयांश अव्यवहितत्व, पूर्वत्व, षष्ठ्यंश, की यहाँ अनुपस्थिति है। सत्सप्तमी में प्रमाणोपन्यास अग्रिम सूत्र में होगा। कृत यहाँ प्रत्यय बोधक पद है अतः 'प्रत्ययग्रहणे' परिभाषा से तदादि विशेष्यांश की उपस्थिति है, कृत की विशेषण संज्ञा है, तदन्त विधि से कृदन्त तदादि के योग में यह अर्थ का लाभ हुआ, कर्तृपद कर्तृ संज्ञा का वाचक है, कर्मपद भी कर्म संज्ञकार्थक है।

कृदन्त तदादि के योग में कर्तृ वाचक एवं कर्म वाचक शब्दों से षष्ठी विभक्ति होती है। यथा कृष्णस्य कृतिः = इस संसार की रचना के कर्ता कृष्ण है। यहां कृ धातु से क्तिन् भावार्थक है 'करणं कृतिः' रचना = कर्ता कृष्ण है। कर्मका उदाहरण यथा—जगतः कृष्णस्य कृति = जगत् = संसार यहां कर्म है। षष्ठी से जगतः हुआ। यहां कर्तृ पदार्थ एवं कर्म पदार्थ धात्वर्थ में भेदान्वयी है।

अतः स्तोकाभिन्न विक्लित्ति अर्थ जहां प्रतीयमान रहे वहां षष्ठी नहीं होती है यथा 'स्तोकं पाकः'। यह सूत्र * गुण कर्म वाचक से विकल्प षष्ठी को करेगा यह कात्यायन मत है 'स्रुघ्नम्' स्रुघ्नस्य=अश्व को स्रुघ्न देश को ले जाने वाला, यहां अश्व मुख्यकर्म है, उससे नित्य षष्ठी है, यह नी धातु द्विकर्मक है। अकथितञ्च से स्रुघ्न की कर्म संज्ञा हुई है अधिकरण की अविवक्षा यहां हैं।

विमर्श—कृति किम् ? इस शङ्का का अभिप्राय यह है कि यहां कर्तृ एवं कर्म से क्रिया का आक्षेप अर्थापत्ति रूप प्रमाण से होगा। क्रिया वाचक धातु ही है, धातु से द्विविध प्रत्यय होते हैं— १—कृत, २—तिङ्। तिङन्त तदादि योग में 'न लोकाव्यय' सूत्र से षष्ठी का निषेध होता है, परिशेष से कृदन्त तदादि का स्वतः लाभ होता ही है पुनः सूत्र में 'कृति' (कृत) ग्रहण क्यों किया ?,—वह व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि "कृदन्त तदादि पर्य्याप्त जो समुदाय उसमें समवेत जो शक्ति उससे प्रतीयमान जो क्रिया उसका कर्ता या कर्म उसके वाचक से षष्ठी" होती है—

संस्कृतवाक्यम्—कृदन्ततदादिपर्य्याप्तशक्त्युपस्थाप्यक्रियानिरूपितकर्तृकर्मवाचकात् षष्ठी। जहां तद्धितान्त तदादि शब्द स्वरूप, उसमें रहने वाली जो समुदायार्थ बोधिका समुदाय शक्ति उससे उपस्थापित जो क्रिया उसका जो कर्ता या कर्म तद्वाचक प्रातिपदिक से षष्ठी नहीं होती है। यथा, 'कृतपूर्वी कटम्' यहां 'सपूर्वाच्च' सूत्र से कृतपूर्व से इनि प्रत्यय है, तद्धितान्त कृतपूर्विन् में समुदायार्थ बोधक शक्ति है, (वृत्ति पाँच में समुदाय शक्ति पक्ष ही प्रामाणिक है, व्यपेक्षा वादका तिरस्कार किया गया है) उससे उपस्थापित—

"पूर्व कालिककट कर्मक उत्पत्ति कर्ता" यहां उत्पत्ति रूप धात्वर्थ एकदेश का कर्म कट से षष्ठी नहीं हुई द्वितीया से—'कृतपूर्वी कटम्'। यह कृति का फल षष्ठी व्यावृत्ति रूप दिया है। यहां पुनः शङ्का करते हैं कि यहां समास, एवं इन् प्रत्यय, एवं षष्ठी प्राप्त ही नहीं है वह वाक्य ही अशुद्ध है।

तथाहि—कृधातु सकर्मक है, उसका अर्थ उत्पत्ति जनक व्यापार है, सकर्मक धातु से क्त प्रत्यय कर्म में होता है 'कृतः' यहां क्तप्रत्यय से कर्म कटरूप उक्त है, अनुक्त नहीं अतः षष्ठी की अप्राप्ति। एवं कृतः कः ? = विरचित कौन ? यह प्रश्न में उत्तर 'कटः' यही होता है यहां अतः कृत पदार्थ कट पदार्थ में सापेक्ष है, सापेक्ष में एकार्थीभावात्मक शक्तिरूप सामर्थ्य नहीं रहता है = "सापेक्षमसमर्थवत्" अतः सामर्थ्य के अभाव से समास एवं इनि प्रत्यय रूप तद्धित वृत्ति की प्राप्ति ही नहीं है।

१—कर्म कट क्त प्रत्ययार्थ से उक्त है, २—सापेक्ष में सामर्थ्याभाव से समास की अप्राप्ति है सभी वृत्तियां एकार्थीभावरूप शक्ति स्थल में होती है यहां असामर्थ्य से इन् अप्राप्त है। पुनः कृति ग्रहण व्यावर्त्य के अभाव में व्यर्थ है ?

समाधान—यहां भाष्य प्रयोगानुसारी व्याख्यान से प्रथम कट रूप कर्म की अविवक्षा कर कृ धातु को अकर्मक मान कर (करणम् = कृतः) भाव में क्त प्रत्यय कर समास एवं इन् प्रत्यय कर कृतपूर्वी बनाकर बाद में कट रूप कर्म की विवक्षा करने से पूर्वोक्त तीनों शङ्काओं का निरास होकर यहां प्राप्त कट से षष्ठी का निरासार्थ कृद्ग्रहण सार्थक है। अन्यत्र इस प्रकार की अविवक्षा नहीं होती यहां 'सिद्धस्य गतिश्चिन्तनीया' से एवं भाष्यकार समर्थ के अनुग्रह बल में इस की यथाकथञ्चित् सिद्धि हुई है। यह पङ्क्ति प्रसिद्ध शास्त्रार्थ का विषय है। याद करों।

६२५ उभयप्राप्तौ कर्मणि २।३।६६।

उभयोः प्राप्तिर्यस्मिन् कृति तत्र कर्मण्येव षष्ठी स्यात्। आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपेन।

* स्त्रीप्रत्यययोरकाकारयोर्नायं नियमः *। भेदिका बिभित्सा वा रुद्रस्य जगतः। * शेषे विभाषा * स्त्रीप्रत्यय इत्येके। विचित्रा जगतः कृतिर्हरेर्हरिणा वा। केचिदविशेषेण विभाषामिच्छन्ति। शब्दानामनुशासनमाचार्येण आचार्यस्य वा।

इस सूत्र में प्राप्ति ग्रहण से कर्तृ वाचक कर्म वाचक इन दोनों का एक महावाक्य में सह प्रयोग रहेगा वहां ही इसकी प्रवृत्ति होती है यह सूत्र पूर्व से प्राप्त षष्ठी का नियामक है—यथा जहां कर्ता एवं कर्म दोनों को कृदन्ततदादि योग मे षष्ठी प्राप्त रहें वहां कर्म में ही षष्ठी होती है। अर्थात् कर्तृ वाचक से तृतीया होगी। यथा 'गवां दोहः अगोपेन।' यहां अगोप कर्ता है दोहनक्रिया का, एवं गो दोहनक्रिया की कर्म है, उभय से पूर्व सूत्र से षष्ठी द्वय प्राप्त हुई किन्तु गो से हो षष्ठी से गवां बना है अगोप से (गोवालभिन्न से) तृतीया 'अगोपेन' हुआ है।

यहां शङ्का होती है कि कृदन्त तदादि से अव्यवहितकर्ता या कर्म ही रहेगा, दोनों नहीं एक ही से प्राप्त है पुनः यह सूत्र व्यर्थ है ? उत्तर—यही सूत्र कृति' सत्सप्तमी में प्रमाण है अतः सप्तमी परिभाषा की यहां प्रसक्ति ही नहीं है।

* अक या अकार वे अन्त में रहे ऐसा शब्द स्त्रीलिङ्ग यदि रहें वहां 'उभयप्राप्तौ' इस नियम की प्रवृत्ति नहीं होती है वहां कर्ता एवं कर्म से षष्ठी होती है। भेदनं भिद् से यहां ण्वुल् प्रत्यय है पर्यायार्हर्णोत्पत्तिषु (३।३।१११) या 'धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल् वक्तव्यः' से ण्वुल् प्रत्ययान्त भेदिका स्त्रीलिङ्ग में टाप् इत्व से है। बिभित्सा—सन्प्रत्ययान्त हलन्ताच्च (१।२।१०) से कित्त्व है, अतः गुणाभाव करके अ प्रत्ययात् (३।३।१०२) मे अप्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग में है। यहां रुद्र कर्ता है जगत् कर्म है इन दोनो से षष्ठी से जगतः रुद्रस्य है। रुद्रकर्तृक जगत् कर्मक भेदन जगत् या भेदन विषयिणी इच्छायुक्त अर्थ है। शेष कर्ता में 'उभयप्राप्तौ' सूत्र विकल्प से षष्ठी करता है। ऐसा किसी का मत है कि किसी प्रत्ययान्त योग में ही शेष कर्ता को विकल्प से षष्ठी। विचित्रा जगतः (नित्य षष्ठी)। हरेः हरिणा यहां विकल्प से षष्ठी उसके अभाव में अनभिहित कर्ता से तृतीया। कोई सामान्यतः शेष कर्ता से विकल्प षष्ठी यथा आचार्येण, आचार्यस्य वा। यह अप्राप्त विभाषा है, स्त्रीप्रत्ययान्त के योग में कर्तृवाचक से 'उभयप्राप्तौ' से केवल कर्म 'जगतः' को ही षष्ठी प्राप्त थी कर्ता को नहीं अप्राप्त षष्ठी को कर्ता से विकल्प विधायक है।

६२६ क्तस्य च वर्तमाने २।३।६७।

वर्तमानार्थस्य क्तस्य योगे षष्ठी स्यात्। न लोकेति निषेधस्यापवादः। राज्ञां मतः, बुद्धः, पूजितो वा।

वर्तमान कालार्थक जो क्तप्रत्यय तदन्त तदादि के योग में सम्बन्ध में षष्ठी होती है। यथा राज्ञां मतः बुद्धः पूजितः। यहां मत्यर्थक ज्ञानार्थक एवं पूजार्थक धातु से क्त प्रत्यय वर्तमान काल में होता है—"मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च" सू० ३।२।१८८। यह सूत्र "न लोक" का अपवाद है। राजन् से षष्ठी हुई है मति से बुद्धि का पृथक् ग्रहण से। इस से ही षष्ठी कर्तुः ईप्सिततमम् में हुई है किन्तु वहां क्तप्रत्ययोपात्त वर्तमानत्व की विवक्षा नहीं है, यदि विवक्षा करेगें तो 'कटं कृतवान्' यहां भूत कालकी प्रतीति है, कटं करिष्यति यहां भविष्यत् काल। वस्तुतः 'क्तस्य च वर्तमाने' यहां वर्तमानत्व इतरकाल व्यावर्तक मात्र है वर्तमानत्वका वाचक नहीं है। राजसम्बन्धी पूजित ज्ञात एवं सम्मत यह पुरुष है।

६२७ अधिकरणवाचिनश्च २।३।६८।

क्तस्य योगे षष्ठी स्यात्। इदमेषामासितं शयितं गतं भुक्तं वा।

अधिकरण अर्थ में विहित जो क्तप्रत्यय तदन्त तदादि के योग में कर्तृवाचक प्रातिपदिक से षष्ठी होती है। यथा इदम् एषाम् आसितम्, शयितम्, गतम्, भुक्तम्, यहां 'क्तोऽधिकरणे' से अधिकरण में क्तप्रत्यय होता है। स्थिति का आधारभूत स्थान यह 'आसितम्' का अर्थ है। एवं शयनक्रिया का आधार यह अर्थ शयितम् का है। गमनक्रिया का अधार यह 'गतम्' का अर्थ है। भोजन का स्थान यह भुक्तम् का अर्थ है, इनके योग में आसन शयन, गमन, भोजन इन क्रियाओं का कर्ता यहां अनेक पुरुष है उनका प्रतिपादक यहां इदम् शब्द है षष्ठी विभक्ति कर्तृ वाचक इदम् से हुई षष्ठी के बहुवचन 'एषाम्' सूत्रोदाहरण है।

६२८ न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम् २।३।६९।

एषां प्रयोगे षष्ठी न स्यात्। लादेशाः—कुर्वन् कुर्वाणो वा सृष्टिं हरिः। उः—हरिं दिदृक्षुः, अलङ्करिष्णुर्वा। उक—दैत्यान् घातुको हरिः। ॐकमेरनिषेधःॐ। लक्ष्म्याः कामुको हरिः। अव्ययम्—जगत्सृष्ट्वा, सुखं कर्तुम्। निष्ठा—विष्णुना हता दैत्याः। दैत्यान् हतवान् विष्णुः।

खलर्थः—ईषत्करः प्रपञ्चो हरिणा। तृन्निति प्रत्याहारः—शतृशानचाविति तृ शब्दादारभ्य आतृनो नकारात्। शानन्—सोमं पवमानः। चानश्—आत्मानं मण्डयमानः। शतृ-वेदमधीयन्। तृन्—कर्ता लोकान्। ॐ द्विषः शतुर्वा ॐ। मुरस्य मुरं वा द्विषन्। सर्वोऽयं कारकषष्ठ्याः प्रतिषेधः। शेषे षष्ठी तु स्यादेव। ब्राह्मणस्य कुर्वन्। नरकस्य जिष्णुः।

लकार के स्थान में आदेश, उ, उकञ्, अव्यय, निष्ठा, (क्त एवं क्तवतु) खलर्थ, एवं तृन् ये कृत प्रत्यय है अन्त में जिनके ऐसे कृदन्ततदादि शब्दों के योग में कर्मवाचक से षष्ठी विभक्ति नहीं होती है। लादेश यथा—कुर्वन् कुर्वाणः सृष्टिं हरिः = जगत् की उत्पत्ति जनक व्यापार कर्ता हरि है। यहां कृधातु से वर्तमानार्थक लट् के स्थान में शतृ या शानच् से कुर्वन् या कुर्वाणः की सिद्धि

हुई है। यहां सृष्टि कर्म है, उत्पत्ति रूप फलाश्रय होने से। हरिः कर्ता है, इससे षष्ठी का निषेध एवं नियम प्राप्त कर्म से षष्ठी उसका भी निषेध से द्वितीया एवं प्रथमा क्रमशः कर्म कर्तृ वाचक से हुई है। यथा हरिं दिदृक्षुः।

यहां सन्नन्त दिदृक्ष से 'सनाशंसभिक्ष उः' से उप्रत्यय है हरि कर्म से षष्ठी का निषेध। हरि को देखने की इच्छा वाला। हरिम् अलङ्करिष्णुः = हरि को आभूषणों से अलंकृत करने वाला यहां 'अलंकृञ्' से लादेश इष्णुच् प्रत्यय है, कर्म वाचक हरि से षष्ठी पूर्वसूत्र से प्राप्त थी उसका निषेध कर्मणि द्वितीया से हरिम्। उक यथा—दैत्यान् घातुको हरिः यहां 'लषपत' से उकञ् प्रत्यय है। यहां घातुकः के योग में दैत्य से षष्ठी निषेध है। अनेक राक्षसों के नाशकर्ता हरि है। यदि कम् धातु से उकञ् कर उक प्रत्ययान्त तदादि योग में षष्ठी का निषेध न होकर षष्ठी होती है यथा लक्ष्म्याः कामुकः हरिः यहां कामुक योग में कर्म वाचक लक्ष्मी से उभयप्राप्तौ नियम से कर्म में षष्ठी हुई है—लक्ष्म्याः। लक्ष्मी की इच्छा करने वाले हरि है।

अव्यय = जगत् सृष्ट्वा यहां क्त्वाप्रत्ययान्त सृष्ट्वा अव्यय है जगत् कर्म है षष्ठी का निषेध से द्वितीया होकर एकवचन में जगत् हुआ है। सुखं कर्तुम् यहां तुमन् प्रत्ययान्त 'कर्तुम्' अव्यय है। निष्ठा—क्त और क्तवतु की निष्ठासंज्ञा होती है विष्णुना हता दैत्याः यह कर्मणि प्रयोग है क्त से दैत्यरूप कर्म उक्त होने से प्रथमा, विष्णुरूपकर्ता अनुक्त से प्राप्त षष्ठी का इससे निषेध होने से कर्तरि तृतीया से विष्णुना। हतवान् में क्तवतु प्रत्यय कर्ता में होने से यहां विष्णुरूप अर्थ उक्त है, दैत्यरूप अर्थ अनुक्त है कर्म वाचक से षष्ठी निषेध से दैत्यान्।

खलर्थाः—यथा 'ईषत्करः प्रपञ्चो हरिणा' यहां ईषद्दुस्सुषु (३।३।१२६) से खल् प्रत्यय है ईषत्कर में कृ धातु से यहां हरि से प्राप्त षष्ठी का निषेध से तृतीया—हरिणा। यहां संसाररूप मायिक यह प्रपञ्च रूप अर्थ खल् से उक्त है अतः अनुक्त कर्म न होने से प्रथमा—प्रपञ्चः। यहां तृन् केवल शब्द स्वरूप का प्रत्यायक नहीं है किन्तु शतृविधायक शास्त्र के तृ से लेकर 'तृन्' (३।२।१३५) सूत्र तक प्रत्याहार से मध्य में जितने कृत्प्रत्यय है वे सब तृन् प्रत्याहार के संज्ञी = बोध्य हुए है, अतः उन प्रत्ययों के अन्त में रहते भी यह षष्ठी का निषेध करता है। यथा 'सोमं पवमानः यहां पूङ्यजोः शानन् (३।२।१२८) से शानन् प्रत्ययान्त 'पवमानः' के योग में कर्म वाचक सोम से षष्ठी का निषेध से द्वितीया। इसी प्रकार ताच्छील्यवयोवचने (३।२।१२९) से विहित चानश् प्रत्यय होने पर तदन्त के योग में भी षष्ठी का निषेध है यथा आत्मानं मण्डयमानः। वेदमधीयन् में शतृ प्रत्ययान्त है, वेद से षष्ठी का निषेध। कर्ता कटान् यहां तृन् प्रत्ययान्त के योग में कटानाम् न हुआ। शतृ प्रत्ययान्त द्विष् धातु के योग में विकल्प से यहां निषेध की प्रवृत्ति होती है वहां कर्म वाचक से षष्ठी होती भी है एवं निषेध भी, यथा—मुरस्य, मुरं वा द्विषन्। यहां 'अनन्तरस्य' न्याय से कारक षष्ठी का ही निषेधक है शेषत्वविवक्षा में तो शेषे सूत्र से निष्कण्टक षष्ठी होती ही है यथा—ब्राह्मणसम्बन्धी कार्य करने वाला, या नरक सम्बन्धी जयकर्ता यहां ब्राह्मणस्य, एवं नरकस्य शेष षष्ठी है।

६२९ अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः २।३।७०।

भविष्यत्यकस्य भविष्यदाधमर्ण्यार्थेनश्च योगे षष्ठी न स्यात्। सतः पालकोऽवतरति। व्रजं गामी। शतं दायी।

भविष्यत् अर्थ में विधीयमान अकप्रत्यय एवं भविष्यत् तथा आधमर्ण्य अर्थ में विहित इन् के योग में षष्ठी नहीं होती है। यहां अकप्रत्ययान्त तदादि एवं इन्प्रत्ययान्त तदादि अर्थ है। सतः

पालकः अवतरति = सज्जनों की रक्षा करने वाला अवतार लेता है, इससे ज्ञात होता है कि अवतार जिस कार्य के लिया है वह पालन रूप कार्य को वह अवश्य सम्पादन करेगा। यहां 'पालकः' ण्वुल्प्रत्यय को अकादेश से निष्पन्न है—तुमुन्ण्वुलौ (३-३-१०) से ण्वुल् प्रत्यय है। कर्म यहां 'सतः' द्वितीयान्त है। अस् धातु से लकार स्थानिकशतृप्रत्यय एवं अकार लोप से सत् शस् सतः। व्रजं गामी यहां 'भविष्यति गम्यादयः' (३।३।९) से गम् से णिनि प्रत्यय, उपधा वृद्धि प्रथमैकवचन में विभक्ति कार्य से गामी इनके योगमे व्रजकी षष्ठी का निषेध कर कर्म में द्वितीया है। शतं दायी = सौ रूपैये वह अवश्य देगा, यहां 'आवश्यकाधमर्ण्य' (सू० ३।३।२७) से दासे आधमर्ण्य अर्थ में णिनि प्रत्यय है। ऋणग्रहणोत्तर देने वाला को दायी कहते हैं। भाषा में देनदार कहा जाता है।

६३० कृत्यानां कर्तरि वा २।३।७१।

षष्ठी वा स्यात्। मया मम वा सेव्यो हरिः। कर्तरीति किम् ?, गेयो माणवकः साम्नाम्। भव्यगेयेति कर्तरि यद् विधानादनभिहितं कर्म। अत्र योगो विभज्यते—'कृत्यानाम्'। उभयप्राप्ताविति नेति चानुवर्तते। तेन नेतव्या व्रजं गावः कृष्णेन। ततः 'कर्तरि वा'। उक्तोऽर्थः।

कृत्य प्रत्ययान्त के योग में कर्ता से विकल्प षष्ठी होती है। पक्ष में अनभिहित कर्तृवाचक से तृतीया होती है। यथा मया मम वा सेव्यो हरिः। यहां षेव धातु सकर्मक से कर्म मे ऋहलोर्ण्यत् (३।२।१२३) से ण्यत् प्रत्यय से सेव्यः, यहां ण्यत् से हरिरूप कर्म उक्त है अस्मदर्थ कर्ता अनुक्त से षष्ठी हुई, पक्ष में तृतीया मम मया। सूत्र में कर्तृ पद इस लिए किया गया कि जहां कर्ता मे यत् प्रत्यय होता है वहां कर्म अनुक्त है। उस अनुक्त कर्म वाचक से विकल्प षष्ठी न हो। यथा गेयो माणवकः साम्नाम् यहां माणवक रूप कर्ता में गा धातु से भव्यगेय सू० से यत् प्रत्यय है, कर्ता उक्त है, सामरूप कर्म अनुक्त है, वहां कर्म वाचक से नित्य षष्ठी होती है, यहां योग विभाग है १—'कृत्यानाम्' यहां उभयप्राप्तौ एवं न की अनुवृत्ति है, उभयप्राप्ति में कृत्य प्रत्यय तदन्त के योग में षष्ठी नहीं होती है। यथा 'नेतव्या व्रजं गावः कृष्णेन' यहां कृत्य प्रत्ययान्त नेतव्या है यहां उभयप्राप्तौ नियम से व्रज से षष्ठी पाई थी उसका निषेध हुआ।

यतं ण्यतं क्यपश्चैव केलिमरमनीयरम्।
तव्यञ्च तव्यतश्चैव कृत्यान् सप्त विदुर्बुधाः॥

कृत्यप्रत्यय सात है—यत्, ण्यत्, क्यप् केलिमर्, अनीयर्, तव्य, तव्यत्। यह विद्वान् लोग कहते हैं।

उसके बाद 'कर्तरि वा' सूत्र विभक्त है, इसका अर्थ पूर्व में कहा गया।

६३१ तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम् २।३।७२।

तुल्यार्थैर्योगे तृतीया वा स्यात्। पक्षे षष्ठी। तुल्यः, सदृशः समो वा कृष्णस्य कृष्णेन वा। अतुलोपमाभ्याम् किम् ?, तुला, उपमा वा कृष्णस्य नास्ति।

तुल्यार्थ शब्दों के योग में सादृश्य के प्रतियोगी वाचक शब्द से तृतीया विकल्प से होती है। तुल्यार्थक तुला एवं उपमा के योग को छोडकर पक्ष में षष्ठी। कृष्णेन, पक्षमे कृष्णस्य। कृष्णस्य तुला,

उपमा यहां तृतीया न हुई। पूर्व सूत्र से कर्तृ सम्बन्ध एवं वा की अनुवृत्ति आती अतः कर्ता की निवृत्ति के लिए यहां 'अन्यतरस्याम्' ग्रहण किया है एवं उत्तर सूत्र में तृतीया का चकार से अनुकर्षण न हो जाय अतः तृतीया एवं उत्तर सूत्र में चतुर्थी इन दोनों का व्यवधान उपस्थित करने के लिए इन दोनो के मध्य में 'अन्यतरस्याम्' पद रक्खा है अतः उत्तर सूत्र में चकार से षष्ठी का अनुकर्षण हुआ।

६३२ चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः २।३।७३।

एतदर्थैर्योगे चतुर्थी वा स्यात्, पक्षे षष्ठी। आशिषि—आयुष्यं चिरञ्जीवितं कृष्णाय कृष्णस्य वा भूयात्। एवं मद्रं भद्रं कुशलं निरामयं सुखं शम् अर्थः प्रयोजनं हितं पथ्यं वा भूयात्। आशिषि किम्, देवदत्तस्यायुष्यमस्ति। व्याख्यानात्सर्वत्रार्थग्रहणम्। मद्रभद्रयोः पर्य्यायत्वादन्यतरो न पठनीयः।

आशीर्वाद अर्थ में वर्तमान आयुष्य, मद्र भद्र कुशल, सुख, अर्थ हित एवं इन शब्दों के समानार्थक शब्दो के योग में चतुर्थी विकल्प से होती है एवं षष्ठी भी होती है। चकार से षष्ठी का सम्बन्ध है। शुभवस्तु कथन को आशीर्वाद कहते है। जहां सत्यकथनमात्र है आशीर्वाद गम्यमान नहीं है वहां यथा देवदत्तस्य आयुष्यम् अस्ति' यहां इसकी प्रवृति न हुई शिष्टोक्त व्याख्यान से सर्वत्र अर्थग्रहण से इनके पर्य्याय वाचक शब्दों का भी ग्रहण हुआ यहां 'स्वं रूपम्' सूत्र की प्रवृत्ति न हुई वह संज्ञा सूत्र अनित्य है। इस व्याख्यान स्वीकार करने पर मद्र भद्र इसमें यथेच्छ एक न करना। कारक के विषय में दो पक्ष है १—शक्तिः कारकम् = धर्म कर्तृत्वादि विभक्त्यर्थ है। २—शक्तिमत् कारकम् धर्मी कर्ता आदि कारकार्थ हैं। शेषे सूत्र विहित षष्ठी का केवल धर्म=सम्बन्धत्व—स्वामिभाव आदि वाच्य है। कारक षष्ठी यथा 'कर्तृकर्मणोः कृति' का कर्तृत्वादि धर्म विशिष्ट धर्मी वाचकत्व है। इष्टानुरोध से अन्यतर पक्ष का अवलम्बन करना चाहिए। षष्ठी समाप्त यहां है।

६३३ आधारोऽधिकरणम् १।४।४५।

कर्तृकर्मद्वारा तन्निष्ठक्रियाया आधारः कारकमधिकरणसंज्ञः स्यात्।

आङ् पूर्वक धृ धातु से अधिकरण अर्थ में घञ् प्रत्यय से आधार = आश्रय अर्थ है। किसका आश्रय यह आकाङ्क्षा होगी, वह साक्षात् क्रिया का तो आधार नहीं हो सकता है अतः कर्ता का आधार या कर्म का आधार यह सम्भव है।

कर्ता या कर्म द्वारा अर्थात् कर्तृ निष्ठ या कर्म निष्ठ जो क्रिया व्यापार या फल उसका जो आधार कारक उसकी अधिकरण संज्ञा होती है। आधार चार प्रकार का है १-औपश्लेषिक २-विषय ३-सामीप्य ४-अभिव्यापक। १—आधार एवं आधेय का संयोग सम्बन्ध जहां रहे। १—खट्वायां स्वपिति। २—धर्मे प्रतिष्ठते ३—संसारे विश्वेश्वरो वर्तते ४—तिलेषु तैलम्। यहां सामीप्य का औपश्लेषिक सम्बन्ध में अन्तर्भाव होकर तीन आधार है यह नव्यमत है। 'इको यणचि' में 'अचि' में भी सप्तमी अधिकरण में है वह भी आधार है किसका यह आधार यह शङ्का होती है ? इक् अच् पर रहता है अव्यवहितोत्तरत्व सम्बन्ध से, अतः इङ्निष्ठाधेयतानिरूपिताधारता अच् में है अतः सप्तमी से 'अचि' निर्देश उपपन्न हुआ। कम वैयाकरण इस सूक्ष्म रहस्य को जानते हैं। इसी प्रकार अन्यत्र जहां जहां सप्तम्यन्त निर्देश है वहां ऊहा करनी यथासम्भव। आधाराधेय भाव का

नियामक भिन्न भिन्न सम्बन्ध है। वृत्ति नियामक कुछ सम्बन्ध है, कुछ वृत्ति के अनियामक भी है वह विवेचन यहां असाम्प्रतिक है।

६३४ सप्तम्यधिकरणे च २।३।३६।

अधिकरणे सप्तमी स्यात्। चकाराद् दूरान्तिकार्थेभ्यः। औपश्लेषिको वैषयिकोऽभिव्यापकश्चेत्याधारस्त्रिधा। कटे आस्ते। स्थाल्यां पचति। मोक्षे इच्छाऽस्ति। सर्वस्मिन्नात्माऽस्ति। वनस्य दूरेऽन्तिके वा। दूरान्तिकार्थेभ्य इति विभक्तित्रयेण सह चतस्रोऽत्र विभक्तयः फलिताः। * क्तस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसङ्ख्यानम् *। अधीती व्याकरणे।

अधीतमनेनेति विग्रहे 'इष्टादिभ्यश्च' इति कर्तरीनिः। * साध्वसाधुप्रयोगे च *। साधुः कृष्णो मातरि। असाधुर्मातुले। * निमित्तात् कर्मयोगे *। निमित्तमिह फलम्। योगः = संयोगसमवायात्मकः।

चर्मणि द्वीपिनं हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम्।
केशेषु चमरीं हन्ति सीम्नि पुष्कलको हतः॥ १॥

हेतौ तृतीयाऽत्र प्राप्ता तन्निवारणार्थम्। सीमा = अण्डकोशः। पुष्कलको गन्धमृगः। योगविशेषे किम्? वेतनेन धान्यं लुनाति।

अधिकरण संज्ञक कारक से सप्तमी होती है। अनुक्त समुच्चयार्थक चकार सूत्र में है, अतः दूरार्थक अन्तिकार्थ शब्दों से भी सप्तमी होती है। आधार के तीन भेद है—औपश्लेषिक, वैषयिक एवं अभिव्यापक। उप=समीपे श्लेषः=सम्बन्धः उपश्लेषः=सामीप्यमूलकसम्बन्धः, तत्कृतम् अधिकरणम् औपश्लेषिकम् यथा इको यणचि यहां शब्द का शब्द के साथ सामीप्य को छोड़कर अन्य सम्बन्ध नहीं हो सकता है, अतः वहां 'अचि' औपश्लेषिक आधार है। भाष्यकार—"शब्दस्य शब्देन सह कोऽन्यः सम्बन्धो भवितुमर्हति ऋते उपश्लेषात्" इक् का अच् आधार है, इक अव्यवहितोत्तर सम्बन्ध से अच् पर है इक् आधेय अच् आधार अतः 'अचि' में सप्तमी हुई है। अन्य उदाहरण 'कटे आस्ते' स्थाल्यां पचति, यहां कट कर्ता द्वारा ही क्रिया में सम्बन्धित है वह सम्बन्ध 'स्ववृत्ति-वृत्तित्व' है। स्वम् = कटः तद्वृत्तिः चैत्रः तद्वृत्तिनी स्थितिक्रिया। चटाई पर चैत्र है चैत्र में स्थिति क्रिया है। स्थाल्याम् तण्डुलान् पचति यहां स्वाश्रय समवेत सम्बन्ध स्थाली एवं विक्लित्ति का है। स्वम् = स्थाली (बटुली) तद् वृत्ति तुण्डल, तण्डुल समवेत विक्लित्ति है।

"कर्तृकर्मव्यवहितामसाक्षाद् धारयत् क्रियाम्।
उपकुर्वन् क्रियासिद्धौ शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम्"॥

कर्ता एवं कर्म द्वारा क्रिया का आधार साक्षात् क्रिया का अनाधार एवं क्रिया सिद्धि में उपकारक को अधिकरण कहते हैं आचार्यगण। वैषयिक आधार—मोक्षे इच्छा अस्ति। यहां सविषयक इच्छा का विषय मोक्ष है। निर्विषयिणी इच्छा नहीं होती है इच्छा में भासमान पदार्थो में इच्छीया विषयता रहती है वह विषयता अनेकविधा है विशेष्यतारूपा, प्रकारतारूपा, अवच्छेदकतारूपा। अभिव्यापक आधार—सर्वस्मिन् आत्माऽस्ति आत्मसत्ता का अभाव कहीं भी नहीं है। आत्मसत्ता का अभाव केवलान्वयी है, अत्यन्ताभाव का जो अप्रतियोगी रहे उसे केवलान्वयी कहते हैं, आत्मा नास्ति ऐसा नहीं कह सकते हैं निषेध का प्रतियोगी आत्मा सर्वत्र है, प्रतियोगी रहे वहां अभाव उसका

नहीं कह सकते हैं, तद्वत्ताबुद्धि तदभाववत्ता बुद्धि के प्रति प्रतिबन्धक है। सर्वत्र आत्मकर्तृकसत्ता का निश्चयात्मक ज्ञान है अतः सर्वस्मिन् में अधिकरण में सप्तमी है। एवं तिलेषु तैलम् यहां तैल आधार है, तैल का सर्वावयव स्वरूप तिल आधार है, तिल के यावत् अवयवों में तैल की सत्ता है, यही मुख्य आधार है। वटे गावः, गुरौ वसति, गङ्गायां घोषः, शिरसि वेदना, अन्तःकरणे दुःखम्। बन्धुमध्ये जीवनम् आदि अनेक उदाहरण आधार की अधिकरण संज्ञा के है। दूरे अन्तिके वा वनस्य यहां चकार बल से इससे अधिकरण संज्ञा है। 'दूरान्तिकार्थेभ्यः' से द्वितीय तृतीया एवं पञ्चमी एवं इससे सप्तमी से चार विभक्तियां हुई हैं। दूरं दूरेण दूरात् दूरे। अन्तिकम् अन्तिकेन अन्तिकात् अन्तिके।

* इन विषयक क्तप्रत्ययान्त के योग में कर्म वाचक से सप्तमी होती है। यथा व्याकरणे अधीती, यहां अधिपूर्वक अध्ययनार्थ इङ् धातु से क्तप्रत्यय कर उससे इष्टादिभ्यश्च से करण अर्थ में इन् प्रत्यय से अधीती की सिद्धि है। यहां क्तान्त से इन् है, अध्ययन का कर्म व्याकरण है, कर्म वाचक से सप्तमी व्याकरणे अधीती। साधु एवं असाधु के योग में सप्तमी होती है। माता में कृष्ण साधु = अच्छे है। एवं मामा = कंस के विषय में क्रूर कर्म कर्ता है। यहां मातरि एवं मातुले सप्तमी इससे हुई है।

❀ निमित्तात्—यदि कर्म का संयोग हो, एवं किसी निमित्त के लिए कर्म किया जाय तो निमित्तवाची शब्द से सप्तमी होती है। वार्तिक में यहां निमित्त से फल जानना। योग शब्द=संयोगार्थक है वह सम्बन्ध यहां संयोग या समवाय का ही ग्रहण करना। यथा—चर्मणि द्वीपिनं हन्ति = चर्म के निमित्त गैंडेका मारता है यहां चर्मन् शब्द से सप्तमी है। दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम् = दाँतो के निमित्त हाथी को मारता है। यहां दन्तयोः सप्तमी विभक्ति है। केशेषु चमरीं हन्ति = चांवर के लिए चमरी गाय की पूंछ वह काटता है। यहां केशेषु सप्तमी विभक्ति। सीम्नि पुष्कलको हतः=कस्तूरी के निमित्त गन्ध प्रधान हरिण को मारता है। इन सप्तम्यन्तों का कर्म के साथ योग है-द्वीपि कुञ्जर, चमरी एवं पुष्कलक यह चार यहां कर्म वाचक है। यहां हेतौ सूत्र से प्राप्त तृतीया का बाधकर इस वार्तिक से सप्तमी हुई है। सीमा = अण्डकोशः। वेतनेन धान्यं लुनाति यहां उपकार्य-उपकारकभाव सम्बन्ध यद्यपि है किन्तु वार्तिक में योग से वह सम्बन्ध यहां ग्राह्य नहीं है अतः यहां वेतन से 'हेतौ' तृतीया हुई है। वेतन = नियत द्रव्य लेकर वह किसी के खेत में स्थित धान्य को काटता है, कटाई के समय पैसे देकर कुछ व्यक्तियों की नियुक्ति खेत का स्वामी करता है।

६३५ यस्य च भावेन भावलक्षणम् २।३।३७।

यस्य क्रियया क्रियान्तरं लक्ष्यते ततः सप्तमी स्यात्। गोषु दुह्यमानासु गतः। ❀ अर्हाणां कर्तृत्वेऽनर्हाणामकर्तृत्वे तद्वैपरीत्ये च ❀। १—सत्सु तरत्सु असन्त आसते। २—असत्सु तिष्ठत्सु सन्तस्तरन्ति। ३—सत्सु तिष्ठत्सु असन्तस्तरन्ति। ४—असत्सु तरत्सु सन्तस्तिष्ठन्ति।

जिसकी निश्चित क्रिया से अन्य क्रिया अनिश्चित लक्षित होती है उससे सप्तमी होती है। सूत्र में भाव शब्द क्रियार्थक है भाव = भावना = क्रिया। सामान्यरूप से सभी धातु क्रिया के वाचक है सकल क्रिया में रहने वाला एकमात्र धर्म जो सामान्य है वह यह है—क्रियात्व। उसको उच्चभाषा में शक्यतावच्छेदक कहते है। धातु में शक्ति रहने से वह शक्त है, उसमें शक्तता है उसका अवच्छेदक धातुत्व है उसको शक्ततावच्छेदक कहते हैं। इस बात का ध्वनन भूवादयो धातवः सूत्र करता है।

प्रकृत में यथा गोषु दुह्यमानासु गतः = गौओ के दूहते समय वह गया। यहां गौओं का दोहन रूप जो क्रिया है उससे गमन रूप क्रिया लक्षित होती है।

वस्तुतः यहां गमन काल (समय) का ज्ञान करने के लिए उसकी जिज्ञासा थी वह प्रश्न पूछता वह कब गया?, अनिश्चय में प्रश्न होना स्वाभाविक है, तब उत्तर दिया जाता है, अन्य द्वारा कि गोषु दुह्यमानासु गतः, यहां गोदोहकाल प्रायः निश्चित सा ही है उस समय वह गया तब प्रश्न का समुचित उत्तर प्राप्त हुआ। अथवा प्रथम पक्ष सूत्रमर्यादा के अनुकूल ही है—ज्ञात क्रिया से अज्ञात क्रिया का निश्चय करना।

* १—योग्य कारकों का कर्तृत्व होने पर, २—तथा अयोग्य कारकों का अकर्तृत्व होने पर, तथा ३—योग्य कारकों का अकर्तृत्व होने पर तथा ४—अयोग्य कारकों का कर्तृत्व होने पर, जिसकी क्रिया से अन्य क्रिया विदित हो उससे सप्तमी होती है क्रमसे उदाहरण है।

१—सज्जनों के तरने पर असज्जन बैठे रहते हैं। २—असन्तों के बैठने पर सज्जन तैरते हैं। ३—सत्पुरुषों के बैठने पर असज्जन तैरते हैं। ४—असन्तों के तैरने पर सत्पुरुष बैठे रहते हैं।

६३६ षष्ठी चानादरे २।३।३८।

अनादराधिक्ये भावलक्षणे षष्ठीसप्तम्यौ स्तः। रुदति रुदतो वा प्राव्राजीत्। रुदन्तं पुत्रादिकमनादृत्य संन्यस्तवानित्यर्थः।

तिरस्कार अर्थ में जिस क्रिया से अन्य क्रिया लक्षित की जाय वहां षष्ठी एवं सप्तमी होती है। यथा रुदति रुदतः यहां सप्तमी एवं षष्ठी है, रोते हुए पुत्रादिक का अनादर कर संन्यासी हो गया। यहां रोदनरूप क्रिया से प्रव्रजन क्रिया लक्षित है यदा पुत्रादिकर्तृकं रोदनं तदा प्रव्रजनम् इस प्रकार की व्याप्ति भी यहां बन सकती है।

६३७ स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च २।४।३९।

एतैः सप्तभिर्योगे षष्ठीसप्तम्यौ स्तः। षष्ठ्यामेव प्राप्तायां पाक्षिकसप्तम्यर्थं वचनम्। गवां गोषु वा स्वामी। गवां गोषु वा प्रसूतः। गा एवानुभवितुं जात इत्यर्थः।

स्वामी, ईश्वर, अधिपति, दायाद, साक्षि, प्रतिभू, प्रसूत इन शब्दों के योग में षष्ठी एवं सप्तमी होती है। षष्ठी ही यहां प्राप्त थी, किन्तु अप्राप्त सप्तमी को पक्ष ने विधानार्थ यह सूत्र है। यथा स्वामी एवं प्रसूत के योग में गो से षष्ठी एवं सप्तमी हुई है। सम्पूर्ण गौओ के ही अनुभवार्थ वह जन्म धारण किया है।

६३८ आयुक्तकुशलाभ्यां चासेवायाम् २।३।४०।

आभ्यां योगे षष्ठीसप्तम्यौ स्तस्तात्पर्येऽर्थे। आयुक्तो व्यापारितः। आयुक्तः कुशलो वा हरिपूजने हरिपूजनस्य वा। आसेवायां किम्, आयुक्तो गौः शकटे, ईषद्युक्त इत्यर्थः।

आसेवा अर्थ में अर्थात् तात्पर्य अर्थ में वर्तमान आयुक्त एवं कुशल इनके योग में षष्ठी एवं सप्तमी होती है। सर्व प्रकार से सेवा गम्यमान रहे उसको आसेवा कहते है। कुशल = निपुण शुभ कर्म में युक्त को निपुण कहते हैं निपूर्वक पुण से शुभ कर्म ने 'इगुपध' सूत्र से क प्रत्यय होता है।

आयुक्तः = व्यापारितः। हरिपूजने हरिपूजनस्य आयुक्तः कुशलो वा=हरि के पूजन में सब प्रकार से वह लगा हुआ है, एवं कुशल है। कुशल = निपुण। बैलगाडी = रथ में ईषद् युक्त है यहां आसेवा नहीं हैं।

६३९ यतश्च निर्धारणम् २।३।४१।

जातिगुणक्रियासंज्ञाभिः समुदायादेकदेशस्य पृथक्करणं निर्धारणं यतस्ततः षष्ठीसप्तम्यौ स्तः। नृणां नृषु वा ब्राह्मणः श्रेष्ठः। गवां गोषु वा कृष्णा बहुक्षीरा। गच्छतां गच्छत्सु वा धावन् शीघ्रः। छात्राणां छात्रेषु वा मैत्रः पटुः।

जाति, गुण, क्रिया, एवं संज्ञा इनसे समूह के एकदेश का पृथक् करना उसको निर्धारण कहते हैं, वह जिससे पृथक् करण होता हो उससे षष्ठी एवं सप्तमी होती है। नृणां नृषु वा ब्राह्मणः श्रेष्ठः= मनुष्य समुदाय से ब्राह्मण उत्तम है।

यहां मनुष्य समुदाय से एकदेश ब्राह्मण का पृथक् कारण है, पृथक् करण में कारण श्रेष्ठत्व हैं। गुण वाचक यथा गवां गोषु वा कृष्णा बहुक्षीरा = गौओं में काली गाय बहुत दुधारी है। क्रियावाचक का यथा गच्छतां गच्छत्सु वा धावन् शीघ्रः = चलने वालों में धावन् क्रिया करने वाला शीघ्रगामी है, यहां गच्छत् से षष्ठी एवं सप्तमी हुई है। संज्ञा वाचक में—यथा छात्राणां छात्रेषु वा मैत्रः पटुः, विद्यार्थियों में मैत्र नामक चतुर है। यहां छात्र समुदाय वाचक छात्र से षष्ठी एवं सप्तमी हुई है इस सूत्र की प्रवृत्ति वहां होती है—१ जिससे पृथक् करण किया जाय उसका प्रयोग अपेक्षित है। २—जो पृथक् किया जाय उसका भी प्रयोग अपेक्षित है ३— जिस रूप से वह पृथक् किया उस रूप का भी प्रयोग अपेक्षित है—(यस्मार्त्त निर्धार्यते, यश्च निर्धार्यते, येन रूपेण निर्धार्यते तत्रैवेदं प्रवर्तते) प्रथमोदाहरण में ब्राह्मण शब्द जातिवाचक है = ब्राह्मणत्व। द्वितीय उदाहरण कृष्ण यह गुणोपसर्जन से कृष्णत्व वाचक है तृतीय उदाहरण में धावन् शब्द शीघ्रगमनरूप क्रिया वाचक है विशेषणता से। चतुर्थ उदाहरण में संज्ञा वाचक मैत्र है। वे चार से जातित्वेन गुणत्वेन क्रियात्वेन संज्ञात्वेन अर्थ प्रत्यायक है।

६४० पञ्चमी विभक्ते २।३।४२।

विभागः—विभक्तम्। निर्धार्यमाणस्य यत्र भेद एव तत्र पञ्चमी स्यात्। माथुराः पाटलिपुत्रेभ्य आढ्यतराः।

विभक्त का अर्थ है विभाग, विभाग का अर्थ भेद है। निर्धार्यमाण का जिससे भेद गम्यमान रहे उससे पञ्चमी होती है। यथा माथुराः पाटलिपुत्रेभ्यः अढ्यतराः = माथुर पटनानिवासियों से अधिक धनयुक्त (धनी) हैं। यहाँ मथुरा निवासी निर्द्धार्यमाण है पटना वासि मनुष्यसमुदाय वाचक से पञ्चमी पाटलिपुत्रेभ्यः यहां भेद के प्रतियोगी वाचक से पञ्चमी हुई, अनुयोगी वाचक माथुर से प्रथमा। पाटलिपुत्रप्रतियोगिकभेदाश्रयाः माथुराः।

६४१ साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः २।३।४३।

आभ्यां योगे सप्तमी स्यादर्चायां न तु प्रतेः प्रयोगे। मातरि साधुर्निपुणो वा। अर्चायां किम्, निपुणो राज्ञो भृत्यः। इह तत्त्वकथने तात्पर्य्यम्। ❀ अप्रत्यादिभिरिति वक्तव्यम् ❀। साधुर्निपुणो वा मातरं प्रति पर्यनु वा।

पूजा अर्थ की प्रतीति होने पर साधु एवं निपुण के योग में सप्तमी होती है किन्तु प्रति के योग में नहीं। सत्य कथन मात्र है प्रशंसा की प्रतीति नहीं है वहां इसकी प्रवृत्ति नहीं होती है। राजा का भृत्य कार्य करने में कुशल है यहां राजन् से षष्ठी है सूत्र में 'अप्रतेः' को निकाल कर उसके स्थान में अप्रत्यादेः पठने से प्रति परि अनु आदि के योग में इससे सप्तमी नहीं होती है।

६४२ प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च २।३।४४।

आभ्यां योगे तृतीया स्यात्, चात् सप्तमी। प्रसित उत्सुको वा हरिणा हरौ वा।

प्रसित एवं उत्सुक के योग में तृतीया एवं सप्तमी होती है। प्रसित एवं उत्सुक का अर्थ है = तत्पर। प्रसित उत्सुको वा हरौ हरिणा वा =हरिमें वह तत्पर है।

६४३ नक्षत्रे च लुपि २।३।४५।

नक्षत्रे प्रकृत्यर्थे यो लुप्संज्ञया लुप्यमानस्य प्रत्ययस्यार्थस्तत्र वर्तमानात् तृतीयासप्तम्यौ स्तोऽधिकरणे।

"मूलेनावाहयेद् देवीं श्रवणेन विसर्जयेत्।"

मूले श्रवणे वा लुपि किम्, पुष्ये शनिः॥

प्रकृत्यर्थ नक्षत्र वाचक है उससे जायमान तद्धित प्रत्यय उसका लुप् संज्ञा से लोप होने पर उस लोप स्थानिक प्रत्ययार्थ का अर्थ में विद्यमान प्रातिपदिक नक्षत्र से तृतीया एवं सप्तमी होती है। तात्पर्य यह है कि 'नक्षत्रेण युक्तः कालः' सूत्र है वह नक्षत्र वाचक तृतीयान्त से युक्त अर्थ में अण् प्रत्यय करता है, नक्षत्र युक्त काल अर्थ प्रकृत्यर्थ एवं प्रत्ययार्थ मिलाकर हुआ है। यहां एक सूत्र है 'लुबविशेषे' वह युक्तार्थक पूर्व सूत्र से विहित अण् का लुप् = अदर्शन करता है, प्रत्यय के लोप होने पर नक्षत्र वाचक शब्द अपना एवं प्रत्यय का युक्त इन दोनों को बोधन करता है, यः शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायी = जो शेष=अवशिष्ट बचा रहता है वह स्वार्थ के साथ लुप्त प्रत्यय के अर्थ का भी बोधक है अब यहां मूल शब्द नक्षत्र वाचक से अण् प्रत्यय उसका लुप् शब्द द्वारा लोप होने पर भी 'मूल नक्षत्र युक्त काल' को मूल बोधक है अत मूलेन मूले यहां तृतीया एवं सप्तमी हुई है। इसी प्रकार श्रवण नक्षत्रार्थक से अण् लुप् श्रवण नक्षत्रयुक्त काल वाचक से हुई श्रवणेन, सप्तमी में श्रवणे।

मूलेनावाहयेद् देवीं पूर्वायाञ्च प्रपूजयेत्।
उत्तरायां बलिं दद्यात् श्रवणेन विसर्जयेत्॥ १॥

पूर्वाशब्द पूर्वाषाढा नक्षत्र परक है। उत्तरा शब्द उत्तराषाढा नक्षत्र परक है। इन दोनों जगह अण् प्रत्यय उसका लुप् = अदर्शनं है। पूर्व नक्षत्र युक्त काल अर्थ में है, अतः सप्तमी से स्त्रीलिङ्ग में पूर्वायाम्। इसी प्रकार उत्तरायाम्। शनिग्रह पुष्य नक्षत्र पर है यहां अधिकरण में पुष्य से केवल सप्तमी है पुष्ये शनिः। यहां तृतीयान्त पुष्य से अण् नहीं आया है, न अण् का लुप् है अतः इसकी प्रवृत्ति यहां नहीं है।

६४४ सप्तमीपञ्चम्यौ कारकमध्ये २।३।७।

शक्तिद्वयमध्ये यौ कालाध्वानौ ताभ्यामेते स्तः। अद्य भुक्त्वाऽयं द्व्यहे द्व्यहाद् वा भोक्ता। कर्तृशक्त्योर्मध्येऽयं कालः। इहस्थोऽयं क्रोशे क्रोशाद् वा लक्ष्यं विध्येत्। कर्तृकर्मशक्त्योर्मध्ये कालः। अधिकशब्देन योगे सप्तमी-पञ्चम्याविष्येते। तदस्मिन्नधिकमिति यस्मादधिकमिति च सूत्रनिर्देशात्। लोके लोकाद् वाऽधिको हरिः।

दो शक्तियों के मध्य में जो काल वाचक एवं मार्ग वाचक शब्द उनसे पञ्चमी एवं सप्तमी होती है। यथा—अद्य भुक्त्वा अयं द्व्यहे द्व्यहाद् वा भोक्ता = आज भोजन कर के यह दो दिन पर भोजन करेगा, इस स्थान मे कर्ता एवं शक्ति के मध्य में काल है। यद्यपि यहां भोजन कर्ता (भोक्ता) कारक एक है, कारको का मध्य कहा गया है, इस पर कहते हैं कि शक्ति का आश्रय रूप जो द्रव्य है, वह कारक यहां नहीं लिया जायगा, किन्तु शक्ति ही कारक माना जायगा, सो आज भोजन करना फिर दूसरे दिन भोजन करना यह दो शक्ति है ही, उनके मध्यकालवाची द्व्यह शब्द से पञ्चमी एवं सप्तमी हुई। इहस्थोऽयं क्रोशे क्रोशाद् वा लक्ष्यं विध्येत् = यहां बैठा हुआ यह एक कोश पर लक्ष्य वेध कर सकता है, यहां कर्ता एवं कर्म शक्ति के मध्य में मार्गवाची क्रोश शब्द है इसमें पञ्चमी एवं सप्तमी हुई।

अधिक शब्द के योग में सप्तमी एवं पञ्चमी विभक्ति इष्ट है। इसमें सौत्र निर्देश ही प्रमाण है। यथा तदस्मिन्नधिकम्। इससे अधिक योग में सप्तमी। यस्माद् अधिकम्, इससे अधिक शब्द के योग में पञ्चमी। ज्ञापक सिद्ध वचन का फल यह है—लोके लोकाद् वा अधिको हरिः, यहां अधिक शब्द के योग में लोकशब्द से पञ्चमी एवं सप्तमी हुई है।

६४५ अधिरीश्वरे १।४।९७।

स्वास्वामिभावसम्बन्धेऽधिः कर्मप्रवचनीयसंज्ञः स्यात्।

स्वस्वामिभाव सम्बन्ध में अधिकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है।

६४६ यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनम् २।३।९।

अत्र कर्मप्रवचनीययुक्ते सप्तमी स्यात्। उप परार्धे हरेर्गुणाः, परार्धादधिका इत्यर्थः। ऐश्वर्ये तु स्वस्वामिभ्यां पर्यायेण सप्तमी। अधि भुवि रामः। अधि रामे भूः। सप्तमी शौण्डैरिति समासपक्षे तु रामाधीना, अषडक्षेत्यादिना खः।

"उपोधिके च" सूत्र से अधिकार्थ उपकी कर्म प्रवचनीय संज्ञा होती है। यह प्रथम कह चुके हैं सू० सं. ५५१ है। अधिकार्थक कर्म प्रवचनीय संज्ञा वाले शब्द के योगमे एवं ईश्वर अर्थ में वर्तमान कर्मप्रचनीय के योग में सप्तमी होती है। ईश्वर अर्थ में इतना अधिक है कि जिसका ईश्वर हो उससे सप्तमी। अधिकार्थ कर्मप्रवचनीय के योग में यथा—उप परार्धे हरेर्गुणाः = हरि के गुण परार्द्ध से भी अधिक हैं। यहां सप्तमी ऐश्वर्य अर्थ होने पर, स्वस्वामिभावादि अर्थ होने पर अधि भुवि रामः, अधि रामे भूः, यहां राम पृथ्वी के ईश्वर है। यहां ईश्वर अर्थ मे अधिकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा है। इस अर्थ में पृथ्वी वाचक शब्द से या पृथ्वी से सप्तमी। द्वितीय पक्ष में राम से 'सप्तमी शौण्डैः' से समास एवं खप्रत्यय इन से रामाधीना।

६४७ विभाषाः कृञि १।४।९८।

अधिः करोतौ प्राक् संज्ञो वा स्यादीश्वरेऽर्थे। यदत्र मामधिकरिष्यति=विनियोद्यत इत्यर्थः। इह विनियोक्तुरीश्वरत्वं गम्यते। अगतित्वात् तिङि चोदात्तवतीति निघातो न। इति सप्तमी।

इति कारकप्रकरणम्।

कृधातु के योग में ईश्वरार्थक अधिकी कर्म प्रवचनीय संज्ञा विकल्प से होती है। यथा—यदत्र माम् अधिकरिष्यति = इसमें मुझे जो नियुक्त करेगा वहां विनियोग कर्ता पुरुष का स्वामित्व = ईश्वरत्व स्पष्ट प्रतीयमान है। यहां कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से गति संज्ञा नहीं, अतः 'तिङि' सूत्र से अनुदात्तत्व का अभाव यहां हुआ। 'माम्' में कर्म में द्वितीया है।

करिष्यतीति—तिङन्त उदात्तत्व युक्त है। निघात का निषेध निपातैर्यद्यदि से है।

विमर्श—कारक चार है, कर्ता, कर्म, करण, अधिकरण, किसी के मत से अपादान एवं अधिकरण कारक नहीं है, वह गवेषक महोदय कहते हैं कि कारक विवक्षाधीन है, भिन्न भिन्न विवक्षा करके विभक्तियाँ लाने पर भी उनका साधुत्व है, यथा स्थाल्यां पचति स्थाली पचति, स्थाल्या पचति इत्यादि, एवं कर्ता, कर्म करण अधिकरण में विवक्षा भिन्न-भिन्न होती है।

किन्तु विप्राय पुस्तकं ददाति यहां अन्य विवक्षा से चतुर्थी को छोडकर विभक्ति आने पर असाधुत्व स्पष्ट ही है। एवं वृक्षात् पर्णं पतति यहां पञ्चमी रहित अन्य विभक्त्यन्त प्रयोग असाधु ही है। अतः विवक्षातः कारकाणि भवन्ति सिद्धान्त जो भाष्यसिद्ध है उससे महावैयाकरणपण्डितमूर्द्धन्य पं. श्री रामाज्ञापाण्डेय महोदयकृत उ० प्र० सरकार द्वारा प्रकाशित व्याकरण दर्शन की भूमिका में चार ही कारक वे मानते हैं, वह मत उचित ही प्रतीत होता है वैयाकरण गण विचार इस पर करें।

गजरात प्रान्त निवासी वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय पूर्व प्राध्यापक * प० श्री बालकृष्ण पञ्चोलि विरचित सविमर्श रत्नप्रभामें कारक प्रकरण पूर्ण।

शुभम्भूयात् *

कारकान्तान्तर्गत-सूत्रसूची

कारकान्तान्तर्गतवार्तिकसूची

कारकान्तान्तर्गतपरिभाषासूची